# भारतीय सामाजिक सस्थाएँ

## लेखक के अन्य महत्वपूर्ण प्रकाशन

1 ग्रामीण समाजशास्त्र (एम० ए० कक्षाओं हेतु)
2 सामाजिक मानवशास्त्र
3 समकालीन भारत में सामाजिक समस्याएँ
4 सामाजिक विघटन तथा सामाजिक समस्याएँ
5 भारतीय समाज तथा सामाजिक समस्याएँ
6 भारतीय सामाजिक व्यवस्था
7 भारतीय सामाजिक समस्याएँ

# भारतीय सामाजिक संस्थाएँ

## (INDIAN SOCIAL INSTITUTIONS)

लेखक
डी डी शर्मा
प्राध्यापक, स्नातकोत्तर समाजशास्त्र विभाग
एस० डी० राजकीय महाविद्यालय, ब्यावर

1980



साहित्य भवन : आगरा

- प्रथम संस्करण 1980
- मूल्य सोलह रुपया पच्चीस पैसे
- प्रकाशक साहित्य भवन, हास्पिटल रोड, आगरा 282 003
- मुद्रक कलात्मक मुद्रक, आगरा

# भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक म भारतीय सामाजिक सस्थाओ पर समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विचार किया गया है। ये सस्थाएँ भारतीय जन जीवन को सदियो से प्रभावित करती रही हैं और आज भी कर रही है। इसका कारण यह है कि ये मानव की मौलिक आवश्यकताओ की पूर्ति के प्रमुख साधन हैं। ये सस्थाएँ भारतीय विद्वानो के सतत चिन्तन का परिणाम है। पुस्तक मे इन सस्थाओ मे होने वाले परिवर्तनो का भी दर्शाया गया है। इस हेतु विभिन्न अनुसधानो का भी सहारा लिया गया है। पुस्तक मे पक्षपात रहित होकर तथ्यो को व्यक्त किया गया है।

यह पुस्तक राजस्थान के विभिन्न विश्वविद्यालयो के छात्रा के लिए विशेषत लिखी गयी है। लेखन शैली और भाषा अति सरल है। अवधारणाओ तथा शीर्षको के लिए आँग्ल भाषा के शब्दो का प्रयोग भी किया गया है।

मैं उन विद्वानो के प्रति आभार प्रदर्शित करना अपना परम कर्तव्य समझता हू जिनकी रचनाओ का लाभ पुस्तक के लेखन म उठाया गया है। मैं पुस्तक के प्रकाशक बसल बन्धुओ को विशेष रूप से धन्यवाद देना चाहूँगा जिनके सद्प्रयत्नो से यह पुस्तक बहुत ही कम समय मे अति सुन्दर ढग से प्रकाशित हो पायी है। विद्वान साथियो एव विद्यार्थियो के सुझाव सादर आमन्त्रित ह।

—डी० डी० शर्मा

# विषय-सूची

अध्याय पृष्ठ

# 1

# भारतीय सामाजिक सस्थाएँ—सामान्य परिचय

## (INDIAN SOCIAL INSTITUTIONS—GENERAL INTRODUCTION)

विश्व के प्रत्यक समाज मे कुछ सामाजिक सस्थाएँ पायी जाती ह जिनके माध्यम से व्यक्ति अपनी मूलभूत आवश्यकताओ की पूर्ति करता है। सामाजिक सस्थाओ के अभाव मे कोई भी समाज अपने सदस्यो की मौलिक आवश्यकताओ की पूर्ति नहीं कर सकता है। यही कारण है कि सामाजिक सस्थाएँ सभ्य, असभ्य, विकसित अथवा अविकसित, सभी समाजो मे आवश्यक रूप से पायी जाती ह। सामाजिक सस्थाओ का इस दृष्टि स विशेष महत्व पाया जाता है कि य सामाजिक जीवन को सुव्यवस्थित और सन्तुलित बनाने के साथ-साथ व्यक्तियो की आवश्यकताओ का पूर्ण करने मे योग देती है। आवश्यकताओ की इस पूर्ति पर ही व्यक्तित्व का विकास निर्भर करता है।

**सामाजिक सस्था की अवधारणा (Concept of Social Institution)**

व्यक्तियो की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए समाज मे विकसित विशिष्ट व्यवहार प्रतिमानो का ही सामाजिक सस्था कहते हैं। सदियो मे व्यक्ति ऐसे तरीके ढूढ निकालने का प्रयत्न करता रहा है जिनकी सहायता स वह सरलतम प्रकार से अपनी आवश्यकताओ को पूर्ण कर सके। आवश्यकता पूर्ति के समाज द्वारा स्वीकृत इन्ही सरलतम तरीको या व्यवहार प्रतिमानो को सामाजिक सस्था के नाम से पुकारते हैं।

समनर (Sumner) के अनुसार "एक सस्था एक विचारधारा (विचार, मत, सिद्धान्त या स्वार्थ) और एक ढाँचे से मिलकर बनती है।"[1]

रॉस के अनुसार, "सामाजिक सस्थाएँ सामान्य इच्छा से स्थापित अथवा अभिमत प्राप्त सगठित मानवीय सम्बन्धो के सेट या समूह हैं।"[2]

---

1 An institution consists of a concept (idea motion doctrine or interest) and a structure Sumner W G *Folkways* p 53

2 Social institutions are sets of organized human relationships established or sanctioned by the common will E A Ross *Principles of Sociology* p 686

बोगार्डस ने सस्था को परिभाषित करते हुए लिखा है, "एक सामाजिक सस्था समाज का वह ढांचा है जो प्रमुखत सुव्यवस्थित कार्य विधियो (Well-established procedures) द्वारा व्यक्तियो की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए सगठित किया जाता है।"[1]

कूले ने सस्था का अर्थ स्पष्ट करते हुए बताया है 'एक सस्था किसी निरन्तर बनी रहने वाली आवश्यकता या इच्छा की पूर्ति के लिए सामाजिक विरासत मे स्थापित सामूहिक व्यवहारो का एक जटिल सगठन है।"

मैकाइवर तथा पेज के अनुसार, "सस्थाए सामूहिक व्यवहार की कार्य प्रणाली की स्थापित दशाओ या स्वरूपो को कहते हैं।"[3]

उपर्युक्त परिभाषाओ से स्पष्ट है कि सामाजिक सस्था व्यवहार-सम्बन्धी प्रतिमानो एव आदर्श नियमो की एक ऐसी व्यवस्था है जिसके द्वारा व्यक्तियो की मूलभूत आवश्यकताओ की पूर्ति होती है। अन्य शब्दो मे, सामाजिक सस्था समाज द्वारा स्वीकृत वह कार्य प्रणाली या व्यवहार की सामूहिक रीति है जिसकी सहायता से मानवीय आवश्यकताओ या उद्देश्यो की पूर्ति होती है।

सामाजिक सस्था का विकास

सामाजिक सस्था के अर्थ को भलीभाँति समझने के लिए यह आवश्यक है कि इस बात पर विचार किया जाय कि किसी भी सामाजिक सस्था का विकास कैसे होता है। इस सम्बन्ध मे समनर ने लिखा है कि सस्थाएँ जनरीतियों के रूप मे प्रारम्भ होती हैं। इसके बाद जनरीतियाँ प्रथाएँ बन जाती हैं। जब प्रथाओ के साथ कल्याण का तत्व जुड जाता है तब ये रूढियो के रूप मे विकसित होती है। तत्पश्चात् इन रूढियो को नियमो, निर्धारित कृत्यो तथा काम मे लिये जाने वाले उपकरण की दृष्टि से अधिक सुस्पष्ट बना दिया जाता है। इससे सरचना या ढाचा विकसित होता है और तब सस्था अपने मे पूर्ण हो जाती है।[4]

किसी भी सामाजिक सस्था का विकास व्यक्तियो की मौलिक आवश्यकताओ को लेकर होता है। व्यक्ति अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए सर्वप्रथम अपने मस्तिष्क मे कोई विचार बनाता है। फिर वह अपने विचार को कार्य रूप मे बदलता है। उसके ऐसा करने से यदि उसकी किसी मौलिक आवश्यकता की पूर्ति हो जाती है तो वह अपनी इस क्रिया अथवा कार्य को बार-बार दोहराता है। परिणामस्वरूप

---

1 E S Bogardus *Sociology* p 478

2 'An institution is a complex organization of collective behaviour established in the social heritage and meeting some persistent need or want —C H Cooley

3 'Institutions are the established forms or conditions of procedure characteristic of group activity MacIver and Page *Society* p 15

4 W G Sumner *op cit*

उस व्यक्ति का विचार (Idea) आदत (Habit) के रूप मे बदल जाता है। यह व्यक्तिगत आदत है। जब उस व्यक्ति की आदत को किसी समाज विशेष के अधिकतर लोग अपना लेते है तो वह समूह की आदत बन जाती है जिसे जनरीति (Folkways) के नाम से पुकारते है। जब एक जनरीति पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती है और भूतकाल का सफल अनुभव उसके साथ जुडता रहता है तो वह प्रथा (Custom) के रूप मे बदल जाती है। जब प्रथा को समूह के कल्याण की दृष्टि से आवश्यक समझा जाता है, जब प्रथा के साथ समूह की स्वीकृति या अभिमत (Sanction) जुड जाता है और ऐसी प्रथा के विपरीत आचरण करने वाले को दण्डित किया जाता है तो वह प्रथा रूढि (Mores) के रूप म बदल जाती है। जब किसी रूढि के चारो ओर नियमो, विधि विधानो एव काय प्रणालियो का एक ढाँचा (S ructure) निर्मित हो जाता है तो वह रूढि सस्था मे बदल जाती है। इस प्रकार एक विचार से व्यक्तिगत आदत, समूह की आदत (जनरीति), प्रथा, रूढि और सस्था का विकास होता है। इस प्रकार से विकसित सामाजिक सस्था के उदाहरण के रूप मे विवाह सस्था तथा परिवार नामक सस्था को लिया जा सकता है।

सस्था के आवश्यक तत्वों मे विचार, उद्देश्य, सरचना, अधिकार तथा अभिमत एव प्रतीक मुख्य हैं। किसी भी सामाजिक सस्था का विकास व्यक्तिगत विचार से प्रारम्भ होता है। व्यक्तिगत विचार ही आगे चलकर सस्था का रूप ग्रहण कर लेता है। सामाजिक सस्था के लिए किसी न किसी उद्देश्य का होना भी आवश्यक है। उद्देश्य के अभाव मे कोई भी सस्था अपने अस्तित्व को अधिक समय तक बनाये नही रख सकती। सामाजिक सस्था के लिए सरचना भी अत्यन्त आवश्यक है। मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जब किसी विचार को काय रूप मे बदलने के लिए उसके चारो ओर नियमो एव विधि विधानो की एक सरचना निर्मित हो जाती है, तभी एक विचार सस्था के रूप मे विकसित हो पाता है। किसी विचार, प्रथा या नियम को सामाजिक दृष्टि से उपयोगी समझ कर समाज उसे अधिकार एव अभिमत (Authority and Sanction) प्रदान कर देता है ताकि उसका ठीक ढग से विकास हो सके। प्रत्येक सामाजिक सस्था को समाज के द्वारा कुछ अधिकार प्राप्त होते हैं। एक सस्था और दूसरी सस्था मे भेद करने के लिए प्रत्येक सस्था का अपना एक प्रतीक होता है। यह प्रतीक भौतिक या अभौतिक किसी भी प्रकार का हो सकता है।

### सामाजिक सस्था के काय (विशेषताएँ)
### (FUNCTIONS [CHARACTERISTICS] OF SOCIAL INSTITUTION)

(1) सामाजिक निय त्रण (Social Control)—सस्थाएँ सामाजिक नियन्त्रण बनाये रखने की दृष्टि से महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। समाज मनमाने तरीके से व्यक्तियों को अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने नही देता। अत समाज

सस्थाओ के माध्यम से व्यक्तियो को इस बात के लिए बाध्य करता है कि वे समाज द्वारा स्वीकृत विधियों से ही अपनी आवश्यकताओ का पूरा करें। सस्थाएँ ही काफी लम्बे समय से सामाजिक नियन्त्रण बनाये रखने का काय करती रही हैं।

(2) आवश्यकताओं की सन्तुष्टि (Satisfaction of Needs)—सस्थाओ का एक प्रमुख काय किसी न किसी मानवीय आवश्यकता की पूर्ति है। प्रत्येक सस्था का विकास मनुष्यो की किसी प्रमुख आवश्यकता को लेकर हुआ है। सस्थाओ का अस्तित्व उसी समय तक बना रहता है जब तक कि व व्यक्तियो की आवश्यकताओ की पूर्ति करती है। सस्थाएँ प्राचीन या पवित्र होने के कारण जीवित नही रहती बल्कि इस कारण कि व व्यक्तियो की सेवा करती ह।

(3) संस्कृति की वाहक (Vehicle of Culture)—प्रत्यक समाज की सास्कृतिक धरोहर सस्थाओ के माध्यम से ही सुरक्षित रहती है। सस्थाएँ ही समाज की सस्कृति अथवा उसके सम्पूर्ण जीवन क्रम को पीढी दर पीढी हस्तान्तरित करती हैं। इस जीवन क्रम को चिरस्थायी बनाये रखने में सस्थाएँ महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

(4) सामाजिक अनुरूपता (Social Conformity)—सस्थाएँ व्यक्तियो को एक निश्चित प्रकार का व्यवहार करने के लिए प्रेरित करती हैं। परिणामस्वरूप व्यक्तियो के व्यवहारो म अनुरूपता या समानता उत्पन्न होती है। यह अनुरूपता सामाजिक एकता की दृष्टि से विशेष उपयोगी है। स्पष्ट है कि सामाजिक सस्थाएँ व्यक्तियो के व्यवहारो मे एकरूपता या समानता लाने म योग देती हैं।

(5) सामाजिक सगठन का आधार (Foundation of Social Organization)—सस्थाएँ सामाजिक सगठन के प्रमुख आधार के रूप म काय करती हैं। किन परिस्थितियों में व्यक्ति का क्या काय करना है, इसका निर्धारण सस्थाएँ ही करती हैं। ये मनुष्यो का माग प्रदर्शन करती हैं। साथ ही समाज के सभी प्रकार के काय सस्थाओ द्वारा ही निर्देशित होते हैं।

(6) प्रस्थिति और भूमिका का निर्धारण (To Determine Status and Role)—सस्थाएँ व्यक्तियो को भिन्न भिन्न प्रस्थितियाँ प्रदान करने और उनकी भूमिकाएँ निश्चित करने की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण काय करती ह। जाति-व्यवस्था एक ऐसी सामाजिक सस्था है जो समाज म न केवल व्यक्ति की प्रस्थिति बल्कि साथ ही भूमिका भी निश्चित करती है।

उपर्युक्त विशेषताओ अथवा कार्यों की दृष्टि से सामाजिक सस्थाओ का काफी महत्व पाया जाता है। य मनुष्य के जीवन को अगणित रूपो मे प्रभावित करती हैं। सामाजिक सस्थाओ की उपयोगिता बनाये रखने की दृष्टि स यह आवश्यक है कि समय के साथ-साथ इनमे परिवर्तन किया जाय।

## सामाजिक सस्थाओं के अध्ययन का महत्व
## (IMPORTANCE OF STUDYING SOCIAL INSTITUTIONS)

सामाजिक सस्थाओ के अध्ययन का इस दृष्टि से विशेष महत्व है कि ये एक समाज विशेष की सस्कृति को समझने मे योग देती हैं। सस्थाएँ सस्कृति की वाहक होती हैं और इसी कारण किसी भी सस्कृति को समझने हेतु सस्थाओ का अध्ययन नितान्त आवश्यक है।

सस्थाओ के पीछे भूतकाल का सफल अनुभव छिपा रहता है। अत ये वर्तमान समय की समस्याओ का हल करने और भविष्य को समझने मे सहायता प्रदान करती हैं। भूतकाल मे लोगो ने अपने समय की समस्याओ को किस प्रकार से सुलझाया, अपने समय की चुनौतियो का उन्होने किस प्रकार से सामना किया, यह सब कुछ सामाजिक सस्थाओ के अध्ययन द्वारा ही समझा जा सकता है।

सामाजिक सस्थाओ का विकास व्यक्तियो की मौलिक आवश्यकताओ का सचार हुआ है और ये आवश्यकताएँ आज भी मौजूद हैं। अत भूतकालीन सामाजिक सस्थाएँ वर्तमान समय मे भी उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं और आवश्यकताओ की पूर्ति मे योग दे सकती हैं। अत सामाजिक सस्थाओ के अध्ययन द्वारा वर्तमान परिस्थितियो मे सामाजिक सस्थाओ की उपयोगिता का पता लगाया जा सकता है।

यह भी सम्भव है कि समय परिवर्तन और परिस्थितियो के बदल जाने के कारण कुछ सामाजिक सस्थाओ की वर्तमान समय मे कोई उपयोगिता नही रही हो। अत ऐसी सामाजिक सस्थाओ से छुटकारा प्राप्त करना आवश्यक हो गया हो। लेकिन सामाजिक सस्थाओ से छुटकारा प्राप्त करना उतना आसान नही है जितना साधारणत समझा जाता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि सामाजिक सस्थाओ की उत्पत्ति और विकास पर प्रकाश डाला जाय। सामाजिक सस्थाओ के अध्ययन द्वारा इनके वर्तमान समय मे गुण दोषो से परिचित हुआ जा सकता है। यदि कोई सस्था वर्तमान मे अनुपयोगी है तो इस अध्ययन के आधार पर प्रमाणित करना होगा लोगो को उसके दोषो का बताना होगा तब कही धीरे धीरे प्रचार के माध्यम से किसी निरर्थक सामाजिक सस्था से छुटकारा प्राप्त किया जा सकता है।

सामाजिक संस्थाओ के अध्ययन का इस दृष्टि से भी महत्व है कि हम ऐसा करके अपने समाज की श्रेष्ठ सामाजिक विरासत (Social Heritage) को बचाये रख सकेंगे। जोश ही जोश मे समाज-सुधारक और कुछ राजनेता प्राचीन सामाजिक सस्थाओ को जड से समाप्त करने की बात करते हैं। ऐसा करना न तो वैज्ञानिक आधार पर उचित है और न ही सम्भव है। भूतकालीन सामाजिक सस्थाओ को कुछ लोगो के कहने मात्र अथवा भाषण देने या कानून बना देने मात्र से समाप्त नहीं किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि सामाजिक सस्थाओ की जडे काफी गहरी होती हैं। इनका व्यक्ति के दिल और दिमाग पर काफी प्रभाव होता है। अत सामाजिक सस्थाओ के अध्ययन द्वारा वास्तविक तथ्यो की वैज्ञानिक आधार

पर जानकारी प्राप्त करके ही हम वास्तविकता के निकट पहुँच सकेंगे। ऐसी स्थिति मे हम जो कुछ श्रेष्ठ है, उसे बचाये रख सकेंगे और जो कुछ निरथक है, उसे छोड सकेंगे।

उपयुक्त सभी दृष्टिकाणो से सामाजिक सस्थाओ का कम विषयक आधार पर अध्ययन आवश्यक है। भारतीय सामाजिक सस्थाओ की अपनी कुछ ऐसी मौलिक विशेषताएँ ह कि य आज तक अपने अस्तित्व को बनाये रख सकी हैं। ये विशेषताएँ हैं प्राचीनता, स्थायित्व, धम प्रधानता, रूढिवादिता सहिष्णुता, समन्वयता, अनुकूलनशीलता,। इन विशषताओ क कारण भारतीय सामाजिक सस्थाओ का महत्व और भी बढ जाता है। ये सस्थाएँ न केवल व्यक्तियो की आवश्यकताओ को पूण करती हैं, बल्कि सामाजिक नियन्त्रण बनाय रखने म भी योग देती हैं। वास्तव मे इन सस्थाओ के अध्ययन के बिना भारतीय समाज और सस्कृति की आत्मा को यथाथ रूप मे नही समझा जा सकता।

### प्रश्न

(उत्तर सकेत सहित)

1 *'सामाजिक सस्था' की अवधारणा की सविस्तार व्याख्या कीजिए।*
[सकेत इस प्रश्न के उत्तर क लिए अध्याय के प्रारम्भ मे दी गयी भूमिका तथा 'सामाजिक सस्था की अवधारणा नामक शीषक दखिए।]

2 भारतीय सामाजिक सस्थाओ के अध्ययन क महत्व पर प्रकाश डालिए।
[सकेत इसके उत्तर के लिए प्रारम्भ मे दी गयी भूमिका तथा 'सामाजिक सस्थाओ क अध्ययन का महत्व नामक शीषक देखिए।]

3 सामाजिक सस्था के आवश्यक तत्वो एव कार्यों पर प्रकाश डालिए।
[सकेत सामाजिक सस्थाओ के आवश्यक तत्वो मे विचार, उद्देश्य, सरचना, अधिकार और अभिमत तथा प्रतीक का उल्लख करना है। सामाजिक सस्था के कार्यो के लिए 'सस्था के काय शीषक देखिए।]

4 सामाजिक सस्था का विकास कैसे होता है?
[सकेत इसके उत्तर मे सवप्रथम सक्षिप्त मे सामाजिक सस्था का अथ *लिखना है। फिर अध्याय मे सामाजिक सस्था की परिभाषाओ के पश्चात दिये* गये विकास पर प्रकाश डालना है।]

# 2

# जातिवाद तथा जाति का भविष्य
## (CASTEISM AND FUTURE OF CASTE)

जातिवाद जाति-व्यवस्था से सम्बन्धित एक गम्भीर समस्या है जो राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग मे बाधक है। जातिवाद वह सकुचित भावना है जिसके वशीभूत हो व्यक्ति समाज और राष्ट्र को विशेष महत्व नही देकर अपने जाति के हितो को सर्वोपरि मानता है और अपनी जाति के स्वार्थों की दृष्टि से सोचता है। आज जातिवाद ने जातियो को आन्तरिक दृष्टि से शक्तिशाली बनाने मे योग दिया है। वर्तमान मे जाति के नाम पर शिक्षण-सस्थाएँ धर्मशालाएँ, औद्योगिक सस्थान, औषधालय, मन्दिर एव अन्य सगठन पाये जाते हैं। इन सगठनो के माध्यम से जाति विशेष की स्थिति को सामाजिक सस्तरण की प्रणाली मे ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया जाता है। ये सगठन अपनी जाति के लोगो को विशेष सुविधाएँ प्रदान कर उन्हे अपनी सामाजिक स्थिति को उन्नत करने का अवसर देते है। आज व्यक्ति की सामाजिक स्थिति के निर्धारण मे जन्म और जाति का महत्व सापेक्ष दृष्टि से कम होता जा रहा है। अब धन, उच्च शिक्षा उच्च नौकरी तथा राजनीतिक शक्ति आदि के आधार पर व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा का निर्धारण होने लगा है। ऐसी स्थिति मे अपनी जाति के अन्य सदस्यो को अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाने के अवसर प्रदान करके ही सामाजिक सस्तरण की प्रणाली मे जाति को ऊँचा उठाया जा सकता है। यही कारण है कि उच्च सामाजिक स्थिति प्राप्त व्यक्ति अपनी जाति के व्यक्तियो को उच्च शिक्षा, राजकीय एव अन्य नौकरियो मे प्रवेश, धन कमाने के अवसर तथा राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने का मौका प्रदान करना चाहते हैं। आज विभिन्न जातियां इसी दिशा मे प्रयत्नशील है, जातीय सगठनो के निर्माण मे लगी हुई हैं, अपनी जाति के लोगो को हर कीमत पर सब प्रकार की सुख-सुविधाएँ पहुँचा रही हैं, चाहे इससे राष्ट्रीय अहित ही क्यो न हो।

### जातिवाद का अर्थ
### (MEANING OF CASTEISM)

जातिवाद या जाति भक्ति एक जाति के सदस्यो की वह सकुचित भावना है जो समाज या राष्ट्र के सामान्य हितो का ध्यान नही रखते हुए अपनी ही जाति के

सदस्यो के हितो का बढावा देने, उनकी सामाजिक स्थिति को उन्नत करने और उन्हे आगे बढाने के अवसर प्रदान करने के लिए प्रेरित करती हैं। जातिवाद वह भावना है जो एक जाति के सदस्यो को अपनी ही जाति वालो के उत्थान, एकता एव सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाने म मदद करती है। इस भावना के कारण एक जाति के सदस्यो की निष्ठाएँ अपनी जाति के लोगो तक ही केन्द्रित हो जाती हैं, व अपनी जाति के क्षुद्र स्वार्थ के दृष्टिकोण स ही सोच पाते हैं। उनमे अपनी जाति वालो के प्रति तो अपनपन की भावना पायी जाती है परन्तु अन्य जाति वालो के प्रति पृथक्करण की। यह प्रवृत्ति साम्प्रदायिकता की पोषक और राष्ट्रीय एकता मे बाधक है।

जातिवाद की सकुचित भावना के कारण व्यक्ति जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे अपनी जाति के सदस्यो को ही प्राथमिकता देने को तत्पर रहता है। जातिवाद का अर्थ स्पष्ट करत हुए डा के एन शर्मा ने लिखा है "जातिवाद या जाति भक्ति एक ही जाति के व्यक्तियों की वह भावना है जो देश के या समाज के सामान्य हितों का ख्याल न रखते हुए केवल अपनी जाति के सदस्यो के उत्थान जातीय एकता और जाति की सामाजिक प्रस्थिति को दृढ करने के लिए प्रेरित करती हो।"[1] इस परिभाषा मे दो पक्षो पर जोर दिया गया है—प्रथम, मनोवैज्ञानिक पक्ष पर और द्वितीय, व्यावहारिक पक्ष पर। मनोवैज्ञानिक पक्ष के अन्तगत व्यक्ति की भावनाएँ और व्यावहारिक पक्ष के अन्तगत उसकी क्रियाएँ आती हैं। जातिवाद स प्रभावित व्यक्ति अपनी जाति के प्रति न केवल तीव्र भक्ति भावना रखता है बल्कि अपनी क्रियाओ द्वारा भी जाति के अन्य लोगो के स्वार्थ की चिन्ता करता है, उन्हे उच्च शिक्षा दिलाने, नौकरी और व्यापार म प्राथमिकता देने और राजनीति म आगे बढाने का भी प्रयत्न करता है। उसके ऐसा करने से जाति विशेष म तो आन्तरिक दृढता अवश्य बढती है, परन्तु अन्य जातियो के न्यायपूर्ण हितो की पूर्ति म बाधा पहुँचती है, उनके प्रति घृणा के भाव भी पनपते हैं। यह स्थिति विभिन्न जातियो के बीच कटुता एव तनाव को बढाती है और राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से हानिप्रद है। काका कालेलकर ने जातिवाद के सम्बन्ध म लिखा है कि जातिवाद अन्ध और परिमित समूह भक्ति है जो न्याय के सामान्य सामाजिक मानदण्डो के औचित्य, नैतिकता तथा सार्वभौमिक भ्रातृत्व की उपेक्षा करती है। डॉ एन प्रसाद न बतलाया है कि जातिवाद राजनीतिकता मे रूपान्तरित एक जाति के प्रति निष्ठा है। इस सम्बन्ध मे के एम पन्निकर की मान्यता है कि राजनीतिक भाषा मे उपजाति के प्रति निष्ठा का भाव ही जातिवाद है। आपने अन्यत्र लिखा है कि जब तक उपजाति की अवधारणा पायी जाती है तब तक जातिवाद अपरिहार्य है क्योकि यह एक ऐसी स्थायी निष्ठा है जो हिन्दुओ ने उत्तराधिकार म प्राप्त की है।[2] स्पष्ट है कि जातिवाद वह सकीर्ण भावना है जो एक जाति

1 डॉ के एन शर्मा, भारतीय समाज और सस्कृति, पृ० 318।
2 K M Pannikar *Hindu Society at Cross Roads* p 22

के सदस्यों को अन्य लोगों के सामान्य हितो की चिन्ता नहीं करते हुए अपनी ही जाति के लोगों को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों मे प्राथमिकता देने को प्रेरित करती है।

## जाति और जातिवाद मे अन्तर
### (DISTINCTION BETWEEN CASTE AND CASTEISM)

(i) जहाँ जाति सामाजिक स्तरीकरण का एक प्रकार है, वहाँ जातिवाद जाति व्यवस्था से सम्बन्धित एक ऐसी कुप्रवृत्ति है जो लोगो को सम्पूर्ण समाज एव देश के हित के दृष्टिकोण से नही सोच कर अपनी जाति विशेष के हित की दृष्टि से सोचने को बाध्य करती है। जातिवाद के अन्तर्गत व्यक्ति अपनी जाति के लोगो को ही सब प्रकार की सुख-सुविधाएँ दिलाना चाहता है, उनके कल्याण की ही सोचता है और इसी उद्देश्य को ध्यान मे रखकर व्यवहार करता है, चाहे ऐसा करने से अन्य जाति के लोगो के हितो की अवहेलना क्यो न होती हो।

(ii) जाति व्यवस्था मे ऊँच-नीच का एक सस्तरण पाया जाता है जिसके अन्तर्गत निम्न जातिया उच्च जातियो को अपने से ऊँचा मान कर उन्हे आदर देती रही हैं। परन्तु वर्तमान मे जातिवाद ने व्यक्ति की निष्ठा को उसकी जाति या उप-जाति तक ही सीमित कर दिया है।

(iii) जाति व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न जातियो के एक दूसरे के साथ प्रकार्यात्मक सम्बन्ध पाये जाते रहे है। विभिन्न जातिया अपने अपने कार्यों के द्वारा अन्य जातियो की आवश्यकताओ की पूर्ति करती रही है और इसी आधार पर उनमे पारस्परिक अन्त निर्भरता बनी रही है। परन्तु जातिवाद की भावना से प्रेरित व्यक्ति विभिन्न जातियो के प्रति अपने दायित्व निभाने की दृष्टि से नही सोच कर अपनी जाति विशेष के कल्याण की दृष्टि से व्यवहार करता है। परिणामस्वरूप व्यक्ति सम्पूर्ण समाज की दृष्टि से नही सोच पाता और उसका दृष्टिकोण बडा सकुचित हो जाता है।

(iv) जहा जाति व्यवस्था ने विभिन्न जातियो के बीच सहयोग बढाने मे योग दिया है वहाँ जातिवाद ने तनाव बढाने मे। आज जातिवाद के कारण विभिन्न क्षेत्रो मे पक्षपात पाया जाता है। इससे योग्य व्यक्तियो को आगे आने का अवसर और समाज को प्रतिभाशाली व्यक्तियो की योग्यता का पूरा लाभ नही मिल पाता है।

(v) जाति व्यवस्था मे खान पान, रहन सहन, सामाजिक सम्पर्क एव विवाह सम्बन्धी अनेक प्रतिबन्ध पाये जाते है, यद्यपि वर्तमान समय मे इनमे शिथिलता आती जा रही है जबकि जातिवाद के अन्तर्गत इस प्रकार के प्रतिबन्ध नही पाये जाते।

(vi) प्रत्येक जाति का परम्परात्मक व्यवसाय पाया जाता है और यह समाज मे श्रम विभाजन को प्रकट करती है जबकि जातिवाद का व्यवसाय से कोई सम्बन्ध नही है। जातिवाद के आधार पर प्रत्येक जाति अधिकाधिक आर्थिक एव राजनीतिक लाभ हडपने का प्रयत्न करती है।

(vii) जाति व्यवस्था और जातिवाद यद्यपि दो विभिन्न अवधारणाएँ हैं परन्तु यहाँ इतना ध्यान रखना भी आवश्यक है कि जातिवाद जाति व्यवस्था की ही उपज है और बहुत से लोग जातिवाद को समाप्त करने के लिए जाति व्यवस्था को समाप्त करना आवश्यक मानते हैं। जाति व्यवस्था के अन्तगत प्रत्येक व्यक्ति एक जाति विशेष का सदस्य होता है परन्तु जातिवाद एक सकुचित मनोवृत्ति या भावना है। स्पष्ट है कि जाति एक मूत सामाजिक व्यवस्था है जबकि जातिवाद एक अमूत धारणा।

## जातियाद के विकास के कारण
## (FACTORS RESPONSIBLE FOR CASTEISM)

जातिवाद के विकास मे अनेक कारको का योग रहा है जिनमे से प्रमुख निम्नलिखित ह

(1) वैवाहिक प्रतिबन्ध के अन्तगत जाति अन्तर्विवाह की प्रथा आती है। इस प्रथा के अनुसार प्रत्येक के लिए अपने ही जातीय समूह मे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक है। वैवाहिक क्षेत्र के अपनी ही जाति या उपजाति तक सीमित होने की वजह से जीवन-साथी के चुनाव की समस्या आती ह। ऐसी स्थिति म लोगो का यह प्रयत्न रहता है कि अपनी ही जाति वालो को विभिन्न क्षेत्रो मे आगे बढने और नौकरियाँ तथा सुख सुविधाएँ प्राप्त करने का अवसर मिले।

(2) यातायात और सन्देशवाहन के साधनो के विकास ने जातिवाद को राष्ट्रव्यापी बना दिया है। एक ही जाति के लोग देश के विभिन्न कोनो मे पहुच गये हैं। जाति बिरादरी वालो के आज प्रान्तीय ही नही बल्कि अखिल भारतीय सम्मेलन होते ह जिनमे अपनी जाति के सदस्यो के हितो के सरक्षण पर विचार विमर्श किया जाता है। आज तो विभिन्न जातियों की पत्र पत्रिकाएँ तक निकलने और सगठन बनने लग ह जिनके फैलाव का क्षेत्र काफी व्यापक है। जातीय आधार पर बने ऐसे सगठनो को रूडोल्फ व रूडोल्फ ने पैरा कम्यूनिटीज (Para Communities) नाम दिया ह।

(3) जातीय प्रतिष्ठा को ऊँचा उठाने और सामाजिक सस्तरण की प्रणाली मे अपनी जाति की स्थिति को उन्नत करने की इच्छा ने जातिवाद के विकास मे विशेष सहायता पहुचायी है। आज अर्जित प्रस्थिति का महत्व बढता जा रहा है और इसी कारण जाति के सदस्यों को नवीन पैमानो के अनुसार विभिन्न क्षेत्रो मे आगे बढने के अवसर प्रदान करना आवश्यक हो गया है। इसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति सकुचित दृष्टिकोण से सोचता और व्यवहार करता है।

(4) जजमानी प्रथा के टूटने से जातिवाद को प्रोत्साहन मिला है। इस प्रथा ने उन्नीसवी शताब्दी के पहले तक विभिन्न जातियो को कार्यात्मक आधार पर एकता के सूत्र म बाध रखा था। प्रत्येक जाति अपनी विभिन्न आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए अन्य जातियो पर निभर थी। जातियाँ एक दूसरे के लिए कुछ आवश्यक सेवाएँ प्रदान करती थी और बदले मे कुछ वस्तुएँ प्राप्त करती थी। यह पारस्परिक

निर्भरता प्रत्यक्ष और परम्परागत थी। आज जजमानी प्रथा के टूटने से विभिन्न जातियो के उदग्र सम्बन्ध (vertical relations) समाप्त हो चुके है और एक ही जाति के सदस्यो के पारस्परिक सम्बन्धो, जिन्हे क्षैतिज सम्बन्ध (horizontal relations) कहते हैं, मे दृढता आयी है। इसके फलस्वरूप जातिवाद को प्रोत्साहन मिला है।

(5) औद्योगिक विकास ने भी जातिवाद का वर्धन मे योग दिया है। औद्योगीकरण के कारण अनेक नवीन व्यवसाओ का विकास हुआ है जिनका किसी जाति विशेष के साथ कोई सम्बन्ध नही पाया जाता। आज विभिन्न जाति के व्यक्ति एक ही व्यवसाय मे और एक ही जाति के लोग भिन्न भिन्न व्यवसायो मे लगे हुए है। औद्योगीकरण के कारण परिवार तथा जाति के वशानुगत पेशो को चोट पहुँची है। परिणाम यह हुआ है कि आर्थिक सुरक्षा समाप्त हो गयी है। साथ ही जनसख्या की तेजी से वृद्धि एव औद्योगिक विकास की धीमी गति के कारण लोगो को योग्यतानुसार नौकरियाँ प्राप्त करने के अवसर नही मिल हैं। ऐसी स्थिति मे जाति के द्वारा अपने सदस्यो को आर्थिक सुरक्षा प्रदान करने हेतु लोग अपनी ही जाति वालो को उच्च पद प्राप्त करने का अवसर देना चाहते हैं।

(6) नगरों की दशाओ ने भी जातिवाद को प्रोत्साहित किया है। नगरो मे विभिन्न जातियो, धर्मों, सस्कृतियो तथा आर्थिक स्तरो के लोग पाये जाते है। यहाँ विभिन्न स्वार्थों के आधार पर बने सगठन भी दिखलायी पडते है। ऐसी स्थिति मे जाति ही पीछे क्या रहती ? नगरो मे घनिष्ट एव दृढ समूह के रूप मे जातीय सगठन बनने लगे जो अपनी जाति के लोगो की स्वार्थ पूर्ति के कार्य मे लग गये। नगर मे महेश्वरी समाज, खण्डेलवाल युवक मण्डल तथा गुजर गौड ब्राह्मण पचायत आदि के रूप मे अनेक जातीय सगठन पाये जाते हैं।

(7) जातियो के विभेदीकृत विकास ने भी जातिवाद को प्रोत्साहित करने में सहायता पहुचायी है। कुछ जातियो को विशेषाधिकार प्राप्त रहे हैं और कुछ अनेक निर्योग्यताओ से पीडित रही हैं। ऐसी दशा मे जातियो को उच्च शिक्षा प्राप्त करने, उच्च नौकरियो मे आने तथा धन कमाने एव अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाने के विशेष अवसर मिले हैं। परिणाम यह हुआ कि कुछ जातियो ने आर्थिक व राजनीतिक शक्ति प्राप्त कर ली और कई जातियो को इससे वचित रहना पडा। कुछ जातियाँ अपने परम्परागत व्यवसायो मे ही लगी रही और उन्हे आर्थिक दृष्टि से प्रगति करने और अपने जीवन स्तर को ऊँचा उठाने का मौका नही मिला। इस स्थिति ने विभिन्न जातियो मे कटुता को बढाया है और परिणामस्वरूप जातीय सगठन दृढ हुए हैं। इस सारी परिस्थिति ने लोगो को अपनी जाति या उपजाति के सकुचित स्वार्थ के दृष्टिकोण से सोचने के लिए प्रेरित किया है।

(8) सस्कृतिकरण (Sanskritization) की प्रक्रिया का उल्लेख डा श्रीनिवास ने किया है। सस्कृतिकरण वह प्रक्रिया है जिसमे एक निम्न जाति

ब्राह्मण, क्षत्रिय या प्रभुजाति (dominant caste) के खान-पान रहन सहन, देवी देवता, प्रथाओ, रीति रिवाजा, वेश भूषा, व्यवहार और जीवन जीने के ढग (Way of Life) को अपनाती है। बाल विवाह करना प्रारम्भ कर देती है, विधवा विवाह पर रोक लगा देती है तथा मास और मदिरा का त्याग कर देती है। ऐसा करके वह निम्न जाति सामाजिक सस्तरण मे ऊँचा उठना चाहती है। यह काय जाति के किसी एक या दो व्यक्तियो द्वारा नही वरन् सम्पूण समूह द्वारा एक साथ होता है। सस्कृतिकरण करने वाली जाति मे जातिवाद की भावना पैदा होती है, वह अन्य निम्न जातियो से अपने को श्रेष्ठ समझने लगती है। उधर उच्च जातियां सस्कृतिकरण करने वाली जाति की नयी स्थिति का स्वीकार नही करती। परिणामस्वरूप उच्च एव सस्कृतिकरण करने वाली जाति के बीच सघष पैदा होता है—यह सघष जातिवाद की ओर अधिक बढावा देता है।

(9) जातीय सगठन—जातिवाद को विकसित करने मे जातीय सगठनो ने भी महत्वपूण भूमिका अदा की है। आज अनेक जातियो के क्षेत्रीय एव राष्ट्रीय सगठन पाये जाते हैं, जैसे अखिल भारतीय लाड बनिया सघ, अखिल भारतीय ब्राह्मण सघ, गुजर गौड ब्राह्मण सघ 'राजस्थान' आदि। इन जातीय सगठनो की अपनी पत्र पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं, सम्मेलन एव गोष्ठिया होती है, चुनाव मे व्यक्ति विशेष को ही मत देने पर जोर दिया जाता है। अपनी जाति के सदस्यो को सगठित करने एव उनके हितो की रक्षा के प्रयत्न भी जातीय सगठनो द्वारा किये जाते हैं।

(10) राजनीति—प्रजातन्त्र मे वोट की कीमत होती है और वोट प्राप्त करने का एक तरीका है—लोगो म जातीय भावनाओ का उभारा जाय। जिस क्षेत्र मे जाटो की बहुलता है उस क्षेत्र से जाट, जिन मे क्षत्रियो, अहीरो, मुसलमानो की बहुलता है उनमे क्षत्रिय, अहीर एव मुसलमान को ही चुनाव म उम्मीदवार के लिए चुना जाता है। चुनावो मे जाति के नाम प वोट मागे जाते ह और दिये जाते है। पचायत स लेकर ससद तक के चुनावो मे यही होता है। जो लाग मच पर आकर जाति विहीन एव वग विहीन समाज की बात करते है वे गुप्त रूप से चुनावो म जातीय आधार पर वोट प्राप्त करने के समझौते करते है। इस प्रकार राजनीति ने जातिवाद को बढावा दिया है।

उपयुक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विविध कारको ने जातिवाद के विकास म योग दिया है।

## जातिवाद के दुष्परिणाम
### (EVIL EFFECTS OF CASTEISM)

जातिवाद के फलस्वरूप अनेक गम्भीर समस्याएँ उत्पन्न हुई है। ये समस्याएँ निम्नलिखित हैं

(1) जातिवाद प्रजातन्त्र विरोधी है—आजादी के बाद भारत ने प्रजातन्त्र

को अपनाया। स्वतन्त्र भारत के संविधान के अनुच्छेद 15 (1) में कहा गया है कि राज्य किसी नागरिक के प्रति धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म आदि के आधार पर कोई भेदभाव नहीं करेगा। किन्तु जातिवाद प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों के विरुद्ध है।

प्रजातन्त्र का अर्थ है जनता के लिए जनता द्वारा जनता का राज्य। प्रजातन्त्र के तीन मूल सिद्धान्त हैं—स्वतन्त्रता, समानता एवं भाईचारा (Freedom, Equality and Fraternity)। प्रजातन्त्र में प्रत्येक व्यक्ति को विकास के पूर्ण अवसर उपलब्ध होते हैं किसी भी व्यक्ति के साथ ऊँच नीच का भेदभाव नहीं किया जाता। सभी को समान समझा जाता है चाहे वह राष्ट्रपति का पुत्र हो या चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी का। भाईचारा प्रजातन्त्र का मानसिक पक्ष है। भाईचारे में समानता भी स्वाभाविक है। प्रजातन्त्र में सभी प्रकार के धर्म, लिंग, रंग, आयु, आय, प्रजाति आदि से सम्बन्धित लोगों का सहयोग, सहायता एवं त्याग आवश्यक है। इनके बिना प्रजातन्त्र सफल नहीं हो सकता।

किन्तु जातिवाद अप्रजातान्त्रिक है, यह प्रजातन्त्र के तीनों मूल सिद्धान्तों पर चोट करता है। जातिवाद में ऊँच नीच की भावना पायी जाती है। जाति में व्यक्ति की सामाजिक स्थिति का निर्धारण जन्म से ही होता है, इसमें विवाह, शिक्षा, व्यवसाय सभी क्षेत्र निश्चित है। जातिवाद व्यक्ति के गुणों पर नहीं, उसके जन्म पर जोर देता है जबकि प्रजातन्त्र व्यक्ति का मूल्यांकन उसके गुणों के आधार पर करता है। जातिवाद संकुचित निष्ठा अंधभक्ति एवं पक्षपात पर निर्भर है। जातिवाद प्रजातन्त्र की तरह समानता पर नहीं वरन् जन्म से ही असमानता पर आधारित है। एक निम्न जाति में जन्म लेने वाला व्यक्ति चाहे कितना ही गुणी, शिक्षित एवं दक्ष क्यों न हो, वह उच्च जाति के व्यक्ति के बराबर नहीं माना जायेगा। जाति-व्यवस्था में उच्च जातियों को कई विशेषाधिकार दिये गये हैं एवं निम्न जातियों के प्रति सामाजिक न्याय नहीं किया गया है। विवाह, व्यवसाय एवं शिक्षा के क्षेत्र में भी जातीय आधार पर उच्च एवं निम्न जातियों में भेद किया जाता है। जातियों की स्वतन्त्रता पर जाति पंचायतों के नियमों द्वारा अंकुश लगा दिया गया है। विभिन्न जातियों के बीच असमानता का सिद्धान्त स्वीकार किये जाने के कारण जातिवाद में भाईचारे की भावना का अभाव पाया जाता है। जातीय भेद के कारण जातीय तनाव, द्वेष, विषमता एवं घृणा उत्पन्न होती है। पणिक्कर लिखते हैं, "जाति व जनतन्त्र पूर्णतः विरुद्ध है, एक जन्म की समानता पर आधारित है तो दूसरा असमानता पर। एक सामाजिक सम्मेलन से बनता है, दूसरा सामाजिक बहिष्कार से। जनतन्त्र वर्ग की सीमाओं को तोड़ने की कोशिश करता है, जाति उसे बनाये रखना चाहती है। जनतन्त्र सार्वभौमिक शिक्षा देता है जिससे वर्ग चेतना समाप्त हो जाय जाति केवल शासक वर्ग के अतिरिक्त सबको शिक्षा से इंकार करती है। सभी महत्वपूर्ण रूपों में जाति एवं जनतन्त्र मूल रूप से विरुद्ध हैं।"

की दीवार खडी करता है। व्यक्ति अपनी जाति से ऊपर उठकर समाज, राष्ट्र और मानवता के दृष्टिकोण से सोच नही पाता। यह सारी स्थिति किसी भी दृष्टि से श्रेयस्कर नही कही जा सकती है। डा घुरिये ने जातिवाद के दुष्परिणामो की ओर सकेत करते हुए लिखा है "यह जातिवाद की भावना ही है जो दूसरी जातियो के प्रति विरोध उत्पन्न करती है और राष्ट्रीय चेतना की वृद्धि के लिए दूषित वातावरण का निर्माण करती है। यह जातिवाद ही है जिसके विरुद्ध हमे लडना है और इसे पूर्णतया समाप्त कर देना है। यदि जातिवाद को घटा देने की समस्या हल न हुई तो इसका परिणाम यह होगा कि एक बडी सख्या मे ऐसे सगठित समूह उत्पन्न हो जायेंगे जो दूसरो के हितो पर कुठाराघात करके अपने हितो को बढायेंगे। इसके फलस्वरूप तीव्र सघर्ष उत्पन्न होगे। साथ ही जो लोग उपजातियो को चुनौती देकर अन्तर्जातीय विवाह करेंगे, उनमे भी जातिवाद की भावना भरी रहेगी। इस प्रकार इस समस्या मे किसी तरह का सुधार नही हो सकेगा।"[3]

## जातिवाद के निराकरण के उपाय
## (MEASURES TO ERADICAL CASTEISM)

जातिवाद के निराकरण के लिए समय समय पर अनेक सुझाव दिये जाते रहे हैं। कुछ लोगो का कहना है कि जातिवाद की समस्या से छुटकारा प्राप्त करने के लिए जाति व्यवस्था को समाप्त कर देना चाहिए। कुछ नेतागण तो यह कहते रहे है कि शीघ्र ही जातिविहीन समाज की रचना होगी। लेकिन अभी तक न तो ऐसा सम्भव हुआ है और न ही निकट भविष्य मे इसकी सम्भावना दिखायी देती है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक जाति के ऐतिहासिक और सामाजिक सम्बन्ध पाये जाते है जिन्हे समाप्त करना कोई सरल कार्य नही है। यहा लोग ऐसा सोच भी नही पाते कि भारत मे जातियो के अभाव मे कोई सामाजिक प्रणाली चल सकती है। अत जातिवाद को समाप्त करने हेतु जाति व्यवस्था को समाप्त करना अव्यावहारिक प्रतीत होता है।

कुछ लोग कानून के द्वारा जाति व्यवस्था और जातिवाद को समाप्त करने का सुझाव भी देते है। यद्यपि कानून सामाजिक परिवर्तन का एक महत्वपूर्ण माध्यम अवश्य है परन्तु जब तक लोगो की मनोवृत्तियो मे परिवर्तन नही आता तब तक कानून कोई महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन लाने मे सफल नही हो सकता। क्या कानून के माध्यम से आज तक बाल विवाहो को समाप्त और विधवा विवाहो को प्रोत्साहित किया जा सका है? यदि नही तो फिर कानून के द्वारा जाति व्यवस्था और इसके परिणामस्वरूप पनपने वाले जातिवाद को कैसे समाप्त किया जा सकता है? ऐसी स्थिति मे हमे जातिवाद के निराकरण के लिए कुछ अन्य उपायो पर विचार करना चाहिए जो अग्रवत है

3 G S Ghurye *Caste Class and Occupation* Chap XII

(1) जातिवाद को समाप्त करने के लिए डॉ घुरिये का सुझाव है कि अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। अन्तर्जातीय विवाह उसी समय प्रचलित हो सकते हैं जब ऐसे विवाहों के लिए देश में उपयुक्त वातावरण तैयार किया जाय। यह तभी हो सकता है जब शिक्षा के माध्यम से लोगों की मनोवृत्तियों में परिवर्तन लाया जाय तथा विभिन्न जातियों के लड़के लड़कियों को एक-दूसरे के निकट आने का अवसर दिया जाय। डॉ घुरिये ने बतलाया है कि वास्तव में यदि जाति-प्रथा और जातिवाद का अत्यधिक आघात पहुंचाने वाला कोई तत्व है तो वह है अन्तर्जातीय विवाहों का प्रोत्साहन। आवश्यकता इस बात की है कि अन्तर्जातीय विवाह करने वालों को सुविधाओं के रूप में प्रेरणा प्रदान की जाय।

(2) के एम प्रभु की मान्यता है कि उचित शिक्षा के द्वारा व्यवहार के आन्तरिक स्रोतों पर प्रभाव डालकर जातिवाद को दूर किया जा सकता है। शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए कि बच्चों में जाति पाँति सम्बन्धी भेदभाव उत्पन्न ही नहीं हो, धर्म निरपेक्षता को बढ़ावा मिले और जातिवाद के विरोध में स्वस्थ-जनमत का निर्माण हो, शिक्षा और सामाजिक सम्पर्क के द्वारा एक जातीय समूह की दूसरे समूह के प्रति कलुषित धारणाओं को बदला जा सकता है। लोगों की मनोवृत्तियों को बदलने के लिए चलचित्रों का प्रयोग किया जा सकता है।

(3) डॉ राय के अनुसार वैकल्पिक समूहों के निर्माण से जातिवाद की समस्या को हल किया जा सकता है। यहाँ लोग जातीय समूहों के माध्यम से ही अपनी सामूहिक प्रवृत्तियों को व्यक्त करते हैं। यदि उन्हें वैकल्पिक समूह उपलब्ध हो तो वे इनकी सदस्यता प्राप्त कर इनके माध्यम से सामूहिक मनोवृत्तियों को व्यक्त तथा अपनी विविध क्रियाओं को संगठित कर सकेंगे। सामाजिक और सांस्कृतिक संगठनों के निर्माण से विभिन्न जातियों के व्यक्तियों को एक दूसरे के निकट आने और एक दूसरे को समझने का मौका मिल सकेगा। ऐसी स्थिति में उनमें समानता और बन्धुत्व की भावना पनपेगी और जातिवाद दूर हो सकेगा। यहाँ यह सावधानी रखना अत्यन्त आवश्यक है कि कहीं इन संगठनों में भी जातिवादिता प्रवेश न कर जाय।

(4) श्रीमती इरावती कर्वे ने सुझाव दिया है कि जातिवाद से छुटकारा प्राप्त करने के लिए विभिन्न जातियों में आर्थिक एवं सांस्कृतिक समानता लाना आवश्यक है। इस समानता के आने पर लोग अपनी ही जाति के संकुचित दायरे में सीमित नहीं रहेंगे और उन्हें विभिन्न जाति के लोगों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में सहायता मिलेगी।

(5) जातिवाद को समाप्त करने तथा अस्पृश्यता निवारण हेतु सितम्बर 1955 में दिल्ली में आयोजित सेमिनार में सुझाव दिया गया कि जाति शब्द का कम से कम प्रयोग किया जाय। सेमिनार में बतलाया गया कि सरकार के द्वारा यह प्रयत्न किया जाना चाहिए कि प्रार्थना पत्रों, स्कूल के रजिस्टरों धर्मशालाओं तथा

दुकानो आदि के नामो मे जाति शब्द का कही कोई प्रयोग नही किया जाय। य
सुझाव केवल जाति-व्यवस्था की ऊपरी-सतह को प्रभावित करने वाला ही है।

(6) डा श्रीनिवास ने बतलाया है कि वयस्क मताधिकार प्रणाली, पचवर्षी
योजनाओ के माध्यम से होने वाली शान्ति, शिक्षा का प्रसार, पिछडी जातियो क
उत्थान तथा उनके रहन-सहन के तरीको पर उच्च जातियो की संस्कृति के प्रभा
से जाति व्यवस्था के बहुत से दोष दूर हो सकेंगे। इन दोषो में से जातिवा
भी एक है।

(7) जातीय सगठनो पर प्रतिबन्ध—जातिवाद को समाप्त करने के लिए
यह आवश्यक है कि जाति के नाम पर चलने वाले क्षेत्रीय एव प्रातीय सगठनो पर
रोक लगा दी जाय क्योकि ये सगठन ही जातिवाद की भावना पैदा करने एव उभारने
के लिए उत्तरदायी हैं। इसके लिए कानूनी उपायो के साथ-साथ जनमत को जाग्रत
करने का प्रयास भी किया जाय।

(8) व्यावहारिक कानूनो का निर्माण—जातिवाद को समाप्त करने के लिए
यह आवश्यक है कि अव्यावहारिक कानून केवल पुस्तको की शोभा बनकर ही रह जाते
हैं और व्यवहार मे वे कुछ भी करने मे असमर्थ होते हैं। उदाहरण के लिए, अन्तर
जातीय विवाह को कानूनी स्वीकृति प्राप्त है किन्तु इस प्रकार का विवाह करने
वालो को आर्थिक सरक्षण भी प्राप्त होना आवश्यक है। इसी प्रकार से छुआछूत को
समाप्त करने के लिए बनाये गये सामाजिक विधान भी अधिक प्रभावशाली सिद्ध
नही हुए हैं।

(9) जातिगत राजनीति की समाप्ति—पिछले कुछ वर्षो मे पचायतो से
लेकर ससद तक के चुनावो म जाति के आधार पर उम्मीदवारो का चयन किया गया
है और मत दिये एव लिये गये हैं। जब तक जाति के आधार पर चुनाव लडे जाते
रहेगे, तब तक जातिवाद समाप्त नही हो सकता क्योकि जो उम्मीदवार जाति के
आधार पर चुनाव जीतता है, उसे अपनी जाति के सदस्यो के काम करने ही पड़ते हैं,
उनके प्रति पक्षपात एव सहानुभूति रखनी ही होती है। ऐसा होने पर जातिवाद
समाप्त कैसे हो सकता है। अत जातिगत राजनीति को समाप्त करना जातिवाद को
समाप्त करने के लिए आवश्यक है।

जातिवाद से छुटकारा प्राप्त करने के लिए आर्थिक विकास अत्यन्त
आवश्यक है। आर्थिक विकास से लोगो को रोजगार प्राप्त करने की सुविधा उपलब्ध
और बेरोजगारी समाप्त हो सकेगी। इसका परिणाम यह होगा कि नौकरियाँ आदि
प्राप्त करने के लिए लोगो को अपनी जाति वालो के पास नही दौडना पडेगा। अत
देश के आर्थिक विकास पर विशेष जोर देना आवश्यक है।

## जातिवाद के निवारण हेतु प्रयत्न
### (EFFORTS MADE TO REMOVE CASTEISM)

स्वतन्त्र भारत मे जातिवाद को समाप्त करने हेतु अनेक प्रयत्न किये गये हैं।

उदाहरण के रूप मे, साक्षरता के प्रसार, वैकल्पिक समूहो के निर्माण, जाति तथा धर्म के आधार पर सबके साथ समानता के व्यवहार का प्रोत्साहन देने और आर्थिक एव सास्कृतिक समानता लाने हेतु अनेक कदम उठाये गये हैं। यहाँ पिछडी जातियो तथा अछूतो एव जनजातियो की निर्योग्यताओ को समाप्त कर उन्हे उच्च जातियो के समकक्ष लाने का प्रयत्न भी किया गया है। 'अस्पृश्यता निवारण अधिनियम, 1955' के द्वारा अस्पृश्यता को कानून के द्वारा समाप्त कर दिया गया है। पचवर्षीय योजनाओ के माध्यम से देश के औद्योगिक विकास का भी पूरा प्रयत्न किया गया है ताकि लोगो को नौकरियाँ प्राप्त हो सकें। जैसे-जैसे साक्षरता बढती है, स्कूलो एव कॉलिजो मे विभिन्न जातियो के बालक बालिकाओ को एक-दूसरे के साथ अध्ययन एव सम्पर्क स्थापित करने के अवसर बढते है अन्तरजातीय विवाहो की सख्या मे वृद्धि होती है, औद्योगीकरण और नगरीकरण की गति तीव्र होती है उसके साथ ही साथ जातिविहीन वातावरण की सृष्टि और जातिवाद की सकुचित भावना का अन्त हो सकेगा।

## जातिवाद की सम-सामयिक प्रवृत्तियाँ
### (CONTEMPORARY TRENDS IN CASTEISM)

औद्योगीकरण, नगरीकरण, यातायात के विकसित साधनो, छापेखाने के आविष्कार एव नवीन शिक्षा आदि के प्रभाव के कारण जाति व्यवस्था मे अनेक परिवर्तन आये है और जातिवाद का नवीन रूप विकसित हुआ है। जाति मे विवाह, खान पान, व्यवसाय एव छुआछूत से सम्बन्धित दृढता कमजोर हुई है। पहले व्यक्ति का जीवन गाँव एव नगर तक ही सीमित था। अत यह परिवार, नातेदारी, धर्म, जातीय बन्धनो एव नियमो से बँधा हुआ था। जाति के नियमो का तोडने अथवा उनका उल्लघन करने का भय होता था सामाजिक बहिष्कार, निन्दा एव आलोचना जो व्यक्ति की सामाजिक स्थिति एव कभी कभी तो उसके जीवन का ही सकट मे डाल देती थी। तब जातिवाद का एक ही उद्देश्य था, विभिन्न जातियो के बीच पायी जाने वाली सास्कृतिक भिन्नता एव सामाजिक दूरी का बनाये रखना तथा साथ ही रक्त की पवित्रता को बनाये रखने के लिए विभिन्न जातियो के बीच विवाह की सम्भावनाओ पर नियन्त्रण रखना।

किन्तु आज जातिवाद का रूप बदला है। अब सास्कृतिक एव सामाजिक भिन्नता को बनाये रखने के बजाय जातिवाद का नारा बुलन्द कर राजनीतिक, आर्थिक एव धार्मिक हितो एव उद्देश्यो को पूरा किया जाता है। पहले जातिवाद का नारा केवल एक जाति विशेष द्वारा ही दिया जाता था किन्तु आज कई जातियाँ मिलकर अपना एक सगठन बनाती है एव राजनीतिक आर्थिक लाभ हडप लेना चाहती है। कई अनुसूचित जातियो ने मिलकर एक ही जातीय सघ बनाकर नौकरी एव विभिन्न पदो पर आरक्षण की व्यवस्था को लेकर आन्दोलन किये हैं। इसके परिणामस्वरूप उच्च जातियो ने भी आरक्षण को हटाने की माँग की है। इस प्रकार का विवाद बिहार से

प्रारम्भ हुआ और अब वह उत्तर प्रदेश, राजस्थान एव अन्य प्रान्तो मे भी जोर पकडता जा रहा है। ऊपरी तौर पर अपने आपको धर्म निरपेक्ष एव असाम्प्रदायिक बताने वाले तथा वर्गविहीन एव जातिविहीन समाज की स्थापना का दावा करने वाले राजनीतिज्ञ भी अवसर आने पर जातिवाद का सहारा लेते है एव अपना हित साधन करते हैं। रजनी कोठारी[4] ने राजनीतिक प्रभाव से विकसित होने वाले जातिवाद का अपनी पुस्तक मे सुन्दर उल्लेख किया है। रुडाल्फ एव रुडाल्फ[5] ने जाति उदग्र (Vertical) तथा समानान्तर (Horizontal) गतिशीलता के लिए जातिवाद की भावना को महत्वपूर्ण माना है। जातिवाद के आधार पर जातीय सगठन बनाये जाते हैं और जातियाँ सास्कृतिक व सामाजिक गतिशीलता ग्रहण कर अपना आधुनिकीकरण करती हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि जातिवाद का परम्परागत स्वरूप बदल रहा है और अब वह सामाजिक सास्कृतिक विशेषताओ को बनाये रखने की अपेक्षा आर्थिक एव राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति के प्रति अधिक सजग है।

## भारत मे जाति का भविष्य
## (FUTURE OF CASTE IN INDIA)

जाति व्यवस्था मे होने वाले परिवर्तनो एव नवीन शक्तियो के सघात के कारण कई बार यह प्रश्न किया जाता है कि क्या भविष्य मे भारत मे जातियाँ समाप्त हो जायेंगी, यदि नही तो उनके भविष्य का स्वरूप क्या होगा अथवा क्या होना चाहिए। स्वतन्त्रता के पश्चात भारत मे धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना की गयी, जाति, रग एव लिंग पर आधारित भेदभाव एव अस्पृश्यता को कानून द्वारा समाप्त कर दिया गया, प्रजातन्त्र की स्थापना की गयी जिसमे देश के सभी नागरिको को समान मौलिक अधिकार प्रदान किये गये। औद्योगीकरण, नगरीकरण, सुधार आन्दोलनो, पाश्चात्य सभ्यता एव सस्कृति के प्रभावो आदि के कारण जाति की सरचना एव प्रकार्यों मे अनेक नवीन स्थितियाँ पैदा हुई है, जाति मे वर्गगत विशेषताएँ पनपने लगी हैं। इन सब कारणो से प्रगतिवादी लेखको एव राजनीतिज्ञों ने कई बार जाति के समाप्त होने की बात कही है। कुछ लोग मानते हैं कि जाति प्रथा अपने आप ही समाप्त हो जायगी, किन्तु ऐसा मानना निराधार है। डा शर्मा का मत है कि जाति मे समय के साथ अनुकूलन करने एव समुत्थान की शक्ति निहित है जो जाति व्यवस्था के समाप्त होने के झूठे भय को अप्रमाणित सिद्ध करती है। डॉ श्रीनिवास ने गुजरात उडीसा मद्रास, आन्ध्र, मसूर बिहार तथा उत्तर प्रदेश मे जाति मे उभरती हुई जागरूकता और नवीन सगठनो के निर्माण के कारण जाति के शक्तिशाली होने की बात कही है।[6] डॉ घुरिये एव डॉ श्रीनिवास का मत है कि

---

4 Rajni Kothari *Caste in Indian Politics*
5 Lloyd I Rudolph and S H Rudolph *The Modernity of Tradition*
6 M N Srinivas quoted by Yogendra Singh, *op cit*, p 166

जहाँ एक ओर अंग्रेजी शासन काल मे होने वाले परिवर्तनो ने जातिप्रथा के बन्धन ढीले किये वहाँ उन्होंने जाति प्रथा को प्रोत्साहन भी दिया। अछूत आन्दोलन ने जाति की जडो को मजबूत करने मे सहयोग दिया। जातीय सगठनो के निर्माण ने भी जाति को सुदृढ बनाया है। डा योगेन्द्रसिंह का मत है कि जाति म होने वाले परिवर्तनो का सनुत्थान एव लचीलेपन की दृष्टि से देखा जाना चाहिए। लम्बे समय तक जाति राजनीति, अर्थ-व्यवस्था तथा सस्कृति के क्षेत्र मे आधुनिकीकरण करने वाली सामाजिक सरचनाओ के सचालन के लिए सस्थात्मक आधार प्रदान करती रहेगी। यह कहना वैज्ञानिक दृष्टि स तार्किक नही ह कि जाति व्यवस्था समाप्त हो रही है।

डा श्रीनिवास कहते हैं कि भारत मे कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो सख्या म थोडे हैं किन्तु शक्तिशाली हैं, उनका मत है कि जाति प्रथा समाप्त हो जानी चाहिए। दूसरी ओर अधिकाश जनता विशेषत हिन्दू लोग न केवल जाति प्रथा का समाप्त करने के विरोधी हैं वरन् वे किसी ऐसी समाज-व्यवस्था की भी कल्पना नही कर सकते जिसमे जाति-व्यवस्था न हो। ग्रामो मे निवास करने वाली 80 प्रतिशत जनता के लिए जाति आज भी वे सारे कार्य करती है जो पाश्चात्य औद्योगिक नगरो के लिए कल्याणकारी राज्य करता है।[7] जाति व्यवस्था को समाप्त करने के लिए अनेक कानून भी बनाये गये है, किन्तु प्रस्ताव पास कर देने एव कानून बनाने स ही कोई कार्य नही हो जाता है। श्रीनिवास कहते हैं, "मैं आपको स्पष्ट शब्दो म यह देना चाहता हूँ कि यदि आप यह सोच रहे हैं कि आप जाति से सरलता से मुक्ति पा सकते हैं तो आप गम्भीर त्रुटि कर रहे हैं। जाति एक बहुत ही शक्तिशाली सस्था है और यह समाप्त होने स पूर्व बहुत ही खून खराबा करेगी।"[8]

स्पष्ट है कि भारत मे जाति-व्यवस्था एक गतिशील सस्था है जो समय एव परिस्थितियो के साथ सदैव परिवर्तित होती रही है और आने वाले समय मे भी वह आवश्यकता के अनुरूप अपने को ढालने म समर्थ है। अत इसके समाप्त होने के कोई आसार नजर नही आते हैं।

## प्रश्न

### (उत्तर सकेत सहित)

1 *जातिवाद की बुराइयो का वर्णन कीजिए और समझाइए कि यह किस प्रकार* राष्ट्रीय समन्वय में बाधा पहुँचाता है। (आगरा, 1971)
[सकेत—इसके उत्तर के लिए भूमिका तथा 'जातिवाद का अर्थ' देखिए। इसके बाद 'जातिवाद के दुष्परिणाम' शीर्षक देखिए।]

2 जातिवाद से आप क्या समझते हैं ? भारत मे जातिवाद के विकास के कारणो का उल्लेख कीजिए।

7 M N Sriniwas *Caste in Modern India and other Essays* p 70
8 M N Sriniwas *op cit* p 72

[संकेत—प्रश्न के प्रथम भाग के उत्तर में भूमिका तथा जातिवाद का अर्थ लिखना है। तत्पश्चात् जातिवाद के विकास के कारण' शीर्षक में वर्णित सामग्री लिखनी है।]

3 'जातिवाद एवं प्रजातन्त्र एक दूसरे के विरोधी हैं।' इस कथन को स्पष्ट कीजिए।

[संकेत—इसके उत्तर के लिए 'जातिवाद के दुष्परिणाम' के अन्तर्गत दिया गया पहला पॉइंट 'जातिवाद प्रजातन्त्र विरोधी है' लिखना है।]

4 भारत में जातिवाद के दुष्परिणामों का उल्लेख कीजिए।

[संकेत—इसके उत्तर के लिए 'जातिवाद के दुष्परिणाम' शीर्षक में वर्णित सामग्री लिखनी है।]

5 जातिवाद के निराकरण के उपायों का उल्लेख कीजिए।

[संकेत—इसके उत्तर के लिए 'जातिवाद के निराकरण के उपाय' शीर्षक देखिए।]

6 इस देश में आपको जाति का भविष्य कैसा दिखायी देता है?

(आगरा, 1967)

[संकेत—इसके लिए भारत में जाति का भविष्य' शीर्षक देखिए।]

7 जाति और जातिवाद में भेद कीजिए और भारत में जातिवाद को समाप्त करने के उपाय सुझाइए। (रुहेलखण्ड, 1979)

[संकेत—इसके उत्तर में जाति और जातिवाद में अन्तर' तथा जातिवाद के निराकरण के उपाय' नामक शीर्षकों के अन्तर्गत वर्णित बातें लिखनी हैं।]

# 3

# अन्तरजातीय सम्बन्ध
## (INTER-CASTE RELATIONS)

जाति-व्यवस्था की विशेषताओ जैसे विवाह, खान पान एव उच्चता निम्नता के नियमो मे ऐसा मालूम पडता है कि एक जाति के लोगो के सम्बन्ध अपनी जाति तक ही सीमित है। किन्तु वास्तविकता यह है कि प्रत्येक जाति दूसरी जाति पर निर्भर है। प्रत्येक जाति का एक वशानुगत व्यवसाय होता है और विभिन्न जातिया परस्पर अपने अपने व्यवसाय द्वारा एक दूसरे की सेवा करती है। विभिन्न जातियो मे आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक एव राजनीतिक क्षेत्रो मे पारस्परिक निर्भरता एव सम्बन्ध पाये जाते हैं। जजमानी प्रथा अन्तरजातीय सम्बन्धो का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। जातीय सस्तरण प्रत्येक जाति का एक निश्चित स्थान है। उसी आधार पर वह दूसरी जातियो से व्यवहार करती है। दूसरी ओर सस्तरण का निर्धारण जाति के व्यवसाय और पवित्रता अपवित्रता की धारणा के आधार पर होता है। हम यहाँ अन्तरजातीय सम्बन्धो के विभिन्न पक्षो की चर्चा करेंगे।

### अन्तरजातीय सम्बन्ध का अर्थ
### (MEANING OF INTER CASTE RELATIONS)

जाति व्यवस्था मे सम्पूर्ण समाज को विभिन्न जातियो मे बाँट दिया गया है और उनमे पवित्रता अपवित्रता के आधार पर सस्तरण पैदा किया गया है। साथ ही प्रत्येक जाति का एक पेशा भी निश्चित कर दिया गया है। प्रत्येक जाति के खान पान, विवाह एव सामाजिक सहवास के कुछ नियम भी है जिनका जाति पचायत के द्वारा पालन कराया जाता है। जाति व्यवस्था मे एक जाति के दूसरी जाति से खान पान, विवाह, सामाजिक सहवास, व्यवसाय आदि को लेकर नियम बने हुए है। इन्ही के आधार पर अन्तरजातीय सम्बन्ध तय होते हैं। अत अन्तरजातीय सम्बन्ध वह व्यवस्था है जिसमे दो जातियों के विभिन्न प्रकार के सम्बन्धो को सस्थात्मक रूप प्रदान किया गया है। इसका उद्देश्य जातियो मे सस्तरण एव व्यवस्था को बनाये रखना है।

## अन्तरजातीय सम्बन्धों का आधार
## (BASES OF INTER CASTE RELATIONS)

जातियों की पारस्परिक निर्भरता एवं सम्बन्ध जिन आधारों पर कायम किये गये हैं, वे निम्नवत् है

(1) आर्थिक आधार—अन्तरजातीय सम्बन्ध का मूल आधार आर्थिक है। जाति व्यवस्था में प्रत्येक जाति का एक व्यवसाय सौंपा गया है। किन्तु उसी के आधार पर वह अपनी सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकती। उसे अन्य जातियों की सेवाओं का सहारा भी लेना होता है। उदाहरण के लिए किसान के लिए खाती हल बनाता है लुहार लोहे के औजार बनाता है, नाई बाल काटता है और बदले में इन जातियों को किसान नाज अथवा नकद में भुगतान करता है। सेवा लेने-देने की इस परम्परागत प्रथा को जजमानी प्रथा कहते हैं। इस प्रकार जाति व्यवस्था में एक दूसरी जाति की सेवाओं के लेने देने से जातियों में आर्थिक सम्बन्ध स्थापित होते हैं।

(2) धार्मिक आधार—धार्मिक कर्मकाण्डों की पूर्ति, त्यौहारों एवं उत्सवों के समय भी विभिन्न जातियों में अन्तर निर्भरता पायी जाती है। जन्म से लेकर मृत्यु तक एक हिन्दू अनेक संस्कार करता है। इन संस्कारों की पूर्ति के समय विभिन्न जातियों के लोगों की विभिन्न भूमिकाएँ होती हैं। उदाहरण के लिए, मुण्डन एवं दाह-संस्कार के समय नाई बाल काटता है बच्चे के जन्म के समय नाइन दाई का काम करती है। जन्म एवं विवाह के समय ढोली ढोल बजाता है, धोबी प्रसव एवं विवाह के समय कपड़े धोता है। जन्म एवं विवाह के समय पण्डित नामकरण संस्कार, कुण्डली निर्माण, कुण्डली मिलान, पूजन हवन एवं अन्य धार्मिक क्रियाओं को सम्पन्न करता है। इसी प्रकार की निर्भरता होली दीपावली रक्षाबन्धन एवं अन्य त्यौहारों के समय भी पायी जाती है। प्रत्येक जाति का अपने-अपने स्थान पर महत्व है। एक का काम दूसरे से नहीं लिया जा सकता। इससे अन्तरजातीय सम्बन्ध एवं निर्भरता कायम होती है।

(3) सामाजिक आधार—जाति व्यवस्था में संस्तरण पाया जाता है जिसमें जातियों के बीच ऊँच नीच का एक क्रम होता है। इस संस्तरण का आधार पवित्रता और अपवित्रता की धारणा है। इसी आधार पर एक जाति दूसरी से सामाजिक दूरी बनाए रखती है एवं छुआछूत बरतती है। इससे विभिन्न जातियों में जागरूकता पैदा होती है और हर जाति यह जानती है कि समाज में उसका स्थान क्या है। इस प्रकार संस्तरण ने एक ओर समाज में विभाजन पैदा किया है तो दूसरी ओर अन्तरजातीय सम्बन्धों का मार्ग भी प्रशस्त किया है।

(4) मनोवैज्ञानिक आधार—जाति-व्यवस्था में जातियों को विभिन्न *व्यवसाय* सौंपे गये हैं तथा खान पान विवाह एवं सामाजिक सहवास के नियमों के कारण प्रत्येक जाति के व्यक्ति को मानसिक सन्तोष एवं सुरक्षा प्राप्त है। उसे हर बार यह नहीं सोचना पड़ता है कि वह क्या व्यवसाय करे, किसके साथ विवाह, खान पान एवं

अन्य सम्बन्ध कायम करे। व्यक्ति को मानसिक रूप से सन्तोष प्रदान करने के लिए ही विभिन्न जातियों के बीच सम्बन्ध स्थापित किये गये।

(5) प्रभुजाति—अन्तरजातीय सम्बन्धों को तय करने में प्रभुजाति (Dominant Caste) ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। जो जाति गाँव या क्षेत्र में संख्या में अधिक होती है, आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होती है, उसे 'प्रभुजाति' कहा है। प्रभुजाति विभिन्न जातियों के बीच उत्पन्न होने वाले विवादों को निपटाती है और उन पर नियन्त्रण रखती है, उन्हें राज-काज में सहायता प्रदान करती है और अन्तरजातीय सम्बन्धों को तय करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

## अन्तरजातीय सम्बन्धों के स्वरूप
## (FORMS OF INTER CASTE RELATIONS)

विभिन्न जातियों के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों के प्रमुख दो स्वरूप हैं—सहयोगी एवं असहयोगी। जब विभिन्न जातियाँ परस्पर एक-दूसरे की सेवा एवं सहायता करती हैं तो यह उनका सहयोगी स्वरूप है। जजमानी प्रथा सहयोगी स्वरूप का ही सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। किन्तु जब जातियों में परस्पर तनाव, मन मुटाव एवं संघर्ष की स्थिति होती है तो यह उनका असहयोगी स्वरूप है। जातिवाद एवं अन्तजातीय तनाव इसके उदाहरण हैं। यहाँ हम जाति के सहयोगी एवं असहयोगी दोनों ही स्वरूपों का उल्लेख करेंगे।

## जजमानी प्रथा
## (JAJMANI SYSTEM)

जजमानी व्यवस्था अन्तरजातीय सम्बन्धों के सहयोगी स्वरूप का ही उदाहरण है। जातियाँ प्राचीन काल से ही परस्पर प्रकार्यात्मक रूप से सम्बन्धित रही हैं। जातियों की व्यावसायिक एवं आर्थिक पारस्परिक निर्भरता को ही जजमानी प्रथा के नाम से जाना जाता है। भारत में जजमानी प्रथा का उल्लेख सर्वप्रथम वाइजर (Wiser) नामक विद्वान ने किया।[1] उनके बाद आस्कर लेविस ने उत्तरी भारत के गाँव रामपुर में जजमानी प्रथा का विस्तृत अध्ययन किया। लेविस इसे परिभाषित करते हुए लिखते हैं, 'इस व्यवस्था में गाँव हरेक जाति समूह से अन्य जातियों के परिवारों के लिए कुछ विशेष निश्चित सेवाओं की आशा की जाती है।"[2] जजमानी प्रथा में एक जाति उन्हीं परिवारों की सेवा करती है जिनकी उनके पुरखे भी करते आये थे। इस प्रकार जजमानी प्रथा में व्यवसाय और सेवाएँ जाति के आधार पर परम्परागत रूप से चलती रहती हैं। जो परिवार सेवा प्राप्त करता है वह या उसका मुखिया जजमान कहलाता है और सेवा प्रदान करने वाली जाति का व्यक्ति "कमीन"

---

1 William H Wiser *The Hindu Jajmani System* 1936

2 Under this system each caste group within a village is expected to give certain standardized services to the families of other castes
—Oscar Lewis *Village Life in Northern India* p 56

या काम करने वाला। वेबस्टर शब्द कोष मे लिखा है, "जजमान एक ऐसा व्यक्ति है जिसने कि धार्मिक सेवाओ के लिए ब्राह्मण को किराय पर लिया है, इस तरह वह एक सरक्षक, कार्यार्थी है।"[3]

'जजमान' शब्द सस्कृत के 'यजमान' से लिया गया है जिसका अर्थ यज्ञ करने वाले से था। क्रमश यह शब्द उन सभी के लिए प्रयुक्त होने लगा जो कि सेवा के रूप म किसी स भी काम कराते थे। जजमान और कमीन के सम्बन्ध पूजीवादी व्यवस्था की तरह सेवायाजक एव सेवाकारी (employer and employee) की तरह नही है। जजमान कमीन का सेवा के बदले भोजन, वस्त्र, निवास स्थान, औजारो का उपयोग करने एव कच्चे माल की सुविधाएँ प्रदान करता है।

जजमानी व्यवस्था को परिभाषित करते हुए एन एस रेड्डी लिखते हैं, "जजमानी व्यवस्था मे पुश्तैनी तौर पर एक जाति का सदस्य दूसरी जाति का अपनी सेवाएँ परम्परागत आधार पर प्रदान करता है। ये सेवा सम्बन्ध जो पुश्तैनी तौर पर शासित होते है, जजमान कमीन सम्बन्ध कहलाते है।"[4] वाइजर ने जजमानी प्रथा को परिभाषित करते हुए लिखा है 'इस प्रथा के अन्तर्गत प्रत्येक जाति का कोई निश्चित कार्य पीढी दर पीढी चलता रहता है। इस कार्य पर उसका एकाधिकार होता है। इसम एक जाति दूसरी जाति की आवश्यकताओ की पूर्ति करती है।"[5]

स्पष्ट है कि जजमानी प्रथा अन्तरजातीय सम्बन्धो की वह सहयोगी व्यवस्था है जिसमे जजमान और परजन (कमीन) परस्पर एक दूसरे की सेवा करते हैं और सेवा का प्रतिफल वस्तु अनाज अथवा सेवा के रूप मे प्राप्त करते है। जजमानी प्रथा को भारत के विभिन्न भागो मे अलग अलग नामो से पुकारा जाता है। महाराष्ट्र मे इसे 'बलूटे', मद्रास मे मिरासी और मैसूर म अड्डे कहते हैं। जजमानी प्रथा को और अधिक स्पष्टत समझने के लिए हम यहा उसकी विशेषताओ का उल्लेख करेंगे।

**जजमानी प्रथा की विशेषताएँ (Characteristics of *Jajmani* System)**

1 **उदग्र सम्बन्ध व्यवस्था (Vertical Relation System)**—एक ही जाति के पारस्परिक सम्बन्धो को क्षैतिज सम्बन्ध (Horizontal relation) कहते हैं, किन्तु विभिन्न जातियो के पारस्परिक सम्बन्धो को उदग्र सम्बन्ध कहते है। जजमानी व्यवस्था में निम्न एव उच्च जातिया परस्पर सेवाओ के द्वारा एकता के सूत्र में बँध जाती है। उदाहरण के लिए, चमार, जुलाहा, हरिजन आदि अन्य जातियो की सेवा करते हैं और बदले में वे जातिया भी इन्हें अपनी सेवाएँ प्रदान करती है।

---

3 A p rson by whom a Brahmin is hired to p rfor n r ligious s rvices hence a patron client —*Webster s Dictionary* 1950

4 Reddy N S Functional R lations of Lohars in a North Indian Village *Eastern Anthropologist* 8 March Aug 129 40

5 W H Wis r *op cit*

2 बहुत कुछ स्थायी सम्बन्ध (More or Less Stable Relations)—जजमानी प्रथा में विभिन्न जातियों के पारस्परिक सम्बन्ध अपेक्षाकृत स्थायी होते हैं। एक किसान को विभिन्न जातियों की सेवाएँ स्थायी रूप से मिलती रहती है। सम्बन्ध तोड़ने को उचित नहीं माना जाता और ऐसा करने वाले को हानि भी उठानी पड़ती है। कभी-कभी कोई कमीन अपना गाँव छोड़कर शहर चला जाता है तो उसके जजमानों की सेवा उसके परिवार के अन्य व्यक्ति करते हैं। जाति पंचायत ने भी जजमानी प्रथा के पालन में योग दिया है। साधारणतः जजमान अपने कमीनों को एवं कमीन अपने जजमानों को नहीं छोड़ते।

3 जजमानी व्यवस्था अनुवंशिक होती है (*Jajmani* System runs from generation to generation)—जजमानी प्रथा में सेवाओं का लेन-देन पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता है। एक नाई आज जिस परिवार की सेवा कर रहा है उसके पिता एवं दादा ने भी भूतकाल में उस परिवार की सेवा की थी और आने वाली सन्तानें भी ऐसा ही करती रहेंगी। लेविस लिखते हैं, "कुछ भी हो जजमानी अधिकार को जो एक व्यक्ति को कुछ परिवारों से सम्बन्धित कर देता है इस प्रकार की सम्पत्ति के रूप में माना जा सकता है जो पिता से पुत्र को मिलती रहती है।'[6] जब एक परिवार के भाई अलग-अलग होते हैं तो भूमि एवं सम्पत्ति की भांति उनके जजमान भी आपस में बाँट लिए जाते हैं।

4 पारितोषण की एक परम्परात्मक व्यवस्था (A Traditional System of Reward)—जजमानी प्रथा में नकद मजदूरी नहीं दी जाती। अधिकांश भुगतान वस्तुओं अथवा सेवाओं के रूप में ही होता है। जजमानी व्यवस्था में भुगतान तीन रूपों में होता है—(1) सेवा के बदले सेवा करके, जैसे नाई धोबी के बाल काटता है तो बदले में धोबी नाई के कपड़े धोता है। (2) काम करने वाली जातियों को दैनिक, मासिक, वार्षिक और कुछ अवसरों तथा त्यौहारों पर खाना, कपड़ा एवं नकद भुगतान किया जाता है। (3) कभी कभी यह विशेष प्रकार की छूटों (Concessions) के रूप में भी होता है जैसे पुराने कपड़े देना बिना किराये के रहने को मकान देना, छोटी मोटी नौकरी दिलाना आदि।

5 शान्ति और सन्तोष (Peace and Satisfaction)—वाइजर[7] कहते हैं कि जजमानी प्रथा लोगों को शांति एवं संतोष प्रदान करती है। कमीनों को अपने व्यवसाय खोजने के लिए चिन्तित नहीं होना पड़ता क्योंकि उनका एक पुश्तैनी व्यवसाय होता है।

---

6 Jajmani rights however which link one to certain families may be regarded as a form of property passing from father to son

—Oscar Lewis *op cit* p 59

7 W H Wiser *The Hindu Jajmani System*, p 187

6 कमीनो के कार्यक्षेत्र मे अन्तर (Difference in the Functions of *Kamins*)—सभी कमीनो का कार्य क्षेत्र समान नही होता है वरन् सेवा की प्रकृति के अनुसार यह कम या अधिक होता है। उदाहरण के लिए, नाई की आवश्यकता सप्ताह म एक दो बार होती है जबकि हरिजन की प्रतिदिन, लुहार एव सुथार की फसल के समय, एव बनिया 10-15 गाँवो तक लेन-देन कर सकता है। किस कमीन की सेवा का क्षेत्र कितना होगा यह माग और पूर्ति के नियमो, स्थानीय परिस्थितियो तथा कमीन की कुशलता आदि पर निभर है। यही कारण है कि प्रत्येक गाँव मे कमीनो की सख्या अलग अलग होती है। कई बार कमीनो के अभाव मे लोग स्वय अपना काम कर लेते हैं।

**जजमानी प्रथा के गुण अथवा लाभ (Merits of *Jajmani* System)**

प्राचीन काल स ही भारत मे जजमानी प्रथा का प्रचलन रहा है और आज भी जबकि मुद्रा अर्थ व्यवस्था का प्रचलन है भारत मे कई स्थानो पर यह व्यवस्था प्रचलित है क्योकि इसके कई लाभ है

1 आर्थिक सुरक्षा (Economic Security)—जजमानी प्रथा मे प्रत्येक जाति को आर्थिक सुरक्षा प्राप्त होती है। उसके सदस्यो को बेरोजगारी का सामना नही करना पडता और जजमान से प्राप्त होने वाली वस्तुओ से उनका जीवन अच्छी तरह से चल जाता है। कृषि करने वाली जाति भी इस बात के लिए निश्चित होती है कि अवसर आने पर उसे कृषि काय म अन्य लोगो द्वारा अवश्य सहयोग प्राप्त होगा।

2 सामाजिक बीमा (Social Insurance)—बीमारी दुघटना मृत्यु, जन्म और विवाह के अवसर पर जजमान अपनी सेवा करने वाली जातियो की सहायता करते है। सेवाकारी जाति की सन्तानो की शादी के अवसर पर जजमान अपनी ओर से आर्थिक सहायता भी देता है। मुकदमो के अवसर पर भी जजमान अपने कमीनो की तरफदारी करते है। इसके बदले मे कमीन भी अपने जजमानो के लिए मर मिटने को तैयार रहते है।

3 व्यावसायिक सुरक्षा (Occupational Security)—जजमानी प्रथा मे प्रत्येक जाति के जजमान बँटे होते हैं अत उनमे व्यावसायिक सघर्ष नही पाया जाता। हर परिवार यह जानता है कि उसे किन परिवारो की सेवा करनी है। जाति पचायत भी जजमानो के बँटवारे को नियन्त्रित करती है। यदि कोई व्यक्ति जाति पचायत के आदेशो को नही मानता है तो उसे दण्ड एव सामाजिक बहिष्कार का भागी होना पडता है। अत प्रत्येक व्यक्ति इस बात के लिए आश्वस्त होता है कि उसकी रोजी कोई दूसरा नही ले सकता।

4 सम्बन्धो की प्रगाढ़ता (Intimate Relations)—जजमानी प्रथा म जजमान और कमीन के बीच प्रत्यक्ष, प्राथमिक और घनिष्ट सम्बन्ध होते है। चूकि ये सम्बन्ध केवल आर्थिक ही नही है वरन इनम आत्मीयता और निजीपन भी होता

है अतः दोनों ही अपने अपने कर्तव्यों एवं दायित्वों का निर्वाह करते हैं। वे एक-दूसरे के सुख दुःख में भागीदार होते हैं।

5 शान्ति और सन्तोष (Peace and Satisfaction)—जजमानी प्रथा में जजमान और कमीन दोनों पक्षों को व्यावसायिक सेवाएँ प्राप्त होते रहने के आश्वासन के कारण मानसिक शान्ति एवं सन्तोष प्राप्त होता है।

**जजमानी प्रथा के दोष (Demerits of *Jajmani* System)**

जजमानी प्रथा के अनेक गुण हैं फिर भी यह दोषों से मुक्त नहीं है। इसके प्रमुख दोष अथवा हानियाँ इस प्रकार हैं

1 आर्थिक शोषण (Economic Exploitation)—जजमानी प्रथा में कमीनों का जजमानों द्वारा खुलकर शोषण किया जाता है। उनसे कठिन काम लिया जाता है और बदले में मिलने वाला पारितोषण (पुरस्कार) बहुत कम होता है। कई बार उच्च जातियाँ निम्न जाति को परेशान करती हैं और उनकी मजबूरी का लाभ उठाती हैं।

2 दुर्व्यवहार (Misbehaviour)—कई बार जब कमीन अपनी सेवाओं द्वारा जजमान को सन्तुष्ट नहीं कर पाता है तो उसके साथ दुर्व्यवहार किया जाता है और यहाँ तक कि कभी-कभी मार पीट की नौबत आ जाती है।

3 दास प्रथा की सूचक (Symbol of Slavery)—जजमानी प्रथा दास प्रथा की सूचक है। कमीनों के साथ वैसा ही व्यवहार किया जाता है जैसा दास प्रथा में दासों के साथ होता था। कमीन कार्य करने के लिए स्वतन्त्र नहीं होता है और उसे अनेक यातनाएँ भी सहना पड़ती हैं।

**जजमानी प्रथा में परिवर्तन अथवा विघटन (Changes or Disorganization in *Jajmani* System)**

अंग्रेजों के काल में और स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से ही जजमानी प्रथा में परिवर्तन होने प्रारम्भ हो गये और कई स्थानों, प्रमुख रूप से शहरों में तो इसका पूर्ण विघटन ही हो गया है। अब यहाँ जजमान और कमीन के सम्बन्धों में पहले जैसी प्रगाढ़ता नहीं पायी जाती है। जातियाँ अपना परम्परागत व्यवसाय भी बदल रही हैं और जो जातियाँ अपना निश्चित व्यवसाय करती हैं वे भी अब दूसरी जातियों के लोगों से पुश्तैनी सम्बन्ध समाप्त कर रही हैं। अब सेवा के बदले सेवा तथा वस्तुओं में भुगतान के स्थान पर मुद्रा में भुगतान किया जाने लगा है। एक ही जाति के लोगों द्वारा विभिन्न प्रकार के व्यवसाय किये जाने लगे हैं तथा एक ही व्यवसाय में विभिन्न जातियाँ लगी हुई हैं। इससे जाति का व्यवसाय पर एकाधिकार समाप्त हुआ है। जाति पंचायतों का महत्व एवं प्रभाव घटने से भी जजमानी नियमों की अवहेलना की जाने लगी है। गाँवों में तो किसी न किसी रूप में फिर भी जजमानी प्रथा दिखायी देती है किन्तु बड़े बड़े शहरों में इस प्रथा का चलना मुश्किल है। अतः वहाँ यह बिल्कुल ही समाप्त हो गयी है। जजमानी प्रथा में परिवर्तन अथवा विघटन के लिए अग्रांकित कारकों का योग रहा है

(1) जनसंख्या की वृद्धि—जनसंख्या की वृद्धि के कारण भूमि पर दबाव बढ़ा। कमीनों को पर्याप्त जजमानी न मिल पाना तथा जजमानों के बँटवारा आदि के कारण उनका भरण पोषण कठिन हो गया तो उन्होंने जजमानों की सेवा करना छोड़ दिया और शहरों में जाकर नौकरी अथवा व्यवसाय में लग गये।

(2) औद्योगीकरण एवं नगरीकरण—जब देश में औद्योगीकरण हुआ तो कई जातियों के लोग काम करने के लिए नगरों एवं औद्योगिक केन्द्रों में चले गये। ऐसी स्थिति में जजमान और कमीन के स्थान दूर-दूर हो गये एवं पारस्परिक सेवाएँ प्रदान करना सम्भव न था, अतः जजमानी प्रथा टूटने लगी।

(3) द्रव्यीकरण—जजमानी प्रथा का प्रचलन उस युग में हुआ जब मुद्रा का प्रचलन नहीं था और विनिमय वस्तुओं एवं सेवाओं के रूप में किया जाता था। जब मुद्रा का प्रचलन हुआ तो सेवाओं व वस्तुओं का मुद्रा में माप सरल हो गया, सेवाओं का भुगतान मुद्रा में किया जाने लगा और द्रव्य का प्रचलन बढ़ा तथा जजमानी सेवाएं समाप्त हुईं।

(4) शिक्षा—भारत में जब पश्चिमी शिक्षा का प्रचार और प्रसार बढ़ा तो शिक्षित युवकों ने परम्परागत जातीय व्यवसायों का त्याग दिया तथा उनके स्थान पर नये व्यवसाय अपना लिये। कई लोगों ने नौकरी करना प्रारम्भ किया।

(5) निम्न जातियों की दशा में सुधार—सरकारी एवं गैर-सरकारी प्रयत्नों द्वारा पिछड़ी एवं अस्पृश्य जातियों की दशा में सुधार हुआ। उन्हें सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक संरक्षण प्राप्त हुआ। सरकार ने इनके लिए कई कल्याणकारी योजनाएँ बनायीं। इन सब प्रयत्नों के फलस्वरूप उनका जीवनस्तर उन्नत हुआ और उन्होंने अपने पुश्तैनी व्यवसाय को त्याग दिया। कई जातियों ने संस्कृतीकरण (Sanskritization) की प्रक्रिया द्वारा अपनी सामाजिक स्थिति में सुधार किया और परम्परागत निम्न व्यवसायों को छोड़ दिया।

(6) परम्परागत मूल्यों का ह्रास—वर्तमान में उन परम्परागत मूल्यों का ह्रास हुआ है जिसके आधार पर जजमानी प्रथा का संचालन होता था। उनके स्थान पर धर्म निरपेक्ष मूल्य पनपे, समाज में ब्राह्मणों के कार्यों का महत्व घटा और पैसों के बल पर किसी भी जाति की सेवा प्राप्त करना सरल हो गया।

(7) नवीन टेक्नालाजी—विज्ञान ने कई नवीन यन्त्रों का आविष्कार किया जो मनुष्य की सेवा करते हैं तथा दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। दाढ़ी बनाने, बाल काटने, कपड़े धोने, इस्त्री करने, स्वेटर बुनने, सिलाई करने आदि के यन्त्रों द्वारा लोग स्वयं के हाथों से ही सम्बन्धित कार्य करने लगे हैं। इस कारण उन जातियों की सेवाओं की आवश्यकता नहीं रही जो ये सब कार्य करती रही हैं। इससे भी जजमानी सम्बन्धों का विघटन हुआ।

(8) नवीन मूल्य—स्वतन्त्रता के बाद देश में समतावादी मूल्य अपनाये गये। संविधान में स्वतन्त्रता पर जोर दिया गया। जाति, धर्म, रंग एवं लिंग के आधार

पर भेद भाव समाप्त किये गये, खाद्य एवं व्यवहार पर रोक लगायी गयी, अस्पृश्यता का उन्मूलन किया गया, जाति-पंचायतों का महत्व घटा, इन सभी परिस्थितियों ने नवीन समतावादी समाज की स्थापना में योग दिया और संस्तरण पर आधारित जजमानी प्रथा समाप्त हुई।

## अन्तरजातीय तनाव
## (INTER CASTE TENSIONS)

विभिन्न जातियों के बीच सदैव ही सहयोग के सम्बन्ध नहीं होते हैं वरन् उनमें कभी कभी संघर्ष एवं तनाव की स्थिति भी पायी जाती है। अन्तरजातीय तनाव कई कारणों से उत्पन्न होता है। इनमें सर्वप्रमुख कारण है—जातिवाद। जब एक जाति के व्यक्ति अपने ही जाति के लोगों के हितों की पूर्ति करते हैं एवं अन्य जातियों के प्रति अन्याय किया जाता है, उन्हें घृणा की दृष्टि से देखा जाता है तो जातियों में पारस्परिक तनाव पैदा होता है। अन्तर्जातीय तनाव का दूसरा कारण है—संस्कृतीकरण। जब एक जाति उच्च जातियों के खान पान, व्यवहार, रीति रिवाज आदि को अपनाकर एवं अपने जीवन के तरीके को छोड़कर सामाजिक संस्तरण में ऊँचा उठने का प्रयास करती है तो इसे संस्कृतीकरण कहते हैं। जब निम्न जातियाँ संस्कृतीकरण करती हैं तो उच्च जातियाँ इसका विरोध करती हैं परिणामस्वरूप जातीय तनाव एवं संघर्ष पैदा होते हैं। अन्तरजातीय तनावों का एक अन्य कारण वर्तमान प्रजातन्त्र एवं राजनीति है। प्रजातन्त्र में वोट का महत्व होता है और जो जातियाँ संख्या में अधिक हैं, वे जब चुनाव में विजय प्राप्त कर लेती हैं, तब अल्पसंख्यक जातियों में रोष पैदा होता है। परम्परात्मक समाज व्यवस्था में राजनीतिक सत्ता उच्च जातियों के पास थी किन्तु अब उसे निम्न जातियाँ हथिया रही हैं। सत्ता एवं नेतृत्व में यह परिवर्तन भी विभिन्न जातियों में तनाव उत्पन्न करता है। कोहन ने उत्तर प्रदेश के माधोपुर गाँव में चमारों द्वारा ठाकुरों को पंचायत चुनावों में पराजित कर देने एवं सत्ता प्राप्त कर लेने के कारण उत्पन्न तनाव का उल्लेख किया है।[8] ओरेनस्टीन (Orenstein) ने महाराष्ट्र में सत्ता को लेकर राजपूत एवं मराठा जातियों के बीच पाये जाने वाले राजनीतिक तनाव का उल्लेख किया है।[9] वोट की राजनीति ने विभिन्न जातियों के बीच संघर्ष को बढ़ावा दिया है। इसी प्रकार से जजमानी प्रथा का पालन न करने पर भी सेवाधारी एवं सेवा प्राप्त करने वाली जातियों के बीच तनाव पैदा हुए हैं। संविधान द्वारा निम्न जातियों को दी गयी धार्मिक एवं आर्थिक सुविधाओं एवं संरक्षण ने भी अन्तरजातीय तनावों में वृद्धि की है। जब निम्न जातियों के व्यक्ति मन्दिरों, कुओं, तालाबों एवं सार्वजनिक स्थानों का उपयोग करने का प्रयत्न करते हैं तो उच्च

8 B S Cohn The Changing Status of Depressed Caste and Madhopur Revisited *Sociology in India* (ed) A R Desai

9 Henry Orenstein *Leadership and Caste in a Bombay Village* (ed) by Park and Tinker pp 4 5 426

जातियों के लोग इसका विरोध करते हैं। कई बार इन प्रश्नों को लेकर सशस्त्र संघर्ष भी हुए हैं। इन सभी कारणों के अतिरिक्त अन्तरजातीय तनावों को उत्पन्न करने में एक जाति की स्त्री के साथ दूसरी जाति के व्यक्ति द्वारा अनैतिक सम्बन्ध स्थापित कर लेना, भूमि का बँटवारा एवं निम्न जातियों को अपमानजनक शब्दों से सम्बोधित करना आदि कारण भी उत्तरदायी रहे हैं।

अन्तरजातीय तनावों को दूर करने के लिए आवश्यक है कि विभिन्न जातियों के बीच पारस्परिक सद्भाव एवं सहयोग में वृद्धि की जाय, अन्तरजातीय विवाहों को प्रोत्साहन दिया जाय, शिक्षा संस्थाओं में धर्मनिरपेक्ष शिक्षा दी जाय, स्वस्थ जनमत तैयार किया जाय, तथा विभिन्न जातियों में आर्थिक एवं सांस्कृतिक समानता लाने का प्रयत्न किया जाय। अन्तरजातीय तनावों को दूर करना, स्वस्थ प्रजातन्त्र के विकास, आर्थिक प्रगति, राष्ट्रीय एवं सामाजिक एकीकरण एवं सुदृढ़ समाज की स्थापना के लिए आवश्यक है।

## प्रश्न
### (उत्तर संकेत सहित)

1 जजमानी व्यवस्था से आप क्या समझते हैं? इसके गुण एवं दोषों का वर्णन कीजिए। (रुहेलखण्ड, 1977)
[संकेत इसके उत्तर में जजमानी प्रथा का अर्थ समझाना है। तत्पश्चात् 'इसके गुण एवं दोष' शीर्षकों में वर्णित बातें लिखनी हैं।]

2 जजमानी व्यवस्था की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए और आधुनिक भारत में इसके विघटन के कारण बताइए। (आगरा, 1972)
[संकेत इसमें 'जजमानी प्रथा का अर्थ और विशेषताएँ' लिखनी हैं। प्रश्न के द्वितीय भाग के लिए 'जजमानी प्रथा में परिवर्तन अथवा विघटन' शीर्षक देखिए।]

3 भारतवर्ष में अन्तरजातीय तनावों की प्रकृति एवं परिणामों का उल्लेख कीजिए। अन्तरजातीय तनावों को कम करने के सुझाव दीजिए। (आगरा, 1969)
[संकेत इसके उत्तर के लिए 'अन्तरजातीय तनाव' शीर्षक देखिए।]

4 जजमानी प्रथा पर एक टिप्पणी लिखिए। (आगरा, 1973)
[संकेत इसके उत्तर के लिए 'जजमानी प्रथा' से सम्बन्धित सभी बातों का संक्षेप में लिखना है।]

5 अन्तरजातीय सम्बन्धों पर एक निबन्ध लिखिए।
[संकेत इसमें पहले भूमिका, अन्तरजातीय सम्बन्ध का अर्थ, अन्तरजातीय सम्बन्धों का आधार तथा अन्तरजातीय सम्बन्धों के स्वरूप पर संक्षेप में प्रकाश डालना है।]

# 4
# जाति और राजनीति
## (CASTE AND POLITICS)

11627
2/9/20

15 अगस्त, 1947 को भारत आजाद हुआ और इसे एक स्वतन्त्र गणतन्त्रात्मक राज्य घोषित किया गया। देश के लिए नवीन संविधान बनाया गया जिसमे सभी नागरिको को स्वतन्त्रता, समानता एवं न्याय प्राप्त करने के मौलिक अधिकार प्रदान किये गये। संविधान में अल्पसंख्यको को संरक्षण प्रदान किया गया, किन्तु साथ ही यह भी कहा गया कि राज्य लिंग, धर्म, सम्प्रदाय, जन्म और प्रजाति के आधार पर किसी के प्रति भेद-भाव नही रखेगा। इस प्रकार संविधान मे एक तरफ लोकतान्त्रिक सिद्धान्तो को स्वीकार किया गया वही अल्पसंख्यको तथा अनुसूचित जातियो, जनजातियो एवं पिछडे वर्गों के कल्याण के लिए विशेष प्रावधान भी किये गये। संविधान मे किये गये इन विशेष प्रावधानो ने प्रजातन्त्र मे जाति और राजनीति के सम्बन्धो को विवादास्पद बना दिया।

कुछ विद्वान मानते है कि जाति एवं प्रजातन्त्र के मौलिक सिद्धान्तो मे विरोधाभास है। जाति जन्म से ही ऊँच-नीच और असमानता पर जोर देती है तो प्रजातन्त्र समानता और भाईचारे की भावना पर आधारित है। अतः ये दोनो एक साथ नही रह सकते। दूसरी ओर रजनी कोठारी तथा रूडाल्फ एवं रूडोल्फ इन दोनो के सह अस्तित्व मे कोई बुराई नही मानते।

रूडोल्फ तथा रूडोल्फ का मत है कि राजनीतिक लोकतन्त्र के नये सन्दर्भ मे *भारतीय समाज मे जाति एक केन्द्रीय बिन्दु बन चुकी है चाहे उसने अपने आप को* लोकसत्तात्मक राजनीति के तरीको और मूल्यो के अनुकूल बना लिया है। निःसन्देह यह मुख्य साधन बन चुकी है जिससे भारतीय जनता लोकसत्तात्मक राजनीति की प्रक्रियाओ से सम्बन्धित हो गयी हैं।[1] पनिक्कर लिखते हैं, "लोकसत्तात्मक राजनीति मे निर्णायक शक्ति वोट है। स्पष्ट है कि जिन जातियो के हाथ मे वोट बैंक (Vote Bank) है उनका महत्व अधिक है और वे समझने लगी हैं कि वे सत्ता ग्रहण करने

---

1 Rudolph and Rudolph Political Role of India s Caste Associations *Pacific Affairs* March 1960

योग्य हैं।"[2] आज स्थिति यह है कि कोई व्यक्ति चाहे वह कितना ही धनी या गुणवान क्यों न हो अपने धर्म या जाति को ठुकरा कर राजनीति में उन्नति नहीं कर सकता। यदि मनुष्य राजनीति के संसार में ऊपर उठना चाहते हैं तो उन्हें अपने साथ अपनी जाति व धर्म को लेकर चलना चाहिए। इसीलिए भारतीय राजनीति में जातियाँ इस तरह से भाग ले रही हैं जैसा पश्चिमी देशों में दबाव समूह या प्रभावक गुट लेते हैं। प्रो वी के एन मेनन का मत है कि स्वतन्त्रता के बाद भारत में राजनीतिक क्षेत्र में जाति का प्रभाव पूर्वापेक्षा बढ़ा है।

## जाति व राजनीति में अन्त क्रिया
## (INTERACTION BETWEEN CASTE AND POLITICS)

जाति और राजनीति के पारस्परिक सम्बन्धों और अन्त क्रिया के सन्दर्भ में यह प्रश्न किया जाता है कि जाति-पाँति वाले समाज में राजनीति क्या रूप ले रही है और जाति प्रथा पर राजनीति का क्या प्रभाव पड़ रहा है? इन प्रश्नों का उत्तर हम सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक आधार पर देने का प्रयत्न करेंगे।

### सैद्धान्तिक पक्ष

जाति और राजनीति के सम्बन्धों के सैद्धान्तिक पक्षों का रजनी कोठारी ने सुन्दर ढंग से उल्लेख किया है। कोठारी का मत है कि जाति एवं राजनीति परिवर्तन के दौरान एक दूसरे के नजदीक आ जाती हैं और राजनीति जाति को अपने पर-म्परात्मक संगठन से बाहर निकाल कर उसे एक नया मोड़ देती है। जाति समूह एवं नातेदारी समूह भी राजनीति का अपना कार्य क्षेत्र बनाकर अपने पद को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करते हैं। राजनीतिज्ञ जाति को गतिशील बनाते हैं और जातीय संगठनों का सत्ता में आने के लिए सहारा लेते हैं। जब कभी जाति स्वयं राजनीतिक वर्ग बन जाती है तो यह विवाद करना व्यर्थ है कि जाति राजनीति का प्रयोग करती है या राजनीति जाति का।[3] कोठारी का मत है कि जनतन्त्र में जाति का प्रजातन्त्रीय अवतार (democratic incarnation of caste) हुआ है। कई विद्वानों ने जाति को वर्तमान भारत की राजनीतिक शक्ति माना है। भारत में जाति व राजनीति कभी भी दो विरोधी युग्म के रूप में नहीं रहे। जो लोग राजनीति में जातिवाद की शिकायत करते हैं, वे न तो राजनीति के प्रकृतस्वरूप को ठीक समझ पाये हैं न जाति के स्वरूप को। चूंकि देश की जनता जातियों में संगठित है, इसलिए राजनीति को जाति संस्था का उपयोग करना ही पड़ेगा। अतः राजनीति में जातिवाद का अर्थ जाति का राजनीतिकीकरण मात्र है। जाति को अपने दायरे में खींचकर राजनीति उसे अपने काम में लाने का प्रयत्न करती है। दूसरी ओर राजनीति के द्वारा जाति को

2 K M Pannikar *Hindu Society at Cross Roads* p 64
3 Rajni Kothari *Caste in Indian Politics*, p 5

देश की व्यवस्था मे भाग लेने का मौका मिलता है।[4] कोठारी ने सैद्धान्तिक परिवेश मे जाति के राजनीतिक रूप का उल्लेख किया है।

**जाति का राजनीतिक रूप (Political Aspect of Caste)**

जाति एव राजनीति मे अ त क्रिया के स दभ मे जाति के तीन रूपो (Aspects) का उल्लेख किया है—(1) लौकिक रूप, (2) एकीकरण करने वाला रूप, (3) चैतन्य पक्ष।

(1) लौकिक रूप (Secular Asp ct)—कोठारी ने लौकिक शब्द की विस्तृत व्याख्या की है। वे कहते हैं कि जाति प्रथा की कुछ बातो पर सबका ध्यान गया है—जैसे जाति के अन्दर विवाह, छुआछूत और रीति रिवाजो द्वारा जाति की पृथक् इकाई को कायम रखने का प्रयत्न। लेकिन इस बात की उपेक्षा कर दी जाती है कि जातियो मे आपस मे प्रतिद्वन्द्विता भी रहती है और वे लगातार अपनी प्रतिष्ठा और पद बढाने का भी प्रयत्न करती रहती ह।

जाति के लौकिक सगठन के दो रूप थे—एक शासकीय रूप अर्थात् जाति की और गाव की पचायत और चोवराहट। दूसरा रूप राजनीतिक या यानी जाति की आ तरिक गुटबन्दी और अ य जातियो स गठजोड और प्रतिद्वन्द्विता। इन सगठनो का बलवधन या बलह्रास इस बात पर निभर था कि स्थानीय नताओं के समाज की केन्द्रस्थ सत्ता से किस प्रकार के सम्ब ध थे। धम, व्यवसाय और प्रदेश के आधार पर जातियो की स्थिति बनती या बिगडती थी। अब भी इन बातो का महत्व है, यद्यपि स दभ बदल गया है। पहले जाति को किसी राजा से सम्बन्ध रखना पडता था और स्थानीय मामलो का प्रब ध जाति या गाव पचायत करती थी। अब राजा के स्थान पर राष्ट्रीय सरकार है और जातीय पचायतो के बजाय स्थानीय और प्रा तीय वि ान सभाएँ हैं। अनुलोम प्रतिलोम विवाह के आधार पर जातियो की तुलनात्मक ऊँचाई-नीचाई निर्धारित होती रही और इससे बाद मे राजनीतिक और लौकिक क्षेत्र मे जातियो मे परस्पर सम्ब ध बनने और सगठन कायम होने मे मदद मिली।[5]

(2) एकीकरण करने वाला रूप (Integration Aspect)—जाति का दूसरा पहलू व्यक्ति को समाज से बाधने का है। जाति मे व्यक्ति का स्थान, व्यवसाय और आर्थिक भूमिका निश्चित करती है। इस कारण व्यक्ति का समाज से लगाव पैदा होता है और वह आपस मे एक दूसरे से बँधा रहता है। यद्यपि यह निष्ठा एक छोटे समूह या जाति के प्रति होती है किन्तु बडी निष्ठाओ और राष्ट्र के प्रति निष्ठाभी उसी से उत्प न होती है। जाति प्रथा ने लोकत त्रीय राष्ट्र के निर्माण मे योग दिया

---

4 रजनी कोठारी, भारत मे राजनीति, प 174

5 वही, पृ 155 56

है। चुनाव म जीतने के लिए विभिन्न समूहो म प्रतिद्वन्द्विता रहती है इसी कारण विभिन्न जातियाँ एक समूह एव दूसरे म मिलते है और गठबन्धन करते है। यह जाति की जोडने की प्रवृत्ति है जिस पर ध्यान नही दिया गया। आधुनिक राजनीति जाति म जोडने एव तोडने वाले दोनो पक्षो पर ध्यान देती है। भारत की प्रवृत्ति हमेशा अनेकता के द्वारा एकता को प्राप्त करने की रही है और आज की लोकतन्त्री राजनीति मे इस पर बहुत जोर दिया गया है।

(3) चेतना रूप या चेतना बोध (Aspect of Consciousness)—राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति म परिवर्तन के परिणामस्वरूप जाति विशेष की स्थिति भी बदलती है। देश मे विभिन्न जातियो ने पहले का ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य जातियो का होने का दावा किया है अथवा उनमे सम्मिलित होने का प्रयास किया है। समाज म ऊँचा उठने के लिए निम्न जातियो ने निम्नांकित रास्ते अपनाये है

(1) ब्राह्मणीकरण या संस्कृतीकरण के द्वारा—इस प्रक्रिया का उल्लेख डा श्रीनिवास ने अपनी पुस्तक *'Social Change in Modern India'* म किया है। संस्कृतीकरण की प्रक्रिया मे एक निम्न जाति ऊँची जाति अथवा ब्राह्मणो के रीति रिवाजो खान पान, रहन-सहन और जीवन विधि को अपनाती है मांस मदिरा का त्याग करती है और अपना को ऊँची जाति का घोषित करती है।

(2) पश्चिमीकरण और लौकिकीकरण—इसमे एक जाति पश्चिमी देशो की नकल करती है उनके सामाजिक और भौतिक मूल्यो का अपनाती है तथा धर्म निरपेक्ष मूल्यो को अपनाकर समाज मे ऊँचा उठने का प्रयत्न करती है।

(3) अब्राह्मण जातियो से मिलना—आर्थिक उन्नति, राजनीतिक एकता और बुद्धिवाद की प्रवृत्तियो के कारण अनेक अब्राह्मण जातियाँ ब्राह्मणवाद की नकल करने के स्थान पर अन्य अब्राह्मण जातियो म मिलकर राजनीतिक व सामाजिक अधिकार प्राप्त करके अपनी स्थिति सुधारने की चेष्टा करती है।

(4) पौराणिक पुरुषो से सम्बन्ध जोडना—कुछ जातियाँ अपने को ऊँचा उठाने के लिए पौराणिक पुरुषो से अपने सम्बन्ध जोड लेती है जैसे गुजरात के पाटीदार, बगाल के माहिष्य और राजस्थान आदि के जाटो ने किया है।

(5) प्रत्यक्ष रूप से राजनीति मे भाग लेना—जहा अधिकार ब्राह्मणो के बजाय शक्तिशाली कृषक जातियो के हाथ मे आये हैं वहा जातियो ने राजनीति म प्रत्यक्ष रूप से भाग लिया है और अपनी सामाजिक स्थिति भी ऊँची उठाने म सफल हुई हैं। बिहार और आन्ध्र प्रदेश की कुछ जातियो ने ऐसा ही किया है। इन राज्यो मे राजनीति जातियो की गुटबन्दी और गठजोड पर आधारित है।

इस प्रकार हम देखते है कि जाति मे चेतना आने पर वह सामाजिक संस्तरण मे ऊँचा उठने के लिए अनेक प्रकार से प्रयास करती है। कोई जाति इस प्रयास मे सफल होगी या नही यह कई बातो पर निर्भर है जैसे वह सामाजिक, राजनीतिक या

आर्थिक क्षेत्र में सफलता पाने में वहाँ तक कामयाब हुई है। वास्तव में हिंदू समाज में लौकिक शक्ति के आधार पर जातियों की स्थिति उठती और गिरती रहती है और इस प्रकार उसमें गतिशीलता बनी रहती है।

## जाति व राजनीति में अन्त क्रिया के तीन चरण[6]

रजनी कोठारी ने जाति व राजनीति में अन्त क्रिया के तीन चरणों का उल्लेख किया है जिनके द्वारा परम्परात्मक समाज व्यवस्था राजनीति के निकट आयी है और उसे नयी बातों को अपनाने का अवसर मिला है।

**प्रथम चरण**—इस चरण में शक्ति और प्रभाव की प्रतिस्पर्धा समाज की प्रतिष्ठित और जमी हुई जातियों (entrenched castes) तक सीमित रही।[7] प्रारम्भ में शिक्षा का लाभ थोड़े से उच्च बुद्धिजीवी जातियों के लोगों ने उठाया। इसलिए नयी शिक्षा और उससे प्राप्त होने वाली पद प्रतिष्ठा केवल एक जाति या उपजाति तक सीमित रही। अन्य जातियों भी जो समाज में प्रभावपूर्ण और प्रतिष्ठित थी शक्ति हथियाने के लिए अन्य उच्च जातियों से संघर्ष करने लगी और इसके लिए उन्होंने राजनीतिक संगठन भी बनाए। इस प्रकार प्रथम चरण में दो ऊँची जातियों में प्रतिद्वंद्विता प्रारम्भ हुई। उदाहरणार्थ, मद्रास और महाराष्ट्र में ब्राह्मण-अब्राह्मण, राजस्थान में राजपूत जाट, गुजरात में बनिया-ब्राह्मण-पाटीदार, आन्ध्र में कम्मा-रेड्डी और केरल में इजावा-नायर द्वन्द्व हुए। इन द्वन्द्वों के परिणामस्वरूप नये और पेचीदा गठबंधन बन जाते हैं।

**दूसरा चरण**—इस चरण में पद और लाभ पाने की इच्छा रखने वाला की संख्या बढ़ जाती है अतः विभिन्न जातियों में प्रतिस्पर्द्धा के साथ-साथ जाति के अन्दर भी प्रतिस्पर्द्धी गुट बन जाते हैं। प्रतिद्वंद्वी नेताओं के पीछे गुट बन जाते हैं जिनमें विभिन्न जातियों के लोग भी होते हैं। अपना गुट मजबूत बनाने के लिए उन जातियों की भी सहायता ली जाती है जो अब तक इस दायरे से बाहर थी। जाति व्यवस्था की शक्ति और पद का ढाँचा अब ज्यादा जटिल हो जाता है। नयी व्यवस्था में लोग पारम्परिक आर्थिक सहायता देते हैं, अपने लोगों की नौकरी, व्यवसाय एवं विपत्ति के समय सहायता की जाती है जातीय संघ एवं महासंघ बनाये जाते हैं।

---

6 वही, पृ 159 163

7 प्रतिष्ठित या जमी हुई जाति (entrenched castes) शब्द का प्रयोग एम एन श्रीनिवास ने किया जो कि प्रभुजाति (dominant caste) से भिन्न है। प्रभु जाति न केवल राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से ही शक्तिशाली होती है, बल्कि संख्या में भी गाँव या क्षेत्र में अधिक होती है। प्रतिष्ठित जाति ऊँची और राजनीतिक रूप से प्रभावशाली होने पर भी संख्या में थोड़ी होती है। जिन क्षेत्रों में बहुसंख्यक कृषक जातियाँ प्रतिष्ठित होती हैं वहाँ प्रभुजाति एवं प्रतिष्ठित जाति में स्पष्ट अन्तर नहीं रहता।

चुनाव मे समर्थन पाने के लिए निम्न जातियो के प्रमुख लोगो को छोटे राजनीतिक पदो और लाभ मे कुछ हिस्सा दिया जाता है।

**तीसरा चरण**—इस चरण मे एक ओर राजनीतिक मूल्यो की प्रधानता हुई और जातिपांति से लगाव कम हुआ, दूसरी ओर शिक्षा, नये शिल्प, प्रतिष्ठा के परिवर्तित पैमाने और शहरीकरण के कारण समाज मे परिवर्तन आया। नयी आकाक्षाओ और भौतिक उन्नति की नयी धारणाओ का जोर बढ़ा, पुराने परिवार टूटने लगे तथा लोग व्यवसाय की खोज मे शहरो मे आने लगे। इससे जातीय भावना मे कमी तथा राजनीति मे व्यापकता आयी। जातीय बन्धन ढीले हुए। राजनीतिक प्रवृत्तियो ने नये सगठनो और नयी निष्ठा का जन्म दिया जो पुरानी निष्ठाओ को काटती हैं। जाति का रोटी और बेटी वाला सम्बन्ध कमजोर हुआ। आधुनिक राजनीति मे भाग लेने के लिए केवल जाति और सम्प्रदाय से काम नही चल सकता। छोटी जाति चुनाव नहीं जीत सकती और बड़ी जाति मे भी कई गुट बन जाते हैं। फिर यदि कोई उम्मीदवार अपनी ही जाति का पक्ष करता है तो दूसरी जातियां उसके खिलाफ हो जाती है। इसलिए चुनाव की राजनीति मे अनेक जातियो का गुट बनाना पडता है। इससे विभिन्न जातियो मे एकता कायम होती है और राजनीतिक दल की शक्ति भी तभी कायम रहती है जब समाज के सभी वर्गों और जातियो का उसे समर्थन प्राप्त हो। इस प्रकार जाति जब राजनीति मे प्रवेश करती है तो जातीय कठोरता कम होती है, नयी निष्ठाओ का उदय होता है और वह लौकिक राजनीतिक व्यवस्था का एक अग बन जाती है।

## जाति और राजनीति के बीच अन्त क्रिया का परिणाम
## *(CONSEQUENCES OF INTERACTION BETWEEN CASTE AND POLITICS)*

जाति एव राजनीति के बीच होने वाली अन्त क्रिया के कारण निम्नाकित परिणाम निकलते हैं

(1) समाज के साधारण एव कम उन्नत वर्गो और जातियो का महत्व बढ जाता है, उन्हे नयी बातो एव विचारो को सीखने का मौका मिलता है।

(2) विभिन्न जातियो एव सम्प्रदायो मे सामूहिक और राष्ट्रीय भावना का उदय होता है। अब राजनीतिक अधिकार सब जातियो के लिए खुल गये। आधुनिकतावादी नेता जातिपाति पर भले ही नाक भौह सिकोडें परन्तु इसके द्वारा राजनीतिक शक्ति उन वर्गों या समूहो के हाथ मे पहुँच सकी, जो अब तक उससे वचित थे।

(3) जहा जाति या कबीले की भावना को दबाने के बजाय उसको राजनीतिक दिशा देने की कोशिश की जाती है वहा राजनीतिक एकीकरण की सम्भावना बढ जाती है और जहाँ जाति या सम्प्रदाय के सगठन की अनुमति नही दी जाती वहा यह भावना गलत रास्ते पर जाती है।

(4) राजनीति में जाति के प्रवेश के कारण विभिन्न जातियों में दंगे, फसाद और तनाव भी उत्पन्न हुए हैं।

(5) दोनों की अन्तःक्रिया का एक मुख्य परिणाम **जातीय संगठनों का निर्माण** है। श्रीनिवास, रूडोल्फ तथा रूडोल्फ, मदान और कोठारी आदि ने जाति संगठनों की भूमिका का विस्तार से उल्लेख किया है। जातीय संगठन अपने सदस्यों को सामाजिक गतिशीलता, राजनीतिक शक्ति और आर्थिक हितों को प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। जातीय संगठनों का निर्माण गाँव स्तर से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक हुआ है। इससे जाति की समानान्तर गतिशीलता में वृद्धि हुई है। जातीय संगठनों ने एक तरफ जाति की परम्परात्मक सामाजिक एवं कर्मकाण्डीय स्थिति को ऊँचा उठाने का प्रयास किया तो दूसरी ओर आर्थिक एवं राजनीतिक हितों की रक्षा के प्रयत्न भी किये हैं। यातायात के विस्तार एवं विकास, प्रेस, डाक-तार, रेल एवं अन्य संचार की सुविधाओं ने जातीय संगठनों को शक्तिशाली बनाने व उनका प्रसार करने में योग दिया। प्रारम्भ में इन जाति संगठनों का उद्देश्य संस्कृतीकरण, सामाजिक स्तर में ऊँचा उठना, मन्दिर प्रवेश, सार्वजनिक स्थानों का उपयोग करना आदि रहा और वे अन्य जातियों की तरह सुविधा पाना चाहते थे। स्वतन्त्रता के बाद तो ऐसे संगठनों का मुख्य उद्देश्य प्रशासन में सुरक्षित स्थान तथा शिक्षा के अवसर पाने और राजनीतिक प्रतिनिधित्व प्राप्त करना हो गया। जातीय संगठन अपने राजनीतिक दल भी बनाने लगे अथवा राजनीतिक दलों, मन्त्रियों, विधान सभाओं और प्रशासनिक अधिकारियों आदि पर जाति हित की रक्षा के लिए दबाव डालने लगे। इस प्रकार जाति संगठनों ने अशिक्षित जाति समाज को राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संगठित किया। रूडोल्फ एवं रूडोल्फ का मत है कि जाति संगठन भारत में राजनीतिक प्रजातन्त्र लाने का प्रयत्न कर रहे हैं। जातियाँ अब समाज का सांस्कारिक एवं व्यावसायिक विभाजन (Ritual cum occupational division of society) होने के स्थान पर राजनीतिक गतिविधियों की इकाई बन रही हैं।

व्यावहारिक पक्ष

भारत के राजनीतिक दल सैद्धान्तिक रूप से एक नीति और सिद्धान्त पर आधारित हैं किन्तु व्यवहार में ने भाषा, जाति एवं क्षेत्रीय आधार पर बने दलों का सहयोग लेते रहे हैं। कोई भी जाति राजनीति में कितनी शक्तिशाली होगी यह कई तथ्यों पर निर्भर करता है। उदाहरणार्थ, जाति की सदस्य संख्या उस क्षेत्र में कितनी है, जाति में सजगता एवं संगठन की मात्रा तथा अन्य समूहों से सामंजस्य स्थापित करने की क्षमता कितनी है? यदि हम भारत की प्रान्तीय राजनीति की व्यावहारिक व्याख्या करें तो पायेंगे कि जाति राजनीति पर हावी रही है और राजनीतिक संघर्ष जातीय संघर्ष के रूप में रहे हैं। **केरल की** राजनीति में इजावाह, ईसाई, नाडार, नम्बूद्री ब्राह्मण और मुसलमानों की संख्या अधिक होने से सभी दल इनका समर्थन प्राप्त करने का प्रयास करते रहे हैं।

तमिलनाडु की राजनीति में ब्राह्मणों एवं अब्राह्मणों के बीच राजनीतिक संघर्ष पाया जाता है। वहाँ की जस्टिस पार्टी द्रविण मुनेत्र कड़गम न और द्रविड़ कड़गम ब्राह्मण विरोधी और उत्तर विरोधी विचारधारा को राजनीति का शस्त्र बनाया। महाराष्ट्र में मराठा तथा महर और मग अछूत जातियों के बीच राजनीतिक संघर्ष रहा है। आन्ध्र प्रदेश की राजनीति में रेड्डी एवं कामा जातियों में सत्ता संघर्ष रहा है। हरियाणा में जाट, अहीर और अनुसूचित जातियों में तथा बिहार में यादव, राजपूत, कायस्थ, आदिम जातियों और डा ब्राह्मणों में राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता पायी जाती है। राजस्थान में जाट व राजपूतों में, उत्तर प्रदेश में, जाट, अहीर, गुजर, रवारी, कुर्मी तथा चमारों में पंजाब में सिक्खों एवं हिन्दुओं में गुजरात में पटेल, पाटीदार, वैष्णव एवं रवारी जातियों में, उड़ीसा में भूमिहार, जाट ठाकुर एवं अछूत जातियों में, मध्य प्रदेश में ब्राह्मणों एवं जैन जातियों में तथा कर्नाटक में लिंगायत व ओक्कालिगा नामक जातियों में राजनीतिक संग्राम पाया जाता है।

जातिवाद पर आधारित राजनीति का स्पष्ट प्रभाव उन स्थानों पर देखने में आता है जहाँ जनता अशिक्षित, निर्धन या पिछड़ी हुई है। दूसरी ओर हमें ऐसे उदाहरण भी देखने को मिलते हैं जब भारतीय जनता ने जाति और धर्म से हट कर मतदान किया। 1971 में 'गरीबी हटाओ' नारे से प्रभावित होकर कांग्रेस के पक्ष में तथा 1977 में 'मक्टकाल की घोषणा के विरोध में' जनता पार्टी के पक्ष में ऐसा ही मतदान हुआ। इसी प्रकार से एक ही जाति के दो उम्मीदवार एक क्षेत्र से खड़े होने पर भी जाति निष्ठा बँट जाती है। किन्तु मोटे तौर पर राजनीतिक दलों ने जाति का राजनीति में एक शस्त्र के रूप में प्रयोग किया है। इसलिए ही डा रामदेश्वर प्रसाद भारतीय जनतन्त्र को जातितन्त्र (Castocracy) की संज्ञा देते हैं। व्यावहारिक रूप से जाति व राजनीति में निम्नांकित क्षेत्रों में सहयोग पाया जाता है

(i) प्रत्याशियों के चयन में—निर्वाचन क्षेत्र में खड़े होने वाले प्रत्याशियों का चयन करते समय जातिवाद भी अन्य आधारों में से एक आधार होता है और प्रत्येक राजनीतिक दल ऐसे उम्मीदवार को खड़ा करता है जो उस क्षेत्र की बहुसंख्यक जाति का हो या अधिकांश जातियों का समर्थन प्राप्त कर सके।

(ii) चुनाव प्रचार में जाति का योगदान—उम्मीदवार जिस जाति का होता है उस जाति के व्यक्ति चुनाव में उसका प्रचार करते हैं तथा आर्थिक व अन्य सहयोग भी प्रदान करते हैं। जातीय संगठन भी इस कार्य में लग जाते हैं।

(iii) जाति एवं प्रशासन—प्रशासन में भी जाति का ध्यान रखा जाता है। मन्त्रियों सचिवों एवं प्रशासनिक अधिकारियों की नियुक्ति में भी जाति के आधार पर पदों का बँटवारा होता है।

(iv) जाति तथा मतदान व्यवहार—प्रजातन्त्र का मूल आधार योग्यता है

किन्तु मतदान करते समय एक व्यक्ति अपनी जाति और धर्म को ध्यान में रखता है। कहा जाता है बेटी और वोट तो जाति के लोगों को ही देना चाहिए।

किन्तु साक्षरता और शिक्षा के कारण राजनीतिक जागृति आयी है और मतदाता का दृष्टिकोण विस्तृत हुआ है और राजनीति पर जाति का प्रभाव कम हुआ है। जाति एवं राजनीति के पारस्परिक सम्बन्ध ग्राम स्तर से राष्ट्रीय स्तर तक भिन्न आधारों पर बनते हैं। ग्राम स्तर पर या पंचायत और नगरपालिकाओं के चुनावों में जातीय आधार पर राजनीतिक समर्थन प्राप्त किया जाता है, प्रान्तीय स्तर या विधान सभा के चुनावों में विभिन्न जातियों से भी समर्थन पाने का प्रयास किया जाता है। लोकसभा के चुनावों या राष्ट्रीय स्तर पर दलीय, सैद्धान्तिक और वैचारिक आधार पर विभिन्न समूहों से समर्थन जुटाया जाता है।

राजनीति में भाग लेने के कारण विभिन्न जातियों में पाये जाने वाले संघर्षों का उल्लेख अनेक विद्वानों ने किया है। कोहन (Cohn) ने पूर्वी उत्तर प्रदेश में पंचायत के चुनावों में ठाकुरों के विरुद्ध चमारों के संगठित होने का उल्लेख किया है। चमारों ने संख्या में अधिक होने के कारण ठाकुरों से सत्ता छीन ली है। मेयर (Mayer) ने मध्य प्रदेश के मालवा गाँव के अध्ययन में यह पाया कि वहाँ लोग चुनाव में जातीय आधार पर मतदान करते हैं। पैटरसन (Patterson) ने महाराष्ट्र में ब्राह्मणों एवं मराठा के बीच शक्ति संघर्ष का उल्लेख किया है। अछूत जाति महर ने भी मराठाओं की शक्ति से भय प्रकट किया है। हैरिसन (Harrison) ने आन्ध्र में ब्राह्मणों की सत्ता को उखाड़ फेंकने तथा रेड्डी व कामा जातियों द्वारा सत्ता हथियाने की प्रक्रिया का उल्लेख किया है। पंजाब में सिक्खों एवं हिन्दुओं में यही संघर्ष देखा जा सकता है। बेली (Bailey) ने उड़ीसा के गाँवों के अध्ययन में यह पाया कि बाउ व गंजम अछूत जातियाँ शराब बनाना छोड़ कर भूमि खरीद रही हैं तथा अपनी आर्थिक और सामाजिक स्थिति ऊँची करके राजनीतिक सत्ता हथियाने का प्रयास कर रही हैं। लीच (Leach) ने भारत एवं लंका में जातियों के राजनीतिक गुट में उभरने की बात कही है।

उपर्युक्त उल्लेख से स्पष्ट है कि जाति और राजनीति दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। कोठारी का मत है कि जाति राजनीतिकरण (Politicization) हो गया है तथा जाति आधुनिकीकरण के मार्ग में बाधक नहीं है। किन्तु श्रीनिवास ने भिन्न मत प्रकट करते हुए कहा है, 'भारत की सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक संस्था की इस जातिवाद की राजनीति में व्यक्त एवं अव्यक्त भूमिका दुर्भाग्य का विषय है क्योंकि इसमें देश भक्ति, धर्मनिरपेक्षता, समाजवाद, जनतन्त्रवाद और हमारे दृढ़ संकल्पित प्रगतिवाद को गम्भीर ठेस पहुँच रही है। निपुणता, योग्यता एवं कुशलता जैसे गुणों के बलिदान देखने में आते हैं जिनसे एक उदारपंथी जनतन्त्र के मूल्यों का पतन ही नहीं वरन् विनाश हो रहा है। पिछड़ी जातियों या आदिम जातियों को दी गयी विशेष सुविधाएँ या आरक्षण असमानता को बनाये हुए है जो लोकतन्त्रात्मक समाज

बाद मे नहीं होने चाहिए।"[8] इस विषमता को दूर करने का उपाय यह है कि जाति और राजनीति मे समन्वय स्थापित किया जाय।

## प्रश्न

1 भारतीय राजनीति मे जाति की भूमिका का उल्लेख कीजिए।
[सकेत—इसमे 'जाति एव राजनीति की अन्त क्रिया' शीर्षक के अन्तगत दिये गये सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक पक्षो को लिखना होगा।]

2 राजनीति और जाति के पारस्परिक सम्बन्धो की व्याख्या कीजिए।
[सकेत—इसका उत्तर भी प्रथम प्रश्न की भाति ही दिया जायगा।]

3 भारत मे राजनीति ने जाति को और जाति ने राजनीति को किस प्रकार से प्रभावित किया है ?
[सकेत—इसके उत्तर के लिए 'जाति एव राजनीति मे अन्त क्रिया' शीर्षक मे दिये गये विवरण को लिखना है।]

4 जातीय सगठनो पर एक सक्षिप्त लेख लिखिये।
[सकेत—इस प्रश्न के उत्तर के 'जाति और राजनीति के बीच अन्त क्रिया का परिणाम' शीर्षक के 5वें पॉइण्ट मे जाति सगठनो के बारे मे दिया गया विवरण लिखना होगा।]

---

8 M N Srinivas Indian Road to Inequalities *Economic Weekly* Special No June 1960

# 5

# भारतीय जनजातियो मे विवाह

## (MARRIAGE AMONG INDIAN TRIBES)

भारतीय जनजातियो मे यौन इच्छाओ की पूर्ति, आर्थिक सहयोग, सन्तानोत्पत्ति एव उनके लालन पालन हेतु विवाह सस्था का प्रचलन है। विवाह का उद्देश्य केवल यौन तृप्ति ही नही हैं क्योकि यौन इच्छाओ की पूर्ति तो विवाह के बाहर भी की जा सकती है। जनजातीय समाजो मे जहाँ विवाह से पूर्व और विवाह के बाद भी यौन सम्बन्ध स्थापित करने की छूट होती है विवाह का उद्देश्य सन्तानो का लालन पालन एव आर्थिक सहयोग भी है। जनजातियो मे विवाह सम्बन्धी अनेक निषेध एव नियम पाये जाते हैं।

**विवाह सम्बन्धी निषेध (Prohibition regarding Marriage)**

भारतीय जनजातियों मे विवाह सस्था को स्थायित्व प्रदान करने के लिए तीन प्रकार के निषेधो का पालन किया जाता है

(1) निकटाभिगमन निषेध (Incest Taboo)—प्रत्येक समाज मे अति निकट के सम्बन्धियो जैसे माता पिता, भाई बहन आदि से विवाह करना निषिद्ध है। इसे ही अगम्य गमन निषेध कहते हैं। भारतीय जनजातियो मे भी निकट सम्बन्धियो से विवाह करना पाप माना जाता है और इस प्रकार के विवाहो का प्रचलन नही है।

(2) बहिर्विवाह (Exogamy)—बहिर्विवाह का अर्थ है एक व्यक्ति जिस समूह का सदस्य है उससे बाहर विवाह करे। अधिकाशत एक जनजाति के लोग अपने परिवार, गोत्र, टोटम समूह, गाँव तथा भ्रात दल आदि से बाहर विवाह करने की प्रथा का पालन करते हैं। कूकी जनजाति गोत्र बहिर्विवाह का पालन करती है। छोटा नागपुर की जनजातिया गाँव बहिर्विवाह के नियम को मानती है। राजस्थान के भील 'पालो' (क्षेत्रो) मे बँटे हुए है और एक 'पाल' के लोग अपने ही पाल' मे विवाह नही करते।

(3) अन्तर्विवाह (Endogamy)—अन्तर्विवाह का अर्थ है एक व्यक्ति अपने ही समूह मे विवाह करे। यह समूह गोत्र, भ्रात दल, द्वैध सगठन, उप जाति, जनजाति अथवा भौगोलिक क्षेत्र आदि कोई भी हो सकता है। टोडा लोग 'भ्रातृ दल अन्तर्विवाह' के नियमो का पालन करते हैं। भील दो प्रकार के हैं—'उजले' एव 'मैले' और दोनो ही अन्तर्विवाही समूह है।

अधिमान्य विवाह (Preferential Marriage)

जब विवाह साथी का चुनाव करते समय किसी व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष को ही दूसरे की तुलना मे वरीयता दी जाती है तो ऐसे विवाह को अधिमान्य विवाह कहते है। इस प्रकार के विवाह के प्रमुख चार रूप हैं

(अ) सलिंग सहोदरज विवाह (Parallel Cousin Marriage)—जब दो बहनो अथवा भाइयो के लड़के लडकियो के विवाह को प्राथमिकता दी जाती है तो उसे हम सलिंग सहोदरज अथवा मौसरे एवं चचेरे भाई-बहनों का विवाह कहते है। भारतीय जनजातियो मे सामान्यतः इस प्रकार के विवाह नही होते।

(ब) विलिंग सहोदरज विवाह (Cross Cousin Marriage)—ममेरे फुफेरे भाई बहनो के विवाह को विलिंग सहोदरज विवाह कहते हैं। मणिपुर की कुकी, मध्य प्रदेश की गोंड, आसाम की मिकिर तथा खरिया, ओरॉंव खासी और कदार जनजातियो मे इस प्रकार के विवाह पाये जाते है।

(स) देवर विवाह (Levirate)—कुछ जनजातियो में यह प्रथा है कि एक स्त्री विधवा होने पर अपने पति के भाई से विवाह कर लेती है। पति के बड़े भाई से विवाह को ज्येष्ठ विवाह (Senior Levirate) तथा छोटे भाई से विवाह को देवर विवाह (Junior Levirate) कहते है। भारत की थारु, भील, खस, टोडा आदि जनजातियो में इस प्रकार का विवाह पाया जाता है।

(द) साली विवाह (Sororate)—इस प्रकार के विवाह में एक पुरुष अपनी पत्नी की बहिन या बहिनों से विवाह करता है। पत्नी की मृत्यु होने पर उसकी छोटी बहिन से विवाह को सीमित साली विवाह कहते है और पत्नी के जीवित रहते उसकी अन्य बहिनो से विवाह को असीमित साली विवाह कहते है। इस प्रकार के विवाह उन जनजातियो मे पाये जाते है जिनमे वधू मूल्य की प्रथा है। पत्नी की मृत्यु होने पर ससुर से वधू मूल्य लौटाने को कहा जाता है तब ससुर ऐसा करने की बजाय अपनी दूसरी लडकी से विवाह करा देता है।

अन्य प्रकार के विवाह

इनके अतिरिक्त भी भारतीय जनजातियो में कुछ अन्य प्रकार के विवाह पाये जाते हैं। गारो जनजाति मे एक दामाद अपनी विधवा सास से विवाह कर लेता है जिससे कि दामाद सास की सम्पत्ति का स्वामी बन जाता है। गोंड लोगों में दादा व पोती मे विवाह हो जाता है। लाखेर तथा सेमा नागाओं मे एक पुत्र अपनी सगी मां को छोडकर पिता की अन्य विधवा स्त्रियों से विवाह कर लेता है। लाखेर जनजाति में पिता अपने पुत्र की विधवा स्त्री से भी विवाह कर लेता है।

विवाह के भेद (Forms of Marriage)

भारतीय जनजातियों में पाये जाने वाले विवाह को प्रमुखतः दो भागों मे बाँट सकते हैं—एक विवाह और बहु विवाह। बहु विवाह के भी दो भेद हैं—बहु-पत्नी विवाह तथा बहु-पति विवाह।

एक विवाह (Monogamy)—इसमे एक पुरुष एक समय मे एक ही स्त्री से विवाह करता है। पत्नी की मृत्यु अथवा तलाक की स्थिति मे दूसरा विवाह सम्भव है। खासी, सन्थाल तथा कदार जनजातियो मे एक विवाह प्रथा का प्रचलन है। इसका मूल कारण इन जनजातियो मे वधू मूल्य की अधिकता है।

बहु पत्नी विवाह (Polygyny)—एक पुरुष जब एकाधिक स्त्रियो से विवाह करता है तो उसे बहुपत्नी विवाह कहते हैं। नागा, गोड, बगा, भील, टोडा तथा मध्य भारत और दक्षिणी भारत की कुछ जनजातियो मे बहु-पत्नी प्रथा पायी जाती है।

बहु पति प्रथा (Polyandry)—इसमे एक स्त्री एकाधिक पुरुषो से एक साथ विवाह करती है। जब एक स्त्री के सभी पति आपस मे भाई होते हैं तो उसे भातृक बहुपति विवाह कहते हैं और जब पति परस्पर भाई न होकर अन्य सम्बन्धी होते हैं तो ऐसे विवाह को अभातृक बहुपति विवाह कहते है। भारत मे खस, टोडा, कोटा, लद्दाखी बोटा आदि जनजातियो मे बहुपति प्रथा का प्रचलन है। मार्टिन ने मध्य भारत की ओराव तथा सेन ने सथाल जनजाति मे भी इस विवाह प्रथा के प्रचलन का उल्लेख किया है।

## जनजातियों मे विवाह साथी चुनने के तरीके
## (WAYS OF ACQUIRING MATES IN TRIBES)

भारतीय जनजातियो मे विवाह साथी चुनने के अनेक तरीके प्रचलित हैं जिनका हम यहाँ उल्लेख करेंगे

(1) परिवीक्षा विवाह (Marriage by Probation)—इस प्रकार के विवाह मे पति-पत्नी को कुछ समय के लिए विवाह से पूर्व साथ रहने का अवसर दिया जाता है जिससे वे एक दूसरे के स्वभाव को समझ सकें और यौन अनुभवो को प्राप्त कर सकें। यदि इस अवधि मे दोनो मे सामजस्य हो जाता है तो उनका विवाह करवा दिया जाता है। इस प्रकार का विवाह भारत मे दारलुग और कूकी जनजाति मे पाया जाता है।

(2) हरण विवाह (Marriage by Capture)—इस प्रकार के विवाह मे कन्या का अपहरण करके उसके साथ विवाह किया जाता है। नागा, भील, गोड जनजातियो तथा आसाम, बिहार व मध्य प्रदेश की कई जनजातियो मे यह प्रथा पायी जाती है। हो लोग इसे 'उपर टिपी', गोड इसे 'पोसी ओथुर' कहते हैं। इस प्रकार के विवाह का एक कारण वधू मूल्य की अधिकता है। कुछ जनजातियो मे हरण का झूठ मूठ अभिनय किया जाता है तब इसे सस्कारात्मक हरण कहते हैं। खरिया, सथाल, बिरहोर भूमिज भील, नागा तथा मुडा जनजातियो मे सस्कारात्मक हरण विवाह पाया जाता है। आसाम मे एक गाव दूसरे गाँव पर आक्रमण करता है और वहाँ की स्त्रियो को उठा लाते है तथा उनसे विवाह रचाते हैं। इस प्रकार के विवाह पुरुषो के शासन एव शक्ति के प्रतीक हैं।

(3) परीक्षा विवाह (Marriage by Trial)—इस प्रकार के विवाह में पुरुष के साहस और शौर्य की परीक्षा ली जाती है जिसमें खरा उतरने पर उसका विवाह करा दिया जाता है। गुजरात के भीलों में होली के अवसर पर 'गोल गाधेड़ा' नामक उत्सव मनाया जाता है। एक खम्भे या पेड़ पर गुड़ और नारियल बांध दिया जाता है। गांव के कंवारे लड़के और लड़कियाँ पेड़ के चारों ओर दो घेरे बनाते हैं। अंदर का घेरा लड़कियों का व बाहर का घेरा लड़कों का होता है। दोनों नृत्य करते हैं और इसी बीच लड़के लड़कियों का घेरा तोड़ कर पेड़ पर चढ़ने का प्रयास करते हैं और लड़कियां उन्हें ऐसा करने से रोकती हैं पीटती और नोचती हैं। इस पर भी कोई लड़का पेड़ पर चढ़ कर गुड़ व नारियल खाने में समर्थ हो जाता है तो वह उस नृत्य में शामिल लड़कियों में से अपनी मन पसन्द लड़की से विवाह करता है।

(4) क्रय विवाह (Marriage by Purchase)—इस प्रकार के विवाह में वधू प्राप्त करने के लिए वधू के माता पिता या उसके रिश्तेदारों को वधू मूल्य दिया जाता है। वधू मूल्य देने के कारण हैं जैसे यह समाज में स्त्री की प्रतिष्ठा को बढ़ावा देता है, तथा लड़की के घर से चले जाने का यह हर्जाना भी है। यह दो परिवारों में आर्थिक सहयोग का सूचक है। इस प्रकार का विवाह भारत की लगभग सभी जनजातियों में पाया जाता है। सन्थाल, हो, ओरांव, खड़िया, गोंड, नागा, कूकी तथा भीलों में क्रय विवाह का विशेष प्रचलन है।

(5) सेवा विवाह (Marriage by Service)—वधू मूल्य को चुकाने का एक तरीका यह भी है कि दामाद अपने सास-ससुर की सेवा करे और उसके बदले में उनकी पुत्री को पत्नी के रूप में प्राप्त करे। कुछ जनजातियों में विवाह से पूर्व दामाद को सेवा करनी होती है तो कुछ में विवाह के बाद। गोंड व बैगा में जो पुरुष वधू-मूल्य नहीं दे पाता वह अपने ससुर के यहां सेवक के रूप में कार्य करता है और कुछ वर्षों तक सेवा करने के बाद ससुर की पुत्री से विवाह करके लौटता है। गोंड लोगों में ऐसे पुरुष को लामानाई और बैगा में लामसेना या गहरिया कहते हैं। बिम्होर जनजाति में ससुर दामाद को रुपया उधार देता है जिससे कि वह वधू मूल्य चुका सके। जब तक वह पुनः ऋण नहीं लौटा देता उसे ससुर के घर पर काम करना होता है। नेपाल के गोरखा, जौनसार के खस लोगों के यहाँ खेती में श्रमिक का कार्य करते हैं और अवधि समाप्ति पर वे खस स्त्री से विवाह कर लौटते हैं।

(6) विनिमय विवाह (Marriage by Exchange)—वधू मूल्य से बचने का एक तरीका यह भी है कि दो परिवार आपस में स्त्री का लेनदेन कर लें। एक भाई की शादी के लिए दूसरे परिवार में उसकी बहिन दे दी जाती है और बदले में बहिन के पति की बहिन से विवाह कर लिया जाता है। सामान्यतः सम्पूर्ण भारत में इस प्रथा का प्रचलन है किन्तु आसाम की खासी जनजाति में इस प्रथा का निषेध है।

लोगों का मत है कि ऐसे विवाह मे किसी भी परिवार की हानि नही होती । यह बिना खच के पत्नी प्राप्त करने का तरीका है ।

(7) सहपलायन विवाह (Marriage by Elopment)—जनजातियो मे अधिकाशत युवक और युवतियो की महमति से ही विवाह होते हैं और माता-पिता उनके निणय की पुष्टि कर देते हैं । कभी कभी माता पिता द्वारा युवक युवतियो को विवाह करने की स्वीकृति नही दी जाती है तो वे सहपलायन कर जाते है । कभी कभी सहपलायन करने वालो को मारा व पीटा जाता है । पलायन किये हुए व्यक्तियो को या तो दोनो पक्षो के लोग गाँव लौटा लाते हैं या सतान होने पर वे स्वय लौट आते हैं तो उन्हे सामाजिक स्वीकृति मिल जाती हैं । बिहार की हो' तथा राजस्थान की भील जनजाति म यह प्रथा प्रचलित है । 'हो' लोग इसे 'राजी खुशी' विवाह कहते है ।

(8) हठ विवाह (Marriage by Intrusion)—इस प्रकार के विवाह मे लडकी जिस व्यक्ति से विवाह करना चाहती है उसके घर पर जबरन जाकर रहने लगती है । उसे वहाँ अपमान भी सहना होता है जब तक लडके के माता पिता उसे बहू के रूप मे स्वीकार न कर लें । इस प्रकार का विवाह बिरहोर, हो, ओरॉव, कमार व मुण्डा जनजातियो म पाया जाता है । 'हो' ऐसे विवाह को अनादर तथा ओराव इसे निर्बोलक कहते हैं । कई बार लडकी को पीटा जाता है, घर स बाहर निकाला जाता है व भोजन भी नही दिया जाता है । इस पर भी यदि लडकी दृढ रहती है तो उसका विवाह करवा दिया जाता है । गोड लोग ऐसे विवाह को पठू' कहते है ।

विवाह विच्छेद (Divorce)

लगभग सभी आदिम जातियो म विवाह विच्छेद का प्रावधान है । जीवन साथी के दुश्चरित्र, बाँझ, नपुसक, निर्दयी, यौन सम्बन्ध स्थापित करने मे असमर्थ होने, बीमार अथवा जादुई क्रियाओ मे सलग्न होने आदि की स्थिति मे उसे त्यागने की स्वीकृति होती है । सथाल पुरुष अपनी पत्नी के दुश्चरित्र एव जादूगरनी होने या आज्ञाकारी न होने पर उसे तलाक दे सकता है । खासी एव गोंड जनजातियो मे भी एक पति अपनी झगडालू बाँझ एव व्यभिचारी स्त्री का त्याग सकता है । कभी कभी विवाह विच्छेद चाहने वाले पक्ष को दूसरे पक्ष को हर्जाना भी देना होता है । लुशाई जनजाति म यदि पति विवाह विच्छेद करता है तो उस अपने ससुर का वधू-मूल्य चुकाना होता है और यदि स्त्री अपने पति को त्यागती है तो कन्या पक्ष वाले वर पक्ष का वधू मूल्य लौटाते हैं । खरिया जनजाति म किसी भी पक्ष मे यौन सम्बन्धी कमजोरी होने अथवा पत्नी के बाँझ, जादूगरनी, आलसी होने या पति के साथ रहने से मना करने की स्थिति मे तलाक हो सकता है । एक सथाल स्त्री पति द्वारा उसका भरण-पोषण न करने तथा वस्त्र एव आभूषण न जुटा पाने की स्थिति मे

उसे त्याग सकती है। एक थारू स्त्री अपने अत्याचारी, नपुंसक, निर्दयी एवं क्षत सामाजिक स्थिति वाले पति को तलाक दे सकती है।

## प्रश्न

1 भारतीय जनजातियों में विवाह साथी चुनने की विधियों का उदाहरण सहित उल्लेख कीजिए। (गोरखपुर, 1976)
[संकेत—इसमें 'जनजातियों में विवाह साथी चुनने के तरीके' शीर्षक के अंतर्गत दिये गये आठों तरीकों का उल्लेख करना होगा।]

2 भारतीय जनजातियों में प्रचलित विवाह के प्रकारों का उल्लेख कीजिए।
[संकेत—इसमें 'विवाह के भेद' नामक शीर्षक एवं बहिर्विवाह, अंतर्विवाह एवं अन्य प्रकार के विवाहों के अंतर्गत लिखा गया विवरण प्रस्तुत करना होगा।]

3 भारत की जनजातियों में विवाह पर एक निबंध लिखिए।
[संकेत—इसमें सम्पूर्ण अध्याय का ही संक्षेप में लिखना होगा।]
(गोरखपुर, 1970)

# 4

# कर्म तथा पुनर्जन्म

## (KRRMA AND REBIRTH)

भारतीय विचारधारा और जीवन-दर्शन पर कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त का जितना प्रभाव पड़ा है, उतना सम्भवतः किसी अन्य सिद्धान्त का नहीं। सामान्य व्यक्ति भी यह जानता है कि व्यक्ति को अपने कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है। वह जैसा कर्म करेगा, वैसा ही उसे फल मिलेगा। चाहे लोग वेदों, उपनिषदों, गीता, महाभारत, रामायण तथा अन्य धर्म-ग्रन्थों के तत्व ज्ञान को नहीं समझते हों, परन्तु वे इतना अवश्य जानते हैं कि अच्छे कर्म का फल अच्छा और बुरे कर्म का फल बुरा होता है। हिन्दू लोग साधारणतः इस बात को भी भली भाँति जानते हैं कि शरीर नाशवान है परन्तु आत्मा अमर है। जिस प्रकार व्यक्ति फटे पुराने वस्त्रों को त्यागकर नवीन वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार मृत्यु के बाद आत्मा पुराने शरीर को त्यागकर नवीन शरीर धारण करती है। इस सिद्धान्त को बौद्ध धर्म और जैन धर्म में भी स्वीकार किया गया है। इस सिद्धान्त ने विभिन्न युगों में असंख्य पीढ़ियों के विचारों और कार्यों को प्रभावित किया है। कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त को ठीक प्रकार से समझे बिना चौथे पुरुषार्थ—मोक्ष की अवधारणा को भी भली भाँति नहीं जाना जा सकता। इस सिद्धान्त ने वर्ण और आश्रम व्यवस्था के नैतिक आधार के रूप में कार्य किया है। यदि धर्म यह बताता है कि 'क्या होना चाहिए' तो कर्म 'क्या है' की व्याख्या करता है और साथ ही इस बात की भविष्यवाणी भी कि व्यक्ति का अगला जीवन क्या और कैसा होगा। कर्म का सिद्धान्त व्यक्ति को दिशा देता है, उसे सामाजिक दायित्वों के निर्वाह की प्रेरणा प्रदान करता है और भविष्य के प्रति आशावान बनाता है। कर्म की अवधारणा ने पिछली अनेक शताब्दियों से लोगों को स्वधर्म का पालन करने, सामाजिक नियन्त्रण बनाये रखने और सामाजिक संगठन को स्थिरता प्रदान करने में अपूर्व योग दिया है। इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी प्राप्त करने के पूर्व 'कर्म' के अर्थ को भली भाँति समझ लेना आवश्यक है।

**कर्म का अर्थ (Meani g of *Karma*)**

'कर्म' शब्द की व्युत्पत्ति 'कृ' धातु से हुई है जिसका अर्थ है 'करना', 'व्यापार' या 'हलचल'। इस अर्थ की दृष्टि से मनुष्य जो कुछ करता है, वह सभी 'कर्म' के

उसे त्याग सकती है। एक थारू स्त्री अपने अत्याचारी, नपुंसक, निर्दयी एवं क्षत सामाजिक स्थिति वाले पति को तलाक दे सकती है।

**प्रश्न**

1 भारतीय जनजातियों में विवाह साथी चुनने की विधियों का उदाहरण सहित उल्लेख कीजिए। (गोरखपुर, 1976)
[संकेत—इसमें 'जनजातियों में विवाह साथी चुनने के तरीके' शीर्षक के अंतर्गत दिये गये आठों तरीकों का उल्लेख करना होगा।]

2 भारतीय जनजातियों में प्रचलित विवाह के प्रकारों का उल्लेख कीजिए।
[संकेत—इसमें 'विवाह के भेद' नामक शीर्षक एवं बहिर्विवाह, अंतर्विवाह एवं अन्य प्रकार के विवाहों के अंतर्गत लिखा गया विवरण प्रस्तुत करना होगा।]

3 भारत की जनजातियों में विवाह पर एक निबंध लिखिए।
[संकेत—इसमें सम्पूर्ण अध्याय को ही संक्षेप में लिखना होगा।]
(गोरखपुर, 1970)

# 4

# कर्म तथा पुनर्जन्म
## (KRRMA AND REBIRTH)

भारतीय विचारधारा और जीवन दर्शन पर कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त का जितना प्रभाव पड़ा है, उतना सम्भवत किसी अन्य सिद्धान्त का नहीं। सामान्य व्यक्ति भी यह जानता है कि व्यक्ति को अपने कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है। वह जैसा कर्म करेगा, वैसा ही उसे फल मिलेगा। चाहे लोग वेदो, उपनिषदो, गीता, महाभारत, रामायण तथा अन्य धर्म ग्रन्थो के तत्व ज्ञान को नही समझते हो, परन्तु वे इतना अवश्य जानते हैं कि अच्छे कर्म का फल अच्छा और बुरे कर्म का फल बुरा होता है। हिन्दू लोग साधारणत इस बात को भी भली भांति जानते हैं कि शरीर नाशवान है परन्तु आत्मा अमर है। जिस प्रकार व्यक्ति फटे पुराने वस्त्रो को त्यागकर नवीन वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार मृत्यु के बाद आत्मा पुराने शरीर को त्यागकर नवीन शरीर धारण करती है। इस सिद्धान्त को बौद्ध धर्म और जैन धर्म मे भी स्वीकार किया गया है। इस सिद्धान्त ने विभिन्न युगो मे असख्य पीढियो के विचारो और कार्यों को प्रभावित किया है। कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त को ठीक प्रकार से समझे बिना चौथे पुरुषार्थ—मोक्ष की अवधारणा को भी भली-भांति नही जाना जा सकता। इस सिद्धान्त ने वर्ण और आश्रम व्यवस्था के नैतिक आधार के रूप म कार्य किया है। यदि धर्म यह बताता है कि 'क्या होना चाहिए' तो कर्म 'क्या है' की व्याख्या करता है और साथ ही इस बात की भविष्यवाणी भी कि व्यक्ति का अगला जीवन क्या और कैसा होगा। कर्म का सिद्धान्त व्यक्ति को दिशा देता है, उसे सामाजिक दायित्वो के निर्वाह की प्रेरणा प्रदान करता है और भविष्य के प्रति आशावान बनाता है। कर्म की अवधारणा ने पिछली अनेक शताब्दियो से लोगों को स्वधर्म का पालन करने सामाजिक नियन्त्रण बनाये रखने और सामाजिक सगठन को स्थिरता प्रदान करने मे अपूर्व योग दिया है। इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी प्राप्त करने के पूर्व 'कर्म' के अर्थ को भली भाति समझ लेना आवश्यक है।

**कर्म का अर्थ (Meanı g of *Karma*)**

'कर्म' शब्द की व्युत्पत्ति 'कृ' धातु से हुई है जिसका अर्थ है 'करना', 'व्यापार' या 'हलचल'। इस अर्थ की दृष्टि मे मनुष्य जो कुछ करता है, वह सभी 'कर्म' के

अन्तगत आता है खाना, पीना, सोना उठना, बैठना, चलना, विचार या इच्छा करना, दान दक्षिणा देना, यज्ञ करना, ध्यान करना, लडना झगडना आदि सभी गीता के अनुसार 'कम' की श्रेणी मे आते हैं। इसका तात्पय यह हुआ कि मनुष्य जो कुछ करता है, वह सभी कम है। कम का सम्बन्ध संस्कृत भाषा के शब्द 'कमन्' से है जिसका अर्थ कतव्य, काय, क्रिया कत्य या दैव से है। इस दृष्टि से कम का तात्पय उन सभी क्रियाओ से है जो मनुष्य अपने दायित्वो के निर्वाह हेतु करता हैं अथवा जिनसे व्यक्ति के भाग्य का निर्माण होता है। कम के अथ को स्पष्ट करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने बताया है, आत्मा की आभ्यान्तरिक अग्नि तथा उसकी अपनी शक्ति एव ज्ञान को बाहर प्रकट करने के लिए जो मानसिक अथवा भौतिक घात उस पर पहुचाये जाते हैं, वे ही कम हैं। इस प्रकार हम सब प्रति क्षण ही कम करते रहते हैं। मैं तुमसे बात-चीत कर रहा हू—यह कम है, तुम सुन रहे हो यह भी कम है, हमारा साँस लेना या चलना भी कम है, जो कुछ हम करते हैं वह शारीरिक हो अथवा मानसिक सब कम ही है जो हमारे ऊपर अपने चिह्न अकित कर जाता है।[1] गीता के अनुसार मन (मनसा), वाणी (वाचा) तथा शरीर (कायिक) से की गयी सभी प्रकार की क्रियाएँ कम ही हैं। व्यक्ति मन मे जो कुछ विचार, इच्छा या सकल्प आदि करता है, दूसरो को जो कुछ कहता या बातचीत करता है और व्यवहार के रूप मे जो कुछ प्रकट मे करता है, सभी कम हैं।

कम के अर्थ के अन्तर्गत तीन तत्व—कर्ता, परिस्थिति एव प्रेरणा सम्मिलित हैं। कम को सम्पादित करने के लिए किसी व्यक्ति का होना आवश्यक है जो कता के नाम से जाना जाता है। साथ ही कर्ता कोई क्रिया शून्य मे नही करता बल्कि उसके लिए एक परिस्थिति का होना भी आवश्यक है। परिस्थिति के अतिरिक्त कम के सम्पादन के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति को कोई न कोई प्रेरणा प्राप्त हो। बिना प्रेरणा या कारण के कम का सम्पन्न होना सम्भव नही है। इन तीनो तत्वो के सम्मिलित होने पर ही कम सम्पादित होता है। भगवद्गीता मे कम के पाँच तत्वो का उल्लेख किया गया है जो निम्नलिखित हैं (1) कर्ता, (2) कार्य का स्थान, (3) साधन, (4) प्रयत्न, और (5) भाग्य।

कम की अवधारणा को समझने की दृष्टि से यह जान लेना भी आवश्यक है कि व्यक्ति को अपने कर्मों का फल किस प्रकार मिलता है। इस सम्बन्ध मे श्री बैजनाथ ने बताया है कि काय और कारण का नियम हर जगह व्याप्त होता है। प्रत्यक कारण का कोई न कोई परिणाम अवश्य होगा। विज्ञान का नियम है कि क्रिया और उसकी प्रतिक्रिया समान बल की, किन्तु विपरीत दिशा की होती है। आगे आपने लिखा है कि हमारे प्रत्यक कार्य मे स्थूल कार्य के अतिरिक्त भाव तथा विचार की भी क्रिया होती है। सवप्रथम, हम किसी कार्य के सम्बन्ध मे सोचते हैं

1 विवेकानन्द, कमयोग पृ० 4।

और इसके पश्चात् ही यह विचार एक क्रिया उत्पन्न करता है। उस विचार के आते ही हमारे मन में क्रोध, लोभ, स्नेह आदि भाव उत्पन्न होते हैं और बाहर निकलकर दूसरों पर वैसा ही प्रभाव डालते हैं।[1] उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि कर्म क्रिया के रूप में है और फल प्रतिक्रिया के रूप में। मनुष्य जो कुछ क्रिया करता है, उसकी प्रतिक्रिया अवश्य होती है। इसी प्रकार मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, उसका फल उसे अवश्य प्राप्त होता है। इस प्रकार श्री बैजनाथ ने कर्म और फल की विवेचना वैज्ञानिक आधार पर की है।

व्यक्ति को अपने सभी कर्मों का फल इसी जीवन में नहीं भुगतना पड़ता। अपने कर्मों का फल भोगने के लिए व्यक्ति को भिन्न-भिन्न रूपों में जन्म लेना पड़ता है, एक के बाद दूसरी योनि ग्रहण करनी पड़ती है। व्यक्ति के वर्तमान जीवन का पूर्व जन्म या अतीत में किये गये कर्मों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। इस दृष्टि से कर्म के तीन प्रकार बताये गये हैं (1) संचित कर्म, (2) प्रारब्ध कर्म, और (3) क्रियमाण या सचीयमान कर्म। संचित कर्म के अन्तर्गत वे कर्म आते हैं जो व्यक्ति द्वारा पूर्व जन्म में किये गये हैं। इन पूर्व कर्मों में से जिन कर्मों का फल व्यक्ति को वर्तमान जीवन में भोगना पड़ता है, वे प्रारब्ध कर्म की श्रेणी में आते हैं। व्यक्ति द्वारा इस जीवन में किया जा रहा कर्म क्रियमाण कर्म कहलाता है। व्यक्ति का आगामी जीवन संचित और क्रियमाण कर्म पर निर्भर करता है। कर्म की उपरोक्त धारणा से स्पष्ट है कि कर्म का सम्बन्ध न केवल वर्तमान जीवन के साथ बल्कि भूतकालीन एवं भावी जीवन के साथ भी पाया जाता है। यह तो पुनर्जन्म के सम्पूर्ण चक्र से सम्बन्धित है।

**कर्म तथा पुनर्जन्म का सिद्धान्त (The Doctrine of *Karma* and Rebirth)**

कर्म और पुनर्जन्म दो पृथक सिद्धान्त नहीं होकर एक ही सिद्धान्त है तथा इनके बीच कार्य कारण सम्बन्ध पाया जाता है। जिस प्रकार एक बीज पौधे का कारण बनता है, उसी प्रकार कर्म आगामी जीवन का। मनुष्य को अपने कर्मों का फल भोगने के लिए ही जन्म जन्मान्तर तक विभिन्न योनियों में जीवन धारण करना पड़ता है। कर्म की अवधारणा पर वेदों में विचार प्रारम्भ हो चुका था परन्तु इसने उपनिषदों में सिद्धान्त का रूप ग्रहण किया। महाभारत, गीता, स्मृतियों तथा अन्य धर्म ग्रन्थों में भी इस सिद्धान्त पर गहराई से विचार किया गया।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि कर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन वैदिककाल के अन्तिम वर्षों (ईसा के 700 वर्ष पूर्व) में किया गया। ऋग्वेद में ऋत (Rita) की अवधारणा को विकसित किया गया है। इस शब्द का प्रयोग सामान्य अर्थों में सीधी, प्रत्यक्ष या सही रेखा के लिए किया गया है, अर्थात् यह प्रकृति के कानून को व्यक्त करता है। नैतिक दृष्टि से इसका प्रयोग नैतिक

1 बैजनाथ, 'कर्म विज्ञान', कल्याण, वर्ष 24, अंक 1, पृ० 559।

शतपथ ब्राह्मण - कर्मों से पुनर्जन्म, पूर्णज्ञान से इससे छुटकारा



कानून जिस पर हमारा जीवन आधारित है, के लिए किया गया है। यह सही एवं तक का कानून है, यह हमारे भीतर और बाहर जो कुछ सही है, उसी को बताता है। स्पष्ट है कि ऋत एक ऐसी अवधारणा है जो हमारे अन्तःकरण की ईश्वरीय आवाज को व्यक्त करती है और हमें बताती है कि क्या सही है, और क्या सच है। गोखले के अनुसार ऋग्वैदिक दर्शन में ऋत सर्वोच्च अवधारणा है। इसमें यह दृढ़ विश्वास किया गया कि ब्रह्माण्ड एक व्यवस्थित विश्व है यह देवी देवताओं की सनक तथा रुचियों द्वारा नहीं चलता है, यहाँ तक कि देवी देवता स्वयं सर्वोच्च नियम से बंधे हुए हैं और अपने इरादों या आचरण की दृष्टि से स्वेच्छाचारी (निरंकुश) नहीं हैं।[1] इस कथन से स्पष्ट है कि 'ऋत' एक अन्तरिक्षीय कानून (Cosmic Law) के रूप में महत्वपूर्ण अवधारणा रही है। धीरे धीरे ऋत का प्रयोग नैतिकता के महान अन्तरिक्षीय कानून के रूप में न करके यज्ञीय अनुष्ठान को सही ढंग से सम्पन्न करने के लिए किया जाने लगा। वेदों में स्पष्टतः कहा गया है कि आत्मा अमर है परन्तु शरीर नाशवान है। व्यक्ति का उस समय तक पुनः पुनः जन्म होता रहता है जब तक कि वह अमरत्व को प्राप्त नहीं कर ले, अपने को ब्रह्म में विलीन नहीं कर ले। जन्म मरण के बंधन से छुटकारा प्राप्त करने के लिए सदकर्मों पर विशेषतः जोर दिया गया है। यहाँ कर्म का प्रयोग एक जागरूक क्रिया से है, विभिन्न पुरुषार्थों को पूरा करने से है।

उपनिषदों में सर्वप्रथम कर्म तथा पुनर्जन्म की अवधारणाओं को एक सिद्धान्त का रूप दिया गया। इनमें बताया गया कि मनुष्य को अपने कर्मों के अनुसार न केवल परलोक में ही सुख दुख प्राप्त होता है बल्कि इस संसार में बार बार जन्म भी धारण करना पड़ता है। सतपथ ब्राह्मण में सबसे पहले कर्म के सिद्धान्त का उल्लेख मिलता है। इसमें यह भी बताया गया है कि जो व्यक्ति पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वही ब्रह्म में एकाकार तथा जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो पाता है। उपनिषदों में उल्लेख किया गया है कि कर्मों के फल के परिणामस्वरूप आत्मा का पुनः जन्म होता है। कठोपनिषद में इस विचार को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है कि मृतक की आत्मा नवीन शरीर धारण करती है। वृहदारण्यक उपनिषद में कहा गया है कि आत्मा, मृत्यु होने पर मनुष्य के द्वारा जीवन भर किये गये कर्मों के साथ शरीर से बाहर निकलती है, और उसके ये कर्म ही उस स्वरूप का निर्धारण करते हैं जो आत्मा को दूसरे जन्म में ग्रहण करना है।[2] इसी उपनिषद में याज्ञवल्क्य ने बताया है कि मनुष्य का आगामी जीवन स्वयं की क्रियाओं (कर्मों) द्वारा निर्धारित होता है, शुभ कर्मों का अच्छा फल और अशुभ कर्मों का बुरा फल मिलता है। जिस प्रकार एक इल्ली (Caterpillar) घास का एक किनारा उसी समय छोड़ती है जब वह

1 B C Gokhale *India's Thought Through The Ages* p 95
2 वृहदारण्यक उपनिषद, III 2,13, तथा 4, 4, 2-6।

दूसरी पत्ती को पकड लेती है, उसी प्रकार यह आत्मा भी शरीर का त्याग उसी समय करती है जब उसे अस्तित्व के किसी अन्य स्वरूप अर्थात् किसी दूसरे शरीर का सबल प्राप्त हो जाता है, और जैसे एक सुनार सोने के एक टुकडे को अपनी इच्छानुसार किसी भी नवीन और अधिक सुन्दर आकृति मे बदल देता है, ठीक उसी प्रकार यह आत्मा अपने लिए नवीन और अधिक सुन्दर शरीर निर्मित कर सकती है। अपने कर्मों के अनुसार पुनर्जन्म के सम्बन्ध मे, इस उपनिषद मे बताया गया है कि जैसा मनुष्य का चाल-चलन और व्यवहार होता है, वैसी ही उसकी आत्मा बनती है। वह जिसके कर्म शुभ होते हैं अच्छा, और जिसके कर्म अशुभ होते हैं, बुरा बन जाता है। वह पवित्र कर्मों से पुण्यात्मा और पापपूर्ण कर्मों से पापी बन जाता है।[1] इस उपनिषद मे कर्म तथा जन्म मरण के चक्र से छुटकारा प्राप्त करने के उपाय के सम्बन्ध मे बताया गया है कि यह उसी समय सम्भव है जब व्यक्ति पूर्णत इच्छाओ से रहित हो जाय। सब प्रकार की इच्छाओ से रहित होकर ही नाशवान व्यक्ति अमरत्व को प्राप्त एव ब्रह्म की उपलब्धि कर सकता है। अच्छे आचरण से व्यक्ति का जन्म उच्च वर्ण मे और बुरे आचरण से निम्न वर्ण मे और यहा तक कि कुत्तो एव सूअर के रूप मे भी होता है। कठोपनिषद मे उल्लेख मिलता है कि आत्मा अपने कर्म तथा ज्ञान के अनुसार जड वस्तुओ जैसे पेड या पौधो का स्वरूप भी ग्रहण कर सकती है।[2]

उपनिषदो मे स्पष्टत बताया गया है कि मृत्यु होने पर शरीर नष्ट हो जाता है और आत्मा अपने पिछले कर्मों के अनुसार नवीन शरीर धारण करती है। व्यक्ति को अपने बुरे कर्मों के फलस्वरूप जड वस्तुओ अर्थात पेड पौधो के रूप मे जन्म लेना पडता है। सद्कर्म, ज्ञान तथा सही आराधना द्वारा जन्म मरण के बन्धन से छुटकारा प्राप्त किया जा सकता है। उपनिषदो मे वर्णित कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त इस बात पर जोर देता है कि व्यक्ति जो कुछ है, जो कुछ उसकी अच्छी या बुरी परिस्थितिया हैं उसके लिए वह स्वय ही उत्तरदायी है। सामाजिक शक्तियो के बजाय उसके स्वय के कर्म उसकी अच्छी या बुरी दशा के लिए अधिक उत्तरदायी हैं। पुनर्जन्म की अवधारणा के द्वारा यह सिद्धान्त स्पष्ट घोषणा करता है कि व्यक्ति को उस समय तक एक के बाद दूसरा जीवन धारण करना पडता है जब तक कि वह ब्रह्म की उपलब्धि या पूर्णता प्राप्त करने के प्रयत्न मे सफल नही हो जाता। इस सिद्धान्त के द्वारा स्पष्ट कर दिया गया कि वैदिक देवी देवता मनुष्य के भाग्य निर्माता नही हैं बल्कि वह स्वय ही अपने भाग्य का निर्माता है। कर्म का सिद्धान्त पीछे की ओर अर्थात् भूतकाल की ओर भी दृष्टि डालता है और आगे की ओर अर्थात उज्ज्वल भविष्य की ओर भी। व्यवहार रूप मे इस सिद्धान्त के द्वारा भविष्य के बजाय भूतकाल की व्याख्या अधिक की गयी और परिणामस्वरूप भाग्यवादी विचार-

1 P H Prabhu *Hindu Social Organisation* p 19
2 *Ibid* p 2

धारा को प्रोत्साहन मिला। जीवन के नैतिक और आध्यात्मिक क्षेत्र मे कर्म के इस सिद्धान्त का विशेष महत्व पाया जाता है।

उपनिषदो मे प्रतिपादित कर्म सिद्धान्त की महाभारत म विस्तृत विवेचना की गयी है। महाभारत के वनपर्व मे स्वर्ग म मिलने वाले सुखो का उल्लेख किया गया है। यह पृथ्वी (कर्मभूमि) कर्म करने के लिए है, जबकि दूसरा विश्व अर्थात स्वर्ग (फल-भूमि) कर्म का सुख भोगने के लिए है। जैसे ही कर्मों के अनुपात मे सुख भोग लिया जाता है, व्यक्ति स्वर्ग से नीचे गिर जाता है। इसके अतिरिक्त, सुख के दूसरे विश्व के परे, एक सदा सर्वदा बने रहने वाला निवास है जो परब्रह्म के नाम से जाना जाता है जहाँ से पुन इस विश्व म नही लौटना पडता, लेकिन उसकी प्राप्ति केवल निस्वार्थी विनम्र तथा उनके द्वारा ही की जा सकती है जिन्होने अपनी इन्द्रियों को वश मे और पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया है।[1] महाभारत मे ही आगे बताया गया है कि आत्मा अपने सचित कर्म के भार-सहित पुन जन्म लेती है। जीवन मे किये गये कर्मों के परिणामस्वरूप ही व्यक्ति सुख दुख, समृद्धता और निर्धनता प्राप्त करता है, ज्ञान के द्वारा ही वह उस स्थिति म पहुचता है जिसम कोई कष्ट, कोई मृत्यु, कोइ पुनर्जन्म नही है।[2]

कर्म का सिद्धान्त इस बात की व्याख्या भी करता है कि कुछ व्यक्तियो का वर्तमान जीवन उनके सदकर्मों को देखते हुए सफल और सुखी होने के बजाय असफल और कष्टमय क्यो है, जबकि इसके विपरीत कुछ अशुभ कर्मों को करने वाला का वर्तमान जीवन इतना सफल और वैभवपूर्ण क्यो है। इसका कारण पूर्वजन्मो मे व्यक्तियो द्वारा किये गये कर्म है। विद्वान बृहस्पति ने युधिष्ठिर को बताया कि मृत्यु के बाद व्यक्ति के शुभ और अशुभ कर्म ही उसके साथ जाते है और अगले जन्म मे उसके भाग्य का निर्धारण करते है, अत व्यक्ति को धर्म को अर्जित करने का प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि वही दूसरे विश्व मे व्यक्ति का सच्चा मित्र है और वही अगले जन्म मे व्यक्ति के सुख दुख का निर्धारण करता है।[3] यह व्यक्ति के कर्मों पर ही निर्भर करता है कि अगले जन्म मे उसका अस्तित्व किस रूप मे होगा, दुष्ट व्यक्तियो का जन्म कुत्ता, गधो तथा कीडे-मकोडो के रूप मे हो सकता है। अत कर्म फल के अनुसार प्रत्येक को बार बार जन्म धारण करते और सुख दुख भोगते रहना पडता है। जन्म मरण के बन्धन से छुटकारा प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को मोक्ष प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए।

जन्म मरण के चक्र तथा इसी के साथ जुडे हुए सुख दुख से उसी समय छुटकारा मिल सकता है जब व्यक्ति कोई कर्म नही करे। कर्म करने पर तो उसे फल

1 महाभारत, वनपर्व, 260, 36।
2 P H Prabhu *op cit* p 21
3 *Ibid* p 22

भोगने के लिए पुन जन्म धारण करना ही पड़ेगा । जन्म मरण के बन्धन से मुक्त होने के लिए सब प्रकार की वासनाओ का अन्त आवश्यक माना गया है । महाभारत के शान्तिपर्व मे बताया गया है कि यदि वासना की वस्तुओं को त्याग दिया जाता है तो वे सुख का स्रोत बन जाती हैं, जो व्यक्ति वासना की वस्तुओ का पीछा करता है, वह उस प्रयत्न म नष्ट हो जाता है । इसका कारण यह है कि एक इच्छा या वासना की पूर्ति दूसरी इच्छा का कारण बनती है, और इस तरह, कभी समाप्त नही होने वाली इच्छाओं और उनके परिणामस्वरूप होने वाले कर्मों का क्रम चल पड़ता है । जैसे ही किसी वासना की पूर्ति की जाती है, वैसे ही अन्य वासनाएँ उसी प्रकार भड़क उठती हैं जैसे आग मे लकड़ी डालने से अग्नि । महाभारत के अनुसार कर्मों के जीवन का अन्त करने का प्रभावशाली तरीका सभी वासनाओ को समाप्त कर देना है। यहाँ मोक्ष प्राप्ति या जन्म मरण के चक्र से छुटकारा प्राप्त करने हेतु सासारिक वस्तुओं से पूर्णत निर्लिप्त होने की बात कही गयी है । लेकिन महाभारत मे मोक्ष प्राप्ति का एक अन्य तरीका भी बताया गया है, और वह है अपने नियत कर्तव्यो या स्वधर्म के पालन का । अपने नियत कर्म को धर्मानुकूल तरीके से करना, चाहे वह किसी को मारने का ही क्या न हो मोक्ष प्राप्ति का प्रभावशाली साधन है ।[1] स्वधर्म या अपने नियत कर्तव्यो का पालन व्यक्ति को कर्म बन्धन मे नही बाधता है । इस ससार मे अपने स्वधर्म के अनुरूप आचरण नही करना या अपने कर्तव्यो से विमुख होना पापपूर्ण माना गया है ।

महाभारत के वनपर्व मे यह भी उल्लेख है कि मूर्ख लोग सदैव असन्तुष्ट रहते है और बुद्धिमान सदैव सन्तोष का अनुभव करते हैं । सन्तोष ही सबसे बड़ा सुख अर्थात परमसुख है । जो व्यक्ति समय आने पर अपनी शक्तियो को सही ढग से काम मे नही लेता, उसमे कोई पुरुषार्थ नही पाया जाता । कुड़कुड़ाने या खीझते रहने के बजाय व्यक्ति को उन उपायो का पता लगाने का प्रयत्न करना चाहिए जिनसे वह सब प्रकार के दुखो से मुक्त हो सके ।[2] स्पष्ट है कि महाभारत मे व्यक्ति के वर्तमान जीवन और सुख दुख का कारण उसके सचित कर्मों को माना गया है । साथ ही यह भी बताया गया है कि सब प्रकार की वासनाओ से रहित होने पर कर्म-फल से छुटकारा और जन्म मरण के बन्धन से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है । व्यक्ति स्वधर्म के पालन से भी कर्म-फल के बन्धन से मुक्त हो मोक्ष प्राप्त कर सकता है ।

भगवद्गीता म कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त को वैज्ञानिक आधार पर एक व्यापक जीवन-दर्शन के रूप मे प्रस्तुत किया गया है । गीता में उपनिषदो की विचार परम्परा को ही आधार माना गया है । परन्तु गीता का कर्म सिद्धान्त महाभारत मे प्रतिपादित कर्म सिद्धान्त से अधिक प्रगतिशील एव प्रेरणादायक है । भारतीय जन

1 *Ibid*, p 25
2 महाभारत, वनपर्व, 215, 27 ।

जीवन का संघर्ष के समय जितनी प्रेरणा गीता से मिली है, सम्भवतः उतनी किसी अन्य धर्म ग्रन्थ से नहीं। गीता में बताया गया है कि मनुष्य का वर्तमान जीवन एक संक्रान्ति की अवधि है, पहले भी उसने कई जीवन धारण किए हैं, उसके साथ पूर्व जन्म के कर्म बंधे हुए हैं और उसे भविष्य में भी जीवन धारण करने हैं। आत्मा स्वयं न कभी मरती है और न ही कभी जन्म लेती है, जब शरीर मरता है, तब भी आत्मा नहीं मरती। जिस प्रकार मनुष्य फटे-पुराने वस्त्रों को त्याग देता है और नवीन वस्त्र धारण कर लेता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीरों को छोड़ देती है और नवीन शरीरों को धारण करती है। जिसका जन्म हुआ है वह निश्चित रूप से किसी दिन मरता भी है, और जो मरता है उसका पुनः जन्म भी अवश्य होना है—जब तक कि वह मुक्ति प्राप्त नहीं कर ले। जो व्यक्ति मुक्ति प्राप्त कर लेता है वह कभी मरता नहीं है। मुक्ति का तात्पर्य ही जन्म और मरण के बन्धन से मुक्त होना है।

कर्म को ही व्यक्ति के जन्म-मरण के चक्र में फँसे रहने का कारण माना गया है। अतः कर्म सिद्धान्त पर केवल ऊपरी तौर पर विचार करने वाले इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि मनुष्य को किसी भी प्रकार का कर्म नहीं करना चाहिए। ऐसे लोगों की मान्यता है कि कर्म सिद्धान्त व्यक्ति को निष्क्रिय और भाग्यवादी बनाता है। ऐसे विचारकों में मैक्डोनल तथा ए० बी० कीथ के नाम उल्लेखनीय हैं। परन्तु इनके निष्कर्ष पूर्णतः भ्रामक एवं अनुचित हैं। गीता में स्पष्ट घोषणा की गयी है, **कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।**[1] गीता में वर्णित कर्म सिद्धान्त का यही सार है। स्पष्ट है कि कर्म करना ही व्यक्ति का अधिकार है और यह कर्म भी बिना किसी फल की आशा के किया जाना चाहिए। स्वधर्म का पालन ही व्यक्ति का कर्म बताया गया है। गीता में प्रारम्भ में ही उल्लेख मिलता है कि अर्जुन युद्ध के मैदान में एक सच्चे योद्धा के रूप में लड़ते हुए अपने सामने बहुत से ऐसे लोगों को देखता है जो उसके ही नाते रिश्तेदार हैं। युद्ध में इन लोगों के मारे जाने के भय से वह कर्तव्य पथ से दूर हट जाना चाहता है। इस अवसर पर कृष्ण ने अर्जुन को यही कहा कि अपने शस्त्र उठाओ और युद्ध के मैदान में एक योद्धा के रूप में अपने कर्तव्य का पालन करो। वे अर्जुन को यही कहते हैं कि मनुष्य को जीवन में अपनी प्रस्थिति या पद के अनुसार दायित्व का निर्वाह करना चाहिए, अपने कर्तव्य को निभाना चाहिए, चाहे इसका परिणाम कुछ भी क्यों न हो। इससे स्पष्ट है कि गीता में मुख्यतः इस बात पर जोर दिया गया है कि अपने कर्तव्य का पालन करो, अपने स्वधर्म को निभाओ और कभी भी निष्क्रिय मत बनो।[2] गीता में क्रियाशील जीवन की ही बात कही गयी है और निष्क्रिय जीवन को अनुचित माना गया है।

---

1 गीता, II, 20 27।

2 Do thy duty follow thy suadharma and don t ever be inactive
—P H Prabhu *op cit* p 44

गीता मे कर्म करने का आदेश अवश्य दिया गया है परन्तु साथ ही यह भी कहा गया है कि कर्म 'मेरे', 'तेरे', और स्वार्थपरता के विचार से रहित होकर किये जाने चाहिए। कर्म अवश्य किये जाने चाहिए परन्तु उनके प्रति आसक्ति या लगाव का कोई भाव नहीं होना चाहिए। जब तक मनुष्य जीवित है, उसे कर्म तो करने ही पड़ेंगे परन्तु उन्हें अनासक्ति भाव से और लोगों के सामूहिक कल्याण को ध्यान में रख कर करना चाहिए। साथ ही यह भी बताया गया है कि कर्म स्वधर्म या अपने कर्तव्य पालन के लिए किये जाने चाहिए न कि इन्द्रियों के वशीभूत होकर। यहाँ तक उल्लेख मिलता है कि अपने स्वधर्म का पालन करने के लिए मर जाना भी अच्छा है। गीता में निष्काम कर्म की बात कही गयी है। कृष्ण ने बताया है कि तुम्हारा कर्तव्य कर्म करना है, उसके फल या परिणाम की परवाह किये बिना, कर्म करने में तुम्हें फल का उद्देश्य नहीं रखना चाहिए, न ही तुम्हारा झुकाव निष्क्रियता की ओर होना चाहिए।[1] अपने निर्धारित कर्तव्य करते रहने पर जोर देना विभिन्न सामाजिक प्रकार्यों की पूर्ति एवं समाज के समुचित विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक था।

गीता में निष्काम कर्म, ज्ञान और भक्ति को उस त्रिवर्ग के रूप में माना गया है जिसकी सहायता से व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर सकता है, जन्म-मरण के बन्धन से छूट सकता है। ज्ञान और भक्ति के द्वारा ही व्यक्ति कर्म-बन्धन से मुक्त हो ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है। गीता के कर्मयोग में मुख्य जोर स्वधर्म के पालन एवं निष्काम कर्म पर दिया गया है। गीता में कर्मवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय कहीं भी इसे भाग्य के साथ जोड़ने का प्रयत्न नहीं किया गया है। इसके विपरीत, यह बताया गया है कि हम स्वयं ही हमारे मौजूदा भाग्य के लिए उत्तरदायी हैं, हमने स्वयं ही इसे चुना है।

मनुस्मृति में विभिन्न कर्मों के फल निर्धारित किये गये हैं और साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि कर्म कभी भी नष्ट नहीं होता। व्यक्ति को अपने कर्मों का फल तो भोगना ही पड़ता है। मनु ने बताया है कि सभी कर्म मन, वाणी तथा शरीर से उत्पन्न होते हैं तथा अच्छे या बुरे फल प्रदान करते हैं। व्यक्ति को अपने कर्मों का फल भोगने हेतु बार-बार जन्म लेना पड़ता है। जो मनुष्य मन से पाप करता है, उसे अगले जन्म में निम्न जाति में और, वाणी के द्वारा पाप करने वाले को पशु या पक्षी तथा शरीर से पाप करने वाले को पेड़-पौधे के रूप में जन्म लेना पड़ता है। दूसरों का अहित सोचना, अन्य लोगों की वस्तु या सम्पत्ति को चुराने की इच्छा करना तथा व्यभिचारपूर्ण बातों का चिन्तन करना मन के द्वारा किये गये कर्मों की श्रेणी में आते हैं। झूठ बोलना, निन्दा करना, दूसरों के लिए अनुचित शब्दों का प्रयोग करना आदि, वाणी द्वारा किये गये कर्मों के अन्तर्गत आते हैं।[1] दूसरों की वस्तु को चुराना, व्यभिचारपूर्ण जीवन व्यतीत करना, अन्य लोगों पर

1 गीता ॥ पृ० 47।

मानसिक पाप → निम्न जाति
वाचिक पाप → निम्न योनि
शारीरिक पाप → पेड़ = पौधे

अत्याचार एवं हिंसा करना शरीर द्वारा किये गये कर्म हैं। मनुस्मृति में उल्लेख है कि अच्छे और बुरे कर्मों के अनुसार ही व्यक्ति का पुनर्जन्म होता है, उसे उच्च या निम्न योनि प्राप्त होती है। अतः व्यक्ति को अपना मन धर्म-कार्यों में लगाना चाहिए।[1] अतः यह कहा जा सकता है कि कर्म अनिवार्यतः पुनर्जन्म से सम्बन्धित है और कोई भी ऐसा कर्म नहीं जिसका फल व्यक्ति को नहीं भोगना पड़े।

जन्म और मरण के बन्धन से छुटकारा प्राप्त करने के उपाय के सम्बन्ध में मनु ने लिखा है कि यह उसी अवस्था में सम्भव है जब व्यक्ति आत्म ज्ञान प्राप्त कर ले। इस संसार में यह ज्ञान ही सभी श्रेष्ठ क्रियाओं में सर्वाधिक श्रेष्ठ है। इसी ज्ञान के द्वारा, अमरत्व तथा जन्म मरण के बन्धन से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।[2] वेदों के निर्देशों के अनुसार किये गये सभी कर्म इस संसार में और भाग्य भी निश्चित रूप से आनन्द प्रदान करेंगे, क्योंकि उनमें सभी उत्तम कर्मों का उल्लेख है।[3] उत्तम कर्म से अगले जीवन में सुख समृद्धि प्राप्त की जा सकती है परन्तु जन्म मरण के बन्धन से छुटकारा अर्थात् मोक्ष प्राप्ति तो आत्म ज्ञान से ही सम्भव है। इस उच्च लक्ष्य की प्राप्ति तभी सम्भव है जब व्यक्ति स्वयं की आत्मा के द्वारा अन्य सभी प्राणियों की आत्मा को पहिचाने, और सभी के प्रति उचित या समान व्यवहार करे।[4] अतः मनुष्य के लिए यह आवश्यक है कि वह बिना किसी को कष्ट पहुंचाये स्वधर्म का पालन करे, प्राणी मात्र के प्रति सद्भाव रखे धर्मानुकूल आचरण और आत्म ज्ञान की प्राप्ति करे।

याज्ञवल्क्य स्मृति और शुक्रनीतिसार में मनुस्मृति में कर्म और पुनर्जन्म के सम्बन्ध में व्यक्त विचारों को ही अधिकांशतः स्वीकार किया गया है। याज्ञवल्क्य स्मृति में बताया गया है कि धर्म और अधर्म कर्म संग्रह के बीज हैं, और इस कर्म संग्रह से तीन प्रकार के परिणाम निकलते हैं (1) जाति, अर्थात् उच्च या निम्न स्थिति में जन्म, (2) आयु अर्थात् जीवन की अवधि, और (3) भोग अर्थात् व्यक्ति को मिलने वाले सुख या दुख। धर्म सही कर्म करने में ही निहित है।[5] याज्ञवल्क्य ने विभिन्न वर्णों एवं आश्रमों के धर्म निर्धारित किये हैं। मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म आत्म ज्ञान अथवा आत्म दर्शन बताया गया है। शुक्रनीति में उल्लेख है कि मनुष्य का अस्तित्व पिछले जन्मों में किये गये कर्मों द्वारा निर्धारित होता है। इस जीवन में सब कुछ भाग्य तथा कर्म पर आधारित है कर्म दो भागों में विभक्त हैं एक पिछले जन्मों में किये गये कर्म, और दूसरे वर्तमान जीवन में किये गये

1 मनुस्मृति, 12, पृ० 23।
2 पूर्वोक्त, पृ० 85।
3 पूर्वोक्त, पृ० 87।
4 पूर्वोक्त, पृ० 125।
5 P H Prabhu *op cit* p 35

कर्म ।[1] शुक्रनीति मे यद्यपि जीवन मे भाग्य के महत्व को स्वीकार अवश्य किया गया है, परन्तु साथ ही यह भी कहा गया है कि कमजोर व्यक्ति ही निष्क्रिय जीवन व्यतीत करते है और वे जिनमे ऊर्जा और शक्ति है, इस जीवन मे किये गये कार्यों द्वारा अपने भावी भाग्य को बदल सकते हैं। अत अंतिम विश्लेषण मे व्यक्ति के स्वय के कर्म ही केवल उसके अच्छे या बुरे भाग्य का कारण है।[2] शुक्रनीतिसार मे साराश रूप मे बताया गया है कि मनुष्य जीवन मे सब कुछ भाग्य तथा कर्म दोनो पर ही आधारित है।

पातंजलि योगसूत्रों (वे नियम जिनके द्वारा योग की साधना हो सकती है) के अनुसार अविद्या और क्लेश कर्मों तथा पुनर्जन्म का कारण है। सभी क्लेश अविद्या मे ही उत्पन्न होते है। अविद्या का तात्पर्य ज्ञान का अभाव नही है, बल्कि सही ज्ञान के विपरीत मिथ्या ज्ञान (विभ्रम) का होना है। पातंजलि के अनुसार क्लेश पाँच प्रकार के हैं (1) अविद्या (पुरुष और प्रकृति को भ्रमवश एक मानना), (2) अस्मिता (शरीर और जीव को एक मानना), (3) राग (विषयो मे लगाव), (4) द्वेष (दुख देने वाली वस्तुओ के प्रति घृणा और उनसे दूर रहने का भाव), और (5) अभिनिवेश (जीवन से लगाव और मृत्यु से डर का भाव)। अविद्या प्रधान क्लेश है और शेष उसके विभेद है।[3] अत अविद्या की समाप्ति से ही व्यक्ति सब प्रकार के बन्धनो से, जीवन-मरण के चक्र से छुटकारा प्राप्त कर सकता है। इस अविद्या को समाप्त करने हेतु पातंजलि ने योग की अवधारणा प्रस्तुत की है। योग 'युज' धातु से निकला है जिसका अर्थ है 'जोडना'। यह माना जाता है कि आत्मा और परमात्मा को यौगिक द्वारा जोडा जा सकता है। अत योग आत्मा के परमात्मा से वियोग को दूर करने का प्रयास है। आत्मा और परमात्मा के मिलन की अवस्था को समाधि नाम दिया गया है। इस दृष्टि से योग शब्द को समाधि अवस्था के लिए भी प्रयुक्त किया गया है।

पातंजलि ने बताया है कि साधारण व्यक्ति शुक्ल कर्म (अच्छे कर्म), कृष्ण कर्म (बुरे कर्म) तथा शुक्ल कृष्ण कर्म (अच्छे बुरे कर्म मिश्रित रूप मे) करता है, और उनके शुभ अशुभ फल भोगता है। लेकिन योगी के कर्म इन तीनो मे से किसी भी श्रेणी मे नही आते। वह कर्म संन्यासी के रूप मे कर्म करता है, उन कर्मों का कर्ता स्वय को नही मानता तथा कर्म फल को ईश्वर को समर्पित कर देता है। वह ईश्वरीय इच्छा की भावना से ही सब कर्म करता है। उसका यह ज्ञान अग्नि के रूप मे कार्य करता है और अविद्या को जला डालता है। अविद्या की समाप्ति से उसके सभी क्लेश दूर और अच्छे तथा बुरे दोनो ही प्रकार के कर्म नष्ट हो जाते हैं। जैसे ही व्यक्ति के सब प्रकार के क्लेश और कर्म पूर्णत समाप्त हो जाते हैं, वैसे ही वह जन्म मरण के

1 शुक्रनीति (अनु० बी० के० सरकार) । पृ० 97-98 ।

2 वही, पृ० 73 ।

3 जी० एस० भट्ट भारत मे समाजशास्त्र, प्रजाति तथा संस्कृति, पृ० 380 ।

पातंजलि योगसूत्र - योग तथा कर्मफल का ईश्वर को समर्पण से सभी क्लेशों का नाश । कर्मों का नाश → मुक्ति

बंधन से स्वतन्त्र हो जाता है, जीवित रहते हुए भी मुक्त (जीवन मुक्त) हो जाता है। अतः पातंजलि के अनुसार, कर्म तथा पुनर्जन्म के अन्तहीन चक्र को समाप्त करने का साधन ज्ञान ही है। ज्ञान के उदय होने पर योगी मेघ (बादल) के समान मानवता पर आशीर्वादों की बौछार करता है, सबके कल्याण में योग देता है। ऐसा करते हुए भी वह कर्म या कर्म फल के प्रभाव से अछूता रहता है।

कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त में समय के साथ कुछ बातें और जुड़ती गयीं। उदाहरण के रूप में स्वर्ग और नर्क की धारणा में लोग विश्वास करने लगे। कर्म के साथ 'प्रसाद' या ईश्वरीय कृपा की धारणा भी जुड़ गयी। यह माना जाने लगा कि भक्ति की शक्ति वह ईश्वरीय माध्यम है जिससे व्यक्ति प्रभु-कृपा प्राप्त कर सकता है। यह प्रभु-कृपा व्यक्ति को आध्यात्मिक दृष्टि से ऊँचा उठाने और कर्म-बंधनों से मुक्त करने में योग देती है। साथ ही कर्म के हस्तान्तरण की अवधारणा भी विकसित हुई जो दान देने एवं विभिन्न परोपकारी कार्यों को करने की दृष्टि से अनिवार्य थी। बी० जी० गोखले ने बताया है कि कर्म की अवधारणा में तीन विचार आपस में गुथे हुए हैं। प्रथम पुनर्जन्म का विचार है जो प्रकट रूप में अतार्किक परिस्थितियों की व्याख्या का साधन था। द्वितीय नर्क का विचार है जो वैदिक युग के अन्तिम वर्षों में मौजूद था और जिसे बाद में पुराणों में और भी विकसित किया गया। तीसरा विचार पाप और पुण्य के हस्तान्तरण का था जिसने दूसरों के कार्यों द्वारा अर्थात् बाह्य मानवीय सहायता द्वारा व्यक्ति को उसके दुष्कर्मों के प्रभाव से छुटकारा दिलाने को सम्भव बनाया।[1] यह तीसरा विचार कर्म की मौलिक अवधारणा में होने वाले संशोधन को व्यक्त करता है।

कर्म सिद्धान्त के उपर्युक्त विवेचन के आधार पर इसे सारांश रूप में निम्न प्रकार से समझाया जा सकता है

(1) मनुष्य का जन्म उसके भूतकालीन कर्मों के कारण होता है। उसे इस जीवन में जो कुछ करना और नहीं करना है तथा जो कुछ वह करता है, उसकी प्रतिक्रिया भूतकालीन कर्मों पर होती है और इससे नवीन कर्म उत्पन्न होते हैं।

(2) मनुष्य ने मन, वचन और शरीर से जो कुछ कर्म किये हैं, चाहे अच्छे या बुरे उनका फल उसे भोगना पड़ता है। अपने स्वयं के किये हुए कर्मों का व्यक्ति कभी भी परित्याग नहीं कर सकता।

(3) जब तक मनुष्य कर्म करता रहता है, चाहे कर्म मन से, वाणी से या शरीर से हो, तब तक उसे पुनः पुनः जन्म धारण करना ही पड़ेगा। जन्म मरण के बंधन से व्यक्ति को उस समय तक छुटकारा नहीं मिल सकता जब तक कि वह कर्म से स्वतन्त्र या मुक्त नहीं हो जाता।

(4) कर्म से स्वतन्त्र होने का तात्पर्य कर्म नहीं करना, निष्क्रिय हो जाना

1 B G Gokhale *op cit* p 111

या तपश्चर्या करने से नहीं है। पूर्ण निष्क्रियता किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है। जिसने जीवन धारण किया है, उसे कर्म तो करने ही होंगे। अतः कर्म सिद्धान्त यह बताता है कि केवल सही कर्म ही किये जाने चाहिए अर्थात् स्वधर्म का ही पालन करना चाहिए।

(5) मनुष्य जीवन में सुख-दुख, लाभ हानि, समृद्धता निर्धनता तथा प्रसन्नता-अप्रसन्नता सभी पूर्व जन्मों के कर्मों का परिणाम है। व्यक्ति को अपने भूतकालीन कर्मों का फल भोगते हुए स्वधर्म का पालन अवश्य करना चाहिए ताकि वह अपने भावी जीवन और कर्म को नियन्त्रित कर सके। इस प्रकार व्यक्ति स्वयं के भूतकालीन कर्मों को प्रभावहीन बना सकता है और अपने का कर्म के भावी प्रभावों से बचा सकता है।

(6) व्यक्ति को जन्म मरण के बन्धन से उसी समय छुटकारा मिल सकता है जब वह मोक्ष प्राप्त कर ले अर्थात् ब्रह्म में लीन हो जाय। व्यक्ति इस स्थिति में तभी पहुँच सकता है जब वह निष्काम कर्म करे, कर्म करते हुए फल की इच्छा न करे, स्वधर्म का पालन करे, विभिन्न कर्मों को करते हुए भी स्वयं को कर्ता न माने, भक्ति के मार्ग को अपनाये तथा मन, वचन और शरीर से सद्कर्म करे। ऐसा करने पर उसे स्वयं आत्म ज्ञान होगा और ज्ञान का प्रकाश उसके अज्ञान-रूपी अन्धकार को समाप्त कर देगा।

(7) कर्म का सिद्धान्त व्यक्ति को भाग्यवादी नहीं बनाता। यह तो वर्तमान जीवन को पूर्व जन्मों के कर्मों का फल मानकर व्यक्ति को स्वधर्म का पालन करने या दायित्व के निर्वाह की प्रेरणा देता है और साथ ही भावी जीवन को और अधिक उन्नत बनाने को प्रोत्साहित करता है। प्रभु ने बताया है कि दैव या भाग्य कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो बाहर से हम पर लाद दी गयी हो, यह तो हमारे ही भूत-कालीन कार्यों का संग्रहीत प्रभाव है, हमारी ही क्रियाओं की प्रतिक्रिया है, और इस तरह, हमारे ही द्वारा निर्मित है। यह कहा जा सकता है कि हमने स्वयं ही अपने मौजूदा भाग्य को चुना है। कोई भी अन्य शक्ति नहीं बल्कि व्यक्ति स्वयं ही अपने भविष्य को बना या बिगाड सकता है।[1] स्पष्ट है कि कर्म-सिद्धान्त में व्यक्ति को स्वयं ही अपने भाग्य का निर्माता माना गया है। अतः कर्म सिद्धान्त द्वारा प्रस्तावित जीवन का दर्शन भाग्यवाद का किसी भी रूप में पोषक या समर्थक नहीं है।

## कर्म और भाग्य
### (*KARMA* AND FATE)

कुछ लोगों की मान्यता है कि भारत में कर्म सिद्धान्त भाग्यवाद (Fatalism) का आधार रहा है। महाभारत में धर्मव्याध के कथन से ज्ञात होता है कि जीवन में भाग्य या दैव सर्वाधिक महत्वपूर्ण है और मनुष्य को बिना किसी द्वेष के इसे स्वीकार करना चाहिए। संस्कृति के अंग्रेज विद्वान आर्थर कीथ (A B Keith) ने

1 P H Prabhu *op cit* p 48

कर्म सिद्धांत को भाग्यवादी सिद्धांत माना है। मैक्डोनल (Macdonell) का कथन है कि पुनर्जन्म तथा कर्म सिद्धान्त के सम्मिलित प्रभाव के फलस्वरूप व्यक्ति को, एक ओर, इस जन्म को पूर्वजन्मों का प्रतिफल मानकर भाग्य पर सन्तोष करने की प्रेरणा मिलती है, और दूसरी ओर इससे व्यक्ति की क्रियाशीलता शिथिल हो जाती है और वह विरक्ति की ओर उन्मुख होता है।[1] साथ ही यह भी कहा जाता है कि कर्म सिद्धांत व्यक्ति को निराशावादी बनाता है क्योंकि इसमें व्यक्ति स्वातन्त्र्य का कहीं कोई स्थान नहीं है। कर्म सिद्धान्त पर व्यापक रूप से विचार करने पर उपर्युक्त विचार भ्रामक और साथ ही अनुचित प्रतीत होते हैं। डा० राधाकृष्णन ने बताया है कि कभी कभी यह कहा जाता है कि कर्म सिद्धांत मानव स्वातन्त्र्य का विरोधी है यद्यपि उसका ठीक-ठाक विवेचन करने पर वास्तविकता कुछ और ही निकलती है। कर्म सिद्धांत में मानव-स्वातन्त्र्य का विरोध नहीं है। इस सिद्धान्त की आधारभूत प्रेरणा यह है कि कोई भी व्यक्ति कभी भी, किसी भी समय अपने उत्थान के लिए प्रयास कर सकता है।[2] स्पष्ट है कि कर्म का सिद्धांत व्यक्ति को भाग्य से बाँधता नहीं बल्कि उसे विभिन्न परिस्थितियों में अपने अभ्युदय या विकास की स्वतन्त्रता देता है।

वास्तविकता यह है कि भाग्य कर्म पर आधारित है, न कि कर्म भाग्य पर। युधिष्ठिर के इस प्रश्न का कि भाग्य और कर्म में प्रधान कौन है भीष्म ने उत्तर देते हुए बताया कि व्यक्ति के प्रयत्न या कर्म बीज के समान हैं जबकि भाग्य या दैव भूमि के समान, और इन दोनों के संयोग से ही फसल होती है। जिस प्रकार बिना बीज के जोती हुई भूमि भी फसल नहीं देती, ठीक उसी प्रकार मानव प्रयास के बिना भाग्य निष्फल रहता है।[3] आगे उल्लेख मिलता है कि कोई भी व्यक्ति जो केवल भाग्य पर निर्भर रहता है और जिसमें प्रयास करने की इच्छा का अभाव पाया जाता है, कभी कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता, दूसरी ओर प्रयत्न या कर्म से प्रत्येक वस्तु प्राप्त की जा सकती है।[4] जिस प्रकार थोड़ी सी अग्नि भी हवा के वेग से बहुत शक्तिशाली हो जाती है उसी प्रकार व्यक्तिगत प्रयत्न से भाग्य प्रभावशाली बन जाता है। दूसरी ओर, जिस प्रकार तेल के घटने से दीपक का प्रकाश मन्द पड़ जाता है, उसी प्रकार प्रयत्न या कर्म को छोड़ने से भाग्य का प्रभाव भी घट जाता है।[5] भाग्य में अपने आप में कोई शक्ति नहीं होती। जहाँ व्यक्ति के द्वारा प्रयत्न किया जाता है, वहीं भाग्य अपना प्रभाव दिखा पाता है। शुक्र नीति में बताया गया है कि मनुष्य के

1 *Ibid* p 43
2 S Radhakrishanan *The Hindu View of Life* pp 71 72
3 महाभारत, अनुशासन पर्व, 6:6, 7, 8।
4 वही, 6, 7।
5 वही, 6 44।

स्वय के कर्म ही केवल उसके अच्छे या बुरे भाग्य का कारण है।[1] याज्ञवल्क्य स्मृति मे उल्लेख है कि जिस प्रकार एक पहिये से रथ नही चल सकता, उसी प्रकार बिना मानव प्रयास के भाग्य पूर्णता या सिद्धि प्राप्त नही कर सकता।[2]

भाग्य को पूर्व जन्मो मे स्वय के द्वारा ही किये हुए कर्मों का प्रतिफल माना गया है। आज मनुष्य जो कुछ है, चाहे सुखी या दुखी, निर्धन या धनी, पूर्व जन्मो के सचित कर्म मे से 'प्रारब्ध' अर्थात् वर्तमान जीवन मे जिन कर्मों का फल भोगने को उसे मिला है, का ही परिणाम है। इस दृष्टि से यह मान लिया गया कि मनुष्य का मौजूदा जीवन भाग्य पर ही निर्भर है। परन्तु वास्तविकता यह नही है। वर्तमान जीवन के कर्मों का कुछ प्रभाव 'प्रारब्ध' पर भी पडता है। अत भाग्य हमारे ही किये हुए कर्मों की प्रतिक्रिया है। हमारे मौजूदा भाग्य के लिए हम स्वय ही उत्तरदायी है। प्रभु के अनुसार तुम जो कुछ हो, उसके लिए स्वय ही पूर्णत जिम्मेदार हो, अत कोई भी दूसरा, यहाँ तक कि ईश्वर भी, जो कुछ कर चुके हो, उसे मिटा देने मे, तुम्हारी सहायता नही करेगा। तुम स्वय ही अपने भाग्य को बना-बिगाड सकते हो।[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कर्म के बिना भाग्य निष्फल रहता है परन्तु इतना अवश्य मानना पडेगा कि भारतीय समाज मे कर्म के सिद्धान्त ने लोगो को भाग्यवादी बनाने मे योग अवश्य दिया। कर्म के सिद्धान्त मे 'प्रारब्ध की धारणा' ने ही आगे चलकर 'भाग्य' का रूप ग्रहण कर लिया। ऐसा इस कारण सम्भव हो सका (1) कि पूर्वजन्म के कर्मों पर व्यक्ति का वर्तमान मे कोई नियन्त्रण नही है अत वह जो कुछ है वह पूर्वजन्म के कर्मों को साधारणत नही बदल सकता। इतना अवश्य है कि वह वर्तमान मे सद्कर्मों के द्वारा अपने भावी जीवन को उन्नत बना सकता है। (2) इसका दूसरा कारण सम्भवत वर्ण व्यवस्था के प्रति बढते हुए विरोध को रोकने के लिए उस समय के विद्वानो के द्वारा व्यक्ति की सामाजिक स्थिति को उसके भाग्य के साथ जोडने का प्रयत्न है। इन दो कारणो ने भाग्यवादी विचारधारा के प्रभाव का बढाने मे योग दिया। लेकिन यहाँ हम यह नही भूलना चाहिए कि हिन्दू शास्त्रकारो ने भाग्य की तुलना में कर्म को प्रधानता दी है और मनुष्य को ही अपने भविष्य या भाग्य का निर्माता और निर्णायक माना है।

**कर्म के सिद्धान्त का महत्व (Importance of the Doctrine of *Karma*)**

कर्म का सिद्धान्त प्रत्येक युग मे भारतीय जीवन को अगणित रूपो मे प्रभावित करता रहा है। इस सिद्धान्त ने वर्तमान जीवन को ही सब कुछ मानकर सब कुछ अभी और इसी समय प्राप्त कर लेने पर बल नही दिया है। यह जीवन अनेक जन्मो मे से एक है जीवन चक्र की लम्बी प्रक्रिया मे एक कडी मात्र है। यह सिद्धान्त

[1] शुक्रनीति, 1, 73।

[2] याज्ञवल्क्य स्मृति, 1, 349-51।

[3] P H Prabhu *op cit* p 49

निरन्तर कर्म करते रहने और प्रगति के पथ पर आगे बढ़ते रहने की प्रेरणा प्रदान करता रहा है। यह सिद्धान्त स्वधर्म की धारणा और इस मान्यता पर आधारित है कि व्यक्ति का मौजूदा जीवन परिवार, जाति तथा वर्ण विशेष में जन्म, उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा तथा सुख और दुख संयोग का फल नहीं है, बल्कि उसी के पूर्व जन्मों के कर्मों का परिणाम है। साथ ही यह सिद्धान्त मानता है कि जीवन को स्वधर्म या नियत कर्म के द्वारा उचित बनाया जा सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार पूर्वजन्म में भी व्यक्ति कर्म करने की दृष्टि से स्वतन्त्र था और इस जीवन में भी है। यदि मौजूदा जीवन पूर्व जन्म के कर्मों का प्रतिफल है तो व्यक्ति को इस जीवन में नये कर्म-सचय का और अपने भावी जीवन को उन्नत बनाने का एक अवसर प्राप्त है।

इस सिद्धान्त का महत्व इसी बात से स्पष्ट है कि बौद्ध और जैन धर्म भी इसके समर्थक हैं, यद्यपि हिन्दू धर्म के अनेक पक्षों के ये कट्टर आलोचक भी रहे हैं। डा० राधाकृष्णन ने बताया है कि जीवन और आचरण में कोई भी सिद्धान्त इतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि कर्म सिद्धान्त। यह भविष्य के प्रति आशा और अतीत के प्रति विस्मृति पर बल देता है।[1] इस सिद्धान्त से प्रभावित होकर मैक्स वेबर ने यहाँ तक लिखा है कि कर्म के सिद्धान्त ने सारे संसार को एक तार्किक और नैतिक व्यवस्था में बदल दिया, यह सिद्धान्त सम्पूर्ण इतिहास में एक सबसे अधिक सन्तुलित ईश्वरीय विश्वास का प्रतिनिधित्व करता है।[2] स्टेनले जेस्ट के अनुसार कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त ही पृथ्वी पर हमारे जीवन के रहस्यों की व्याख्या करता है। इस सिद्धान्त के अभाव में जीवन एक अर्थहीन गड़बड़झाला मात्र बन जाता है। जीवन में आना और जाना हमारे परिवर्तित सम्पर्क, मनुष्य और मनुष्य में चरित्र क्षमता, अवसर तथा दशा सम्बन्धी भेद, जीवन की सफलताएँ एवं असफलताएँ, विकार तथा कुण्ठाएँ आदि की व्यवस्था पुनर्जन्म के सिद्धान्त द्वारा ही होती है।[3] कर्म के सिद्धान्त की जीवन के निम्नलिखित क्षेत्रों में महत्ता पायी जाती है

(1) कर्म के सिद्धान्त ने नैतिकता के विकास में योग दिया है। इस सिद्धान्त ने व्यक्ति को दुष्कर्मों को त्यागकर सदकर्म या पुण्य कर्म करने को प्रोत्साहित किया। व्यक्ति जानता है कि शुभ कर्मों का अच्छा फल और अशुभ कर्मों का बुरा फल मिलेगा। अतः इस सिद्धान्त ने व्यक्तियों को अच्छे कर्मों की ओर प्रेरित किया। कर्मवाद के कारण ही समाज में ऐसी नैतिकता का विकास हुआ जिसने व्यक्ति के जीवन को नियन्त्रित करने में योग दिया।

(2) कर्म के सिद्धान्त ने व्यक्तियों को मानसिक सन्तोष प्रदान करने और सामाजिक व्यवस्था के प्रति निष्ठा बनाये रखने में योग दिया है। इस सिद्धान्त के

1 S Radhakrishnan *Philosophy of the Upanishads* p 125
2 Max Weber *The Religion of India* p 121
3 J Stanley Jast *Reincarnation and Karma* p 9

आधार पर प्रत्यक व्यक्ति इस जीवन मे अपनी मौजूदा स्थिति से इसलिए सन्तुष्ट रहा है कि वह इस पूव जन्मों के कर्मों का फल मानता है। यह सन्तोष ही स्वस्थ व्यक्तित्व के विकास मे सहायक रहा है। अपनी मौजूदा स्थिति से सन्तुष्ट रहकर ही व्यक्ति सामाजिक व्यवस्था के प्रति निष्ठावान रह सका है।

(3) इस सिद्धान्त ने व्यक्ति को कतव्य पथ पर सदैव आगे बढ़ने की प्रेरणा प्रदान की है। यद्यपि व्यक्ति का अपने भूतकालीन कर्मो पर कोई नियन्त्रण नही है, परन्तु अपने स्वधम का पालन करते हुए, अपने नियत कतव्यो को पूण करते हुए वह अपने भावी जीवन को समुन्नत अवश्य बना सकता है। इस दृष्टि से यह सिद्धान्त व्यक्ति को आशावादी और प्रगतिवादी बनाता है।

(4) कर्म के सिद्धान्त ने समाज में सघर्षो को कम करने म योग दिया है। सघष उस समय अधिक होते हैं जब व्यक्ति अपनी मौजूदा स्थिति से असन्तुष्ट और प्रयत्न के बावजूद भी असफल रहता है। कम के सिद्धान्त ने अपनी वतमान स्थिति या मौजूदा सुख दुख या सफलता असफलता के लिए व्यक्ति को स्वय को ही उत्तरदायी माना है क्योकि यह सब कुछ उसी के 'प्रारब्ध' कर्मों का फल है। इसी व्याख्या ने व्यक्तियो को अपनी सामाजिक स्थिति से सन्तुष्ट रखने और किसी प्रकार का विरोध या सघष न करने को प्रोत्साहित किया है। इस सिद्धान्त ने सामाजिक नियन्त्रण के काय मे अपूव योग दिया है।

(5) भारतीय समाज की सभी सामाजिक व्यवस्थाएँ कम सिद्धान्त पर आधारित रही है। अन्य शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि इस सिद्धान्त ने सभी सामाजिक व्यवस्थाओ को सगठित बनाये रखने म सहायता प्रदान की है। चाहे परिवार, वण आश्रम अथवा धर्म कुछ भी क्यो न हो, व्यक्ति को प्रत्येक से सम्बन्धित अपने दायित्व का निर्वाह करने की, अपने नियत कतव्यो के पालन की बात कही गयी है। कर्म के सिद्धान्त ने जीवन के सभी क्षेत्रो मे व्यक्ति का माग प्रशस्त किया है। यहाँ जीवन के प्रत्येक काय को कम सिद्धान्त के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया गया है।

(6) कम का सिद्धान्त सम्पूण समाज के कल्याण से सम्बन्धित है। यद्यपि यह सिद्धान्त व्यक्तिवादी प्रतीत होता है परन्तु वास्तव मे यह समष्टिवादी है। इस सिद्धान्त का आधार स्वधम का पालन, सभी प्राणियो के प्रति समता का भाव और निष्काम कम है। इसी को ज्ञान कहा गया है। जब व्यक्ति निष्काम भाव से कम करता है, सभी को समान समझता है और अपने प्रत्येक दायित्व का निर्वाह करता है तो परोपकार मे वृद्धि होती है, समाज का कल्याण होता है। जब व्यक्ति सभी प्राणियो के हित की दृष्टि से सोचता और व्यवहार करता है तो समाज कल्याण म अवश्य वृद्धि होती है।

हिन्दुओ के अनुसार कम का सिद्धान्त जीवन का एक तात्त्विक दर्शन है जो इस बात पर जोर देता है कि व्यक्ति अपने किये हुए कर्मों को तो नही त्याग सकता

परन्तु इच्छा और प्रयत्न द्वारा उनके प्रभाव का अवश्य प्रतिकार कर सकता है। कर्म का सिद्धान्त व्यक्ति को स्वयं को अपने भाग्य का निर्माता मानता है।

### कर्म सिद्धान्त में दोष (Defects in *Karma* Theory)

कर्म का सिद्धान्त प्रमुखतः पुरुषार्थों की पूर्ति से ही सम्बन्धित रहा है। लेकिन धीरे धीरे कर्मवाद के 'प्रारब्ध' से जुड़ जाने के कारण इसमें व्यवहार रूप में 'भाग्य' (Destiny) या 'दैव' की धारणा अधिक प्रबल हो गयी। मैकेंजी ने बताया है कि कर्म का सिद्धान्त मानवीय आचरण की भाग्यवादी व्याख्या प्रस्तुत करता है तथा समाज के सदस्यों के जीवन में जो आपसी असमानता देखने को मिलती है, उसे दूर करने के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहता। इस प्रकार इस सिद्धान्त ने सामाजिक असमानता को वृद्धि करने में योग दिया है।

कुछ लोगों का कहना है कि कर्मवाद व्यक्ति को निष्क्रिय बनाता है। जब सब कुछ पूर्वजन्म के कर्मों, प्रारब्ध या भाग्य पर आधारित है तो इस जीवन में व्यक्ति के लिए कार्य हेतु तात्कालिक प्रेरणा क्या है? व्यक्ति साधारणतः यह सोचता है कि किसी कार्य को करने से उसे क्या लाभ मिलेगा? यदि इस जीवन में किये गये कर्मों का फल आगामी जीवन में मिलेगा तो ऐसी स्थिति में व्यक्ति के प्रयत्नों में शिथिलता का आ जाना सम्भव है।

इस सिद्धान्त की आलोचना के रूप में यह भी कहा जाता है कि इसमें पारलौकिक जीवन को लौकिक जीवन की अपेक्षा अधिक महत्व दिया गया है। अच्छे कर्मों के द्वारा व्यक्ति को मोक्ष प्राप्ति का प्रलोभन दिया गया। परिणाम यह हुआ कि व्यक्ति अपने आध्यात्मिक कल्याण में लग गया और सांसारिक दायित्वों के प्रति उदासीन हो गया। इस प्रकार कर्म के सिद्धान्त ने भाग्यवाद को प्रोत्साहन दिया और भौतिक प्रगति में बाधा पहुँचायी।

कुछ लोगों की मान्यता है कि वर्ण व्यवस्था के औचित्य को सिद्ध करने के उद्देश्य से कर्मवाद को प्रोत्साहन दिया गया। इस सिद्धान्त के आधार पर एक वर्ण विशेष को लोगों को प्राप्त विशेषाधिकारों और विभिन्न सुविधाओं को उचित ठहराया गया। साथ ही शूद्रों या अछूतों की निर्योग्यताओं एवं अभावों को उनके पूर्वजन्मों के कर्मों के फल के रूप में व्याख्या की गयी। इस प्रकार कर्मवाद ने इन लोगों के शोषण में योग दिया।

इस सिद्धान्त के आलोचकों का कहना है कि भारतवर्ष के अधिकांश लोगों के पिछड़ेपन का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कारक कर्मवाद है। कर्म का सिद्धान्त नैतिक आधार पर न्याय संगत नहीं है। इसने सामाजिक असमानताओं को उचित ठहराया और निम्न वर्ग के लोगों को आगे बढ़ने का अवसर नहीं दिया, उनकी मौजूदा सामाजिक स्थिति की व्याख्या प्रारब्ध या भाग्य के रूप में की गयी। आज देश के अधिकांश व्यक्ति अभावग्रस्त जीवन व्यतीत कर रहे हैं, उनका जीवन स्तर काफी

निम्न है, विभिन्न प्रकार की सुख सुविधाओं से वे वंचित हैं, तो क्या उन सबका 'प्रारब्ध' दोषपूर्ण रहा है ?

इन सब आलोचनाओं के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि ये मूल रूप से कर्म सिद्धान्त से सम्बन्धित नहीं है। ये सब आलोचनाएँ उस समय उभरकर सामने आती है जब इस सिद्धान्त को यान्त्रिक रूप में समझने का प्रयत्न किया जाता है। वास्तविक आवश्यकता इस बात की है कि इसे आध्यात्मिक दृष्टिकोण से समझा जाय। डा० राधाकृष्णन् ने बताया है कि दुर्भाग्य से भारत में कर्म के सिद्धान्त को उस समय भाग्यवाद के रूप में समझा गया जब मनुष्य स्वयं दुर्बल हो गया और श्रेष्ठतम प्रयत्न के प्रति उसमें अरुचि उत्पन्न हो गयी। इस सिद्धान्त को निष्क्रियता और कायरता के एक बहाने के रूप में मान लिया गया तथा इसे निराशा के, न कि आशा के एक सन्देश के रूप में बदल दिया गया।[1] स्पष्ट है कि कर्मवाद स्वयं में दोषपूर्ण नहीं है। इतना अवश्य है कि निष्क्रिय और निहित स्वार्थों वाले लोगों के द्वारा इस सिद्धान्त का भाग्यवाद के पोषण और सामाजिक असमानताओं को बनाये रखने हेतु दुरुपयोग किया गया। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि जब ब्राह्मणों और सत्ताधारी क्षत्रियों में एकता स्थापित हो गयी, तब वैश्यों तथा शूद्रों की निम्न सामाजिक स्थिति और आर्थिक अभावों को न्यायोचित ठहराने के लिए कर्म के सिद्धान्त का उपयोग किया गया। इस स्थिति में यह कहने के बजाय कि वर्तमान में प्रयत्नों या पुरुषार्थ के आधार पर अपने भविष्य या भावी जीवन को उन्नत बनाया जा सकता है, यह कहा गया है कि प्रत्येक मनुष्य की मौजूदा दुर्दशा का कारण उसके भूतकालीन कर्म है। वास्तविकता यह है कि प्रयत्न या पुरुषार्थ के आधार पर प्रारब्ध को भी बदला जा सकता है और मनुष्य स्वयं ही अपने भाग्य का निर्माता है। गीता में कृष्ण ने अर्जुन को स्पष्टतः बताया है कि निष्क्रिय जीवन व्यतीत करने के बजायअपने स्वधर्म का पालन करना, अपने नियत कर्तव्यों को पूरा करना और अपनी परिस्थिति के अनुरूप अपनी भूमिका निभाना अत्यन्त आवश्यक है। यदि व्यक्ति निस्वार्थ भाव से अपने दायित्व का निर्वाह करता रहे तो ऐसी स्थिति में दुख, दरिद्र, अभाव एवं विभिन्न प्रकार की समस्याएँ स्वतः ही समाप्त हो जायेंगी।

कर्मवाद तो मनुष्य को सतत् कर्म करते रहने की प्रेरणा देता है। यह सिद्धान्त न केवल मानवीय विकास में, बल्कि सामाजिक प्रगति एवं समृद्धि में भी योग देता है। प्रारम्भ से लेकर आज तक सामाजिक और राजनीतिक उथल पुथल होते रहे है लेकिन इनके बावजूद भी कर्म के सिद्धान्त का महत्व बना हुआ है। कर्म के सिद्धान्त ने संकट के समय व्यक्ति का मार्ग दर्शन किया है और उसे बताया है कि अपने कर्म को पूर्ण करना ही उसका पवित्र कर्तव्य है। प्रगति के काल में भी इस सिद्धान्त ने व्यक्ति को श्रेष्ठतम तरीके से अपने कार्य को पूर्ण करने, अपनी कार्य-

1 S Radhakrishnan *The Hindu View of Life* p 76

कुशलता को बढ़ाने और समाज को समृद्धि की ओर ले जाने मे अपूर्व योग दिया है। कर्म की अवधारणा हिन्दू समाज मे इतनी प्रबल है कि इसने भारत मे लोगो की असख्य पीढियो के व्यवहारों को प्रभावित किया है और आज भी कर रहा है।

## प्रश्न

### (उत्तर-सकेत सहित)

1 कर्म के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए तथा भारतीय जीवन क्रम मे इसके महत्व को समझाइए। (गोरखपुर, 1976)

[सकेत—इसके उत्तर मे अध्याय के प्रारम्भ मे दी गयी भूमिका तथा 'कर्म तथा पुनर्जन्म का सिद्धान्त' नामक शीर्षक के अन्तर्गत दी गयी सामग्री को सक्षेप मे लिखना है।]

2 कर्म के सिद्धान्त की विवेचना कीजिए। (गोरखपुर, 1971, लखनऊ, 1969, 76)

[सकेत—इसका उत्तर प्रश्न 1 के उत्तर के समान ही होगा।]

3 कर्म तथा पुनर्जन्म के महत्व का विवेचन कीजिए। (लखनऊ, 1973)

[सकेत—इसके उत्तर के लिए भूमिका, कर्म तथा पुनर्जन्म का सिद्धान्त और कर्म के सिद्धान्त का महत्व नामक शीर्षक देखिए।]

4 कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त मे सम्बन्ध बताइए। (लखनऊ, 1967)

[सकेत—इसका उत्तर प्रश्न 1 के उत्तर के समान ही होगा।]

5 'भाग्य' पर एक टिप्पणी लिखिए। (लखनऊ, 1967)

[सकेत—इसके उत्तर मे 'कर्म और भाग्य' शीर्षक के अन्तर्गत वर्णित सामग्री लिखनी है।]

6 कर्म भाग्य नही है? इस कथन से आप कहा तक सहमत है? समीक्षा कीजिए। (लखनऊ, 1971)

[सकेत—इसका उत्तर प्रश्न 5 के उत्तर के समान ही होगा।]

7 कर्म के सिद्धान्त की समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से समीक्षा कीजिए।

[सकेत—इसमे सक्षिप्त मे कर्म का सिद्धान्त बताना है। इसके बाद कर्म के सिद्धान्त का महत्व, कर्म सिद्धान्त मे दोष और अध्याय के अन्त मे दिया गया साराश लिखना है।]

# 5

## वर्ण-व्यवस्था
## (VARNA-VYAVASTHA)

विश्व के सभी समाजो म सामाजिक वग अवश्य पाये जाते हैं। इतना निश्चित है कि कहीं सामाजिक वर्गों का निर्माण जन्म के आधार पर हुआ है तो कहीं धन के आधार पर। मनुष्य की प्रवृत्तियों तथा व्यवसायो के आधार पर समाज का विभिन्न वर्गों के रूप मे विभाजन प्राय सभी देशों म देखने को मिलता है। एच० जी० वैल्स की मान्यता है कि मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियो के आधार पर समाज को भिन्न भिन्न वर्गों म बाँटने से समाज का सर्वोत्तम विकास होता है और साथ ही उसकी शक्ति बढ़ती है, किंग्सले डेविस तथा मूरे ने बताया है कि प्रत्येक समाज अपने सदस्यों की योग्यता और प्रशिक्षण को ध्यान म रखते हुए उन्हें अनेक वर्गों मे बाँट देता है। ऐसा करने से समाज की स्थिरता बनी रहती है और वह प्रगति की ओर बढ़ता जाता है। भारत के विचारकों न भी मनुष्य की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियो को ध्यान मे रखते हुए सामाजिक स्तरीकरण (Social Stratification) की ऐसी योजना को अपनाया जिसके अन्तगत समाज को कार्यात्मक दृष्टि से चार वर्गों मे बाँटा गया। ये चार वग ही चार वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के नाम से जाने जात हैं।

भारतीय सामाजिक सगठन के मौलिक तत्व के रूप मे वर्ण-व्यवस्था का विशेष महत्व पाया जाता है। इस व्यवस्था के अन्तगत प्रत्येक व्यक्ति की प्रवृत्तियो अर्थात् गुणो को ध्यान मे रखकर ही समाज मे उसका स्थान और काय निश्चित किये गये थे। यहाँ सामाजिक व्यवस्था मे व्यक्ति और समाज दोनो को समान रूप से महत्व दिया गया है। यहाँ 'वर्ण' और 'आश्रम' नामक दो व्यवस्थाओ के आधार पर ही व्यक्ति और समाज के सर्वांगीण विकास का प्रयत्न किया गया है। इन्ही व्यवस्थाओं के आधार पर हिन्दुओ के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को सगठित किया गया है। वास्तव म 'वर्णाश्रम व्यवस्था' (वर्ण आश्रम धर्म) ही वह धुरी है जिसके चारो ओर हिन्दू सामाजिक व्यवस्था घूमती है। ये दोनो व्यवस्थाएँ व्यक्ति की प्रकृति, उसके पालन-पोषण की समस्याओ और समाज के कार्यात्मक विभाजन से सम्बन्धित हैं। यदि यह कहा जाय कि वर्णाश्रम व्यवस्था सामाजिक सगठन के हिन्दू सिद्धान्त की आधारशिला के रूप मे काय करती है तो इसमे किसी प्रकार की कोई अतिशयोक्ति नही होगी। यहाँ हिन्दुओ का सम्पूर्ण जीवन इन्ही दो व्यवस्थाओ के चारो ओर

घूमता रहता है। इस देश म ऋषि मुनियो एव चि तको न वर्णाश्रम व्यवस्था के रूप म एक ऐसी अद्वितीय व्यवस्था के विकास म योग दिया जिसम व्यक्ति और समाज दोनो को एक दूसरे का पूरक मानकर दोनो को समान रूप म महत्व दिया गया है। यहाँ के विचारक इस बात से स्पष्टत परिचित थे कि व्यक्तित्व के विकास के लिए समाज का विकास आवश्यक है। साथ ही व्यक्तित्व के विकास की समुचित सुविधाए उपलब्ध कराने पर ही समाज की उन्नति की जा सकती है, सामाजिक व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान किया जा सकता है। इन्ही दो उद्देश्यो को ध्यान मे रखकर वण-व्यवस्था और आश्रम व्यवस्था का निर्माण किया गया है। जहाँ वण-व्यवस्था म सामाजिक जीवन के कार्यात्मक विभाजन की दृष्टि से समाज को चार भागो म बाटा गया, वही आश्रम-व्यवस्था मे व्यक्तिगत जीवन को उन्नत बनाने तथा व्यक्ति को विकास के पूण अवसर प्रदान करने हेतु जीवन को चार भागो मे विभाजित किया गया।

वण और आश्रम व्यवस्था के अन्तगत व्यक्ति के विभिन्न कतव्यो को निश्चित किया गया है, उसके दायित्व बताये गये है। आश्रम व्यवस्था के अन्तगत व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के विकास का पूण प्रयत्न करता है। वह अपने जीवन को अनुशासित करता हुआ धर्मानुसार अपने विभिन्न दायित्वो का निभाता है। वही व्यक्ति वण व्यवस्था के अन्तगत अपनी शक्तियो का उपयोग सामूहिक हित मे करता है। वह सामाजिक-कल्याण को ध्यान मे रखकर अपने वण धम का पालन करता है। आश्रम व्यवस्था पर आगे के अध्याय मे विचार किया गया है। यहा अब तक सवप्रथम 'वण' शब्द के अथ पर विचार करेंगे।

## वर्ण का अर्थ
## (MEANING OF *VARNA*)

कई लोग वण और जाति को एक ही मान लेते हैं परन्तु वास्तव मे ये दोनो पृथक अवधारणाएँ है। वण व्यवस्था एक बहुत अवधारणा है जिसके अनुसार कार्यात्मक दृष्टि से समाज का चार बडे वर्गो मे विभाजन हुआ है। वण की तुलना मे जाति एक बहुत छोटी सी व्यवस्था है। यह इसी बात से स्पष्ट है कि आज एक ही वण मे सैकडो-हजारो तक जातियाँ पायी जाती है। वण व्यवस्था उदारता की परिचायक है जबकि जाति व्यवस्था सकीणता की। **हटटन** ने बताया है "किसी भी स्थिति मे वण आजकल की जाति नही है, यद्यपि वण को जातियो का समूह माना जा सकता है।"[1]

शाब्दिक दृष्टि से वण शब्द के तीन सम्भावित अथ लगाये गये है जो इस प्रकार है प्रथम, वरण या **चुनाव करना** द्वितीय, रग, और, तृतीय **वत्ति के अनुरूप**। पहले अथ का लोग विशेष महत्व देते है। 'वण' शब्द की व्युत्पत्ति 'व'

1 J H Hutton *Caste in India* p 66

(वृत—वरणे) धातु से मानी गयी है जिसका अर्थ होता है—वरण या चुनाव करना। इस दृष्टि से व्यक्ति अपने लिए जिस व्यवसाय का चुनाव करता है, उसी के अनुसार उसके वर्ण का निर्धारण होता है। इसका तात्पर्य यह है कि वर्ण उन लोगों का एक समूह है जिनका व्यवसाय समान है। लेकिन वर्ण शब्द का यह अर्थ भ्रामक है। वर्ण शब्द का दूसरा अर्थ रंग से लगाया गया है। सबसे पहले ऋग्वेद में वर्ण शब्द का प्रयोग रंग अर्थात् काले एवं गोरे रंग की जनता के लिए किया है तथा प्रारम्भ में आर्य और दास, इन दो वर्णों का ही उल्लेख मिलता है। डॉ० घुरिये के अनुसार आर्यों ने यहाँ के आदिवासियों को पराजित करके उन्हें दास या दस्यु नाम दिया और अपने तथा उनके बीच अन्तर प्रकट करने के लिए वर्ण शब्द का प्रयोग किया जिसका अर्थ रंग भेद से है।[1] वर्ण शब्द का यह अर्थ इस बात को प्रकट करता है कि इस शब्द का प्रयोग आर्यों एवं दस्युओं के बीच पाये जाने वाले प्रजातीय अन्तर को स्पष्ट करने हेतु किया गया। पी० वी० काणे के अनुसार प्रारम्भ में गोरे वर्ण का प्रयोग आर्यों के लिए और कृष्ण वर्ण का दासों या दस्युओं के लिए किया जाता था। बाद में वर्ण शब्द का प्रयोग गुण एवं कर्मों के आधार पर बने हुए चार बड़े वर्गों के लिए किया गया। सेनार्ट ने इसी मत को मानते हुए लिखा है कि आर्यों और दस्युओं के रंग को व्यक्त करने वाला वर्ण शब्द बाद में समाज के चार वर्गों को व्यक्त करने लगा।[2] वर्ण शब्द का तीसरा अर्थ वृत्ति से सम्बन्धित है। इस दृष्टि से जिन व्यक्तियों की मानसिक एवं व्यवहार सम्बन्धी विशेषताएं एक समान हों अर्थात् जिन व्यक्तियों का स्वभाव एक जैसा या समान हो, उन्हीं से मिलकर एक वर्ण बनता है।

वास्तव में शाब्दिक अर्थ के आधार पर 'वर्ण' को नहीं समझा जा सकता। वर्ण का सम्बन्ध व्यक्ति के गुण तथा कर्म से है। जिन व्यक्तियों के गुण तथा कर्म एक से थे अर्थात जो समान स्वभाव के थे, वे सब एक ही वर्ण के सदस्य माने जाते थे। भगवद्गीता में भी इसी बात को व्यक्त करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा है "चातुर्वर्णं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः अर्थात मैंने ही गुण और कर्म के आधार पर चारों वर्णों की रचना की है।[3] उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि वर्ण व्यवस्था सामाजिक स्तरीकरण की एक ऐसी व्यवस्था है जो व्यक्ति के गुण तथा कर्म पर आधारित है तथा जिसके अन्तर्गत समाज का चार वर्णों के रूप में कार्यात्मक विभाजन हुआ है। यहाँ गुण तथा कर्म का तात्पर्य व्यक्ति के स्वभाव एवं सामाजिक दायित्वों से है। समाज में विभिन्न कार्यों को ठीक प्रकार से चलाने के उद्देश्य से व्यक्तियों को स्वाभाविक प्रवृत्तियों या उनके स्वभाव को ध्यान में रखते हुए उन्हें विभिन्न समूहों अर्थात चार वर्णों में बाँटा गया था। प्रत्येक वर्ण के सदस्य अपने वर्ण धर्म का पालन करते हुए अर्थात् अपने दायित्वों को निभाते हुए सामाजिक उन्नति में योग देते थे।

1 G S Ghurye *Caste Class and Occupation* p 45
2 Senart *Caste in India* p 128
3 गीता, अध्याय 4, श्लोक 13।

## वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति
## (ORIGIN OF *VARNA* SYSTEM)

वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न कालों में भिन्न भिन्न मत प्रस्तुत किये गये हैं। इनमें से कुछ मत धर्म ग्रन्थों में व्यक्त विचारों पर आधारित हैं और कुछ मत आधुनिक सिद्धान्तों पर। यहाँ वर्णों की उत्पत्ति को समझने की दृष्टि से कुछ प्रमुख मतों पर विचार किया जायगा।

(1) ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के अनुसार—ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में वर्णों की उत्पत्ति के बारे में बताया गया है कि ब्राह्मण पुरुष अर्थात् विराट स्वरूप परमात्मा के मुख रूप हैं, क्षत्रिय उनकी भुजाएँ हैं, वैश्य उनकी जंघाएँ अथवा उदर हैं और शूद्र उसके पाँव हैं।[1] ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मणों की उत्पत्ति होने के कारण उनका काम बोलना तथा लोगों को शिक्षित करना है। ब्रह्मा की भुजाओं से क्षत्रियों की उत्पत्ति मानी गयी है। भुजाएँ शक्ति की सूचक हैं। अतः क्षत्रियों का कार्य शासन-संचालन तथा शस्त्र धारण कर समाज की रक्षा करना है। उदर या जंघाओं से वैश्यों की उत्पत्ति मानने के कारण वैश्यों का कार्य व्यापार एवं पशु पालन द्वारा सम्पत्ति का उत्पादन एवं लोगों की उदर-पूर्ति करना है। शूद्रों की उत्पत्ति-ब्रह्मा (विराट पुरुष) के पैरों से मानने के कारण उन्हें सभी वर्णों की सेवा करने का कार्य सौंपा गया। इसका कारण यह है कि पाँव का कार्य शरीर के भार को संभालना है। अतः शूद्रों को सेवा द्वारा समाज के भार को वहन करना है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के इस श्लोक की मौलिकता में बहुत से लोग सन्देह प्रकट करते हैं और मानते हैं कि इसे बाद में जोड़ दिया गया है। फिर भी इस श्लोक के आधार पर वर्ण-व्यवस्था की दो महत्वपूर्ण विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं। प्रथम विराट पुरुष के विभिन्न अंगों से चार वर्णों की उत्पत्ति इस तथ्य को व्यक्त करती है कि चारों वर्णों में भिन्न भिन्न स्वभावगत विशेषताएँ पायी जाती हैं, विभिन्न वर्णों के पृथक पृथक गुण एवं कर्म हैं। द्वितीय, विराट पुरुष अर्थात एक ही शरीर के अवयव या भाग होने के कारण उनमें पारस्परिक अन्तर्निर्भरता पायी जाती है, ये सभी अंग एक दूसरे के पूरक हैं, सभी का समाज व्यवस्था में समान महत्व है।

(2) उपनिषदों के अनुसार—उत्तर वैदिक काल में लिखे गये उपनिषदों में बृहदारण्यक और छान्दोग्य उपनिषदों से वर्णों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ जानकारी मिलती है। बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार प्रारम्भ में ब्रह्मा ने केवल ब्राह्मणों को ही जन्म दिया। ब्राह्मण सभी कार्यों को पूरा नहीं कर सके, तो समाज के कल्याण को ध्यान में रखकर ब्रह्मा ने क्षत्रियों को उत्पन्न किया। लेकिन जब ब्राह्मण, और क्षत्रिय दोनों वर्णों से भी समाज में सम्बन्धित सभी कार्यों की पूर्ति नहीं हो सकी, तो ब्रह्मा ने वैश्य वर्ण की रचना की। इन तीनों वर्णों की उत्पत्ति के पश्चात भी जब

1 ऋग्वेद, 10।90।12।

समाज से सम्बधित विभिन्न कार्यों को ठीक से सचालित नही किया जा सका, तो ब्रह्मा ने शूद्र वर्ण की उत्पत्ति की। ब्रह्मा ने ब्राह्मण के अन्तर्गत इन्द्र, वरुण, सोम तथा यम देवताओं का, वैश्य के अन्तर्गत वसु, आदित्य, मारुत आदि देवताओं को और शूद्र के अन्तर्गत पुशान देवता को जन्म दिया। स्वर्गलोक की इसी वर्ण व्यवस्था के आधार पर मृत्युलोक के वर्णों की उत्पत्ति हुई।[1] इससे दो बातें स्पष्ट है। प्रथम, सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार अलग अलग समय पर विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति हुई। द्वितीय, वर्णों की उत्पत्ति का आधार उनके द्वारा की जाने वाली विभिन्न प्रकार की सेवाएँ है। छान्दोग्य उपनिषद के अनुसार व्यक्ति के वर्ण का निर्धारण उसके द्वारा पूर्व जन्म में किये गये कर्मों के आधार पर होता है। पूर्व जन्म के कर्मों के आधार पर ही व्यक्ति की स्वभावगत विशेषताएँ या उसके गुण बनते है और इन्ही के आधार पर उसकी वर्ण विशेष की सदस्यता निश्चित होती है। स्पष्ट है कि उपनिषदो मे विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति का आधार व्यक्तियो के गुण एव कर्म माने गये है।

(3) महाभारत के अनुसार—महाभारत में ब्रह्मा को विभिन्न वर्णों का उत्पत्ति-कर्ता बताया गया है। महाभारत के शान्तिपर्व में लिखा है, "ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, जघा से वैश्य और इन तीन वर्गों की सेवा करने के लिए चरण (पैर) से शूद्र उत्पन्न हुए है।[2] शान्तिपर्व में ही अपने शिष्य भारद्वाज को महर्षि भृगु ने कहा है कि प्रारम्भ मे केवल एक ब्राह्मण (द्विज) वर्ण ही था। यही वर्ण बाद मे मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक चार वर्णों मे बँट गया। ब्राह्मणो का रग श्वेत (सफेद) था जो सतोगुण पवित्रता का परिचायक था। क्षत्रियो का लोहित (लाल) रग राजस गुणक्रोध को व्यक्त करता था। वैश्यो का पीत (पीला) रग रजो गुण एव तमोगुण के मिश्रण का सूचक था। शूद्रो का श्याम (काला) रग तमोगुण एव अपवित्रता का परिचायक था। विभिन्न वर्णों के अलग अलग रग अवश्य थे परन्तु ये वर्ण विभाजन का आधार नही होकर स्वभावगत विशेषताओ या गुणो को व्यक्त करते थे। भृगु ने स्वय बताया है कि रग वास्तव मे वर्ण-विभाजन का आधार नही है, वास्तविक आधार तो व्यक्ति के गुण एव कर्म ही है।[3] स्पष्ट है कि ब्रह्मा ने आरम्भ मे सभी को समान उत्पन्न किया, किसी के साथ ऊँच-नीच का कोई भेद नही किया। लेकिन बाद मे जो ब्राह्मण अपने वर्ण से भिन्न प्रकार की विशेषताएँ या गुण व्यक्त करने लगे, उन्हे उनके गुण एव कर्म के आधार पर अन्य वर्ण—क्षत्रिय वैश्य या शूद्र वर्ण प्राप्त हो गया। गुरु पाराशर ने वर्ण भेद के सम्बन्ध मे राजा जनक को बताया कि यद्यपि प्रारम्भ मे सभी व्यक्ति एक ही वर्ण के थे परन्तु जिस प्रकार भूमि तथा बीज के आन्तरिक गुण बदल जाने से खेती का रूप परिवर्तित हो जाता है उसी प्रकार व्यक्ति के गुण और कर्म के बदल जाने पर उसका वर्ण भी बदल जाता है।

1 Prof Ranade *A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy* p 60
2 महाभारत, शान्ति पर्व 122 4 5।
3 वही।

(4) गीता के अनुसार सामाजिक स्तरीकरण का आधार, गुण—भगवद्गीता में बताया गया है कि समाज का चार वर्णों में विभाजन व्यक्ति के गुण के आधार पर हुआ है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता के चौथे अध्याय में बताया कि हे अर्जुन, गुण और कर्मों के विभाग से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी मेरे द्वारा बनाये गये हैं। गीता में वर्ण निर्धारण में गुण को विशेष महत्व दिया गया है। भारतीय दर्शन में गुण तीन के प्रकार बताये गये हैं सत्व, रज तथा तम। इन गुणों से ही मन की रचना होती है तथा उसकी तीन प्रवृत्तियाँ सात्विक, राजसिक एवं तामसिक बनती हैं। इन प्रवृत्तियों के आधार पर ही समाज चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में विभक्त हुआ है। जिस व्यक्ति की जैसी प्रवृत्ति होती है उसी के अनुसार उसका वर्ण निश्चित होता है। जिस व्यक्ति में सात्विक प्रवृत्ति की प्रधानता होती है, वह जीवन के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण रखता है और ब्राह्मण वर्ण में माना जाता है। जिसमें सात्विक और राजसिक प्रवृत्ति की प्रधानता होती है वह व्यक्ति क्रियाशीलता की प्रमुखता के कारण क्षत्रिय वर्ण में माना जाता है। राजसिक और तामसिक प्रवृत्ति से युक्त व्यक्ति वैश्य कहलाता है। तामसिक प्रवृत्ति वाले व्यक्ति में अज्ञानता पायी जाती है और वह शूद्र कहलाता है। मनु ने भी व्यक्तिगत गुणों के आधार पर वर्णों की उत्पत्ति मानी है।

उपलब्ध सामग्री के आधार पर यह कहा जा सकता है कि महाभारतकाल तक वर्णों की उत्पत्ति का आधार गुण तथा कर्म माना गया। लेकिन स्मृतिकार वर्ण व्यवस्था को कठोर बनाने के पक्ष में थे। उन्होंने ऋग्वेद के पुरुष सूक्त की व्याख्या अपने ही तरीके से की और वर्ण-व्यवस्था को एक ईश्वरीय व्यवस्था माना। परिणाम यह हुआ कि गुण तथा कर्म पर आधारित उदार वर्ण व्यवस्था धीरे धीरे जन्म पर आधारित जाति व्यवस्था में बदल गयी।

## वर्ण व्यवस्था का आधार—जन्म अथवा कर्म
## (BASIS OF *VARNA* SYSTEM—BIRTH OR *KARMA*)

यहाँ वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में एक मूल प्रश्न यह उठता है कि व्यक्ति को किसी वर्ण विशेष की सदस्यता गुण तथा कर्म के आधार पर प्राप्त होती थी अथवा जन्म के आधार पर। साधारणतः गुण तथा कर्म के आधार पर वर्ण का निर्धारण होता था। परन्तु फिर भी इस सम्बन्ध में विद्वानों में मत भिन्नता पायी जाती है।

—वर्ण सदस्यता के आधार के सम्बन्ध में डा० राधाकृष्णन की मान्यता है कि यद्यपि इस व्यवस्था में आनुवंशिक क्षमताओं (जन्म) का महत्व अवश्य था, परन्तु फिर भी यह व्यवस्था प्रमुखतया गुण तथा कर्म पर आधारित थी। आपने महाभारत तथा इसके पूर्व के काल की प्रमुख घटनाओं के आधार पर यह स्पष्ट किया है कि उस समय वर्ण परिवर्तन सम्भव था। विश्वामित्र, राजा जनक, महामुनि व्यास, वाल्मीकि, अजमीढ एवं पुरामीढ ने अपने गुण तथा कर्म के आधार पर अपना वर्ण परिवर्तन कर

पाये। यदि वर्ण निर्धारण का आधार जन्म होता तो अपने वर्ण को बदलकर किसी अन्य वर्ण की सदस्यता प्राप्त करना सम्भव नहीं होता। व्यक्ति अपने कर्म के अनुसार किसी भी वर्ण की सदस्यता प्राप्त कर सकता था। इससे स्पष्ट है कि वर्ण का आधार गुण तथा कर्म था, न कि जन्म।

डा० जी० एस० घुरिये ने वर्ण निर्धारण में व्यक्तिगत विशेषताओं को महत्व दिया है। आपने बताया है कि वर्ण का सम्बन्ध 'रंग' से है। आपके अनुसार आरम्भ में भारत में केवल दो वर्ण ही थे—एक आर्य और और दूसरा दास या दस्यु। आर्यों ने विजेता होने के कारण अपने को श्रेष्ठ और यहाँ के पराजित मूल निवासी द्रविडों को निम्न समझा। उन्होंने अपने को द्विज एवं द्रविडों को दास या दस्यु कहा। कालान्तर में जैसे-जैसे आर्यों की संख्या बढ़ती गयी, उसके साथ ही साथ उनके कर्मों में भी भिन्नता आती गयी। कर्मों की भिन्नता के फलस्वरूप आर्य (द्विज वर्ण) ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों में विभाजित हो गये। इन तीनों वर्णों के एक ही आर्य प्रजाति अथवा द्विज वर्ण से सम्बन्धित होने के कारण प्रारम्भ में इनमें खान-पान और विवाह के सम्बन्ध पाये जाते थे, ये एक दूसरे के साथ सामाजिक सम्पर्क रख सकते थे।

श्री के० एम० पणिक्कर ने तथ्यों के आधार यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि वर्ण सदस्यता का आधार कर्म था, न कि जन्म। वर्ण का सम्बन्ध व्यवसाय के साथ रहा है। यदि जन्म के आधार पर ही वर्ण-सदस्यता का निर्धारण होता तो किसी भी वर्ण के लिए अपना व्यवसाय बदलना किसी भी रूप में सम्भव नहीं होता। लेकिन प्राचीन ग्रन्थों से यह प्रमाणित होता है कि ब्राह्मण धर्म कार्यों के सम्पादन और अध्ययन के अतिरिक्त औषधि, शस्त्र निर्माण और प्रशासन सम्बन्धी कार्यों में भी लगे हुए थे। वैदिक साहित्य में कहीं भी ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि लोगों के लिए जन्म के आधार पर व्यवसाय को चुनना अनिवार्य था। श्री पणिक्कर ने बताया है कि वेदों में और उन पर आधारित शास्त्रों में उस कठोर वर्ण व्यवस्था का वर्णन कहीं नहीं मिलता जिसमें जन्म के आधार पर ही व्यवसाय को चुनने के लिए व्यक्ति बाध्य हो अथवा उस पर अन्तर्जातीय विवाह पर निषेध लगाया जाता हो। हिन्दू धर्म में 'एतरेय ब्राह्मण' एक पवित्र ग्रन्थ है और वास्तविकता यह है कि इस ग्रन्थ की रचना एक ब्राह्मण ऋषि और उनकी दस्यु जाति की पत्नी के औरस पुत्र द्वारा की गयी थी।[1] इस कथन से स्पष्ट होता है कि न तो कोई व्यवसाय पूर्णतया वंशानुगत था और न ही अन्तर-वर्ण विवाहों और द्विज वर्णों में सामाजिक सम्पर्क पर किसी प्रकार का निषेध था। इससे भी यही सिद्ध होता है कि वर्ण सदस्यता का आधार जन्म न होकर कर्म ही था।

1 पणिक्कर, हिन्दू समाज निर्णय के द्वार पर, पृ० 15।

श्री पणिक्कर न तो वर्ण-व्यवस्था को ही एक कपोल कल्पना तक मानते है। आपने बताया है कि ऐतिहासिक आधार पर यह सिद्ध किया जा सकता है कि समाज का चार वर्णों के रूप मे विभाजन का अस्तित्व वास्तव मे कभी नहीं रहा।[1] पणिक्कर की तो मान्यता यह है कि आरम्भ मे आर्य अथवा ब्राह्मणो के रूप मे एक ही वर्ण था तथा अन्य वर्णों का वास्तविक अस्तित्व कभी नही रहा है। आपके अनुसार हिन्दू समाज हमेशा से ही कई उपजातियो मे विभाजित रहा है। चार वर्णों की व्यवस्था एक सैद्धांतिक व्यवस्था मात्र रही जिसस अनेक जनजातियाँ, गोत्र-समूह एव पारिवारिक समूह अपने को सम्बन्धित मानते रहे हैं। चाहे वर्ण-व्यवस्था का कभी अस्तित्व रहा हो अथवा नही परन्तु प्रमाणो के आधार पर इतना निश्चित है कि यदि कभी इसका अस्तित्व रहा है, तो यह व्यक्ति के गुण और कर्म पर आधारित थी। चाहे वर्ण व्यवस्था एक सैद्धान्तिक व्यवस्था हो क्यो न रही हो, परन्तु इसका हिन्दू जीवन पर आज भी अनेक रूपो मे प्रभाव है। आज भी विभिन्न जातियाँ अपने को इन चार वर्णों मे से किसी न किसी वर्ण के साथ सम्बन्धित मानती हैं।

विभिन्न तथ्यो के आधार पर यह कहना उचित होगा कि यह व्यवस्था न तो पूर्णतया गुण और कर्म पर आधारित थी और न ही पूर्णतया जन्म पर। प्रारम्भ मे इस व्यवस्था का आधार गुण तथा कर्म था लेकिन धीरे धीरे जन्म का महत्व बढने लगा। समय के साथ साथ व्यवसाय आनुवंशिक होते गये, व्यक्ति की सामाजिक स्थिति अपरिवर्तनीय होती गयी और व्यवसाय की भिन्नता के कारण व्यक्तियो की स्वभावगत विशेषताएँ भी बदलती गयी। यद्यपि भारतीय सामाजिक सगठन वर्ण-व्यवस्था से काफी प्रभावित रहा है परन्तु आज यह सैद्धांतिक व्यवस्था मात्र ही रह गयी है। आज से करीब 2000 वर्ष पूर्व से ही वर्ण विभिन्न जातियो और उपजातियो मे विभाजित होने लग गये थे। आज तो सैकडो जातियाँ और उपजातियाँ हिन्दू सामाजिक सगठन का आधार बन गयी है।

## विभिन्न वर्णों के कर्तव्य अथवा वर्ण धर्म

## (DUTIES OF DIFFERENT *VARNAS* OR *VARNA DHARMA*)

विभिन्न धर्म ग्रन्थो मे ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र वर्ण के अलग-अलग कर्तव्य या वर्ण धर्म बताये गये हैं। ऐसा करने का उद्देश्य समाज को श्रम विभाजन का लाभ पहुँचाना रहा है। प्रत्येक वर्ण के दायित्वो को निर्धारित कर एक ओर यह प्रयत्न किया गया कि सभी कार्य विशेष ज्ञान के आधार पर पूर्ण किये जायें और दूसरी ओर यह कि कोई भी वर्ण किसी अन्य वर्ण के कार्यों मे हस्तक्षेप नही करे।

(1) **ब्राह्मण धर्म**—ब्राह्मणो का मुख्य धर्म इन्द्रिय सयम बताया गया है। मनुस्मृति के अनुसार वेदो का अनुशीलन (अभ्यास), तप अध्ययन अध्यापन एव यज्ञ का सम्पादन ब्राह्मण के मुख्य दायित्व है।[2] ब्राह्मणों के छ कर्तव्य बताये गये हैं जो

1 K M Pannikar *Hindu Society at Cross Roads* p 7
2 मनुस्मृति 2 166।

इस प्रकार है अध्ययन और अध्यापन, यज्ञ करना और यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना। ब्राह्मणो को सौपे गये इन सभी दायित्वो का सम्बन्ध सात्विक गुणो के साथ है और सात्विक गुणो को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। यही कारण है कि ब्राह्मणो को समाज मे सबसे उच्च स्थिति प्रदान की गयी है। ब्राह्मण के लिए यह भी कहा गया है कि उसे शान्त प्रकृति का होना चाहिए, धर्म के प्रति पूर्ण निष्ठा रखनी चाहिए और पवित्रतापूर्ण जीवन बिताना चाहिए। मनु ने यह भी बताया है कि यदि ब्राह्मण उपर्युक्त कार्यों से अपनी जीविका नही कमा सके, तो उसे आपद धर्म के रूप मे क्षत्रिय धर्म के पालन से अपनी आजीविका कमाने की आज्ञा है।

(2) क्षत्रिय धर्म—परोपकार करना, प्रजा की रक्षा करना और युद्ध मे वीरता दिखाना क्षत्रिय के महत्वपूर्ण कर्तव्य हैं। मनुस्मृति के अनुसार प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना एवं विषयों में आसक्ति न रखना क्षत्रियो के प्रमुख कर्म है।[1] क्षत्रिय को इतना समर्थ होना चाहिए कि वह दुष्टो को दण्ड दे सके। महाभारत मे उसे क्षत्रिय माना गया है जो वेदो के अध्ययन और ब्राह्मणो को दान देने मे रुचि रखता है एवं जो क्षत्रियोचित कर्मों को पूरा करता है। गीता मे क्षत्रियो के सात प्रकार के धर्म बताये गये है। ये है शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता, युद्ध से न भागना, दान देना और निस्वार्थ भाव से प्रजा का पालन करना।[2] क्षत्रियो का यह भी दायित्व बताया गया है कि उन्हे प्रजा मे अपने धर्म के प्रति रुचि उत्पन्न करनी चाहिए।

(3) वैश्य धर्म—वैश्यो का धर्म समाज के भरण पोषण का दायित्व अपने ऊपर लेकर समाज के अस्तित्व को बनाये रखना है। महाभारत मे बताया गया है कि वैश्य वह है जो वेदो के अध्ययन से सम्पन्न होकर व्यापार, पशु-पालन एवं कृषि-कार्य से अन्न का संग्रह करने मे रुचि रखता हो। वैश्य का यह कर्तव्य है कि वह उचित साधनो से धन का संग्रह करे। मनुस्मृति मे वैश्यो के कर्तव्य इस प्रकार बताये गये है पशुओ की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना, व्यापार करना, ब्याज पर धन देना एवं कृषि करना।[3] गीता के अनुसार कृषि, गौ-रक्षा और व्यापार वैश्यो के मुख्य कार्य हैं।

(4) शूद्र धर्म—अन्य तीनो वर्णों की सेवा करना शूद्र का प्रमुख धर्म बताया गया है। मनु के अनुसार शूद्रो का एक ही धर्म है और वह है—अन्य तीनो वर्णों की बिना किसी ईर्ष्या भाव के सेवा करना।[4] शूद्र के लिए कहा गया है कि जहाँ तक सम्भव हो उसे किसी ब्राह्मण के सेवक के रूप मे ही काम करना चाहिए। क्षत्रिय या

1 मनुस्मृति, 1 89।
2 गीता, 18-43।
3 मनुस्मृति, 1 90।
4 मनुस्मृति, 1 91।

वैश्य का सबन्ध तो उसे आजीविका कमाने की दृष्टि से आवश्यकतानुसार ही बनना चाहिए। शूद्र के लिए बताया गया है कि उसे अध्ययन, धन संग्रह, एवं अन्य वर्णों के व्यवसाय अपनाने का कार्य नहीं करना चाहिए। शूद्र को अपने स्वामी की निस्वार्थ भाव से सेवा करनी चाहिए। स्वामी की सम्पत्ति नष्ट हो जाने पर उसे अपने बच्चों आदि के भरण पोषण के बाद बची हुई शेष सम्पत्ति को स्वामी के भरण-पोषण में खर्च करना चाहिए। जहाँ शूद्र पर अन्य वर्णों की सेवा का दायित्व डाला गया है, वहाँ अन्य वर्णों का यह कर्तव्य बताया गया है कि उन शूद्रों को आवश्यक वस्तुएँ प्रदान कर उनकी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिए।

उपर्युक्त विशिष्ट धर्मों के अतिरिक्त सभी वर्णों के कुछ सामान्य धर्म या कर्तव्य बताये गये हैं जैसे क्षमावान होना, सरल भाव रखना, किसी से द्रोह न करना, सभी जीवों का भरण पोषण करना, पत्नी से ही सन्तान को जन्म देना, पवित्रता बनाये रखना, क्रोध नहीं करना, सच बोलना एवं धन बाँटकर उसका काम में लेना आदि। महाभारत में एक महत्वपूर्ण बात यह बतायी गयी है कि वर्णों का विभाजन उपर्युक्त धर्मों के आधार पर ही किया गया है, न कि वर्ण के आधार पर उनके धर्म का निर्धारण। इससे स्पष्टतः ज्ञात होता है कि वर्ण व्यवस्था गुण पर आधारित थी न कि जन्म पर। जो व्यक्ति अपने वर्ण धर्म का पालन नहीं करता था, वह वर्ण च्युत हो जाता था, उसकी अपने पूर्व वर्ण की सदस्यता समाप्त हो जाती थी।

## वर्ण व्यवस्था की विशेषताएँ
### (CHARACTERISTICS OF *VARNA* SYSTEM)

विश्व की सामाजिक व्यवस्थाओं में वर्ण व्यवस्था का एक अद्वितीय स्थान है। इस व्यवस्था की कुछ संरचनात्मक एवं कार्यात्मक विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

(1) श्रम विभाजन पर आधारित—वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न वर्णों के कर्म इस प्रकार निर्धारित किये गये थे कि सभी सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। प्रत्येक अपने दायित्व का पालन करता हुआ सामाजिक प्रगति में योग देता था।

(2) विशेषीकरण में सहायक—जहाँ वर्ण व्यवस्था में विभिन्न प्रकार के कार्यों का विभिन्न वर्णों में विभाजन हुआ है वहाँ उसके परिणामस्वरूप पीढ़ी दर पीढ़ी एक ही प्रकार के कार्यों को करते रहने से लोगों को कार्य विशेष में निपुणता भी प्राप्त हुई है। इससे सम्पूर्ण समाज को विशेषीकरण का लाभ मिला है।

(3) गुण एवं स्वभाव पर आधारित—यद्यपि कुछ लोग वर्ण व्यवस्था को जन्म पर आधारित स्तरीकरण का रूप मानते हैं, परन्तु प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन से प्राप्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि प्रारम्भ में इस व्यवस्था का आधार व्यक्ति के गुण एवं स्वभाव रहा है। धीरे धीरे इस व्यवस्था में कठोरता आती गयी और जन्म का महत्व बढ़ता गया।

(4) शक्ति एवं अधिकारों का निश्चित वितरण—इस व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न वर्णों की भिन्न भिन्न शक्तियाँ और अधिकार रहे हैं। यद्यपि शक्ति और अधिकार की दृष्टि से ब्राह्मणों की स्थिति सर्वोच्च रही है परन्तु अन्य वर्णों को भी सामाजिक दृष्टि से महत्व दिया गया है। सभी वर्णों को समाज रूपी शरीर के विभिन्न अंगों के रूप में मान्यता प्रदान कर सभी के कार्यों को सामाजिक दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी माना गया है। कौन किस कार्य को करेगा, कौन किस वर्ण का सदस्य होगा, यह व्यक्ति विशेष के गुण एवं स्वभाव पर निर्भर करता है। धीरे-धीरे विभिन्न वर्णों में शक्ति एवं अधिकार की दृष्टि से एक निश्चित संस्तरण पनपने लगा जिसने एक वर्ण को दूसरे से ऊँचा अथवा नीचा मानने में योग दिया।

(5) व्यवसायों का पूर्व निर्धारण—वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ण के कुछ परम्परागत पूर्व निर्धारित व्यवसाय रहे हैं। साधारणतः प्रत्येक व्यक्ति को अपने वर्ण से सम्बन्धित व्यवसाय को अपनाने की ही आज्ञा थी। यद्यपि भृगु ने बताया है कि व्यक्ति के व्यवसाय के आधार पर ही उसका वर्ण निर्धारित होता था, लेकिन यह वर्ण व्यवस्था के विकास की प्रारम्भिक अवस्था के समय की बात है। बाद में तो व्यक्ति के व्यवसाय का निर्धारण उसके वर्ण विशेष की सदस्यता के आधार पर ही होने लगा। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि व्यावसायिक निश्चितता वर्ण व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण विशेषता है।

(6) गुणात्मक प्रेरणा—वर्ण व्यवस्था ने व्यक्तियों को अपने वर्ण धर्म का पालन करने की विशेष प्रेरणा प्रदान की। यह कहा गया कि जो व्यक्ति अपने वर्ण-धर्म का पालन करेगा, उसे इस जीवन में तो उच्च स्थान प्राप्त होगा ही परन्तु आगामी जीवन में भी उसे इसका फल मिलेगा, उसका जन्म, और अच्छे कुल और वर्ण में होगा। इस प्रेरणा ने व्यक्तियों को कर्तव्य पालन के लिए विशेष प्रोत्साहन दिया।

(7) आध्यात्मिकता पर विशेष जोर—भारतीय संस्कृति में आध्यात्मवाद को विशेष महत्व दिया गया है। वर्ण व्यवस्था को धर्म के साथ इस प्रकार जोड़ दिया गया कि प्रत्येक व्यक्ति अपने दायित्व निर्वाह को पुनीत कर्तव्य के रूप में समझने लगा। भारतीय विचारक इस बात से भली भाँति परिचित थे कि अनावश्यक व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सामाजिक संघर्षों को बढ़ाने में योग देती है। यही कारण है कि यहाँ वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत वर्ण धर्म का निर्धारण इस प्रकार किया गया कि प्रत्येक स्वधर्म के पालन को सर्वाधिक महत्व दे। वर्ण व्यवस्था में सामूहिक कल्याण के साथ साथ व्यक्तिगत आकांक्षाओं की पूर्ति पर भी पूरा ध्यान दिया गया है।

(8) कर्म के सिद्धान्त एवं पुनर्जन्म की धारणा पर जोर—वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न व्यक्ति अपनी अपनी एक दूसरे से भिन्न सामाजिक स्थिति से सन्तुष्ट रहें और अपने कर्तव्यों का पालन करते रहें, इस हेतु इस व्यवस्था को कर्म के सिद्धान्त एवं पुनर्जन्म की धारणा के साथ जोड़ दिया गया। ऐसा करके एक ओर व्यक्ति का

अपनी सामाजिक स्थिति के प्रति सन्तुष्ट रहने और दूसरी ओर अपने दायित्वों का ठीक ढंग से निर्वाह करने की प्रेरणा प्रदान की गयी।

## वर्ण व्यवस्था का महत्व
(IMPORTANCE OF *VARNA* SYSTEM)

उपनिषदों, महाभारत एवं कुछ स्मृतियों में वर्ण-व्यवस्था का जो रूप देखने को मिलता है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि सामाजिक स्तरीकरण की इस व्यवस्था के माध्यम से समाज का मनोवैज्ञानिक आधार पर कार्यात्मक विभाजन किया गया था। इस व्यवस्था ने सभी वर्णों के लोगों को अपने दायित्वों को निभाने की अपूर्व प्रेरणा प्रदान की है। इस व्यवस्था के द्वारा लोगों को यह विश्वास दिलाया गया कि जो वर्ण अपने वर्ण धर्म के अनुरूप कार्य करेगा, उसे अगले जन्म में उच्च सामाजिक स्थिति प्राप्त हो सकेगी। इसने समाज को अलग अलग खण्डों में बाँटने के बजाय समाज को सगठित करने और पारस्परिक अन्तर्निभरता बढाने में योग दिया है। विभिन्न क्षेत्रों में इस व्यवस्था का समाजशास्त्रीय महत्व इस प्रकार है

(1) **कर्तव्य पालन की प्रेरणा**—इस व्यवस्था ने वर्ण धर्म के पालन पर जोर देकर लोगों को अपने कर्तव्य पथ पर आगे बढते रहने को सदैव प्रेरित किया है। लोगों को एक दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप करने से रोका गया है और यह बताया गया है कि अपने वर्ण धर्म के अनुरूप कार्य करते रहने पर व्यक्ति को मोक्ष प्राप्त होता है। यह एक ऐसी प्रेरणा थी जिसने सदियों तक व्यक्तियों की सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति में योग देने को प्रोत्साहित किया।

(2) **श्रम विभाजन व विशेषीकरण की एक अद्वितीय व्यवस्था**—इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को अपने पिता के परम्परागत पेशे को अपनाना होता है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक का एक निश्चित वर्ण धर्म रहा है जिसके अनुरूप कार्य करने की ही उससे आशा की जाती रही है। इस व्यवस्था में न केवल सभी कार्यों के ठीक प्रकार से सम्पन्न होने की ओर बल्कि समाज को विशेषीकरण का लाभ मिलने की ओर भी पूरा ध्यान दिया गया है। जन्म से ही बालक अपने पारिवारिक पर्यावरण में अपने पिता के व्यवसाय को सीखने की ओर प्रवृत होता रहा है। इसके लिए उसे कहीं विशेष प्रशिक्षण की भी आवश्यकता नहीं रही है। पीढ़ी दर पीढ़ी एक ही प्रकार का कार्य करते रहने से समाज को विशेषीकरण का भी पूरा पूरा लाभ मिला है। यही कारण है कि ज्ञान विज्ञान कला और संस्कृति के क्षेत्र में भारत काफी आगे रहा है।

(3) **लचीली व्यवस्था**—इस व्यवस्था ने नियन्त्रित गतिशीलता के आधार पर सामाजिक प्रगति में योग दिया। इस व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति को अपने गुण तथा कर्म के आधार पर एक वर्ण से दूसरे वर्ण में जाने की छूट दी गयी है। व्यक्ति निम्न वर्ण में जन्म लेकर भी उच्च वर्ण का सदस्य बन सकता है यह अनेक उदाहरणों से स्पष्ट है।

(4) सामाजिक संघर्षों से छुटकारा—इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक अपने वर्ण धर्म के पालन में लगा रहा है तथा प्रत्येक को एक निश्चित सामाजिक स्थिति प्राप्त होती रही है। ऐसी स्थिति में किसी विशेष सामाजिक स्थिति को प्राप्त करने के लिए व्यक्तियों को एक दूसरे के साथ प्रतियोगिता करने की आवश्यकता नहीं रही है। जहाँ प्रतियोगिता अधिक होती है वहाँ इसके अनियन्त्रित हो जाने पर सामाजिक संघर्षों की सम्भावना भी बढ़ जाती है। वर्ण-व्यवस्था ने सामाजिक संरचना में प्रत्येक की सामाजिक स्थिति निर्धारित कर समाज को सामाजिक संघर्षों से बचाने में अपूर्व योग दिया है। इस व्यवस्था ने प्रत्येक व्यक्ति की आजीविका, व्यवसाय और कार्यक्षेत्र को निर्धारित कर उसके सामाजिक और मानसिक जीवन को विघटित होने से बचाया है।

(5) समानता की नीति पर आधारित—वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न वर्णों के अलग अलग कार्य होते हुए भी सामाजिक व्यवस्था में सभी वर्णों का समान महत्व था। प्रत्येक वर्ण की सेवाओं को सामाजिक दृष्टि से समान महत्व प्रदान किया गया है। यद्यपि इस व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न वर्णों के रूप में समाज का कार्यात्मक विभाजन तो हुआ है परन्तु सभी वर्णों को एक दूसरे के समान माना गया है। जब सब वर्णों की उत्पत्ति विराट पुरुष के शरीर के विभिन्न अंगों से मानी गयी है तो किसी एक वर्ण का दूसरों की तुलना में ऊँचा नीचा होने का प्रश्न ही नहीं उठता, सभी अंगों का समान महत्व है।

(6) रक्त की शुद्धता—भारत में समय समय पर अनेक प्रजातीय समूह आये और कालान्तर में यहीं के मूल निवासी बन गये। ऐसी दशा में सामाजिक व्यवस्था को इस प्रकार संगठित करना आवश्यक था जिससे रक्त की शुद्धता बनी रहे। अतः वर्ण व्यवस्था के माध्यम से विभिन्न प्रजातीय समूहों को रक्त की शुद्धता को बनाये रखने का अवसर मिला। आर्य और द्रविड़ प्रजातीय भिन्नता के कारण ही अलग अलग वर्णों में विभक्त हो गये। द्रविड़ों को शूद्र वर्ण में रखा गया और रक्त की शुद्धता को बनाये रखने के उद्देश्य से इन्हें अन्य वर्णों के लोगों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने की आज्ञा नहीं दी गयी। साथ ही प्रत्येक प्रजातीय समूह को वर्ण व्यवस्था के कारण अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं को पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित करने का अवसर भी मिला।

(7) शक्ति सन्तुलन बनाये रखने में योग—वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत यह प्रयत्न किया गया कि विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ कुछ व्यक्तियों या उनके कुछ समूहों में ही केन्द्रित न हों। समाज में शास्त्र या ज्ञान शक्ति, शस्त्र या सैन्य-बल, अन्न या सम्पत्ति तथा सेवा या श्रम का बल नामक चार प्रकार की शक्तियाँ पायी जाती हैं। इन सभी शक्तियों के कुछ ही व्यक्तियों या उनके किसी विशेष समूह में केन्द्रित हो जाने पर समाज में अत्याचार के बढ़ जाने की सम्भावना रहती है। यही कारण है कि वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत चारों शक्तियों और उनसे सम्बन्धित पुरस्कारों को

अलग अलग रखा गया। समाज को अन्याय और अत्याचार से बचाने के लिए इस व्यवस्था में सम्मान, शासन एवं धन को एक दूसरे से पृथक रखा गया।

## वर्ण व्यवस्था के दोष
## (DEFECTS OF *VARNA* SYSTEM)

वर्ण व्यवस्था के गुणों का प्रारम्भ में समाज को लाभ मिलता रहा परन्तु धीरे धीरे इस व्यवस्था में खुलापन के बजाय कठोरता आती गयी। कालान्तर में प्रत्येक वर्ण सैंकड़ों जातियों एवं उपजातियों में बँट गया और समाज को अनेक हानियाँ उठानी पड़ी। वर्ण व्यवस्था के कारण जब आगे चलकर प्रत्येक वर्ण अनेक जातियों में विभक्त हो गया तो लोगों की सामुदायिक भावना काफी संकुचित हो गयी और राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधाएँ उत्पन्न हुईं। इसका परिणाम यह हुआ कि विदेशी आक्रमणकारियों ने भारत पर विजय प्राप्त की और सैंकड़ों वर्षों तक यहाँ शासन किया।

इस व्यवस्था का एक प्रमुख दोष यह है कि समाज के एक बहुत बड़े वर्ग (शूद्रों) को अपने विकास के समुचित अवसर नहीं दिये गये। उन्हें तमोगुण प्रधान मानकर अज्ञानी समझ लिया गया और तीन वर्णों की सेवा का भार उन पर डाल दिया गया।

इसी वर्ण व्यवस्था ने आगे चलकर अस्पृश्यता को भी जन्म दिया। अस्पृश्य समझी जाने वाली जातियों का इस देश में काफी लम्बे समय से शोषण होता रहा है।

वर्तमान में वर्ण के आधार पर विभिन्न जातियों और उपजातियों में संगठित होने की प्रवृत्ति पायी जाती है और वह भी राजनीतिक दृष्टि से स्वार्थ पूर्ति के उद्देश्य से। आज एक ही वर्ण से अपने को सम्बन्धित मानने वाली विभिन्न जातियाँ संगठित होकर अपना वीभत्स रूप प्रकट कर रही हैं और स्वस्थ प्रजातन्त्र के मार्ग में बाधा उत्पन्न कर रही हैं।

वर्ण व्यवस्था के उपर्युक्त दोष मूल रूप से इस व्यवस्था से सम्बन्धित नहीं होकर कालान्तर में विकसित जाति व्यवस्था से सम्बन्धित हैं। वर्ण व्यवस्था ने प्रारम्भ में तो अलग अलग वर्णों के विभिन्न धर्म निर्धारित कर व्यक्तियों को अपने कर्तव्यों के पालन की अपूर्व प्रेरणा प्रदान की। इस व्यवस्था ने आध्यात्मिकता को प्रोत्साहित किया और विभिन्न वर्णों के बीच पारस्परिक सहयोग बढ़ाने पर बल दिया। इस व्यवस्था को दीर्घजीवी बनाने में धर्म ने अपूर्व योग दिया। कर्मवाद, पुनर्जन्म, भाग्य और मोक्ष की धारणा के प्रभावी होने के कारण वर्ण व्यवस्था काफी लम्बे समय तक चलती रही। आज वर्ण व्यवस्था का स्थान जाति-व्यवस्था ने ले लिया है। अब वर्ण-व्यवस्था एक सैद्धान्तिक व्यवस्था मात्र रह गयी है।

## वर्ण एवं वर्ग
## (*VARNA* AND CLASS)

कुछ लोगों की धारणा है कि वर्ण-व्यवस्था और वर्ग व्यवस्था में समान तत्त्व पाये जाते हैं, दोनों एक दूसरे के समान हैं। वर्ग की परिभाषा से भी ऐसा ही मालूम

पडता है। मैकाइवर व पेज के अनुसार एक सामाजिक वर्ग समुदाय का वह भाग है जो सामाजिक स्थिति के आधार पर दूसरों से पृथक किया जा सके।[1] ऑगबर्न एवं निम्कॉफ ने बताया है कि एक सामाजिक वर्ग ऐसे व्यक्तियों का योग है जो सामाजिक स्थिति के आधार पर दूसरों से पृथक किया जा सके।[2] जिस्बर्ट का कहना है कि एक सामाजिक वर्ग ऐसे व्यक्तियों का समूह अथवा एक विशेष श्रेणी है जिसका समाज मे एक विशेष पद होता है। यह विशेष पद ही अन्य समूहों से उनके सम्बन्ध का निर्धारण करता है।[3] इन परिभाषाओं के आधार पर ज्ञात होता है कि एक सामाजिक वर्ग, विशेष सामाजिक स्थिति वाले व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है। प्रत्येक वर्ग की एक निश्चित सामाजिक स्थिति और विशेष संस्कृति होती है और वर्ग-चेतना (Class Consciousness) प्रत्येक वर्ग का एक आवश्यक लक्षण है।

वर्ग और वर्ण में कुछ समानताएँ अवश्य दिखायी पड़ती है। इन दोनों मे ही कुछ ऐसी श्रेणियां होती है जो एक-दूसरे से सामाजिक दृष्टि से ऊँची या नीची मानी जाती है। दोनों में खुलापन (Open ness) पाया जाता है। व्यक्ति एक वर्ग से दूसरे वर्ग में और एक वर्ण से दूसरे वर्ण में पहुंच सकता है अर्थात् इन दोनों मे सदस्यता परिवर्तन सम्भव है। वर्ग अथवा वर्ण परिवर्तन व्यक्ति की क्षमताओं और गुणों में परिवर्तन से सम्बन्धित है। अतः इनमें परिवर्तन करके वर्ग या वर्ण की सदस्यता को भी बदला जा सकता है। परन्तु यहां हमे इस बात को ध्यान मे रखना है कि वर्ग अथवा वर्ण परिवर्तन सिद्धान्त रूप मे अवश्य सरल प्रतीत होता है परन्तु व्यवहार रूप में इतना सरल नहीं है। इन समानताओं के उपरान्त भी यह कहना ही पड़ेगा कि वर्ग और वर्ण एक नहीं हैं—इन दोनों में काफी भिन्नताएँ पायी जाती है। ये भिन्नताएँ इस प्रकार है

(1) वर्ग व्यवस्था एक आर्थिक अवधारणा है जबकि वर्ण व्यवस्था एक सामाजिक अवधारणा। व्यक्ति अपनी आर्थिक स्थिति को बदलकर ही एक वर्ग से दूसरे वर्ग में पहुंच सकता है, इसके अभाव में वर्ग परिवर्तन सम्भव नहीं है। वर्ण व्यवस्था के एक सामाजिक अवधारणा होने से वर्ण विशेष की सदस्यता आर्थिक आधार पर निर्भर नहीं करती। व्यक्ति अपने गुण तथा कर्मों को बदलकर ही एक वर्ण से दूसरे वर्ण में पहुंच सकता है।

(2) वर्गों के आर्थिक आधार पर निर्मित होने के कारण विभिन्न वर्गों मे आपसी विरोध पाया जाता है। एक वर्ग मे दूसरे वर्ग का शोषण करने की प्रवृत्ति भी दिखायी पड़ती है। एक वर्ग के हित अन्य वर्गों के हितों से टकराते भी है। परिणामस्वरूप वर्ग संघर्ष की समस्या उत्पन्न होती है। इसके विपरीत वर्ण व्यवस्था के धार्मिक विश्वासों पर आधारित होने के कारण सभी वर्ग अपने को एक-दूसरे का विरोधी

1 MacIver and Page *Society* p 348
2 Ogburn and Nimkoff *A Hand book of Sociology* p 210
3 Gisbert *Fundamentals of Society* p 308

मानने के बजाय पुरक मानते है। वर्ण व्यवस्था ने एकीकृत समाज के विकास मे सहायता पहुँचायी है।

(3) वर्ग-संरचना एक पिरामिड के समान है। इसमे पिरामिड के सबसे ऊपरी भाग पर वह वर्ग आता है जो प्रतिष्ठा की दृष्टि से सर्वोच्च है लेकिन जिसके सदस्यो की संख्या अन्य वर्गों की तुलना मे काफी कम है। पिरामिड के धरातल या सबसे नीचे के भाग पर वे लोग आते है जो प्रतिष्ठा की दृष्टि से अन्य सभी वर्गों से निम्न हैं लेकिन जिनकी संख्या अन्य सभी वर्गों से अधिक है। वर्ण व्यवस्था मे यद्यपि विभिन्न वर्णों के दायित्व और अधिकार एक दूसरे से भिन्न है परन्तु सभी के कार्यों को सामाजिक दृष्टि से समान महत्व दिया गया है। वर्ण व्यवस्था मे किसी भी वर्ण की सदस्य-संख्या अन्य वर्णों की तुलना मे कम अथवा अधिक हो सकती है।

(4) वर्ग व्यवस्था मे वर्ण व्यवस्था की तुलना मे व्यवसाय सम्बन्धी स्वतन्त्रता अधिक रही है। व्यक्ति वर्ग व्यवस्था के अन्तर्गत अपनी इच्छा, क्षमता एवं साधनो के अनुसार किसी भी व्यवसाय को अपना सकता है एवं व्यवसाय को छोड़कर दूसरा व्यवसाय कर सकता है। लेकिन वर्ण व्यवस्था मे व्यक्ति को साधारणत अपने वर्ण से सम्बन्धित परम्परागत व्यवसाय को ही अपनाना पड़ा है।

(5) वर्ग की सदस्यता पूर्णत अर्जित (Achieved) होती है। व्यक्ति की वर्ग विशेष की सदस्यता उसकी शिक्षा व्यवसाय, आय एवं सम्पत्ति पर प्रमुखत निर्भर करती है। इनमे परिवर्तन के साथ वर्ग सदस्यता मे भी परिवर्तन सम्भव है। वर्ण व्यवस्था मे गुण तथा कर्म का महत्व होने के उपरान्त भी व्यक्ति के लिए एक वर्ण से दूसरे वर्ण मे पहुचना साधारणत आसान नही था।

(6) वर्ग व्यवस्था के अन्तर्गत अन्तर्विवाह (Endogamy) के नियम के अनुसार अपने ही वर्ग मे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक नही है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत जीवन साथी के चुनाव के लिए सापेक्ष रूप से अधिक स्वतन्त्र वातावरण मिलता है। वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत यद्यपि प्रारम्भ मे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य आपस मे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे परन्तु बाद मे ऐसे विवाहो पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

## वर्ण और जाति (अन्तर)
### (*VARNA* AND CASTE)

यद्यपि वर्ण और जाति दोनो ही सामाजिक स्तरीकरण के दो रूप हैं परन्तु दोनो समान न होकर एक दूसरे से काफी भिन्न है। इन दोनो मे निम्नलिखित अन्तर पाये जाते हैं

(1) वर्ण व्यवस्था गुण तथा कर्म पर आधारित है जबकि जाति-व्यवस्था जन्म पर। पूर्व-काल मे व्यक्ति अपने गुण तथा कर्म के आधार पर एक वर्ण से दूसरे वर्ण मे पहुच सकता था। लेकिन जाति व्यवस्था मे ऐसा कभी भी सम्भव नही रहा है। जाति-व्यवस्था के जन्म पर आधारित होने के कारण चाहे व्यक्ति के कर्म

कैसे ही क्यों न हो, वह एक जाति को छोड़कर किसी अन्य जाति का सदस्य नहीं बन सकता। एक शूद्र के गुण व कर्म चाहे कितने ही अच्छे क्यों न हों, वह ब्राह्मण जाति का सदस्य नहीं बन सकता।

(2) वर्ण व्यवस्था काफी लचीली एवं परिवर्तनशील है जबकि जाति व्यवस्था कठोर एवं अपरिवर्तनशील। गुण तथा कर्म के आधार पर वर्ण-परिवर्तन के अनेक उदाहरण प्राचीन भारत में देखने को मिलते हैं। लेकिन जाति परिवर्तन के उदाहरण नहीं पाये जाते हैं। अपनी जाति को छोड़कर किसी अन्य जाति की सदस्यता ग्रहण करना साधारणतः सम्भव नहीं रहा है।

(3) वर्ण में विवाह, भोजन एवं सामाजिक सम्पर्क सम्बन्धी प्रतिबन्ध नहीं होते जबकि जाति व्यवस्था में कठोर प्रतिबन्ध पाये जाते हैं। प्राचीन भारत में अन्तर्वर्ण विवाह के अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं। उस समय विभिन्न वर्ण के लोगों में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित होते थे और वे एक दूसरे के साथ खान पान के सम्बन्ध भी रखते थे। जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत वैवाहिक और खान पान सम्बन्धी इतने कठोर प्रतिबन्ध पाये जाते हैं कि कोई अन्य जाति के लोगों के साथ न तो वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर सकता है और न ही खान पान के सम्बन्ध रख सकता है, यद्यपि आजकल ये प्रतिबन्ध शिथिल होते जा रहे हैं।

(4) वर्ण-व्यवस्था में समाज का खण्डात्मक विभाजन (Segmental Division) तथा ऊँच-नीच की भावना देखने को नहीं मिलती जबकि जाति-व्यवस्था में ये दोनों मौजूद हैं। जाति व्यवस्था के अन्तर्गत समाज अनेक पृथक पृथक खण्डों में बँट गया है जिनमें ऊँच नीच की भावना काफी तीव्र रूप में पायी जाती है।

(5) वर्णों की संख्या केवल चार है जबकि जातियों की संख्या काफी अधिक। रोज के अनुसार वर्तमान में जातियों की संख्या करीब चार हजार है। वर्ण व्यवस्था में काफी खुलापन पाया जाता है जबकि जाति व्यवस्था में इसका अभाव है। वर्ण खुली वर्ग प्रणाली (Open Class System) है जबकि जातियाँ बन्द वर्ग प्रणाली के अधिक निकट हैं।

### प्रश्न
### (उत्तर-संकेत सहित)

1 वर्ण व्यवस्था पर संक्षिप्त लेख लिखिए। (आगरा, 1978)
[संकेत—इसमें वर्ण का अर्थ, प्रकार एवं महत्व को संक्षेप में लिखना है।]

2 'जाति तथा वर्ण' पर टिप्पणी लिखिए।
(आगरा, 1968, गोरखपुर, 1972, लखनऊ, 1972, 1975, 1977)
[संकेत—इसमें जाति एवं वर्ण का अर्थ बताकर दोनों का अन्तर लिखना है।]

3 वर्ण व्यवस्था की विशेषताएँ बताइए। यह व्यवस्था वर्ग-व्यवस्था से किस प्रकार भिन्न है? (लखनऊ, 1968)
[संकेत—इसमें वर्ण का अर्थ एवं विशेषताएँ बताकर 'वर्ण एवं वर्ग' शीर्षक में दिया गया विवरण प्रस्तुत करना है।]

4 वर्ण व्यवस्था के समाजशास्त्रीय महत्व पर प्रकाश डालिए। (गोरखपुर, 1971)
[संकेत—इसमें वर्ण का अर्थ एवं समाजशास्त्रीय महत्व लिखा जायेगा।]
5 'वर्ण' का अर्थ स्पष्ट करते हुए वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति की आलोचनात्मक दृष्टि से समझाइए।]
[संकेत—इसमें वर्ण का अर्थ देकर 'वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति' नामक शीर्षक में दिये गये विवरण को लिखना है।]
6 वर्णाश्रम-व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्तों का विवेचन कीजिए।
(गोरखपुर, 1970, 1976, 1978, लखनऊ, 1976)
[संकेत—इसमें वर्ण का अर्थ बताकर वर्ण-व्यवस्था के आधारों का उल्लेख करना होगा।]

# 6✓

## आश्रम-व्यवस्था
## (ASHRAMA VYAVASTHA)

भारतीय समाज मे आध्यात्मवाद एव सासारिकता म समन्वय स्थापित करने का प्रारम्भ से ही प्रयत्न किया गया है। यहाँ त्याग और भोग दोनो का ही महत्व दिया गया है। इस देश मे व्यक्ति को ससार के प्रति उदासीन रहने को नही कहा गया है और न ही सासारिकता मे अपने आपको इतना लीन कर देने को कहा गया है कि वह जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति को ध्यान मे ही नही रखे। भारतीय सस्कृति में इस बात को विशेष महत्व दिया गया है कि मनुष्य धर्म के अनुसार अपने कर्तव्य का पालन करे, ससार मे रहता हुआ त्याग व भोग की ओर प्रेरित हो और अन्त मे मोक्ष की प्राप्ति करे। इसी लक्ष्य को ध्यान म रखकर हमारे यहा एक क्रमबद्ध जीवन व्यवस्था की आवश्यकता को महसूस किया गया। परिणामस्वरूप व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को चार भागो मे बाँटा गया और प्रत्येक भाग मे एक विशेष प्रकार की आचार-संहिता प्रस्तावित की गयी। जीवन की इसी व्यवस्था को आश्रम-व्यवस्था के नाम से पुकारते हैं।

आश्रम व्यवस्था समानता और उदारता के सिद्धान्त पर आधारित एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति को अपनी आयु के विभिन्न स्तरो पर अलग अलग दायित्व सौंपे गये। आयु मे अन्तर के साथ साथ व्यक्ति की कार्यक्षमता, रुचि, दृष्टिकोण दायित्वो और मनोवृत्तियो म परिवर्तन आना भी स्वाभाविक है। इसी बात को ध्यान मे रखते हुए आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न स्तरो पर व्यक्ति का भिन्न-भिन्न दायित्व सौंपे गये। प्रत्येक आश्रम एक प्रशिक्षण स्थल के रूप मे है जहाँ कुछ समय रहकर व्यक्ति अपने आपको आगे के जीवन के लिए तैयार करता है और अन्त मे अपने आपको मोक्ष प्राप्ति के प्रयत्न म लगाता है।

आश्रम व्यवस्था के महत्व को प्रकट करते हुए प्रभु नामक विद्वान ने लिखा है, "हिन्दुओ के द्वारा सोची तथा नियोजित की गयी आश्रम व्यवस्था विश्व के सामाजिक विचारो के सम्पूर्ण इतिहास मे एक अपूर्व देन है।"[1] मनुष्य के सारे जीवन और उससे सम्बन्धित कार्यों को आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत ले लिया गया है। इस

1 The scheme of the asramas as thought out and devised by Hindu is a unique contribution in the whole history of the social thought of the world
—P N Prabhu *Hindu Social Organisation* p 75

व्यवस्था । व्यक्ति ना अपना व्यक्तित्व के पूर्ण विकास का अवसर दिया है। वास्तव म व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का समुचित विकास करके ही समाज की प्रगति म योग दे सकता है। डा० पी० वी० काणे न बताया है, "वर्ण का सिद्धान्त सम्पूर्ण समाज के लिए था, किन्तु आश्रम का सिद्धान्त व्यक्ति के लिए था। आश्रम सिद्धान्त यह बताता था कि व्यक्ति का आदर्श क्या लक्षण क्या है, उसे अपने जीवन को किस प्रकार से चलाना है तथा अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति मे उसे क्या-क्या तैयारियाँ करनी हैं। नि सन्देह आश्रम सिद्धान्त एक उत्कृष्ट धारणा थी। भले ही यह भली भाँति कार्यान्वित न की जा सकी किन्तु इसके उद्देश्य बडे ही महान एव विशिष्ट थे।"[1] आश्रम व्यवस्था का हिन्दू सामाजिक सगठन के मूल आधार के रूप मे विशेष महत्व रहा है। इसने व्यक्तित्व के विकास, दायित्व के निर्वाह और समाज की उन्नति मे महत्वपूर्ण योग दिया है।

## आश्रम का अर्थ
## (MEANING OF *ASHRAMA*)

डॉ० प्रभु के अनुसार आश्रम शब्द श्रम धातु से बना है जिसका अर्थ परिश्रम या उद्योग करने से है। इस दृष्टि से आश्रम शब्द के दो अर्थ हैं (अ) एक स्थान जहाँ प्रयत्न या उद्योग किया जाता है, तथा (ब) इस प्रकार के प्रयत्न या उद्योग के लिए की जाने वाली क्रिया।[2] इस अर्थ के आधार पर आश्रम का तात्पर्य ऐसे क्रिया स्थल से है जहाँ कुछ समय ठहरकर व्यक्ति उद्यम करता है। शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से कहा जा सकता है कि आश्रम ठहरने या विश्राम करने का एक स्थान है जहाँ कुछ समय तक रहकर अपने आपमे आवश्यक गुणो का विकास करके व्यक्ति अपने को आगे की यात्रा के लिए तैयार करता है। इस प्रकार आश्रम स्वय म कोई लक्ष्य न होकर लक्ष्य प्राप्ति का एक साधन है। प्रभु ने बताया कि आश्रम को जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति हेतु व्यक्ति द्वारा की जाने वाली यात्रा के मार्ग मे पडने वाला विश्राम स्थल मानना चाहिए।[3] आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत एक आश्रम म रहता हुआ व्यक्ति अपने आपको दूसरे आश्रम या अवस्था के योग्य बनाता है। महाभारत मे व्यासजी ने बताया है कि जीवन के चार विश्राम-स्थल अर्थात् आश्रम व्यक्तित्व के विकास की चार सीढियाँ हैं। इन पर क्रम स चढते हुए व्यक्ति ब्रह्म की प्राप्ति करता है।[4]

आश्रम व्यवस्था मे पुरुषार्थ के सिद्धान्त की वास्तविक अभिव्यक्ति हुई है। पुरुषार्थ सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति के चार प्रमुख दायित्व माने गये है, जिन्हे धर्म, अर्थ काम और मोक्ष नाम दिया गया है। इन चार पुरुषार्थों को व्यक्ति उसी समय

1 पी० वी० काणे धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० 266।
2 P N Prabhu *op cit* p 83
3 *Ibid* p 83
4 महाभारत, शान्ति पर्व, 242, 15।

प्राप्त कर सकता है जब वह अपने को मानसिक, शारीरिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से विकसित कर ले। विभिन्न आश्रमों मे रहता हुआ व्यक्ति अपने आपको भिन्न गुणों से युक्त करके अपने को चार पुरुषार्थों की प्राप्ति के योग्य बना लेता है। **डॉ० कापडिया** ने लिखा है "हिन्दू आश्रम व्यवस्था म पुरुषार्थ सिद्धान्त की वास्तविक अभिव्यक्ति की गयी है।"[1] आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति काम तथा अर्थ की प्राप्ति करता है-लेकिन केवल अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए नहीं बल्कि सामाजिक कर्तव्य तथा परोपकार को ध्यान मे रखकर। काम और अर्थ को धर्म के माध्यम से नियन्त्रित किया गया है। यही कारण है कि आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति के जीवन मे धर्म को प्रमुख स्थान दिया गया है। प्रथम तीन पुरुषार्थों को प्राप्त करने के पश्चात् चौथे आश्रम (सन्यास) मे व्यक्ति अपने आपको पूर्णतया मोक्ष प्राप्ति के प्रयत्न म लगा देता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि आश्रम व्यवस्था वह अपूर्व व्यवस्था है जो हिन्दू जीवन को विभिन्न स्तरों मे विभाजित कर व्यक्ति को समय विशेष के लिए प्रत्येक स्तर पर रखकर उसे भावी जीवन के लिए इस प्रकार तैयार करती है कि वह अपने प्रयास द्वारा समस्त दायित्वों को प्राथमिकता के आधार पर क्रमबद्ध रूप से पूर्ण करता हुआ जीवन के अन्तिम लक्ष्य—मोक्ष को प्राप्त कर सके।[2]

आश्रम व्यवस्था की उत्पत्ति अथवा ऐतिहासिक क्रम के सम्बन्ध म पूर्ण निश्चय के साथ कुछ भी कहना कठिन है। लेकिन इतना अवश्य है कि यह एक उत्तर वैदिक-कालीन व्यवस्था है। वैदिक साहित्य मे आश्रम शब्द का यहीं प्रयोग नहीं हुआ है लेकिन तथ्यों म ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय इस पर विचार प्रारम्भ हो चुका था। डा० अल्टेकर के अनुसार आश्रम व्यवस्था वैदिककाल की संस्कृति का एक अंग था। उस समय जीवन को कुछ स्तरों म बाँटने की योजना पर विचार अवश्य प्रारम्भ हो चुका था। आश्रम व्यवस्था के विकास के प्रारम्भिक स्तर पर केवल तीन आश्रमों का ही उल्लेख मिलता है। वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रम एक दूसरे से मिले हुए थे जिन्हें बाद म पृथक कर दिया गया।[3] ऐसा मालूम पड़ता है कि छान्दोग्य उपनिषद के समय तक इस व्यवस्था का काफी विकास हो चुका था। इस उपनिषद मे जीवन के तीन क्रमों—गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं ब्रह्मचर्य का वर्णन मिलता है। यहां ब्रह्मचर्य आश्रम को जीवन का अन्तिम स्तर माना गया है।[4] मनुस्मृति मे भी आश्रम व्यवस्था का उल्लेख किया गया है लेकिन इस समय तक भी केवल तीन आश्रम ही विकसित हो पाये थे।[5] जाबालि उपनिषद मे सबसे पहले चारों आश्रमों का व्यवस्थित रूप मे उल्लेख मिलता है।[6] उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि आश्रम व्यवस्था का विकास

1 K M Kapadia *Marriage and Family in India* p 27
2 मोतीलाल गुप्ता भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, पृ० 27।
3 A S Altekar *The Position of Women in Hindu Civilization*
4 छान्दोग्य उपनिषद 2/23 1।
5 मनुस्मृति, 2/220।
6 जाबालि उपनिषद।

उपनिषद काल में हुआ। आश्रम व्यवस्था के अंतर्गत व्यक्ति की आयु को 100 वर्ष मानकर उसके सम्पूर्ण जीवन को चार बराबर भागों में विभाजित किया गया। इस प्रकार जीवन को 25 25 वर्ष के चार आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास में बाँटा गया है। इन चारों आश्रमों में क्रम से रहता हुआ व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों की प्राप्ति करता है। इन चारों आश्रमों का एक दूसरे के साथ इतना निकट का सम्बन्ध है कि एक आश्रम के कर्तव्यों का निर्वाह किये बिना व्यक्ति दूसरे आश्रम से सम्बन्धित दायित्वों को ठीक से पूर्ण नहीं कर सकता। प्रत्येक आश्रम में धर्म की मर्यादा के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करने के पश्चात ही व्यक्ति मोक्ष प्राप्ति के योग्य बनता है। यहाँ अब हम चारों आश्रमों के दायित्वों एवं महत्व पर विचार करेंगे।

## 1 ब्रह्मचर्य आश्रम
### (*BRAHMACHARYA ASHRAMA*)

उपनयन संस्कार (जनेऊ धारण करना) के बाद बालक ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश करता था। अलग अलग वर्ण के बालकों के लिए उपनयन संस्कार की आयु भी अलग अलग रखी गयी है। ब्राह्मण बालक के लिए यह आयु 8 वर्ष, क्षत्रिय बालक के लिए 11 वर्ष और वैश्य बालक के लिए 12 वर्ष रखी गयी। इस संस्कार के पश्चात ही बालक ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश करता था। ब्रह्मचर्य दो शब्दों से बना है जिसमें से एक है—ब्रह्म और दूसरा है—चर्य। ब्रह्म का अर्थ है—महान और चर्य का अर्थ है—अनुसरण करना या चलना। इस तरह ब्रह्मचर्य का तात्पर्य है महानता के मार्ग पर चलना यानि महान आत्माओं का अनुसरण करना। ब्रह्मचर्य का अर्थ यौगिक संयम से भी लगाया जाता है। लेकिन यहाँ ब्रह्मचर्य का तात्पर्य सभी प्रकार के संयमों जैसे अनुशासन, कर्तव्य परायणता, नैतिकता, आचरण की शुद्धता एवं पवित्रता आदि से है। **डा० मातृदत्त त्रिवेणी** के अनुसार, ब्रह्मचर्य का तात्पर्य केवल इन्द्रिय निग्रह से नहीं था, अपितु इन्द्रिय निग्रहपूर्वक वेदाध्ययन से था, क्योंकि ब्रह्म और वेद ये दोनों पर्यायवाची शब्द है। इस आश्रम में ब्रह्मचारी संयम से रहता हुआ अपने आप में अनेक गुणों का विकास करता तथा अपने चरित्र का निर्माण करता हुआ भावी जीवन के लिए अपने को तैयार करता था।

ब्रह्मचर्य आश्रम में बालक को गुरुकुल में ही रहना पड़ता था। यहाँ उसे एक विशेष प्रकार की दिनचर्या बितानी होती थी। यहाँ आते ही बालक का अध्ययन कार्य प्रारम्भ नहीं हो जाता था। उसे गुरु की अनेक प्रकार से सेवा करनी होती थी, जैसे उसे आश्रम में झाड़ू लगानी पड़ती, आश्रम की गायें चरानी पड़ती, हवन के लिए जंगल से लकड़ी लानी पड़ती और दान प्राप्त करना पड़ता था। जब गुरु बालक के कार्यों से प्रसन्न हो जाता और यह समझ लेता कि बालक में अध्ययन की वास्तविक इच्छा और जिज्ञासा है तभी उसे वेदों के अध्ययन की आज्ञा दी जाती थी। वेदों के अध्ययन का महत्व सांस्कृतिक परम्पराओं को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाने, ऋषि ऋण

से छुटकारा प्राप्त करने और ऋषियों के प्रति श्रद्धा का भाव व्यक्त करने की दृष्टि से विशेष था।

जहाँ तक विद्यार्थी की दिनचर्या का प्रश्न है, धर्मशास्त्रों एवं मनुसंहिता के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उसे प्रातःकाल सूर्योदय के पूर्व उठना पड़ता, उसे दिन में केवल दो बार भोजन करने की आज्ञा थी और उसके लिए शहद, मीठी वस्तुएँ, मांस, गंध, जूता एवं छतरी आदि का प्रयोग वर्जित था। ब्रह्मचारी के लिए कर्तव्यों का निर्धारण इस प्रकार से किया गया था कि उसका शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक विकास ठीक ढंग से हो सके। उसके लिए नियम और विभिन्न कर्तव्यों का पालन करना इस दृष्टि से आवश्यक था कि उसका शारीरिक विकास ठीक ढंग से हो सके। यही कारण है कि उसे ऐसी वस्तुओं को प्रयोग में लेने की आज्ञा नहीं थी जो काम भावना को भड़काने में सहायक थीं। इस आश्रम में बालक के लिए नृत्य, गायन, जुआ, झूठ, हिंसा आदि वर्जित थे। उसके लिए सत्य बोलना, पवित्रता का आचरण करना, सत्य की खोज करना और अध्ययन में रुचि लेना आवश्यक था। इसी से उसका मानसिक विकास सम्भव था। अपने आध्यात्मिक विकास के लिए बालक को अपने आप में अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, संतोष, पवित्रता आदि गुणों का विकास करना होता था। योग-दर्शन में बताया गया है कि शौच (पवित्रता), संतोष, तप स्वाध्याय ईश्वर पूजा आदि ये नियम हैं जिनसे मानसिक विकास होता है। आध्यात्मिक विकास हेतु यमों का पालन आवश्यक माना गया है। ये यम हैं अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह। स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य आश्रम में विद्यार्थी की दिनचर्या इस प्रकार से निर्धारित की गयी है कि वह वेदों के अध्ययन के साथ साथ अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सके। इस आश्रम में अध्ययन का कार्य समाप्त कर लेने के बाद विद्यार्थी एक प्रतीकात्मक स्नान करता था और उस स्नान के पश्चात् वह स्नातक कहलाता और गृहस्थ आश्रम में प्रवेश के योग्य बनता। इस स्नान के बाद गुरु का आशीर्वाद प्राप्त कर वह स्नातक अपने घर लौटता था। इसे समावर्तन संस्कार के नाम से जाना जाता है।

**ब्रह्मचर्य आश्रम का महत्व**

इस आश्रम में गुरु के प्रत्यक्ष सम्पर्क में रहता हुआ विद्यार्थी अपने व्यक्तित्व का विकास करता, अपने आपको सद्गुणों से विभूषित करता, अपना चरित्र निर्माण करता और अपनी यौन इच्छाओं पर नियन्त्रण रखते हुए अपने को गृहस्थ जीवन के योग्य बनाता। इस आश्रम का बालक के शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से विशेष महत्व है। यह आश्रम समाज की सांस्कृतिक परम्पराओं को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तान्तरित करने में विशेष रूप से सहायक रहा है। उस समय सांस्कृतिक परम्पराएँ मौखिक रूप में ही पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित की जाती थीं। ऐसी स्थिति में ब्रह्मचर्य आश्रम के माध्यम से समाज के एक वर्ग पर यह दायित्व डाला हुआ था कि वह अध्ययन संवर्द्धन तथा प्रसारण द्वारा अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं,

सामाजिक मूल्यों और जीवन दर्शन को बनाये रखा। इसी आश्रम की सहायता से भारतीय सामाजिक आदर्शों और व्यावहारिक प्रतिमानों को अनेक शताब्दियों तक बनाये रखा जा सका। इस आश्रम में सरल और सादगीपूर्ण जीवन व्यतीत करता हुआ बालक यह सीखता था कि जीवन में भौतिक आवश्यकताएँ ही सब कुछ नहीं हैं, वरन् आध्यात्मिक उद्देश्य की पूर्ति में सहायक मात्र हैं। यहाँ बालक विभिन्न कर्तव्यों से परिचित होता था, अपने उचित धर्म को सीखता था।

आश्रम व्यवस्था के महत्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ० कापडिया ने लिखा है, "छात्रत्व जीवन अवधि का यह समय है जिसमें वेग होता है। यह समय तूफान और तनाव, आतुरता, शारीरिक शक्तिवर्द्धन, भावात्मक अस्थिरता, यौन प्रवृत्ति के विकास, यौनिक उत्तेजना और आत्म प्रदर्शन का काल होता है। हिन्दू मनीषियों ने विद्यार्थी जीवन को इस प्रकार नियन्त्रित करने का प्रयास किया है कि उसकी युवावस्था का विकास सन्तुलित रूप में हो सके। उन्होंने मस्तिष्क तथा शरीर के लिए उचित नियम निर्धारित किये हैं। वास्तव में यह जीवन अत्यन्त कष्टपूर्ण था, परन्तु जीवन का यह ढंग यौवनावस्था के प्रबल वेग को नियन्त्रित करता था। इसे नियन्त्रित जीवन कहा जा सकता है। लेकिन जब सम्पूर्ण दैनिक जीवन नियमबद्ध हो जाता है तथा इसे जीवन के महान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अनुशासित कर दिया जाता है, तब इसके दमन का प्रश्न ही नहीं उठता है।"[1] यह आश्रम श्रम के महत्व से व्यक्ति को परिचित कराके उसके जीवन में असफलताओं की सम्भावना को काफी घटा देता है। यह आश्रम बालक को सादा जीवन और उच्च विचार के आदर्श की प्रेरणा देता है।

## 2 गृहस्थ आश्रम

*(GRIHASTHA ASHRAMA)*

ब्रह्मचर्य आश्रम में अध्ययन कार्य पूर्ण करने के पश्चात विवाह संस्कार सम्पन्न होने पर व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता जहाँ वह पचास वर्ष की आयु तक रहता है। यह आश्रम ही वह महान कर्मस्थल है जहाँ व्यक्ति ब्रह्मचर्य आश्रम में प्राप्त शिक्षाओं को मूर्त रूप देता है। इस आश्रम में व्यक्ति धार्मिक एवं सामाजिक दायित्वों को पूरा करने की ओर आगे बढ़ता है। यहाँ मर्यादा में रहता हुआ व्यक्ति धर्म, अर्थ तथा काम नामक पुरुषार्थों को प्राप्त करता है। इस आश्रम में रहकर ही वह स्वयं परिवार एवं समाज के प्रति अपने कर्तव्यों को पूरा करता हुआ अपने को आगे के आश्रम के योग्य बनाता है। श्री गोखले ने गृहस्थ धर्म के सम्बन्ध में बताया है कि इस आश्रम के अन्तर्गत एक गृहस्थ का धर्म है कि वह जीव हत्या, असंयम तथा असत्य से दूर रहे, पक्षपात, शत्रुता, निर्बुद्धिता तथा डर को पास न आने दे। मादक द्रव्यों का सेवन, कुसंग, अकर्मण्यता और चाटुकारों पर धन व्यय न करे, माता-पिता, आचार्यों और बड़ों का आदर करे, पत्नी के प्रति उसका व्यवहार धर्म, अर्थ तथा काम की मर्यादाओं के अनुसार हो। इस प्रकार परिवार के सदस्यों में पारस्परिक आदर तथा

1 K M Kapadia *op cit* pp 29 30

एक-दूसरे के कल्याण का ध्यान ही कुल धर्म का सार है।[1] गृहस्थ के इन सभी दायित्वों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि गृहस्थ आश्रम व्यक्ति के लिए भोग एवं विलास का काल न होकर त्यागमय जीवन, श्रम और साधना का महान स्थल है।

गृहस्थाश्रम के सारे दायित्वों को यज्ञ, दान और तप के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है। यज्ञ का अर्थ है— देवताओं, ऋषियों, माता पिता, अतिथियों तथा अन्य प्राणियों के प्रति अपने दायित्व का निभाना। दान का तात्पर्य भिक्षा देने से नहीं है बल्कि इसे उस साधन के रूप में माना गया है जिसके माध्यम से व्यक्ति में त्याग, सहानुभूति और विभिन्न प्रकार के सामाजिक गुणों का विकास होता है। तप के तीन प्रकार बताये गये हैं— शारीरिक, वाणी सम्बन्धी एवं मानसिक। देवता, ब्राह्मण, गुरु एवं विद्वान जनों का पूजन करना और पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य तथा अहिंसा का आचरण करना शरीर सम्बन्धी तप है।[2] वाणी सम्बन्धी तप उसे माना गया है जो प्रिय, हितकारी एवं यथार्थ हो जो व्यक्ति को उद्वेग से दूर रखता हो तथा जो वेदशास्त्रों के अभ्यास से सम्बन्धित हो। मन की प्रसन्नता, शान्त स्वभाव, इन्द्रियों का दमन एवं अन्तःकरण की पवित्रता मानसिक तप है।[3]

गृहस्थ के लिए प्रतिदिन धर्म पूर्ति के लिए पंच-महायज्ञों का विधान किया गया है। इनका उद्देश्य विभिन्न प्रकार की हिंसा से अपने आपको मुक्त करना था। मनु ने बताया है कि गृहस्थ के घर में चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ऊखल-मूसल तथा जल पात्र विभिन्न जीव जन्तुओं की हिंसा के स्थान हैं। इनसे होने वाली हिंसा के प्रायश्चित्त के रूप में पंच महायज्ञ आवश्यक बताये हैं। इन यज्ञों के द्वारा गृहस्थ ऋषियों देवताओं, माता पिता, अतिथियों और विभिन्न प्राणियों के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह करता था। इन यज्ञों का लक्ष्य व्यक्ति में ईश्वर के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करना, उसे वैदिक साहित्य के अध्ययन की ओर लगाना, समाज की सांस्कृतिक परम्पराओं की रक्षा करना, ऋषि मुनियों, गुरुजनों, माता पिता और अतिथियों के प्रति दायित्व निर्वाह की ओर उसे प्रेरित करना और प्राणीमात्र के कल्याण का ध्यान में रखना रहा है। पंच महायज्ञों के माध्यम से गृहस्थ त्यागमय जीवन व्यतीत करता हुआ अपने और समाज के जीवन को उन्नत बनाने में महत्त्वपूर्ण योग देता रहा है। देव ऋण, पितृ ऋण तथा ऋषि ऋण से छुटकारा प्राप्त करने के लिए भी गृहस्थी के लिए विभिन्न यज्ञों को सम्पन्न करना आवश्यक बताया गया है। पंच महायज्ञों में ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, और नृयज्ञ या अतिथि यज्ञ आते हैं। डा० कापडिया का कहना है कि समस्त निम्न से निम्न जीवधारी प्राणियों के प्रति हिन्दू आचारशास्त्र का यह दृष्टिकोण इस

1 B G Gokhle *Indian Thought through the Ages* p 41
2 गीता 17/14।
3 गीता, 17/15, 16।

बात का उत्तम उदाहरण है कि मानवता का क्षेत्र वास्तव में अत्यधिक विस्तृत है।[1] स्पष्ट है कि पंच महायज्ञों के माध्यम से व्यक्ति न केवल ऋषि मुनियों और देवताओं, माता-पिता, गुरुजनों और अतिथियों के प्रति ही अपने दायित्व को निभाता है, बल्कि सभी जीवधारियों के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करता है। गृहस्थ धन कमाता है लेकिन वह उस धन का उपयोग समाज के प्रति अपने दायित्व निर्वाह के लिए करता है। धन संचय गृहस्थ के जीवन का लक्ष्य न होकर अन्य के हित में धन का उपयोग करना उसका लक्ष्य रहा है।

**गृहस्थ आश्रम का महत्व सबसे अधिक महत्वपूर्ण आश्रम क्यों ?**

उपनिषदों, महाभारत तथा स्मृतियों में स्पष्टतः बताया गया है कि गृहस्थाश्रम में जीवन व्यतीत किये बिना व्यक्ति के लिए मोक्ष प्राप्ति सम्भव नहीं है। इस आश्रम की महत्ता इस दृष्टिकोण से विशेष है कि गृहस्थ जीवन के साथ अनेक सामाजिक, धार्मिक और नैतिक कर्तव्य जुड़े हुए हैं। अन्य तीनों आश्रमों के लोग अपने भरण पोषण के लिए गृहस्थ पर ही निर्भर रहते हैं। इस आश्रम को सबसे अधिक महत्वपूर्ण इस कारण माना गया है क्योंकि जीवन की सफलता इसी की सफलता पर निर्भर करती है। मनु के अनुसार जिस तरह वायु का आश्रय लेकर सब जीव जन्तु जीते हैं, उसी तरह गृहस्थ का आश्रय लेकर सब आश्रम जीवन व्यतीत करते हैं। सभी आश्रमों में रहने वाले व्यक्तियों को गृहस्थ से ही भोजन एवं पवित्र ज्ञान प्राप्त होने के कारण गृहस्थाश्रम ही सर्वोपरि आश्रम है। जिस प्रकार सभी छोटी और बड़ी नदियाँ अन्त में समुद्र में ही स्थायी रूप से विश्राम पाती हैं उसी प्रकार सब आश्रमों के व्यक्ति गृहस्थ के हाथों में ही सुरक्षा एवं स्थायित्व प्राप्त करते हैं।[2] मनुस्मृति में आगे बताया गया है कि जो व्यक्ति पृथ्वी पर स्थायी प्रसन्नता एवं स्वर्ग का आशीर्वाद चाहते हैं उनके लिए गृहस्थाश्रम के दायित्वों का परिश्रम और लगन से पूरा करना आवश्यक है क्योंकि दुर्बल मन के व्यक्ति गृहस्थाश्रम के महान दायित्वों को कठिनता से पूर्ण कर सकते हैं।[3]

गृहस्थाश्रम के महत्व के सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है, "गृहस्थ सारे समाज की नींव सदृश है, यही मुख्य धन उपार्जन करने वाला होता है। यह कहना व्यर्थ है कि गृहस्थ से संन्यासी श्रेष्ठ है। संसार को छोड़कर स्वच्छन्द और शान्त जीवन में रहकर ईश्वरोपासना करने की अपेक्षा संसार में रहते हुए ईश्वर की उपासना करना बहुत कठिन है।[4] महाभारत में बताया गया है, "गृहस्थ का जीवन स्वयं अत्यधिक श्रेष्ठ और पवित्र है और इसी के द्वारा जीवन उद्देश्य की वास्तविक पूर्ति सम्भव है।'[5] सभी विद्वान् इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि गृहस्थाश्रम के सभी दायित्वों को

1 B G Gokhale *Indian Thought through the Age* p 41
2 मनुस्मृति, 3/78, 4/90।
3 मनुस्मृत, 3/79।
4 विवेकानन्द, कर्मयोग, पृ० 30।
5 महाभारत, शान्तिपर्व 11 15।

निभाय बिना धर्म का पालन नहीं किया जा सकता। गृहस्थाश्रम को अन्य आश्रमों की तुलना में अधिक महत्व दिये जाने के कुछ विशेष कारण हैं जिनका यहाँ हम संक्षेप में उल्लेख करेंगे

1 पुरुषार्थों की पूर्ति का स्थल—गृहस्थाश्रम ही एक ऐसा स्थल है जहाँ अर्थ नामक पुरुषार्थ को उपार्जित किया जाता है और काम का उपभोग किया जाता है। अन्य तीनों आश्रमों में इन दो पुरुषार्थों की पूर्ति की कोई व्यवस्था नहीं है। यहाँ व्यक्ति धर्म के अनुसार विभिन्न दायित्वों को निभाता है, धर्म नामक पुरुषार्थ को उपार्जित करता है। इस आश्रम में इन तीनों पुरुषार्थों को प्राप्त करता हुआ व्यक्ति अपने को चौथे पुरुषार्थ—मोक्ष प्राप्ति के लिए तैयार करता है। यह आश्रम भोग और त्याग दोनों के महत्व पर समान रूप से प्रकाश डालता है। प्रभु के अनुसार आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत अर्थ तथा काम को इस प्रकार व्यवस्थित किया गया है कि इनके सही उपयोग के द्वारा मानव जाति और व्यक्तित्व के विकास में योग दिया जा सके और सांस्कृतिक विरासत को स्थायी रखा जा सके।[1]

2 यज्ञों का सम्पादन—सभी प्रकार के ऋणों से मुक्त होने के लिए यज्ञों की पूर्ति आवश्यक बतायी गयी है। ये यज्ञ पाँच माने गये हैं—ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ तथा अतिथियज्ञ (नृयज्ञ)। इन पंच महायज्ञों का निर्वाह गृहस्थाश्रम में ही सुगमतापूर्वक किया जा सकता है। इन यज्ञों का महत्व इसी दृष्टि से है कि इनके माध्यम से गृहस्थ समाज के विभिन्न लोगों के प्रति अपने दायित्व को पूर्ण करता है। हिन्दू जीवन-दर्शन के अनुसार व्यक्ति केवल अपने लिए नहीं जीता है, वह समाज का एक घटक है, समाज से बहुत कुछ ग्रहण करता है, अतः समाज के प्रति उसका कुछ दायित्व भी है। इसी दायित्व को वह विभिन्न यज्ञों के सम्पादन द्वारा निभाता है। आज सार्वजनिक जीवन में अनेक समस्याओं का मूल कारण यह है कि व्यक्ति समाज से सब कुछ लेना तो चाहता है लेकिन उसे देना कुछ भी नहीं चाहता है। पंच महायज्ञ इस बात को स्पष्ट करते हैं कि त्याग के बिना व्यक्ति को भोग का अधिकार भी नहीं है।

3 समाज के सामान्य कल्याण में योगदान—अन्य तीनों आश्रमों की अपेक्षा गृहस्थाश्रम का समाज के सामान्य कल्याण की दृष्टि से सर्वाधिक योग है। एक गृहस्थ ही अन्य तीनों आश्रमों के लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सामूहिक कल्याण में योग दे सकता है। गृहस्थ के सहयोग के बिना अन्य तीनों आश्रमों के लोगों के लिए अपने कर्तव्यों को निभाना किसी भी रूप में सम्भव नहीं था अतः गृहस्थ ही सम्पूर्ण समाज के हित में विशेष योग दे पाता था।

गृहस्थाश्रम के उपर्युक्त महत्व को ध्यान में रखकर ही यह कहा गया है कि यह आश्रम वह धुरी है जिस पर सम्पूर्ण आश्रम व्यवस्था का अस्तित्व बना हुआ है।

---

1 P N Prabhu *op cit* p 96

## 3 वानप्रस्थ-आश्रम
## *(VANAPRASTH ASHRAMA)*

शास्त्रकारो के अनुसार 50 वर्ष की आयु पूरी कर लेने पर व्यक्ति का वानप्रस्थ आश्रम मे प्रवेश करना चाहिए। मनु ने बताया है कि जब गृहस्थ यह देखे कि उसके शरीर की त्वचा शिथिल हो गयी है, उसमे झुर्रियाँ पड गयी हैं, बाल पक गये हैं, पुत्र के भी पुत्र हो गया है, तब विषयो से मुक्त होकर वह वन का आश्रय ले।[1] डा० काणे ने लिखा है कि 50 वर्ष के लगभग की अवस्था हो जाने पर व्यक्ति ससार के सुख एव वासनाओ की भूख से ऊब उठता था तथा वन की राह ले लेता था, जहाँ वह आत्म निग्रही, तपस्वी एव निरपराध जीवन व्यतीत करता था।[2] शाब्दिक दृष्टि से वानप्रस्थ का अर्थ है 'वन की ओर प्रस्थान करना।' स्पष्ट है कि 50 वर्ष की आयु प्राप्त कर लेने के बाद व्यक्ति अपने परिवार नाते रिश्तेदारो और समाज को छोडकर जगल म चला जाता है और मानव मात्र की सेवा मे अपना समय लगाता है। वह 75 वर्ष की आयु तक इसी आश्रम मे रहता है। वानप्रस्थी के लिए बताया गया है कि उसे जगल मे एक कुटिया बनाकर रहना चाहिए। वह जगल मे अकेला भी जा सकता है और अपनी पत्नी के साथ भी रह सकता है, घर से निकलकर जगल म रह कर वह त्याग और तपस्यामय जीवन व्यतीत करता है तथा विषय भोगो पर नियत्रण पाने का प्रयत्न करता है। वन मे वह सरल, त्यागमय तथा सेवामय पवित्र जीवन बिताता है तथा अपने को प्रभु चितन मे लगा देता है। वानप्रस्थी यहाँ निष्काम भाव से कर्म करता है। वह विद्यार्थियो को बिना शुल्क शिक्षा प्रदान करने के साथ साथ उनके चरित्र निर्माण और व्यक्तित्व के विकास मे महत्वपूर्ण योग देता है।

इस आश्रम का मुख्य लक्ष्य व्यक्ति को सन्यास आश्रम के लिए तैयार करना रहा है और इसी बात का ध्यान म रखते हुए वानप्रस्थी के कर्तव्यो का निश्चित किया गया है। यहा वह सासारिक सुखो से अलग होने की कोशिश करता है। यहाँ वह भोजन क रूप म कन्द मूल और फलो का सेवन करता है तथा वस्त्र के लिए मृगचर्म या पेड की छाल पत्तो को काम मे लेता है। कुल्लूक भट्ट ने इन्द्रिय सयम, सासारिकता से विरक्ति, समता का भाव, जीवो के प्रति दया और भिक्षा द्वारा जीवन निर्वाह वानप्रस्थी के मुख्य धर्म बताये हैं। वानप्रस्थी के लिए बताया गया है कि उसे जमीन पर सोना तथा घास फूस से बनी कुटिया या पेड के नीचे रहना चाहिए। वह भीषण गर्मी म भी अग्नि के सम्मुख बैठकर यज्ञ करता है। यहा पर भी वह गृहस्थ आश्रम म किये जाने वाले पच महायज्ञो को जारी रखता है। भिक्षा के रूप मे भोजन के लिए वह जो कुछ प्राप्त करता उसम से वह दान देता तथा अतिथियो का भी सत्कार करता। इस आश्रम मे वह धार्मिक ग्रन्थो—वेदो, उपनिषदों आदि का अध्ययन करता। वह तप

1 मनुस्मृति, 6/2।
2 पी० वी० काणे, पूर्वोक्त, पृ० 267।

करता हुआ अपने शरीर को पवित्र बनाना, आत्म चिन्तन में अपने को लगाता, सत्य की खोज का प्रयत्न करता तथा अपने को ईश्वर चिंतन में लीन कर देता। गर्मी, सर्दी और वर्षा की चिन्ता न करते हुए वह तप करता, चाहे इससे शरीर को कितना ही कष्ट क्यों न हो। इस प्रकार शरीर के प्रति भी उसका मोह समाप्त हो जाता था। वानप्रस्थी का जीवन स्वाध्याय, अग्निहोत्र संयम तथा प्राणीमात्र के प्रति करुणा या मैत्री से पूर्ण होता है। इस प्रकार सदाचारी और संयमी जीवन बिताता हुआ वानप्रस्थी अपने को संन्यास आश्रम के लिए तैयार करता था।

वानप्रस्थ आश्रम का महत्व

वानप्रस्थ आश्रम का इस दृष्टि से विशेष महत्व रहा है कि इसके माध्यम से वैयक्तिक शुद्धि तथा सामाजिक कल्याण के उद्देश्यों की पूर्ति में काफी सहायता मिली है। 50 वर्ष की आयु में गृहस्थ "आगत" वानप्रस्थी बन जाने से युवा पीढ़ी के लोगों को परिवार में सब प्रकार के अधिकार प्राप्त हो जाते थे। इससे पारिवारिक जीवन में ही संघर्ष की सम्भावना काफी कम हो जाती थी। ऐसी स्थिति में समाज को आर्थिक समस्या का भी सामना नहीं करना पड़ता था और बेकारी की समस्या भी उत्पन्न नहीं होती थी।

वानप्रस्थी अपने जीवन के लम्बे अनुभवों और त्यागमय आदर्शों के आधार पर ब्रह्मचारियों को शिक्षा प्रदान करता, उनका मार्ग-दर्शन करता और उनके चरित्र-निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता था। ब्रह्मचारी और वानप्रस्थी का निकट सम्पर्क होने के कारण ही उस समय बालक पर प्रारम्भ से ही अच्छे संस्कार पड़ते थे और वह एक अच्छा नागरिक बन पाता था। उस समय वानप्रस्थों के यहाँ निःशुल्क शिक्षा प्राप्त करने के कारण समाज को आज के समान शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं का भी सामना नहीं करना पड़ता था।

वानप्रस्थ आश्रम एक ओर वानप्रस्थी के मानसिक विकास में योग देता, उसके जीवन को पवित्र बनाता और दूसरी ओर उसे सब प्रकार की सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त करता, संसार के प्रति विरक्ति का भाव पैदा करता और उसे मोक्ष प्राप्ति के मार्ग पर चलने के लिए तैयार करता।

## 4 सन्यास आश्रम
*(SANYASA ASHRAMA)*

मनुस्मृति में बताया गया है कि आयु के तीसरे भाग को वन में व्यतीत करने के बाद आयु के चौथे भाग में प्रवेश करते ही वानप्रस्थी सभी का साथ छोड़कर परिव्राजक बन जाये। जीवन के चौथे भाग अर्थात 75 वर्ष की आयु के पश्चात् वानप्रस्थी संसार को छोड़कर संन्यास आश्रम में प्रवेश करता था। अब वह सामाजिक और सांसारिक सम्बन्धों से पूर्णतया अलग हो जाता था। संन्यासी उसे ही माना गया है जो संसार का पूरी तरह त्याग कर चुका हो। संन्यास आश्रम में प्रवेश करने पर व्यक्ति अपना पुराना नाम भी त्याग देता और संन्यासी के रूप में नवीन नाम ग्रहण करता।

इस आश्रम मे सयासी के लिए एक ही पुरुषाथ प्राप्त करना शेष रहता और वह है—मोक्ष। इसी की प्राप्ति के लिए उसे सब कुछ त्यागना पडता है। वह स्थायी रूप से एक स्थान पर नही रहता, एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमता रहता और लोगो को उपदेश देता रहता। सयासी को अपने पास कुछ भी रखने की आज्ञा नहीं थी। वह जीवन मृत्यु की चिन्ता से परे होता था। अपनी भोजन सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति के लिए वह दिन मे केवल एक बार भिक्षा मांग सकता था। जो कुछ मिल जाता उसी मे उसे सन्तोष था, अधिक मिलन पर वह प्रसन्न नही होना और न मिलने पर वह दु खी नही होता।

वायु पुराण के अध्याय 8 मे सयासी के दस कतव्य बताय गय ह भिक्षावृत्ति से भोजन प्राप्त करना, चोरी न करना, बाह्य तथा आन्तरिक पवित्रता रखना, प्रमादी न होना, ब्रह्मचय का पालन करना, दया करना प्राणियो के प्रति क्षमावान होना, क्रोध न करना, गुरू की सेवा करना तथा सत्य बोलना। मनु ने लिखा है कि सयासी को अपने पर पूण सयम रखना चाहिए। उसे नीची दृष्टि करके चलना चाहिए, कपडे से छानकर जल पीना चाहिए सत्य से पवित्र करके वाणी का प्रयाग करना चाहिए एव मन को पूण पवित्र रखकर आचरण करना चाहि।[1] सयासी के लिए कहा गया है कि उस सुख दु ख का अनुभव नही करना चाहिए। सयासी ससार मे रहता हुआ भी पारलौकिक जीवन मे प्रवेश कर जाता था। वह निष्काम भाव से प्राणी मात्र के कल्याण मे अपने को लगा देना। मिट्टी और सोना उसके लिए समान थे। वह निष्काम भाव से कम करता हुआ व्यक्ति व्यक्ति के जीवन को उत्तम बनाने मे अपना अपव योग देता था। इस आश्रम मे वह आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त करन का प्रयत्न करता था। इस आश्रम मे अपने विभिन्न प्रकार के दायित्वो को निभाना हुआ वह जीवन के अन्तिम लक्ष्य—मोक्ष की प्राप्ति करता था।

साधारणत व्यक्ति वानप्रस्थ-आश्रम मे समय बिताने के पश्चात ही सयास आश्रम मे प्रवेश करता था। लेकिन यदि वह यह महसूस करता कि उसे ससार के प्रति विरक्ति हो गयी है तो वह गृहस्थ से सीधा ही सयास आश्रम मे प्रवेश कर सकता था। इसी तरह यदि कोई ब्रह्मचारी विषय भोग की इच्छा से पूणतया रहित होता, यदि उसमे जनकल्याण की भावना बहुत तीव्र होती, यदि इन्द्रियो पर उसका पूण नियन्त्रण होता, तो वह भी सीधा ही ब्रह्मचय आश्रम से सयास आश्रम म प्रवेश कर सकता था।

**सयास आश्रम का महत्व**

कुछ लोगो का कहना है कि सयास आश्रम आत्मिक विकास की दृष्टि से तो महत्वपूण है लेकिन सम्पूण सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से उपयोगी नही है। इसका कारण यह बताया गया है कि अय सभी आश्रमो मे व्यक्ति समाज की कुछ न कुछ सेवा करता है परन्तु सयास आश्रम मे तो वह अपने लिए ही सब कुछ करता है

1 मनुस्मृति, 6/46।

मोक्ष प्राप्ति के प्रयत्न में लगा रहना है। संन्यास आश्रम की आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि जब एक व्यक्ति अपने लम्बे अनुभवों तथा ज्ञान के आधार पर समाज के लोगों का मार्ग-दर्शन करने के योग्य होता तब उसे जंगल में किसी कोने में रहने के लिए कहा जाता था। इस दृष्टि से आश्रम-व्यवस्था कुछ मात्रा में समाज के प्रति उदासीनता की भावना को जगाती है। संन्यास आश्रम को लेकर भारतीय दृष्टिकोण को इसलिए स्वार्थपूर्ण माना गया है कि व्यक्ति पूर्णतया मोक्ष प्राप्ति के प्रयत्न में लग जाता था और समाज को उसकी सेवाओं का लाभ नहीं मिल पाता था।

लेकिन भारतीय संस्कृति की विशेषताओं पर ध्यान दें तो हम पाते हैं कि उपर्युक्त आलोचना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है। इसका कारण यह है कि भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिकता को प्रारम्भ से ही सबसे अधिक महत्व दिया जाता रहा है और मानवतावादी दृष्टिकोण को अत्यन्त महत्वपूर्ण सामाजिक मूल्य के रूप में स्वीकार किया जाता रहा है। संन्यास आश्रम इन्हीं विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करता है। यहाँ इस बात को उचित नहीं ठहराया गया है कि व्यक्ति सारे जीवनभर विषय-भोग और स्वार्थपूर्ति में लगा रहे और आत्म-कल्याण की दृष्टि से कुछ भी न करे। इसके अलावा संन्यासी के दृष्टिकोण को किसी भी अर्थ में संकीर्ण और स्वार्थपूर्ण नहीं माना जा सकता। वह तो एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमता रहता, अपनी योग्यता और अनुभव के आधार पर लोगों का मार्ग दर्शन करता रहता। लोग उस श्रेष्ठ पुरुष संन्यासी का आदर करते, उससे परामर्श लेते और उसकी शिक्षाओं को ग्रहण करते। इस दृष्टि से संन्यासी के जीवन को असामाजिक नहीं कहा जा सकता।

## आश्रम व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्त
## (FUNDAMENTAL PRINCIPLES OF *ASHRAMA* SYSTEM)

प्रश्न उठता है कि आश्रम-व्यवस्था किन आधारभूत सिद्धान्तों को लेकर निर्मित की गयी। यह व्यवस्था तत्कालीन समाज के सांस्कृतिक मूल्यों तथा जीवन-दर्शन का प्रतिनिधित्व करती है। भारतीय समाज में समूह कल्याण के आदर्श को सदैव से ही विशेष महत्व दिया जाता रहा है। इसी आदर्श को ध्यान में रखकर यहाँ व्यक्तियों को अपने व्यक्तित्व के निर्माण का अवसर दिया गया। समूह को विशेष महत्व दिये जाने के कारण ही यहाँ व्यक्तिवादिता पर हमेशा अंकुश रखा गया। आश्रम-व्यवस्था के कुछ महत्वपूर्ण आधारभूत सिद्धान्त इस प्रकार हैं—ऋणों की धारणा, यज्ञों की धारणा, पंच महायज्ञ, संस्कार एवं पुरुषार्थ।

**(1) ऋणों की धारणा**—आश्रम-व्यवस्था के मूल में ऋणों की धारणा पायी जाती है। यहाँ प्रत्येक हिन्दू को अनेक प्राणियों का ऋणी माना गया है। व्यक्ति पर साधारणतः पाँच प्रकार के ऋण होते हैं जिन्हें उसे इस जीवन में चुकाना होता है। ये ऋण हैं—देव ऋण, ऋषि ऋण, पितृ ऋण, अतिथि ऋण और भूत ऋण। व्यक्ति दूसरों का इस दृष्टि से ऋणी है कि उन्होंने उसके विकास में अनेक रूपों में योग दिया है। देवताओं ने व्यक्ति को जल, भूमि, वायु और अनेक अन्य वस्तुएँ प्रदान की हैं जो

उसके अस्तित्व को बनाये रखने में योग देती है। ऋषियों ने अपने ज्ञान और अनुभव से व्यक्ति के बौद्धिक और मानसिक विकास में योग दिया है। माता पिता ने उसे जन्म देकर, उसका पालन पोषण करके और उसकी शिक्षा की व्यवस्था करके उसके विकास में अपूर्व योग दिया है। ब्रह्मचर्य आश्रम में ब्रह्मचारी की आवश्यकताओं को पूर्ण करने में भी अनेक व्यक्तियों का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से योग रहा है। इसी प्रकार विभिन्न जीवधारियों ने भी उसके अस्तित्व को बनाये रखने में किसी न किसी रूप में सहायता पहुचायी है। ऐसी दशा में व्यक्ति इन सबका—देवताओं, ऋषियों, माता पिता, अतिथियों और विभिन्न जीवधारियों का ऋणी है और इन सबके प्रति कर्तव्यों का पालन करके तथा इनके प्रति आदर और त्याग की भावना व्यक्त करके ही विभिन्न प्रकार के ऋणों से मुक्त हो सकता है। इन ऋणों की अवधारणा ने व्यक्ति में अनेक सद्गुणों जैसे प्रेम सहानुभूति, दया, उदारता, त्याग, आदर भावना, कर्तव्य परायणता के विकास में योग दिया है।

(2) यज्ञों की धारणा व पंच महायज्ञ—आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के ऋणों से उऋण होने के लिए यज्ञों के महत्व को विशेष मान्यता दी गयी है। ब्रह्मचर्य आश्रम में गुरु के नियन्त्रण में रहता हुआ ब्रह्मचारी अनुशासित जीवन व्यतीत करता है। यहाँ वह ज्ञान यज्ञ करता है। गृहस्थाश्रम में वह माता पिता, गुरुजनों और अतिथियों के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करता हुआ सामाजिक दायित्व निभाता है। इस आश्रम में वह विभिन्न ऋणों से उऋण होने का प्रयत्न करता है। यहाँ वह अपने साधनों के अनुसार द्रव्य यज्ञ करता है। वानप्रस्थ आश्रम में वह अपने को समाज की सेवा के लिए समर्पित कर देता है और साथ ही वह अपने को संन्यास आश्रम के लिए तैयार करता है। संन्यास आश्रम में वह सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त होकर अन्तिम यज्ञ मोक्ष प्राप्ति का प्रयत्न करता है। इस आश्रम में वह सब कुछ त्याग देता है और आत्म साक्षात्कार के प्रयत्न में पूर्णतया लग जाता है। अन्तिम दो आश्रमों में वह भक्ति यज्ञ करता है। आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत एक आधारभूत सिद्धान्त के रूप में पंच महायज्ञ का विधान भी किया गया है जिसका वर्णन इसी अध्याय में हम पहले कर चुके हैं।

(3) संस्कार—आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत एक आधारभूत सिद्धान्त के रूप में विभिन्न प्रकार के संस्कारों का महत्व भी रहा है। व्यक्तिगत जीवन को परिष्कृत कर व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से इन संस्कारों का काफी महत्व है। व्यक्ति के जीवन को पूर्णता प्रदान करना इन संस्कारों का मुख्य लक्ष्य है। प्रत्येक आश्रम का प्रारम्भ और अन्त किसी संस्कार विशेष के सम्पादन द्वारा ही होता है। डा० राजबली पाण्डेय के अनुसार "संस्कारों की पूर्ति ही वह मार्ग है जिससे क्रियाशील सांस्कृतिक जीवन का समन्वय आध्यात्मिक तथ्यों के साथ स्थापित किया जाता है।"[1]

1 डा० राजबली पाण्डेय, हिन्दू संस्कार, पृ० 39।

हिन्दू जीवन से सम्बन्धित विभिन्न संस्कारो का सविस्तार उल्लेख 'संस्कार' वाले अध्याय में किया गया है।

(4) पुरुषार्थ—आश्रम व्यवस्था के एक मौलिक सिद्धान्त के रूप में 'पुरुषार्थ' का विशेष महत्व है। डॉ० प्रभु ने इसे आश्रम-व्यवस्था का मानसिक नैतिक आधार (Psycho Moral Basis) माना है। आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत पुरुषार्थों के महत्व के सम्बन्ध मे डॉ० कापडिया ने लिखा है, 'मोक्ष मानव जीवन का चरम लक्ष्य एव मनुष्य की आन्तरिक आध्यात्मिक अनुभूति का प्रतीक है। 'अर्थ' उसके प्राप्त करने के सहज स्वभाव, उसकी धन संग्रह और उपभोग-वृत्ति एव इनसे सम्बन्धित अन्य प्रवृत्तियो को दर्शाता है। 'काम' मनुष्य के सहज स्वभाव तथा भावुक जीवन की ओर संकेत करता तथा उसकी काम भावना और सौन्दर्य पिपासा को व्यक्त करता है। 'अर्थ' तथा 'काम' विश्व मे व्यक्ति के सांसारिक लगाव, कार्य कलाप और जीवन की सफलता का प्रतिनिधित्व करते हैं। 'धर्म' मनुष्य की पाशविक और दैवी प्रकृति के बीच की शृंखला है। इस प्रकार, ये चार मुख्य उद्देश्य आध्यात्मिकता की अनुभूति के हेतु मानव क्रियाओं को समन्वित करते हैं।"[1] व्यक्ति अपने जीवन में विभिन्न आश्रमो मे इन चारो पुरुषार्थों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इन पुरुषार्थों पर 'पुरुषार्थ' वाले अध्याय म सविस्तार विचार किया गया है। यहाँ डॉ० कापडिया के शब्दो मे इतना कहना ही पर्याप्त है कि पुरुषार्थ का सिद्धान्त भौतिक इच्छाओ एव आध्यात्मिक जीवन मे सामंजस्य स्थापित करता है। यह मानव मे पैतृक सहजात यौन भावना, उसके शक्ति और सम्पत्ति के प्रति मोह, कलात्मक और सांस्कृतिक जीवन के प्रति उसकी तृष्णा, परमात्मा के साथ उसके पुनर्मिलन की कामना सन्तुष्टि का प्रयत्न भी करता है। यह जीवन को एक समग्र रूप मे देखता है, इसकी आशाओ और प्रेरणाओ, इसकी प्राप्तियो एव आनन्दों तथा इसकी महानता और आध्यात्मिकता को स्पष्ट करता है।[2]

स्पष्ट है कि उपर्युक्त आधारभूत सिद्धान्तो ने ही आश्रम व्यवस्था जैसी समन्वित व्यवस्था के निर्माण म योग दिया जिसके माध्यम से एक ओर व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास और दूसरी ओर समाज की प्रगति हो सकी।

## आश्रम व्यवस्था का समाजशास्त्रीय महत्व
(SOCIOLOGICAL IMPORTANCE OF *ASHRAMA* SYSTEM)

आश्रम-व्यवस्था का महत्व इसी बात से स्पष्ट है कि इस व्यवस्था ने व्यक्ति के समाजीकरण व्यक्तित्व के विकास समाज कल्याण और समाज की उन्नति मे काफी योग दिया है। आश्रम-व्यवस्था के समाजशास्त्रीय महत्व को अग्रांकित आधारो पर समझा जा सकता है

1 K. M Kapadia *op cit* p 26
2 *Ibid* p 27

(1) जीवन के समुचित विकास की व्यवस्था—आयु के बढ़ने के साथ साथ व्यक्ति की शारीरिक शक्ति, कार्यक्षमता, अनुभव एवं मानसिक प्रवृत्तियों में परिवर्तन आता रहता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए भारतीय विद्वानों ने जीवन को न केवल बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था एवं वृद्धावस्था में विभाजित किया बल्कि प्रत्येक अवस्था के लिए एक विशेष आश्रम की व्यवस्था भी की, ताकि व्यक्ति के जीवन का समुचित विकास हो सके। 'आश्रम व्यवस्था में व्यक्ति के दायित्वों का निर्धारण इस प्रकार से किया गया है कि वह अपनी आयु सम्बन्धी विशेषताओं और विभिन्न प्रकार की क्षमताओं को ध्यान में रखकर ही अपने विभिन्न दायित्वों को निभा सके।

(2) मानवीय गुणों के विकास एवं मानवतावादी समाज की स्थापना में योग—आश्रम व्यवस्था ने व्यक्ति में मानवीय गुणों के विकास में काफी योग दिया है। चारों आश्रमों में व्यक्ति के कर्तव्यों का निर्धारण इस प्रकार से किया गया है कि उसमें त्याग, परोपकार, सहिष्णुता, सामाजिकता, सरलता, उदारता, आध्यात्मिकता और बन्धुत्व जैसे गुणों का विकास हो सके। इन सब गुणों के विकास के परिणामस्वरूप समाज में ऐसे व्यक्ति निर्मित हो पाये हैं जिन्होंने एक मानवतावादी समाज की स्थापना में काफी योग दिया है।

(3) व्यक्ति और समाज की पारस्परिक निर्भरता पर जोर—व्यक्ति और समाज दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं और दोनों का विकास सन्तुलित रूप से पारस्परिक निर्भरता को बनाये रखने पर ही निर्भर करता है। व्यक्ति प्रत्येक आश्रम में अपने दायित्वों का निर्वाह करते हुए यह भली भाँति समझ लेता है कि वह केवल स्वयं और अपने परिवार के लिए ही नहीं जीता। यहाँ वह स्पष्टतया जान लेता है कि समाज ने भी पग पग पर उसके विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है। अतः समाज के प्रति उचित रीति से अपने दायित्वों को निभाने का भार उसमें जाग्रत होता है। यही भाव व्यक्ति की स्वार्थपरता पर अंकुश रखता रहा है। स्पष्ट है कि आश्रम-व्यवस्था ने समष्टिवादी दृष्टिकोण के विकास में काफी योग दिया है।

(4) बौद्धिक विकास, ज्ञान के संग्रह एवं प्रसार तथा समाज की सांस्कृतिक परम्पराओं को पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित करने में महत्वपूर्ण योग—आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति अपने जीवन के प्रारम्भ से अन्त तक किसी न किसी रूप में ज्ञान को अर्जित करता रहा है, अपना बौद्धिक विकास करता रहा है। गुरु के आश्रम में रहकर ब्रह्मचारी व्यक्तिगत सम्पर्क से बहुत कुछ सीखता रहा है। वेदों तथा अन्य धर्म ग्रन्थों के अध्ययन से न केवल बालक का बौद्धिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास ही होता रहा है बल्कि साथ ही ज्ञान का संग्रह और समाज की सांस्कृतिक परम्पराओं का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरण भी।

(5) सामाजिक नियन्त्रण की दृष्टि से महत्वपूर्ण भूमिका—आश्रम-व्यवस्था

के अन्तर्गत व्यक्ति के कर्तव्यो एवं दायित्वो को इस प्रकार निश्चित किया गया था कि उसके व्यवहार के मान्यता प्राप्त तरीको के विपरीत आचरण करने की साधारणत सम्भावना ही नही रहती । आश्रम व्यवस्था के माध्यम से व्यक्ति का चरित्र निर्माण ही कुछ इस प्रकार का होता था, उस पर कुछ सस्कार ही ऐसे पडते थे कि वह समाज विरोधी या अनुचित समझा जाने वाला कार्य कर ही नही पाता था । प्रारम्भ से ही बालक का जीवन इस प्रकार से सस्कारित किया जाता था कि समाज मे सामाजिक नियन्त्रण बना रहता था । अत कहा जा सकता है कि सामाजिक नियन्त्रण बनाये रखने की दृष्टि से आश्रम-व्यवस्था ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है ।

(6) व्यक्तिवादिता के दोषों से समाज को मुक्त रखने एवं समाज कल्याण मे योग—व्यक्तिवादिता को प्रोत्साहित और समाज कल्याण की अवहेलना करके कोई भी समाज अधिक समय तक सुसगठित और सुरक्षित नही रह सकता । अत भारतीय विचारको ने आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति के कर्तव्यो का निर्धारण इस प्रकार से किया कि समाज व्यक्तिवादिता के दोषो से मुक्त रहे । यहा मानव मात्र की सेवा के अलावा पशु-पक्षियो एवं कीडे मकोडो तक के भरण पोषण का व्यक्ति पर दायित्व डाला गया है । गृहस्थ के पचास वर्ष की आयु प्राप्त करने पर परिवार को छोडकर वानप्रस्थी के रूप मे जगल म चले जाने से युवा पीढी को शीघ्र ही पारिवारिक अधिकार मिल जाते थे । इससे पारिवारिक तनावो एवं सघर्षों की सम्भावना भी कम हो जाती थी । वानप्रस्थी और सन्यासी अपने ज्ञान, अनुभव तथा मानव मात्र के प्रति सेवा भाव के कारण व्यक्ति-व्यक्ति के कल्याण मे योग देते थे ।

(7) व्यावहारिक एवं उपयोगितावादी—आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत व्यावहारिक एवं उपयोगितावादी पक्ष पर विशेष ध्यान दिया गया है । यहा व्यक्ति के कर्तव्यो को निर्धारित ही कुछ इस प्रकार से किया गया है कि सम्पूर्ण समाज का हित हो । यहाँ धर्म के अन्तर्गत भी कर्तव्य पक्ष पर विशेष जोर दिया गया है । गृहस्थ आश्रम मे सम्पन्न किये जाने वाले पच महायज्ञो की सामाजिक दृष्टि से काफी उपयोगिता थी । व्यक्ति को यहा उद्यमी बनाने का प्रयत्न किया गया है । अर्थ को पुरुषार्थ मानकर धन कमाना व्यक्ति के लिए आवश्यक बताया गया है, परन्तु यहाँ धन को केवल स्वय की आवश्यकताओ की पूर्ति का साधन नही माना गया है । धन का उपयोग तो सम्पूर्ण समाज के हित मे करने की बात कही गयी है । वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रम के माध्यम से व्यक्ति को सामाजिक कार्य करने एवं अपने मे त्याग की भावना विकसित करने का अवसर मिला है ।

**निष्कर्ष (Conclusion)**

आश्रम व्यवस्था के सम्बन्ध म एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि **इस व्यवस्था ने भारतीय समाज को किस सीमा तक प्रभावित किया ? यह व्यवस्था व्यावहारिक रूप ले सकी अथवा यह केवल एक सैद्धान्तिक व्यवस्था मात्र थी ।** महाभारत

मे आश्रम व्यवस्था का अनेक स्थानो पर उल्लेख मिलता है। इसने ऋषि मुनियों, धर्म मे विशेष रुचि रखने वाले राजाओ एव कुछ सामान्य लोगो को काफी प्रभावित किया। चाहे बहुत से लोग घर छोडकर वानप्रस्थी या सन्यासी नहीं बनते हो परन्तु इस व्यवस्था ने विभिन्न रूपो मे लोगो के जीवन को प्रभावित किया है। कम से कम इतना अवश्य था कि लोग आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत बताये गये विभिन्न कर्तव्यों के प्रति सजग थे, समाज के प्रति अपने दायित्वो को निभाते थे, सास्कृतिक परम्पराओं को एक पीढी से दूसरी पीढी को हस्तान्तरित करते थे। अत आश्रम-व्यवस्था को केवल एक सैद्धान्तिक व्यवस्था मात्र नहीं माना जा सकता। इतना अवश्य है कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत पचास वर्ष की आयु प्राप्त करने के बाद परिवार को छोडकर वानप्रस्थी के रूप मे जगल मे कुटिया बनाकर रहने मे व्यक्ति कठिनाई अवश्य महसूस करता होगा। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि इस व्यवस्था ने कई सदियों तक लोगो के व्यवहारो को प्रभावित किया है।

## प्रश्न

### (उत्तर सकेत सहित)

1 हिन्दू सामाजिक जीवन मे आश्रम व्यवस्था की भूमिका की विवेचना कीजिए। (लखनऊ, 1970)

[सकेत—इस प्रश्न के उत्तर मे आश्रम का अर्थ बताकर "आश्रम व्यवस्था का समाजशास्त्रीय महत्व" शीर्षक मे दिये गये विवरण को प्रस्तुत करना है।]

2 आश्रम व्यवस्था की विवेचना कीजिए। (गोरखपुर, 1973, लखनऊ, 1973)

[सकेत—इस प्रश्न के उत्तर मे आश्रम का अर्थ, प्रकार एवं महत्व का उल्लेख करना है।]

3 आश्रम व्यवस्था का विश्लेषण कीजिए। इसका सामाजिक महत्व क्या है? (गोरखपुर 1975, 1977, लखनऊ, 1976)

[सकेत—इसमे आश्रम का अर्थ, विशेषताएँ एव समाजशास्त्रीय महत्व के अन्तर्गत दिये गये विवरण को लिखना है।]

4 वर्णाश्रम व्यवस्था के मूलभूत सिद्धान्तो की व्याख्या कीजिए। (गोरखपुर, 1978)

[सकेत—इसमे वर्ण का अर्थ लिखकर "आश्रम व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्त" शीर्षक मे दिये गये विवरण को प्रस्तुत करना है।]

5 "गृहस्थाश्रम आश्रम व्यवस्था का मूल है" इस कथन की व्याख्या कीजिए। (लखनऊ, 1975, 1977)

[सकेत—इसमे गृहस्थाश्रम का सम्पूर्ण विवेचन करना होगा।]

# 7

# सस्कार
## (SANSKAR)

हिन्दुओं के धार्मिक एव सामाजिक जीवन मे सस्कारो का विशेष महत्व पाया जाता रहा है। यहाँ धार्मिक जीवन के लिए परिशुद्धता एव पवित्रता को आवश्यक माना गया है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए विभिन्न सस्कारो की व्यवस्था की गयी है। ये सस्कार ही वे माध्यम हैं जिनके द्वारा व्यक्ति एक परिष्कृत तथा समाज का पूर्ण विकसित सदस्य बन पाता है। सस्कार व विधियाँ या धार्मिक अनुष्ठान है जिनके द्वारा व्यक्ति के 'अहम्' का समाजीकरण एव व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करने का प्रयत्न किया जाता है। सस्कारो के अन्तर्गत विभिन्न अनुष्ठान या प्रतीकात्मक क्रियाकलाप आते है जिनके माध्यम से व्यक्ति के जीवन को परिशुद्ध एव पवित्र बनाने का प्रयास किया जाता है। सस्कार मे यद्यपि कुछ अनुष्ठान तथा कर्म काण्ड सम्मिलित होते हैं परन्तु इसका अर्थ इन्हे सम्पन्न करने मात्र से नही है। सस्कार वास्तव मे व्यक्ति की आत्म शुद्धि एव उस सामाजिक दायित्वो से भली भाँति परिचित कराने से सम्बन्धित हैं। इस दृष्टि से सस्कार एक धार्मिक-सामाजिक प्रत्यय है जो व्यक्ति को अपने समाज के सास्कृतिक जीवन का बोध कराते है। सस्कारो के माध्यम से ही समाज की सास्कृतिक पृष्ठभूमि के अनुरूप व्यक्ति का समाजीकरण किया जाता है। जीवन म सफलता प्राप्त करने एव व्यक्तित्व के समुचित विकास की दृष्टि से सस्कारो का हिन्दू जीवन-क्रम मे विशेष महत्व पाया जाता है।

### सस्कार का अर्थ
### (MEANING OF *SANSKAR*)

सस्कृत साहित्य में सस्कार शब्द का प्रयोग शिक्षा, सस्कृति, प्रशिक्षण, सौजन्य, पूर्णता, व्याकरण सम्बन्धी शुद्धि, सस्करण, परिष्करण, शोभा, आभूषण, प्रभाव, स्वरूप, स्वभाव, क्रिया, छाप, स्मरण शक्ति, स्मरण शक्ति पर पडने वाला प्रभाव, शुद्धि क्रिया, धार्मिक विधि विधान, अभिषेक, विचार भावना, धारणा, कार्य का परिणाम, क्रिया की विशेषता आदि अर्थों मे हुआ है।[1] डॉ० पाण्डेय ने लिखा है कि सस्कार का अभिप्राय निरी बाह्य धार्मिक क्रियाओं, अनुशासित अनुष्ठान, व्यर्थ आडम्बर, कोरा कर्मकाण्ड, राज्य द्वारा निर्दिष्ट चलनो औपचारिकताओं तथा अनुशासित व्यवहार

1. डॉ० राजबली पाण्डेय हिन्दू सस्कार पृ० 18।

से नही है। सस्कार शब्द का अधिक उपयुक्त पर्याय अंग्रेजी के 'सक्रामेण्ट' (Secrament) शब्द का अर्थ है 'धार्मिक विधि विधान अथवा कृत्य जो आन्तरिक तथा आत्मिक सौन्दर्य का बाह्य तथा दृश्य प्रतीक माना जाता है।'[1] सस्कार शब्द के उपरोक्त सभी अर्थ प्रमुखत व्यक्ति के जीवन को परिष्कृत एव शुद्ध करन तथा उसके प्रशिक्षण तथा समाजीकरण से सम्बन्धित हैं। डॉ० पाण्डेय का कथन है कि हिन्दू सस्कारो मे अनेक आरम्भिक विचार, धार्मिक विधि विधान, उनके सहवर्ती नियम तथा अनुष्ठान भी सम्मिलित हैं जिनका उद्देश्य केवल औपचारिक दैहिक सस्कार ही न होकर, व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का परिष्कार, शुद्धि एव पूर्णता भी है। हिन्दू समाज मे यह विश्वास किया जाता रहा है कि सस्कारो को सम्पन्न किये बिना व्यक्ति अपने जीवन मे पूर्णता प्राप्त नही कर सकता।

जैमिनी के सूत्रो मे सस्कार शब्द का अनेक बार प्रयोग हुआ है। शबर के अनुसार सस्कार वह है जिसके सम्पादन से कोई पदार्थ या व्यक्ति किसी कार्य के योग्य हो जाता है। तन्त्रवार्तिक मे लिखा है कि सस्कार वे क्रियाएँ तथा रीतियाँ हैं जो योग्यता प्रदान करती हैं। इस योग्यता के दो प्रकार बताये गये हैं प्रथम, पाप पूर्ण क्रियाओ को नष्ट करने की योग्यता, तथा द्वितीय, नवीन गुणो से उत्पन्न योग्यता मे वृद्धि करना। वीर मित्रोदय ने सस्कार के अर्थ के सम्बन्ध मे लिखा है कि यह एक विलक्षण योग्यता है जो शास्त्र विहित क्रियाओ के सम्पादन से उत्पन्न होती है। इस योग्यता के दो प्रकार बताये गये है, प्रथम, जिसके द्वारा व्यक्ति विभिन्न क्रियाओ के योग्य होता जाता है, एव द्वितीय, जिसके द्वारा व्यक्ति विभिन्न दोषो से मुक्त हो जाता है। उपर्युक्त सभी कथनो से स्पष्ट है कि सस्कार वे माध्यम हैं जिनके द्वारा व्यक्तियो को अनुशासित एव दीक्षित किया जाता है। ये वे माध्यम हैं जिनके द्वारा व्यक्तियो को समाज के मूल्यो, प्रतिमानो एव आदर्शो से परिचित कराया जाता है और उनके अनुरूप व्यवहार करने की दृष्टि से ही उन्हे सस्कारित या दीक्षित किया जाता है। सस्कारो के माध्यम से व्यक्ति के सम्मुख ऐसा वातावरण प्रस्तुत किया जाता है कि वह अपनी सस्कृति से सम्बन्धित मूलभूत बातो को समझ सके और उन्ही के अनुरूप अपने जीवन को ढाल सके।

डॉ० राजबली पाण्डेय ने बताया है कि सस्कार शब्द के साथ विलक्षण अर्थो का योग हो गया है, जो इसके दीर्घ इतिहास क्रम मे इसके साथ सयुक्त हो गये हैं। इसका अभिप्राय शुद्धि की धार्मिक क्रियाओ तथा व्यक्ति के दैहिक, मानसिक और बौद्धिक परिष्कार के लिए किये जाने वाले अनुष्ठानो से है, जिनसे वह समाज का पूर्ण विकसित सदस्य हो सके। किन्तु हिन्दू सस्कारो मे अनेक आरम्भिक विचार, धार्मिक विधि विधान, उनके सहवर्ती नियम तथा अनुष्ठान भी समाविष्ट हैं, जिनका उद्देश्य केवल औपचारिक दैहिक सस्कार ही न होकर सस्कार्य व्यक्ति के सम्पूर्ण

1 पूर्वोक्त, पृ० 17।

व्यक्तित्व का परिष्कार, शुद्धि और पूर्णता भी है। साधारणत यह समझा जाता था कि सविधि संस्कारो के अनुष्ठान से संस्कृत व्यक्ति में विलक्षण तथा अवर्णनीय गुणो का प्रादुर्भाव हो जाता है। संस्कार शब्द का प्रयोग इस सामूहिक अर्थ में होता था।[1] स्पष्ट है कि संस्कार के अन्तर्गत वे धार्मिक विधि विधान, अनुष्ठान या कृत्य आते है जिनके करने से कोई व्यक्ति या पदार्थ उपयोगितापूर्ण बन जाता है। अन्य शब्दो मे ये व्यक्ति परिष्कार, शुद्धि एव प्रशिक्षण से सम्बन्धित हैं। ये संस्कार व्यक्ति के क्रमिक विकास की प्रक्रिया से जुड़े हुए हैं और उसे सामाजिक-सास्कृतिक प्राणी बनाने मे योग देते है।

## संस्कारो के उद्देश्य
## (OBJECTIVES OF *SANSKARS*)

संस्कारो के साथ समय समय पर विभिन्न प्रकार के विश्वासो के जुड़ जाने से इनके मूल उद्देश्यो के सम्बन्ध में पूर्ण निश्चय के साथ कुछ कहना कठिन है। साथ ही यह बात भी सत्य है कि कुछ लोगो ने संस्कारों को अन्धविश्वास एव कर्मकाण्ड-मात्र समझ लिया। परिणाम यह हुआ कि इनसे सम्बन्धित तथ्यो का वास्तविक ज्ञान प्राप्त नही किया जा सका। आवश्यकता इस बात की है कि इन संस्कारो को न केवल कोरी श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाय और न ही इनके प्रति अति-सन्देहवादी मनोवृत्ति को अपनाया जाय। अतीत से सम्बन्धित वास्तविकता को समझने के लिए संस्कारो का पूर्ण और सहानुभूति के साथ अध्ययन किया जाना उपयुक्त है।

संस्कारो के उद्देश्यो के सम्बन्ध मे डॉ० पी० वी० काणे ने लिखा है कि यदि हम संस्कारो की संख्या पर ध्यान दें तो पता चलेगा कि उनके अनेक उद्देश्य थे। उपनयन जैसे संस्कारो का सम्बन्ध आध्यात्मिक तथा सास्कृतिक उद्देश्यो की प्राप्ति से है क्योकि इसके द्वारा गुण सम्पन्न व्यक्तियो से सम्पर्क स्थापित होता था, वेदाध्ययन का मार्ग खुलता था तथा अनेक प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त होती थी। संस्कार करने वाला व्यक्ति एक नये जीवन का प्रारम्भ करता था और इस तरह वह विभिन्न नियमो के पालन के लिए तत्पर होता था। नामकरण अन्नप्राशन एव निष्क्रमण जैसे संस्कारो का केवल लौकिक महत्व था। गर्भाधान पुसवन सीमान्तोनयन जैसे संस्कारों का महत्व रहस्यात्मक एव प्रतीकात्मक था। विवाह संस्कार का महत्व था—दो व्यक्तियो को आत्म निग्रह, आत्म त्याग एव परस्पर सहयोग की भूमि पर लाकर समाज को चलते जाने देना।[2] संस्कारो के प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार हैं

(1) अशुभ शक्तियो के प्रभाव से व्यक्ति को बचाना संस्कारो का एक मुख्य उद्देश्य रहा है। हिन्दू लोग यह मानते रहे हैं कि व्यक्ति अपने चारो ओर अतिमानवीय

1 पूर्वोक्त, पृ० 19।

2 पी० वी० काणे धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ० 4।

शक्तियों से घिरे हुए हैं। ये शक्तियाँ व्यक्तियों का अहित और हित दोनों ही कर सकती हैं। इन शक्तियों के हानिकारक या अशुभ प्रभाव से व्यक्तियों की रक्षा करने हेतु भूतों एवं पिशाचों को भोजन एवं बलि देने की रीति पायी जाती रही है। डॉ० पाण्डेय ने लिखा है कि अवांछित प्रभावों के निराकरण के लिए हिन्दुओं ने अपने संस्कारों के अन्तर्गत अनेक साधनों का अवलम्बन किया। उनमें प्रथम स्थान आराधना का था। भूतों, पिशाचों और अन्य अशुभ शक्तियों की स्तुति की जाती, उन्हें बलि व भोजन दिया जाता था, जिससे वे बलि से तृप्त होकर बिना किसी प्रकार की क्षति पहुंचाये लौट जायें। अशुभ शक्तियों के प्रभाव से बचने के लिए गृहस्थ देवी देवताओं से भी प्रार्थना की जाती थी। संस्कारों की पूर्ति में जल एवं अग्नि का विशेष रूप से प्रयोग किया जाता था।

(2) संस्कारों का एक उद्देश्य संस्कार्य व्यक्ति के हित के लिए अभीष्ट प्रभावों को आमन्त्रित एवं आकर्षित करना रहा है। यही कारण है कि विभिन्न संस्कारों के के अन्तर्गत देवताओं की पूजा एवं आराधना की जाती है। उदाहरण के रूप में गर्भाधान संस्कार के अवसर पर विष्णु की आराधना की जाती है ताकि विवाह के पश्चात नव दम्पत्ति सन्तानोत्पादन द्वारा सृष्टि की रचना में योग दे सकें। विष्णु को सृष्टि का रक्षक माना गया है। इसी कारण गर्भाधान संस्कार के अवसर पर उनकी विशेष रूप से अर्चना की जाती है। व्यक्ति के लिए अभीष्ट प्रभावों को आमन्त्रित करने हेतु संस्कार सम्पादन के समय न केवल देवताओं का उद्बोधन किया जाता था, बल्कि साम्य रखने वाली शुभ वस्तुओं का उससे स्पर्श भी कराया जाता। इस सम्बन्ध में उदाहरण प्रस्तुत करते हुए डॉ० पाण्डेय ने बताया है कि शिलारोहण से दृढ़ता आ जाती है, ऐसा विश्वास था अतः ब्रह्मचारी और वधू के लिए उसका विधान कर दिया गया। हृदयस्पर्श ब्रह्मचारी और आचार्य तथा पति और पत्नी के बीच में ऐक्य और सामंजस्य स्थापित करने का एक निश्चित उपाय समझा जाता था।[2]

(3) संस्कारों का भौतिक उद्देश्य सांसारिक समृद्धि प्राप्त करना रहा है। विभिन्न संस्कारों के माध्यम से सुख समृद्धि धन धान्य, सम्पत्ति पशु, दीर्घ जीवन, शक्ति एवं बुद्धि की प्राप्ति की इच्छा की जाती रही है। हिन्दुओं की यह धारणा रही है कि आराधना एवं प्रार्थना के द्वारा देवता व्यक्तियों की इच्छाओं तथा आकांक्षाओं को समझ लेते हैं और विभिन्न रूपों में उनकी पूर्ति करते हैं। संस्कारों में इस भौतिक उद्देश्य का वर्तमान जीवन में विशेष महत्व [illegible] जाता है। आज के भौतिकवादी युग में व्यक्ति में भौतिक सुख [illegible] विशेषतः प्रबल दिखलायी पड़ती है।

1 राजबली पाण्डेय, पूर्वोक्त, पृ०
2 पूर्वोक्त प० 31

(4) सस्कारो का एक उद्देश्य व्यक्ति को आत्माभिव्यक्ति के अवसर प्रदान करना रहा है। व्यक्ति को समय समय पर हर्ष, आनन्द एव दुख होता रहता है और इन्हें व्यक्त करने हेतु विविध सस्कारो की व्यवस्था की गयी है। इस सम्बन्ध मे डॉ० पाण्डेय का कथन है कि सन्तान की प्राप्ति लुभाने वाली वस्तु थी, अत उनके जन्म के समय पिता को असीम आनन्द होना स्वाभाविक था। विवाह मनुष्य जीवन के सबसे बडे उत्सव का अवसर था। शिशु के प्रगतिशील जीवन का प्रत्येक चरण परिवार का सन्तोष और हर्ष से पूर्ण कर देता था। मृत्यु शोक का अवसर था जो चारो ओर करुणा ही करुणा का दृश्य उपस्थित कर देता था। वह अपने हर्ष के भावो को साज सजावट, सगीत, भोज तथा उपहारो के रूप मे व्यक्त करता और उसके शोक की अभिव्यक्ति अन्त्येष्टि-कृत्य मे होती थी।[1] स्पष्ट है कि सस्कार आत्माभिव्यक्ति के माध्यम रहे हैं।

(5) सस्कारो का सास्कृतिक प्रयोजन भी अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है। हमारे विधि निर्माताओ ने सस्कारो एव धर्म मे पवित्रता का समावेश करने का प्रयत्न किया। शरीर को आत्मा के निवास हेतु उपयुक्त माध्यम बनाने की दृष्टि से शरीर-सस्कार आवश्यक माने जाते थे। मनु के अनुसार स्वाध्याय, व्रत, होम, देव-ऋषियो के तर्पण, यज्ञ, सन्तानोत्पत्ति, इज्या एव पच महायज्ञो के अनुष्ठान से यह शरीर ब्राह्मी अर्थात् ब्रह्म प्राप्ति के योग्य हो जाता है।[2] हिन्दुओ मे यह विश्वास भी पाया जाता रहा है कि जन्म से प्रत्येक व्यक्ति शूद्र होता है और उसके द्विज के रूप म पूर्ण विकास हेतु उसका सस्कार एव परिमार्जन करना आवश्यक है। सामाजिक विशेषाधिकार एव कई प्रकार के अधिकार भी सस्कारो के साथ सम्बद्ध रहे हैं। उदाहरण के रूप म, उपनयन सस्कार के पश्चात ही बालक समाज एव उसके धार्मिक साहित्य मे प्रवेश प्राप्त कर पाता था। इसी प्रकार विद्यार्थी-जीवन की समाप्ति एव गृहस्थ जीवन म प्रवेश करने हेतु समावर्तन सस्कार आवश्यक था।

सस्कारो का एक उद्देश्य स्वर्ग एव मोक्ष की प्राप्ति भी रहा है। हारीत ने सस्कारो के इस उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि ब्राह्म सस्कारो से सस्कृत व्यक्ति ऋषियो की स्थिति प्राप्त कर उनके समान हो जाता और उनके निकट निवास करता तथा दैव सस्कारो से सस्कृत व्यक्ति देवो की स्थिति को प्राप्त कर लेता है।[3] सस्कारो को मोक्ष प्राप्ति के माध्यम के रूप मे महत्व प्राप्त था।

(6) सस्कारो का एक लक्ष्य व्यक्ति मे नैतिक गुणों का विकास करना रहा है। सस्कारो के माध्यम से नैतिक आधार पर व्यक्ति के दायित्वो को निर्धारित किया जाता रहा है। सस्कारो के अतर्गत जीवन के प्रत्येक सोपान के लिए कुछ

---

1 पूर्वोक्त, पृ० 33।
2 मनुस्मृति, 2 28।
3 वी० मि० स० भा० 1 पृ० 139 पर उद्धृत।

नियम (धम) या दायित्व निश्चित रहे हैं, जैसे सीमान्तोन्नयन सस्कार के समय गर्भिणी के तथा उपनयन सस्कार के अवसर पर ब्रह्मचारी के कतव्यो का स्पष्ट उल्लेख किया जाता था। साथ ही सस्कारा के माध्यम से व्यक्ति मे नैतिक गुणा के विकास का प्रयत्न भी किया जाता। गौतम के अनुसार ये आठ गुण इस प्रकार है दया, क्षमा, अनसूया, शौच, शम, उचित व्यवहार, निरीहता तथा निर्लोभता। गौतम ने बताया है कि जिस व्यक्ति ने चालीस सस्कारो का अनुष्ठान तो किया है, किन्तु उसम उक्त आठ आत्मगुण नही है, वह ब्रह्म का सान्निध्य नही पा सकता। किन्तु जिस व्यक्ति ने केवल कतिपय सस्कारो का ही अनुष्ठान किया है, और जो आत्मा के उक्त आठ गुणो स सुशोभित है, वह ब्रह्मलोक मे ब्रह्म का सान्निध्य प्राप्त कर लेता है।[1] स्पष्ट है कि सस्कारो मे व्यक्ति के नैतिक विकास का प्रयत्न सम्मिलित है।

(7) सस्कारा का एक प्रमुख लक्ष्य व्यक्तित्व का निर्माण और विकास रहा है। सस्कारो का उद्देश्य, व्यक्ति के अनुशासित जीवन व्यतीत करने के लिए, उसका माग दशन करना रहा है। समाज की सास्कृतिक पृष्ठभूमि का ध्यान मे रखकर ही सस्कारो क माध्यम स व्यक्ति के चरित्र निर्माण का यहाँ प्रयत्न किया गया है। इस उद्देश्य के सम्बन्ध म राजबली पाण्डय न लिखा है कि सस्कार माग दशन का काय करते थे, जो आयु के बढने के साथ व्यक्ति के जीवन को एक निर्दिष्ट दिशा की ओर ले जाते थे। फलत एक हिन्दू के लिए अनुशासित जीवन व्यतीत करना आवश्यक था तथा उसकी शक्तिया सुनियोजित व साद्देश्य धारा मे प्रवाहमान रहती थी। सस्कारो के माध्यम स व्यक्तित्व का निर्माण एव विकास का प्रयत्न किस प्रकार किया जाता था इसक उदाहरण के रूप म डा० पाण्डेय न आगे लिखा है कि गृहस्थ के लिए जिन विविध यज्ञो व व्रतो का विधान किया गया था, उनका प्रयोजन स्वाथपरता को दूर कर उस यह अनुभव करन की प्रेरणा दना था कि वह समस्त समाज का एक अग है। सस्कारा को अनिवाय बनान म हिन्दू समाजशास्त्रियो का उद्देश्य सस्कृत व चरित्र की दृष्टि स समाज का एक रूप विकास तथा उस समान आदश स अनुप्राणित करना था। इस प्रकार वे बहुत दूर तक सफल रहे।[2]

(8) सस्कारो का एक उद्देश्य आध्यात्मिकता के महत्व को स्पष्ट करना भी रहा है। आध्यात्मिकता भारतीय सामाजिक जीवन की एक प्रमुख विशेषता रही है। इसी विशेषता क कारण यहाँ सस्कार भी आध्यात्म-साधन के रूप म प्रयुक्त हुए हैं। डॉ० पाण्डेय के अनुसार सस्कार हिन्दुओ के लिए सजीव धार्मिक अनुभव थे, केवल बाहरी उपचार मात्र नही। सस्कार जीवन की आत्मवादी और भौतिक धारणाओ के बीच मध्यमाग का काम दत थे। सस्कार एक प्रकार से आध्यात्मिक शिक्षा की

1 पूर्वोक्त, 8-25।
2 डा० राजबली पाण्डेय, पूर्वोक्त, पृ० 37 38।

क्रमिक सीढियो का काय करते है। उनके द्वारा सस्कृत व्यक्ति यह अनुभव करता था कि सम्पूण जीवन वस्तुत सस्कारमय है और सम्पूर्ण दैहिक क्रियाएँ आध्यात्मिक ध्येय से अनुप्राणित हैं। यही वह माग था जिससे क्रियाशील सासारिक जीवन का समन्वय आध्यात्मिक तथ्यो के साथ स्थापित किया जाता था। जीवन की इस पद्धति मे शरीर और उसके काय बाधा नही, पूणता की प्राप्ति मे सहायक हो सकते थे।[1] इस कथन से सस्कारो का आध्यात्मिक महत्व स्वत ही स्पष्ट हो जाता है।

## हिन्दू जीवन के मुख्य सस्कार
### (MAJOR *SANSKARS* IN HINDU LIFE SCHEME)

हिन्दू जीवन से सम्बन्धित सस्कारो की सख्या के सम्बन्ध मे धमशास्त्रो मे काफी भिन्नता पायी जाती है। गौतम धमसूत्र मे सस्कारो की सख्या चालीस बतायी गयी है। वाराह, पारस्कर एव बौद्धायन गृह्यसूत्र तथा मनुस्मृति मे इनकी सख्या तेरह है जबकि वैखानस गृह्यसूत्र मे अठारह मानी गयी है। ऋग्वेद मे गर्भाधान, विवाह एव मृत्यु नामक तीन सस्कारो का ही उल्लेख किया गया है। ऋषि दयानन्द न विभिन्न सस्कारो को समन्वित कर सोलह सस्कारो का विधान किया है। यहा हम सस्कारो की सख्या के सम्बन्ध म पाये जाने वाले मतभेद म न पडकर चौदह प्रमुख सस्कारो पर विचार करेंगे। सस्कारो के सम्बन्ध म हमे एक प्रमुख बात यह ध्यान म रखनी है कि यद्यपि प्रत्यक सस्कार का एक विशेष उद्देश्य रहा है परन्तु सभी सस्कारो मे कुछ तत्व सामा य रूप स पाय जाते हैं। प्रत्येक सस्कार को सम्पन्न करते समय देवताओ का आह्वान किया जाता और अलौकिक शक्तियो से इच्छित फल की प्राथना की जाती। सभी सस्कारो मे अग्नि प्रज्ज्वलित की जाती, यज्ञ किया जाता, स्नान एव आचमन किया जाता, पूजा एव आराधना की जाती तथा आध्यात्मिक वातावरण के अनुरूप कुछ मूत वस्तुओ का प्रयोग किया जाता है।

हिन्दू जीवन से सम्बन्धित प्रमुख सस्कार इस प्रकार हैं

(1) गर्भाधान

'जिस कम के द्वारा पुरुष स्त्री मे अपना बीज स्थापित करता है उसे गर्भाधान कहते हैं।'[2] शौनक के अनुसार जिस कम के सम्पादन से स्त्री प्रदत्त शुक्र धारण करती है, वही गर्भाधान सस्कार है। प्रजनन काय को उद्देश्यपूर्ण एव सस्कृत बनाने हेतु गर्भाधान सस्कार किया जाता था। धमशास्त्रो में इस सस्कार के सम्पादन का समय भी निधारित किया गया है। शाखायन गृह्यसूत्र मे लिखा है कि विवाह की चौथी रात्रि को पति पत्नी से सहवास करता है और कहता है कि 'जिस प्रकार पृथ्वी मे अग्नि है, उसी प्रकार एक नर भ्रूण गर्भाशय म प्रवेश करे वह दर्स

1 पूर्वोक्त पृष्ठ 39।
2 गर्भ सधायते येन कर्मणा तद्गर्भाधानमित्यनुगताय यमंनामधेयम —पूव मीमासा, अध्याय 1, 4, 2।

मास के बाद एक पुरुष के रूप में उत्पन्न हो। प्राचीन काल में साधारणत प्रत्येक कार्य को धार्मिक कार्य समझा जाता था और इसी कारण गर्भाधान की दृष्टि से किये जाने वाले सहवास के समय भी वैदिक मन्त्रों का उच्चारण किया जाता था। धार्मिक दृष्टि से पुत्र सन्तान का विशेष महत्व पाये जाने के कारण गर्भाधान संस्कार के समय पर विशेष रूप से जोर दिया गया है। मनु याज्ञवल्क्य एवं बौधायन की मान्यता है कि पत्नी के ऋतुस्नान की चौथी रात्रि से लेकर सोलहवी रात्रि तक का समय गर्भाधान की दृष्टि से उपयुक्त है। इन रात्रियो में पुत्र जन्म के लिए सम रात्रि (अर्थात जिसे 2 से विभाजित किया जा सकता हो) तथा कन्या जन्म के लिए विषम रात्रि को चुना जाना चाहिए। इन रात्रियो में भी बौधायन ने सहवास के लिए अद्र रात्रि के बाद के समय को अधिक उपयुक्त माना है। मनुस्मृति में बताया गया है कि इस संस्कार का सम्पादन 8वी, 14वी, एवं 30वी रात्रि को नही किया जाना चाहिए। पाराशर ने प्रत्येक व्यक्ति के लिए इस संस्कार को आवश्यक माना है। आपका कथन है कि जो व्यक्ति स्वस्थ होते हुए भी ऋतुकाल में पत्नी के समीप नही जाता, वह भ्रूण हत्या का दोषी होता है।[1] हिन्दू समाज मे पितृ ऋण से मुक्त होने के उद्देश्य से सन्तानोत्पत्ति को अनिवार्य माना गया है और यही कारण है कि यहाँ गर्भाधान संस्कार का विशेष महत्व रहा है। आधुनिक समय में इस संस्कार का महत्व समाप्त प्राय हो गया है।

(2) पुंसवन

'पुंसवन' शब्द का प्रयोग अथर्ववेद मे मिलता है जिसका अर्थ पुत्र सन्तान को जन्म देने से है। पुंसवन संस्कार का उद्देश्य पुत्र सन्तान की प्राप्ति रहा है। युद्ध एवं धार्मिक कार्यों के सम्पादन के लिए पुरुषो का महत्व पाये जाने के कारण ही पुत्र सन्तानो के जन्म की विशेष रूप से कामना की जाती थी। पुंसवन का अर्थ स्पष्ट करते हुए संस्कार प्रकाश मे बताया गया है कि इसका तात्पर्य उस कर्म से था जिसके अनुष्ठान से 'पुं—पुमान् (पुरुष) का जन्म हो।[2] पुत्र सन्तान को जन्म देने वाली माता को भी समाज में सम्मानित स्थान प्राप्त था। अत पुत्र सन्तान की प्राप्ति पर विशेष जोर दिया जाता था। आश्वलायन गृह्यसूत्र में बताया गया है कि इस संस्कार को गर्भ धारण के तीसरे महीने मे सम्पन्न करना चाहिए। इस संस्कार के अवसर पर पुनर्वसु नक्षत्र में उपवास के पश्चात् स्त्री अपने ही समान रंग की बछड़े वाली गाय के दही के साथ दो बीज सेम के तथा एक दाना जौ का खाती है। इस क्रिया को वह तीन बार दोहराती है। इस अवसर पर पति उसे तीन बार पूछता है कि तुम क्या पी रही हो और उत्तर के रूप में स्त्री बताती है कि पुंसवन (पुत्र की उत्पत्ति)। गृह्यसूत्रो के

1 पाराशर स्मृति, 4 15।

2 पुमान प्रसूयते येन कर्मणा तत् पुंसवनमीरितम। शौनक, वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश, भाग 1 पृष्ठ 166।

अनुसार यह सस्कार उस समय सम्पन्न किया जाता जब चन्द्रमा पुष्य नक्षत्र मे, विशेष रूप से तिष्य मे सक्रमण करता। स्त्री इस दिन उपवास रखती और रात्रि म उसकी नाक के दाहिने नथुने मे बट वृक्ष की छाल को कूटकर निकाला गया रस म त्रोचारण के साथ डाला जाता था। इस समय यह कामना की जाती थी कि स्त्री पुत्र को जन्म दे। याज्ञवल्क्य तथा विज्ञानेश्वर की मान्यता है कि यह सस्कार प्रत्येक गभ धारण के समय किया जाना चाहिए। इस अवसर पर स्त्री के अक मे जल से भरा हुआ कलश रखा जाता और पति गभ का स्पश करके पुत्र सन्तान की कामना करता। डॉ० पी० वी० काणे का कथन है कि पु सवन सस्कार मे धार्मिक, प्रतीकात्मक तथा औषधि सम्बन्धी तत्व पाये जाते है।[1]

(3) सीमान्तोन्नयन

इस सस्कार मे गर्भिणी स्त्री के केश (सीमन्त) को ऊपर उठाया (उन्नयन) जाता था। ऐसा विश्वास किया जाता था कि गर्भिणी पर अमगलकारी या दुष्ट शक्तियो का कुप्रभाव पड सकता है। इसे कुप्रभाव को समाप्त करने के उद्देश्य से यह सस्कार सम्पन्न किया जाता रहा है। इस सस्कार का एक प्रयोजन माता के ऐश्वय एव अनुत्पन्न शिशु के लिए दीर्घायुष्य की कामना था। गर्भिणी के केशो को सँवारने का एक अन्य उद्देश्य उसे यथासम्भव—हर्षित एव उल्लसित रखना था। गृह्यसूत्र मे गभ के चौथे या पाँचवें मास मे इस सस्कार के सम्पन्न करने का विधान किया गया है। इस अवसर पर भावी माता को उपवास करना होता था। यह सस्कार मातृपूजा, नान्दि श्राद्ध एव प्राजापत्य आहुति प्रास्ताविक कृत्यो के साथ प्रारम्भ होता था।[2] तब पत्नी अग्नि के पश्चिम मे एक कोमल आसन पर आसीन हो जाती थी और पति उदुम्बर के समसख्यक कच्चे फलो के गुच्छो, दभ अथवा कुश के तीन गुच्छो व तीन श्वेत चिह्न वाले साही के काँटे, वीरतरु काष्ठ की यष्टि तथा पूण तकुवे के साथ 'भूभव स्व' आदि म त्र अथवा महाव्याहृतियो मे से प्रत्येक का उच्चारण करता हुआ पत्नी के सीमन्तो को ऊपर की ओर (यथा शिर के अग्रभाग से आरम्भ कर) सवारता था।[3] यह सस्कार ब्राह्मण भोजन के साथ समाप्त होता था। तब गर्भिणी स्त्री एक गौ के बछडे का स्पश करती थी क्योकि ऐसा करना पु सन्तति (पुत्र सन्तान) का प्रतीक माना जाता था।

इस सस्कार के द्वारा गर्भिणी स्त्री और उसके पति के कतव्यो का निर्धारण भी किया गया है ताकि गभस्थ शिशु पर कोई कुप्रभाव न पडे। डा० पाण्डय ने पति के कतव्यो के सम्बन्ध मे लिखा है कि उसका प्रथम व सबसे प्रधान कतव्य था अपनी गर्भिणी पत्नी की इच्छाओ की पूर्ति करना। याज्ञवल्क्य के अनुसार गर्भिणी

1 पी० वी० काणे, पूर्वोक्त, पृ० 188।
2 पारस्कर, गृह्यपद्धति।
3 पा० गृ० सू०, 1, 15, 4।

स्त्री की इच्छाओ की पूर्ति न करने से गर्भ दोषयुक्त हो जाता है। अत पति को अपनी गर्भिणी पत्नी का अभीष्ट प्रिय करना चाहिए। आश्वलायन स्मृति के अनुसार गर्भ के छठे मास के पश्चात पति को केशो का कटवाना, मैथुन, तीर्थ यात्रा तथा श्राद्ध का दर्शन न करना चाहिए।[1] गर्भिणी स्त्री के कर्तव्यो के सम्बन्ध मे बताया गया है कि उसे हाथी घोडे तथा पहाड या कई मजिलो वाले मकान पर नहा चढना चाहिए। डॉ० पाण्डेय के अनुसार उसे व्यायाम, भ्रमण, बैलगाडी म यात्रा, दुख शोक, रक्त-स्राव, मुर्गे की तरह बैठन, श्रम दिवा-शयन, रात्रि जागरण, बासी खट्टा, उष्ण रूक्ष तथा भारी भोजन, इन सभी का वर्जन करना चाहिए। इन सभी निषेधो का प्रमुख उद्देश्य गर्भिणी स्त्री के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा करना रहा है।

### (4) जातकर्म

यह सस्कार बालक के जन्म के ठीक पश्चात सम्पन्न किया जाता है। इस सस्कार का उद्देश्य बालक को हानिकारक शक्तियो के प्रभाव से बचाया एव उसके दीर्घजीवी और स्वस्थ होने की कामना करना है। इस सस्कार का एक लक्ष्य स्वच्छता एव शुद्धता बनाये रखना है। बालक के जन्म के तुरन्त पश्चात पिता अपनी चौथी अगुली एव एक सोने की शलाका से शिशु को शहद और घी अथवा केवल घी चटाता है। यह कृत्य बालक के बौद्धिक विकास के प्रति पिता की रुचि को व्यक्त करता है। इस सस्कार के अवसर पर बालक की नाभि या दाहिने कान के निकट पिता गुनगुनाता हुआ कहता था—'अग्नि दीर्घजीवी है, वह वृक्षो मे दीर्घजीवी है। मैं इस दीर्घ आयु से तुझे दीर्घायु करता हू सोम दीर्घजीवी है वह वनस्पतियो द्वारा दीर्घजीवी है' आदि। डॉ० पाण्डेय ने बताया है कि इस प्रकार शिशु के समक्ष दीर्घायुष्य के सभी सम्भव उदाहरण प्रस्तुत किये जाते थे तथा विचारो के सयोग से यह विश्वास किया जाता था कि उक्त उदाहरणो के कथन से शिशु भी दीर्घायुष्य प्राप्त कर लेगा।[2] उसके बाद पिता बालक के दृढ वीरतापूर्ण एव शुद्ध जीवन के लिए कामना करता। तत्पश्चात नाभि की गुण्डी अलग की जाती, बालक को स्नान कराया जाता और स्तन पान के लिए उसे माता को दे दिया जाता है। इस सस्कार के समाप्त होने पर ब्राह्मणो को दान-दक्षिणा दी जाती तथा भिक्षा का वितरण किया जाता है।

### (5) नामकरण

नामकरण सस्कार के महत्व के सम्बन्ध मे डॉ० पाण्डेय ने लिखा है कि हिन्दुओ ने अति प्राचीन काल मे ही व्यक्तिगत नामो के महत्व का अनुभव किया तथा

---
1 डॉ० राजबली पाण्डेय पूर्वोक्त पृ० 85।
2 पूर्वोक्त पृ० 95।

नामकरण की प्रथा को धार्मिक संस्कार में परिणत कर दिया।[1] बृहस्पति ने नामों को सभी प्रकार के व्यवहारों, शुभ कर्मों एवं भाग्य का आधार माना है। गृह्यसूत्रों के अनुसार नामकरण संस्कार बालक के जन्म के दसवें या बारहवें दिन सम्पन्न किया जाता था। गोभिल गृह्यसूत्रों में बताया गया है कि नामकरण दसवें, बारहवें, सौवें दिन अथवा प्रथम वर्ष के समाप्त होने पर करना चाहिए।[2] इस संस्कार के समय माता बालक को शुद्ध वस्त्र से ढककर एवं उसके सिर को जल से गीला कर पिता की गोद में देती है। इसके बाद प्रजापति, तिथि, नक्षत्र एवं उनके देवताओं, अग्नि तथा साम को आहुतियाँ दी जाती हैं। तत्पश्चात पिता शिशु के दाहिने कान की ओर झुकता हुआ उसके नाम का उच्चारण करता। बालक का नाम रखते समय उसके वर्ण, जाति एवं फलित ज्योतिष के अनुसार उसकी राशि का ध्यान रखा जाता। संस्कार प्रकाश में चार प्रकार के नामों का उल्लेख मिलता है जैसे—कुल-देवता नाम, मास नाम, नक्षत्र नाम तथा व्यावहारिक नाम। मनु ने नामकरण के सम्बन्ध में दो नियम बताये हैं प्रथम, सभी वर्ण के लोगों का नाम शुभ सूचक, शक्ति बोधक एवं शांति दायक होना चाहिए, तथा द्वितीय, ब्राह्मणों तथा अन्य वर्णों के नाम के साथ एक उपपद होना चाहिए, जिससे क्रमश प्रसन्नता, रक्षा, पुष्टि और प्रेष्य का संकेत मिले। इस संस्कार के सम्बन्ध में डॉ० पी० वी० काणे ने लिखा है कि आधुनिक काल में नामकरण जन्म के बारहवें दिन बिना किसी वैदिक मन्त्रोच्चारण के मना लिया जाता है। स्त्रियाँ एकत्र होती हैं और पुरुषों से परामर्श कर नाम घोषित कर देती हैं। कहीं कहीं अब भी यह संस्कार विधिवत किया जाता है परन्तु अब इसका प्रचलन एक प्रकार से उठ गया है।[3] इस संस्कार को सम्पादित करते समय ब्राह्मणों एवं अतिथियों के लिए भोजन की व्यवस्था की जाती है।

(6) निष्क्रमण

शिशु के विधि विधानपूर्वक प्रथम बार घर से बाहर जाने को निष्क्रमण संस्कार के नाम से पुकारते हैं। इस अवसर पिता बालक को बाहर ले जाता और मन्त्रोच्चारण के साथ सूर्य का दर्शन कराता था। इस संस्कार के सम्पादन के समय के सम्बन्ध में मनुस्मृति में बताया गया है कि यह समय जन्म के पश्चात् बारहवें दिन से चतुर्थ मास तक भिन्न भिन्न था।[4] गृह्यसूत्रों एवं स्मृतियों के अनुसार यह संस्कार जन्म के तीसरे या चौथे मास में सम्पन्न किया जाता था। संस्कार की विधि के सम्बन्ध में डॉ० पाण्डेय ने लिखा है कि संस्कार के लिए नियत दिन माता बरामदे या आँगन के ऐसे वर्गाकार भाग को, जहाँ से सूर्य दिखायी देता, गोबर और मिट्टी से

1 पूर्वोक्त, पृष्ठ 99।
2 गोभिल गृह्यसूत्र—परिशिष्ट।
3 डॉ० पी० वी० काणे, पूर्वोक्त, पृष्ठ 196।
4 मनुस्मृति, 2, 134।

लीपनी, उम पर स्वास्तिक का चिह्न बनाती तथा धान्य कणो को विकीर्ण करती थी। सूत्रकाल मे पिता के द्वारा शिशु को सूर्यदर्शन कराने के साथ सस्कार समाप्त हो जाता था।[1] इस अवसर पर शख ध्वनि एव वैदिक मन्त्रो का उच्चारण भी किया जाता था। इस सस्कार का महत्व इसी दृष्टि से था कि एक निश्चित समय के पश्चात् बालक को घर से बाहर खुली वायु मे लाया जाना चाहिए तथा यह अभ्यास चलते रहना चाहिए।

(7) अन्नप्राशन

इस सस्कार के पूर्व तक शिशु अपने भोजन के लिए माता के दूध या गाय के दूध पर ही निर्भर रहता था। जब उसकी पाचन शक्ति बढ जाती और उसके शरीर के विकास के लिए पौष्टिक तत्वो की आवश्यकता पडती, तब बालक को प्रथम बार अन्न दिया जाता। गृह्यसूत्रो मनुस्मृति[2] तथा याज्ञवल्क्य स्मृति[3] के अनुसार यह सस्कार शिशु के जन्म के बाद छठें मास मे सम्पन्न किया जाता था। कुछ पण्डितो के अनुसार जन्म के पश्चात् एक वर्ष सम्पूर्ण होने पर यह सस्कार किया जाता था। इस अवसर पर शिशु को दही, घी एव शहद के साथ अन्न दिया जाता। मार्कण्डेय-पुराण मे बताया गया है कि इस सस्कार के समय शिशु को शहद और घी के साथ खीर खिलायी जाती। बाद मे बालक को दूध और भात खिलाने का रिवाज अधिक प्रचलित हो गया। भोजन का प्रकार चाहे कैसा भी क्यो न हो, विशेष ध्यान इस बात का रखा जाता कि भोजन लघु एव बालक के लिए स्वास्थ्यवर्धक हो। इस सस्कार के अवसर पर भोजन तैयार करते समय वैदिक मन्त्रो का उच्चारण किया जाता था। भोजन तैयार हो जाने पर देवताओ की अर्चना एव शिशु की सभी इन्द्रियो की सन्तुष्टि के लिए प्रार्थना की जाती थी। तत्पश्चात पिता शिशु को भोजन कराता। ब्राह्मण भोजन के साथ यह सस्कार पूर्ण होता था। इस सस्कार का महत्व इस कारण था कि शिशु को उचित समय पर अपनी माता का दूध पीने से अलग कर दिया जाय ताकि उसका शारीरिक विकास ठीक ढग से हो सके और माता की शक्ति का भी निरर्थक क्षय न हो।

(8) चूडाकरण

धर्मशास्त्रो के अनुसार सस्काय व्यक्ति के लिए दीर्घ आयु सौन्दर्य तथा कल्याण की प्राप्ति इस सस्कार का प्रयोजन था।[4] चरक का विचार है कि केश, श्मश्रु एव नखो के काटने एव प्रसाधन से पौष्टिकता, बल, आयुष्य शुचिता और सौन्दर्य की प्राप्ति होती है। इस सस्कार के पीछे स्वास्थ्य एव सौन्दर्य की

1 राजबली पाण्डेय पूर्वोक्त पृ० 112।
2 मनुस्मृति 2-34।
3 याज्ञवल्क्य स्मृति, 1-12।
4 आ० गृ० सू०, 1, 17, 12।

भावना ही प्रमुख थी। गृह्यसूत्रो के मतानुसार चूडाकरण सस्कार जन्म के पश्चात प्रथम वर्ष के अन्त मे अथवा तृतीय वर्ष की समाप्ति के पूर्व सम्पन्न होता था।[1] मनु ने लिखा है कि वेदो के नियमानुसार धर्मपूर्वक समस्त द्विजातियो का चूडाकर्म प्रथम अथवा तृतीय वर्ष मे सम्पन्न करना चाहिए।[2] तीसरे वर्ष मे सम्पन्न चूडाकरण को सर्वोत्तम माना गया है। साधारणत सूर्य के उत्तरायण मे होने पर यह सस्कार घर पर, किसी मन्दिर या धार्मिक स्थान पर या पवित्र नदी के किनारे सम्पन्न किया जाता है। लम्बी निराशा अथवा पूर्व सन्तान की मृत्यु के पश्चात् होने वाले बालक का चूडाकरण या मुण्डन सस्कार मनौती के अनुसार किसी देवालय या धार्मिक महत्व के अन्य स्थान पर होता है। शिखा रखना इस सस्कार का महत्वपूर्ण अग था। कालान्तर मे शिखा हिन्दुओ का एक अनिवार्य चिह्न बन गयी। आधुनिक काल मे शिखा रखना रूढिवादिता मात्र समझा जाता है।

इस सस्कार के लिए कोई शुभ दिन चुना जाता है। सर्वप्रथम, सकल्प, गणेश-पूजन, मगल-श्राद्ध आदि प्रारम्भिक कृत्य किये जाते, तत्पश्चात् ब्राह्मण भोजन होता। इसके बाद माता बालक को स्नान कराकर बिना धुले हुए नवीन वस्त्र से ढँककर अपनी गोद मे लेकर यज्ञिय अग्नि के पश्चिम की ओर बैठ जाती। इसके बाद पिता अनेक आहुतियाँ देता, मन्त्रोच्चारण के बीच बालक के कल्याण की कामना की जाती और नाई के द्वारा उसके केश काट दिये जाते। इन केशो को गोबर या आटे की लोई मे लपेट कर किसी गुप्त स्थान पर गाड या फेंक दिया जाता अथवा किसी पवित्र नदी मे बहा दिया जाता। अमगलकारी शक्तियो के कुप्रभाव या केशो पर किसी प्रकार के जादू किये जाने से बालक को बचाने के उद्देश्य से ऐसा किया जाता था। हिन्दुओ मे आज भी इस सस्कार का महत्व पाया जाता है।

### (9) कर्ण-वेध

*आभूषण पहनने के लिए विभिन्न अगो के छेदन की प्रथा सम्पूर्ण ससार की* असभ्य तथा अर्ध सभ्य जातियो मे प्रचलित है। किन्तु सभ्यता के उन्नत होने पर भी अलकरण प्रचलित रहा, यद्यपि वह परिष्कृत हो गया था। जहाँ तक कानो के छेदने का प्रश्न है, निस्सन्देह आरम्भ मे अलकरण के लिए इसका प्रचलन हुआ, किन्तु आगे चलकर यह उपयोगी सिद्ध हुआ और इसकी आवश्यकता पर बल देने के लिए इसे धार्मिक स्वरूप दिया गया। सुश्रुत की मान्यता है कि रोग आदि से रक्षा एव भूषण या अलकरण के लिए बालक के कानो का छेदन करना चाहिए। बृहस्पति, गर्ग एव श्रीपति के अनुसार बालक के जन्म के एक वर्ष के भीतर भीतर यह सस्कार सम्पन्न कर देना चाहिए। किन्तु कात्यायन सूत्र मे कर्णवेध संस्कार के उपयुक्त समय

1 पा० गृ० सू०, 2, 1 1 2।
2 मनुस्मृति, 2, 35।
3 राजबली पाण्डेय, पूर्वोक्त, पृ० 129।

के रूप में शिशु के तीसरे या पाँचवें वर्ष का विधान किया गया है।[1] कर्ण छेदन के लिए संस्कार कर्ता के रूप में वंश परम्परागत अनुभव के कारण अधिकतर सुनार को बुलाया जाता है। कान छेदने के लिए सोने, चाँदी अथवा ताँबे की सुई का विधान किया गया है। इस संस्कार के विधि विधान के सम्बन्ध में कात्यायन-सूत्र में लिखा है कि एक शुभ दिन में मध्याह्न के पूर्व दिन के पूर्वार्द्ध में यह संस्कार किया जाता था। शिशु को पूर्वाभिमुख बैठाकर कुछ मिठाइयाँ दी जाती थीं। इसके पश्चात् इस मन्त्र के साथ शिशु का दायाँ कान छेदा जाता 'हम अपने कानों से भद्र-वाणी सुनें।' तब बायाँ कान 'वक्ष्यन्ति' आदि मन्त्र के साथ छेदा जाता था। तत्पश्चात् ब्राह्मण भोजन के साथ संस्कार समाप्त होता था।[2]

(10) विद्यारम्भ

इस संस्कार के साथ बालक की शिक्षा प्रारम्भ होती थी। बालक का मस्तिष्क जब शिक्षा ग्रहण करने के योग्य हो जाता, तब उसका विद्यारम्भ अक्षर ज्ञान के साथ शुरू होता था। यह एक सांस्कृतिक संस्कार है जिसका उद्भव सभ्यता की उस उन्नत अवस्था में हुआ जब वर्णमाला का विकास हो चुका था। इस संस्कार के द्वारा बालक के मानसिक एवं बौद्धिक विकास का कार्य प्रारम्भ होता था। विश्वामित्र के अनुसार बालक की आयु के पाँचवें वर्ष में यह संस्कार सम्पन्न किया जाता था। पण्डित भीमसेन शर्मा के अनुसार यह संस्कार पाँचवें अथवा सातवें वर्ष में किया जा सकता था। इस संस्कार के लिए कोई ऐसा शुभ दिन चुना जाता था जब सूर्य उत्तरायण में हो। इस दिन बालक को स्नान और सुन्दर वेश भूषा से अलंकृत कर गणेशजी, सरस्वती, बृहस्पति एवं गृहदेवता की पूजा की जाती थी। इसके पश्चात् होम किया जाता। गुरु पूर्व दिशा की ओर बैठकर पश्चिम की ओर मुंह करके बैठे हुए बालक को अक्षर लिखना सिखाता था। फिर बालक गुरु को वस्त्र एवं आभूषण भेंट के रूप में देता और देवताओं की तीन परिक्रमा करता था। इस अवसर पर ब्राह्मणों को दक्षिणा दी जाती और वे बालक को आशीर्वाद देते थे। वर्तमान में इस संस्कार की विधि के सम्बन्ध में डॉ० काणे ने लिखा है कि आधुनिक काल में लिखना सीखना किसी शुभ मुहूर्त में आरम्भ किया जाता है। यह शुभ मुहूर्त बहुधा अश्विन मास के शुक्ल पक्ष की विजयादशमी की तिथि को पड़ता है। सरस्वती एवं गणपति के पूजन के उपरान्त गुरु का सम्मान किया जाता है, बच्चा 'ओम् नमः सिद्धम्' दुहराता है और पट्टी पर लिखता है। इसके उपरान्त उसे अ, आ, इत्यादि सिखाये जाते हैं।[3]

(11) उपनयन

उपनयन संस्कार हिन्दुओं के विशाल साहित्य भण्डार के ज्ञान का प्रवेश पत्र

---

1 पा० गृ० सू० परिशिष्ट 1।
2 पा० गृ० सू०, परिशिष्ट कर्णवेधसूत्र 1, 2।
3 पी० वी० काणे, पूर्वोक्त, पृ० 205।

माना जाता था। अथर्ववेद मे उपनयन शब्द का प्रयोग ब्रह्मचारी का ग्रहण करने के अर्थ मे हुआ है।[1] यहाँ इसका तात्पर्य आचार्य के द्वारा ब्रह्मचारी का वेदविद्या मे दीक्षित करने से है। धीरे धीरे उपनयन शब्द का प्रयोग अभिभावकों द्वारा विद्यार्थी का आचार्य के निकट ले जाने के अर्थ मे होने लगा। वीरमित्रोदय मे उद्धृत एक आचार्य के अनुसार उपनयन का अभिप्राय केवल शिक्षा के ही अर्थ म सीमित नही है। यह वह कृत्य है जिसके द्वारा व्यक्ति गुरु, वेद, यम, नियम का व्रत और देवता के सामीप्य के लिए दीक्षित किया जाता है।[2] आजकल उपनयन संस्कार का शिक्षा सम्बन्धी अर्थ प्राय लुप्त हो चुका है, अब इसे बालक के 'जनऊ' धारण संस्कार के रूप मे लिया जाता है।

इस संस्कार का प्रमुख उद्देश्य शिक्षा ही था तथा विद्यार्थी को आचार्य के निकट ले जाने का कर्मकाण्ड गौण था। याज्ञवल्क्य के अनुसार उपनयन का सर्वोच्च लक्ष्य वेदो का अध्ययन करना है। आपस्तम्ब और भारद्वाज के अनुसार उपनयन विद्याध्ययन के लिए इच्छुक व्यक्ति के श्रुति के अनुसार संस्कार को कहते है।[3] डॉ० पाण्डेय ने बताया है कि अपने अन्तिम विकास मे उपनयन एक प्रकार का पुरुषार्थ माना जाने लगा जिसमे विद्या प्राप्ति की भावना का कोई विशेष महत्व नही रहा।[4] जहाँ तक उपनयन संस्कार की आयु का प्रश्न है, गृहसूत्रो के अनुसार ब्राह्मण बालक का उपनयन संस्कार आठवें वर्ष, क्षत्रिय का ग्यारहवें तथा वैश्य का बारहवें वर्ष मे किया जाना चाहिए। बौधायन के अनुसार आठ और सोलह के बीच किसी भी वर्ष मे ब्राह्मण का उपनयन किया जा सकता है।[5]

उपनयन संस्कार सम्पन्न करने हेतु कोई शुभ दिन चुन लिया जाता, विशेषत शुक्ल पक्ष का कोई ऐसा दिन जब सूर्य उत्तरायण में हो, संस्कार के एक दिन पहले गणेशजी की आराधना तथा लक्ष्मी, शची, मेधा, पुष्टि, श्रद्धा व सरस्वती आदि का पूजन किया जाता। विद्यार्थी सम्पूर्ण रात्रि मौन रहकर व्यतीत करता। प्रातःकाल माता और पुत्र अन्तिम बार साथ साथ भोजन करते। डॉ० अल्तेकर के अनुसार यह बालक के अनियमित जीवन के अन्त का सूचक था तथा बालक को यह स्मरण कराना था कि अब वह दायित्वहीन शिशु नही रहा और अब उसे व्यवस्थित जीवन व्यतीत करना है।[6] इसे माता और पुत्र की विदाई का भोज भी माना गया है। तत्पश्चात् बालक को मण्डप मे ले जाया जाता जहाँ उसका मुण्डन होता। फिर बालक को

1 अथर्ववेद 11 5 3।
2 वी० मि० स०, भा० 1, पृ० 334।
3 आपस० ध० सू०, 1।
4 राजबली पाण्डेय, पूर्वोक्त, पृ० 151।
5 बौ० गृ० सू० 2, 5।
6 A S Altekar *Education in Ancient India* I p 19

स्नान कराया जाता है और गुह्य अंगों को ढकने के लिए कौपीन (वस्त्र) दिया जाता है। जब वह आचार्य के निकट जाकर ब्रह्मचारी बनने की इच्छा व्यक्त करता तो आचार्य उस शरीर के ऊपरी भाग को ढकने हेतु वस्त्र (उत्तरीय) देता। इसके बाद आचार्य मन्त्रोच्चारण के साथ बालक की कमर में मेखला बांधता जो उसे पापों से बचाती, उसके जीवन को शुद्ध रखती और कुप्रभावों से रक्षा करती। तत्पश्चात ब्रह्मचारी को उपवीत सूत्र (जनेऊ) दिया जाता। उपवीत के तीन धागे सत्व, रजस एवं तमस् का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसके तीन धागे ब्रह्मचारी को यह स्मरण भी कराते कि उसे ऋषि ऋण, पितृ ऋण एवं देव ऋण से उऋण होना है। यज्ञोपवीत धारण कराते समय आचार्य मन्त्रोच्चारण द्वारा बालक के आयुष्य, बल तथा तेज के लिए कामना करता है।

इस अवसर पर आचार्य के द्वारा बालक को अजिन अर्थात् मृगचर्म या पशुचर्म तथा एक 'दण्ड' दिया जाता। दण्ड धारण करते समय ब्रह्मचारी यह प्रार्थना करता था कि उसकी दुर्गम यात्रा और दीर्घ जीवन सुरक्षित रूप से पूर्ण हो। इसके बाद आचार्य ब्रह्मचारी के हृदय का स्पर्श करता। तब विद्या के अधिदेवता से आचार्य एवं शिष्य के हृदय को संयुक्त करने की प्रार्थना की जाती। इसका उद्देश्य विद्यार्थी एवं आचार्य के बीच पूर्ण ऐकमत्य तथा यथार्थ व पवित्र सम्बन्ध स्थापित करना था। तब बालक का अश्मारोहण होता अर्थात् उसे पत्थर के किसी टुकड़े या शिला पर खड़ा किया जाता। इस कृत्य का उद्देश्य विद्यार्थी को अपने स्वाध्याय में दृढ़ व स्थिर होने तथा शरीर व चरित्र को सबल बनाने की प्रेरणा प्रदान करना था। इसके बाद आचार्य अध्यापन तथा रक्षा के लिए विद्यार्थी को अपने संरक्षण में लेता। तत्पश्चात अनेक दायित्वों के निर्वाह का आदेश देता हुआ आचार्य उसे सावित्री मन्त्र का उपदेश देता। यह मन्त्र बालक के द्वितीय जन्म का परिचायक था। फिर वह यज्ञ की अग्नि प्रथम बार प्रज्ज्वलित करता और उसमें आहुति डालता। इस समय वह कामना करता कि मैं जीवन, अन्तर्दृष्टि तेज, प्रजा, पशु तथा ब्रह्मवर्चस से समृद्ध बनूं। फिर ब्रह्मचारी उपस्थित लोगों से भिक्षा मांगता जो इस बात का प्रतीक थी कि वह अपनी शिक्षा दीक्षा के लिए समाज पर निर्भर है। इससे उसमें यह भाव भी जाग्रत होता कि जब वह समाज से ग्रहण कर रहा है तो समाज के प्रति उसका दायित्व भी है।

उपनयन संस्कार का महत्व इस दृष्टि से विशेष रूप से है कि यह विद्यार्थी को अनुशासित और त्यागमय व्यतीत करने करने की प्रेरणा प्रदान करता है। इस संस्कार के माध्यम से बालक के सम्मुख ज्ञानार्जन का महत्व स्पष्ट किया जाता, दायित्व निर्वाह के लिए उसे प्रेरित किया जाता तथा चरित्र निर्माण के लिए उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत किया जाता। इस सम्बन्ध में डॉ० राजबली पाण्डेय ने लिखा है कि यह संस्कार इस तथ्य का प्रतीक था कि विद्यार्थी ज्ञान के असीमित पथ का पथिक है। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसमें अपने निश्चय में पत्थर के समान दृढ़ता तथा शक्ति की अपेक्षा की जाती थी। आचार्य तथा उसके बीच पूर्ण ऐकमत्य भी

आवश्यक था संस्कार के इन प्रतीकों तथा शिक्षा के अनुरूप व्यवहार करने पर उसका संसार के दायित्वों को वहन करने में समर्थ पूर्ण मनुष्य तथा एक सफल विद्वान बनना निश्चित था।[1] आज उपनयन संस्कार का हिन्दुओं के जीवन में वह महत्व नहीं रहा है जो पूर्व-काल में था, यद्यपि कुछ परिवारों में यह संस्कार कुछ संशोधित रूप से आज भी सम्पन्न किया जाता है।

(12) समावर्तन

यह संस्कार विद्यार्थी-जीवन के अंत का सूचक था। समावर्तन शब्द का तात्पर्य है 'वेदों' का अध्ययन करने के पश्चात् गुरुकुल से घर की ओर लौटना। इस संस्कार का एक महत्वपूर्ण अंग स्नान था। ब्रह्मचारी अपना अध्ययन के समाप्त करने पर एक ऐसा व्यक्ति माना जाता था जिसने विद्या के सागर को पार कर लिया है। वह विद्या-स्नातक (जिसने विद्या में स्नान कर लिया है) तथा व्रत-स्नातक (जिसने अपने व्रतों में स्नान कर लिया है), कहा जाता था।[2] इस संस्कार के लिए सर्व-सामान्य आयु 24 वर्ष मानी गयी है क्योंकि इस समय तक विद्यार्थी वेदों का अध्ययन कर अपनी शिक्षा पूर्ण कर लेता था। सबसे पहले विद्यार्थी इस संस्कार हेतु गुरु से आज्ञा की प्रार्थना एवं दक्षिणा द्वारा उसे संतुष्ट करता था। मनु ने लिखा है कि गुरु की अनुमति प्राप्त कर समावर्तन संस्कार करना चाहिए तथा उसके पश्चात सवर्ण तथा गुणवती कन्या से विवाह करना चाहिए।[3] संस्कार के लिए कोई शुभ दिन चुना जाता था। इस दिन वह गुरु के चरणों में प्रणाम कर कुछ समिधाओं द्वारा वैदिक अग्नि को अन्तिम आहुति देता। वहाँ जल से भरे हुए आठ कलश रखे जाते जो आठ दिशाओं के सूचक थे और यह माना जाता कि सभी दिशाओं से ब्रह्मचारी पर सम्मान एवं कीर्ति की वर्षा हो रही है। इस अवसर पर वह इन कलशों के जल से स्नान करता था जो गृहस्थ के सुखी जीवन के लिए उसे शीतलता प्रदान करता। इसके बाद ब्रह्मचारी मेखला, मृगचर्म एवं दण्ड को फेंक देता और नवीन कौपीन (वस्त्र) धारण करता। वह इस अवसर पर अपनी दाढ़ी, केश एवं नखों को कटवाता। विद्यार्थी अब सुन्दर वस्त्र, पुष्प, माला, आभूषण, अंजन, आदि धारण करता। ये वस्तुएँ इस बात का प्रतीक थीं कि अब उस पर ब्रह्मचर्य जीवन के निषेध लागू नहीं रहे। तत्पश्चात् गुरु का आशीर्वाद प्राप्त कर वह एक पूर्ण विकसित और उत्तरदायी व्यक्ति के रूप में घर को लौटता था। वर्तमान समय में इस संस्कार की महत्वहीनता के सम्बन्ध में डॉ० पाण्डेय ने लिखा है कि वेद बोधगम्य नहीं रहे शिक्षा का कोई नियत पाठ्यक्रम नहीं तथा साधारण साक्षरता भी विलास का विषय बन चुकी है। समावर्तन संस्कार महत्वहीन तथा उपनयन अथवा विवाह संस्कार में समाविष्ट हो चुका है।[4]

---

1 राजबली पाण्डेय, पूर्वोक्त, पृ० 180।
2 पा० गृ० सू०, 2, 5, 33, 36।
3 मनुस्मृति, 3, 4।
4 राजबली पाण्डेय, पूर्वोक्त, पृ० 191।

(13) विवाह

विवाह का हिन्दू संस्कारों में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। विवाह के माध्यम से ही व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है और अपने समाज और संस्कृति की समृद्धि में योग देता है। पत्नी के अभाव में यहाँ व्यक्ति को अपूर्ण माना गया है। पत्नी प्राप्त करके ही व्यक्ति चार पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। विवाह के पश्चात् ही वह विभिन्न ऋणों से उऋण होने तथा अपने दायित्वों के निर्वाह के लिए पंच महायज्ञ कर पाता है। हिन्दू विवाह को एक धार्मिक संस्कार माना गया है, न कि एक सामाजिक समझौता। पारस्कर गृहसूत्र में तीन और बौधायन गृहसूत्र में पच्चीस अनुष्ठानों का उल्लेख किया गया है जो हिन्दू विवाह के लिए आवश्यक है। इन अनुष्ठानों में होम, पाणिग्रहण एवं सप्तपदी विशेष महत्वपूर्ण है। विवाह व्यक्ति को समाज में एक विशेष स्थिति प्रदान करता और सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति जागरूक बनाता है। विवाह न केवल जैविकीय आवश्यकताओं की पूर्ति का ही माध्यम है, बल्कि धार्मिक कार्यों के सम्पादन एवं समाज की निरन्तरता को बनाये रखने की दृष्टि से भी आवश्यक है। इस संस्कार का सविस्तार वर्णन 'हिन्दू विवाह' नामक अध्याय में किया गया है।

(14) अन्त्येष्टि

अन्त्येष्टि हिन्दू जीवन से सम्बन्धित अन्तिम संस्कार है जिसके साथ व्यक्ति के सांसारिक जीवन का अन्त होता है। व्यक्ति की मृत्यु होने पर उसके जीवित सम्बन्धी परलोक में उसके सुख एवं कल्याण के लिए उसका मृत्यु संस्कार करते हैं। हिन्दू के लिए न केवल इस लोक का महत्व है, बल्कि परलोक का भी। बौधायन पितृमेध सूत्र में कहा गया है कि यह सुप्रसिद्ध है कि जन्मोत्तर संस्कारों के द्वारा व्यक्ति इस लोक को जीतता है और मरणोत्तर संस्कार द्वारा उस लोक (परलोक) को। इस कारण इस संस्कार को सावधानीपूर्वक सम्पन्न करने पर विशेष जोर दिया जाता है।

मृत्यु के बाद शव यात्रा प्रारम्भ करने के पूर्व मृतक को स्नान कराकर नवीन वस्त्र पहनाकर बांस से बनी अर्थी पर लिटाया जाता है। तब उसके नाते रिश्तेदारों द्वारा इस अर्थी को श्मशान घाट ले जाया जाता है। रास्ते भर मन्त्रोच्चारण या 'राम नाम सत्य है, सत्य से ही मुक्ति है' का उच्चारण किया जाता है। श्मशान भूमि में शव को लकड़ियों की चिता पर लिटाकर मन्त्रोच्चारण के साथ मृतक के पुत्र एवं अन्य रक्त सम्बन्धी चिता को अग्नि देते हैं। चिता में घी, नारियल, चन्दन, कपूर, कुश एवं यज्ञ में काम आने वाले अन्य पदार्थों को डाला जाता है। ऋग्वेद में बताया गया है कि जब अग्नि प्रज्ज्वलित होने लगती है तब इस आशय का एक मन्त्र बोला जाता है कि हे अग्नि! इस देह को तू भस्म न कर, न इसे कष्ट पहुँचा तथा न ही इसकी त्वचा एवं अन्य अंगों को इधर उधर बिखेर। जातवेद जब यह शरीर पूर्णतः ध्वस्त हो जाये तो इसकी आत्मा को पितृ लोक में ले जा।[1] शव के जलकर

1 डॉ० पाण्डेय द्वारा उद्धृत, 19, 16, 1।

भस्म हो जाने पर शवयात्रा मे सम्मिलित व्यक्ति अपने अपने घरो को लौट आते और स्नान करते हैं। मृत्यु के तीसरे अथवा अन्य किसी दिन मृतक की अस्थियो का सचय किया जाता है। मृतक के घर मे 10 या 12 अथवा 13 दिन तक अशौच रहता है और इस अवधि मे मृतक की आत्मा की शान्ति एव परलोक मे उसके कल्याण से सम्बन्धित कई अनुष्ठान किये जाते हैं। आत्मा की शान्ति के लिए प्रतिवर्ष श्राद्ध और पिण्डदान भी किया जाता है। अन्य सस्कारो की तुलना मे इस सस्कार की प्रक्रिया सर्वाधिक लम्बी है।

## हिन्दू सस्कारो का समाजशास्त्रीय महत्व
## (SOCIOLOGICAL IMPORTANCE OF HINDU *SANSKARS*)

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि विभिन्न सस्कार व्यक्ति के जीवन को परिष्कृत करने की दृष्टि से उपयोगी रहे हैं। इन सस्कारो के माध्यम स व्यक्ति तथा समाज के बीच सुन्दर समन्वय स्थापित किया जाता रहा है। ये सभी सस्कार पारिवारिक एव सामाजिक दृष्टि से महत्वपूर्ण रहे हैं। यहाँ हम इन सस्कारो के समाजशास्त्रीय महत्व पर विचार करेंगे।

डॉ० राजबली पाण्डेय न बताया है कि सस्कारो का उद्देश्य व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करना था, जिससे वह अपने को मानवीय तथा अतिमानव शक्तियो से पूर्ण ससार के अनुरूप बना सके।[1] सस्कार जीवन के प्रत्यक स्तर पर व्यक्ति को उसके कतव्यो का बोध कराते रहे हैं। डा० पाण्डेय न अन्यत्र लिखा है कि सस्कार मानव जीवन के परिष्कार और शुद्धि मे सहायता पहुचाते, व्यक्तित्व के विकास को सुविधाजनक करते, मनुष्य देह को पवित्रता तथा महत्व प्रदान करते, मनुष्य की समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक महत्वाकाक्षाओ को गति देत तथा अन्त मे उस जटिलताओ और समस्याआ के ससार से सरल तथा सानन्द मुक्ति के लिए प्रस्तुत करते थे। सस्कारो ने व्यक्ति को चरित्रगत दृढता प्रदान करने मे विशेष योग दिया।

सस्कारो ने सामाजिक महत्व की समस्याओं के समाधान मे सहायता पहुचायी। जब व्यक्ति को स्वास्थ्य विज्ञान तथा प्रजनन शास्त्र का ज्ञान नही था, तब गर्भाधान एव अन्य प्राग् जन्म-सस्कार ही इन विषयो मे शिक्षा के माध्यम थे। गर्भाधान एव पु सवन सस्कार के द्वारा गर्भिणी की आवश्यकताओ की पूर्ति की जाती और उसकी जैविकीय सुविधाओ का ध्यान रखा जाता था। उपनयन सस्कार के द्वारा बालक को स्वास्थ्य के नियमो का ध्यान रखते हुए सयमी और अनुशासित जीवन व्यतीत करने की ओर अग्रसर किया जाता था।

सस्कार शिक्षा के महत्वपूर्ण साधन रहे हैं। जीवन के प्रत्यक स्तर पर सस्कार व्यक्ति को लौकिक ज्ञान प्रदान करते रहे हैं, उससे प्रशिक्षित कर समाज का योग्य एव उपयोगी सदस्य बनाते रहे है। डॉ० पाण्डेय न लिखा है कि विद्यारम्भ तथा उपनयन

---

1 पूर्वोक्त, पृ० 349।

से समावर्तन पर्यन्त सभी संस्कार शिक्षा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व के हैं। आधुनिक समाजों में जनसाधारण में अनिवार्य शिक्षा को लागू करने के लिए कोई धर्मनिरपेक्ष या लौकिक माध्यम न था। अनिवार्य होने के कारण संस्कार इस प्रयोजन की पूर्ति करते थे।[1] इस प्रकार संस्कारों ने प्राचीन हिन्दुओं के उच्च बौद्धिक एवं सांस्कृतिक स्तर की रक्षा में योग दिया।

संस्कारों ने व्यक्ति और समाज की अपेक्षाओं के बीच सन्तुलन बनाये रखने में भी योग दिया। संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति सामाजिक परिस्थितियों के साथ अनुकूलन करता हुआ सामाजिक जीवन को संगठित बनाए रखने में सहायता पहुंचाता है। इन संस्कारों के द्वारा व्यक्ति का समाजीकरण इस प्रकार से होता है कि वह पग पग पर अपने सामाजिक दायित्वों से परिचित होता जाता है। वह यह जान लेता है कि उससे समाज क्या अपेक्षाएँ रखता है और उन अपेक्षाओं के अनुरूप बनने की दृष्टि से संस्कार उसके सम्मुख उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण रूप में विवाह संस्कार के द्वारा व्यक्ति न केवल परिवारीजनों बल्कि सम्पूर्ण समाज के प्रति अपने दायित्वों से परिचित होता है।

संस्कारों ने नैतिक गुणों के विकास एवं संस्कृति के रक्षण में योग दिया है। संस्कारों के द्वारा व्यक्ति में अनेक नैतिक गुणों जैसे, दया, क्षमा, अनसूया, पवित्रता, उचित व्यवहार, निर्लोभता एवं समर्पण का विकास किया जाता है। ये गुण व्यक्ति का निर्माण कर समाज की नैतिक प्रगति में सहायता पहुंचाते हैं। इन संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति समाज की सांस्कृतिक परम्पराओं या व्यवहार के आदर्श प्रतिमानों से परिचित होता है। वह इन्हीं के अनुरूप व्यवहार करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार सांस्कृतिक परम्पराएँ पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होतीं और सुरक्षित बनी रहती हैं। संस्कारों के माध्यम से ही व्यक्ति समय समय पर अपने मानसिक उद्वेगों जैसे दया, हर्ष, आनन्द, शोक एवं सहानुभूति को समाजीकृत रूप से व्यक्त करता रहा है।

इन संस्कारों का आध्यात्मिक महत्व भी रहा है। ये संस्कार व्यक्ति को यह सोचने के लिए प्रेरित करते रहे हैं कि जीवन को प्रभावित करने वाली कोई अदृश्य शक्ति अवश्य है और उसी को सन्तुष्ट करने की दृष्टि से विभिन्न संस्कारों से सम्बन्धित अनेक अनुष्ठान किये जाते रहे हैं। संस्कारों के आध्यात्मिक महत्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ० पाण्डेय ने बताया है कि संस्कार एक प्रकार से आध्यात्मिक शिक्षा की क्रमिक सीढ़ियों का कार्य करते हैं। उनके द्वारा सुसंस्कृत व्यक्ति यह अनुभव करता था कि सम्पूर्ण जीवन वस्तुतः संस्कारमय है और सम्पूर्ण दैहिक क्रियाएँ आध्यात्मिक ध्येय से ही अनुप्राणित हैं। यही वह मार्ग था जिससे क्रियाशील सांसारिक जीवन का सम्बन्ध आध्यात्मिक तथ्यों के साथ स्थापित किया जाता था।[2]

---

1 पूर्वोक्त, पृ० 351।

2 पूर्वोक्त, पृ० 39।

यद्यपि हिन्दू संस्कारों ने भारतीय जीवन को व्यवस्थित बनाये रखने मे विशेष योग दिया, परन्तु परिस्थितियों के बदलने के साथ साथ आज अनेक संस्कार लुप्त प्राय हो चुके हैं। हिन्दुओं के जीवन मे अब कुछ ही संस्कार जैसे विवाह एव अन्त्येष्टि आदि ही महत्वपूर्ण रह गये हैं।

## हिन्दू संस्कारों की अव्यावहारिकता एव ह्रास
### (IMPRACTICABILITY AND DECLINE OF HINDU *SANSAARS*)

हिन्दू जीवन मे संस्कारो का महत्व होते हुए भी वर्तमान मे ये अव्यावहारिक तथा अनुपयोगी सिद्ध हुए हैं। वर्तमान युग मे केवल इनकी पूर्ति कर्मकाण्ड मात्र के रूप मे ही होती है। बहुत से संस्कार जिन विश्वासो पर आधारित थे, व विश्वास आज प्रभावहीन हो चुके हैं। लोग जादू टोने और अनिष्टकारी शक्तियो से व्यक्ति की रक्षा करने के उद्देश्य से अनेक संस्कार जैसे सीमान्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण एव चूडाकरण आदि सम्पन्न करते थे। परन्तु अब लोगो का जादू टोने तथा अनिष्टकारी शक्तियो मे विश्वास कम हो गया है। परिणाम यह हुआ है कि संस्कारो का महत्व भी घट गया है। संस्कारो ने भेदभावपूर्ण सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने में सहायता पहुचायी है। संस्कारो को सम्पन्न करने की आयु अलग अलग वर्ग के लोगो के लिए भिन्न भिन्न रखी गयी है। शूद्रो के लिए विद्यारम्भ एव उपनयन संस्कार का विधान नही किया गया है। आज संस्कारो की पूर्ति केवल रूढ़िवादिता या लकीर पीटना मात्र रह गयी है। इसका एक मूल कारण संस्कारो के सम्पादन के समय काम मे लिये जाने वाले मन्त्रो की भाषा संस्कृत होना है जो आज अधिकांश लोगो की भाषा नहीं है। ये संस्कार बहुत से गरीब परिवारो को ऋणी बना देते हैं क्योकि प्रत्येक संस्कार के साथ ब्राह्मण भोजन तथा दान दक्षिणा जुडे हुए है। खर्चे की दृष्टि से ये संस्कार अनेक निर्धन लोगो के लिए आकस्मिक विपत्तियो के रूप मे प्रमाणित होते हैं। कालान्तर मे संस्कार व्यक्तिगत परिष्कार के अपने मूल्य उद्देश्य से दूर हट गये और इनमे रूढियो एव धर्मकाण्डो की प्रधानता ही शेष रह गयी। इन्होने समाज के लोगो को रूढ़िवादी और विवेकहीन बनाने मे योग दिया। परिणाम यह हुआ कि समाज मे रचनात्मक शक्ति का ह्रास हुआ और सामाजिक जीवन मे अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गयीं।

वर्तमान समय मे आधुनिक शिक्षा, वैज्ञानिक दृष्टिकोण एव तार्किकता के विकास, औद्योगीकरण एव नगरीकरण, तथा जीवन के अनेक क्षेत्रो के लौकिक तथा धर्मनिरपेक्ष हो जाने के कारण अनेक हिन्दू संस्कार प्रभावहीन हो चुके हैं, लोगो के व्यवहार और जीवन को प्रभावित करने के साधन नही रहे है। आज लोगो का झुकाव शेष संस्कारो को बदलती हुई परिस्थिति के साथ संशोधित एव संक्षिप्त करने की ओर है। डा० पाण्डेय ने लिखा है कि संस्कारो का जन्म अति सुदूर अतीत मे हुआ था, जबकि समाज की आवश्यकताएँ तथा समस्याएँ आज से भिन्न थी, जन मानस एक ऐसी विचारधारा के अधीन क्रियाशील था जो अपने युग की एव विशिष्ट

वस्तु थी। आज समाज परिवर्तित हो चुका है, उसी के अनुरूप मनुष्य, उसके विश्वासों, भावों तथा महत्वाकांक्षाओं में भी परिवर्तन हो चुका है। नवीन विचारधारा के अनुरूप परिवर्तित हुए बिना संस्कार आज जन मानस को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकते।[1] संस्कार मानवीय विश्वासों, भावनाओं, आशाओं तथा आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति थे तथा उनका जन्म मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ था। जीवन में परिवर्तन के साथ उनमें भी परिवर्तन अनिवार्य है।[2] उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि संस्कारों को युग की आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तित कर नवीन रूप प्रदान करना आज की बदली हुई परिस्थितियों में नितान्त आवश्यक है।

## प्रश्न
### (उत्तर-संकेत सहित)

1 संस्कारों का क्या उद्देश्य है? हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के प्रमुख संस्कारों का उल्लेख कीजिए। (लखनऊ, 1970)
[संकेत—इसमें संस्कार का अर्थ, संस्कारों के उद्देश्य, हिन्दू जीवन के मुख्य संस्कार आदि शीर्षक देखें।]

2 प्रमुख हिन्दू संस्कारों की विवेचना कीजिए। (गोरखपुर 1976, लखनऊ, 1972)
[संकेत—देखिए—संस्कारों का अर्थ एवं हिन्दू जीवन के मुख्य संस्कार।]

3 संस्कारों के समाजशास्त्रीय महत्व की व्याख्या कीजिए। (गोरखपुर, 1972, 75)
[संकेत—देखिए—हिन्दू संस्कारों का समाजशास्त्रीय महत्व।]

4 द्विज से आप क्या समझते हैं? उपनयन संस्कार के महत्व का विवेचन कीजिए। (लखनऊ, 1973, 75)
[संकेत—इसमें द्विज के अर्थ के लिए वर्ण-व्यवस्था वाले अध्याय का सहारा लिया जाय एवं उपनयन संस्कार शीर्षक में प्रस्तुत विवरण लिखिए।]

5 संस्कार पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
[संकेत—इसमें सम्पूर्ण अध्याय को ही संक्षेप में लिखना है।]

1 पूर्वोक्त, पृ० 354।
2 पूर्वोक्त पृ० 354।

# 8

## पुरुषार्थ

### (PURUSHARTHA—MAN AND HIS DUTIES)

पुरुषार्थ का सिद्धान्त हिन्दू मनीषियो की भारतीय समाज को एक अनुपम देन है। इसने व्यक्ति और समूह के बीच सम्बन्धो को सन्तुलित करने मे अपूर्व योग दिया है। हिन्दू जीवन दर्शन व्यक्ति को केवल स्वय के या अपने परिवार के लिए ही सब कुछ करने की प्रेरणा नही देता। यहाँ व्यक्ति को त्यागमय भाग की महत्ता को समझाने और उसे जीवन मे उतारने के लिए प्रोत्साहित किया गया है। पुरुषार्थों के रूप मे व्यक्ति के विभिन्न कर्तव्यों का उल्लेख किया गया है। पुरुष मे चार बाते प्रधानत पायी जाती है शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा। इन सबसे मिलकर जो कुछ बनता है, वही पुरुष कहलाता है। पुरुष के द्वारा इन सभी की सन्तुष्टि के लिए जो प्रयत्न या उद्यम किया जाता है, उसी का नाम पुरुषार्थ है। शरीर के लिए भोजन, वस्त्र तथा अनेक अन्य भौतिक वस्तुओ की आवश्यकता पड़ती है, जिनकी पूर्ति के लिए व्यक्ति 'अर्थ' का उपार्जन करता है। इस हेतु वह जो कुछ प्रयत्न करता है, वही 'अर्थ' के रूप मे एक पुरुषार्थ है। मन विभिन्न प्रकार की इच्छाओ का केन्द्र है और इनकी पूर्ति का प्रयत्न व्यक्ति अपने जीवन मे करता है। इन इच्छाओ की पूर्ति जीवन का एक लक्ष्य अर्थात् पुरुषार्थ माना गया है जिसे 'काम' की सज्ञा दी गयी है। बुद्धि मे तार्किकता या निर्णय शक्ति की प्रधानता पायी जाती है। व्यक्ति अर्थ और काम का सन्तुलित रूप से उपभोग करे एव पूर्णत इन्ही के वशीभूत नही हो जाय, इस हेतु व्यक्ति पर धर्म का नियन्त्रण भी आवश्यक है। धर्म व्यक्ति को वह विवेक या तर्क बुद्धि प्रदान करता है जिसके आधार पर वह विभिन्न आवश्यकताओ की पूर्ति एव दायित्वो के निर्वाह के लिए उचित तरीके से धन का उपार्जन एव उपयोग करता है। धर्म व्यक्ति का मार्ग दर्शन करता है और उसे बतलाता है कि काम का महत्व समाज की निरन्तरता को बनाये रखने और व्यक्ति को मानसिक तनावो से मुक्त रखने की दृष्टि से है। यही कारण है कि धर्म को एक प्रमुख पुरुषार्थ माना गया है। साथ ही आत्मा की तृप्ति के लिए मनुष्य को आध्यात्मिकता की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित किया गया है। उसे अपने आपको ईश्वर चिन्तन मे लगाने, जीवन के सार तत्व को समझने, निष्काम कर्म और अन्त मे जन्म मरण के बन्धन से मुक्त हो अमरत्व को प्राप्त

(1) शरीर — अर्थ (भोजन आदि भौतिक आवश्यकताएं)

करने या अपने को परमात्मा में विलीन कर देने को कहा गया है। अतः हिन्दू जीवन व्यवस्था में मोक्ष को एक पुरुषार्थ के रूप में महत्व दिया गया है।

## पुरुषार्थ का अर्थ
## (MEANING OF *PURUSHARTHA*)

पुरुषार्थ का तात्पर्य उद्योग करने या प्रयत्न करने से है। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि 'पुरुषैरर्थ्यते पुरुषार्थ', जिसका अर्थ है, अपने अभीष्ट को प्राप्त करने के लिए उद्यम करना ही पुरुषार्थ है। यहाँ अभीष्ट का अर्थ मोक्ष प्राप्ति से है। अतः मोक्ष जीवन का लक्ष्य है और इसकी प्राप्ति के लिए धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ या माध्यम हैं। लगातार प्रयत्न करते रहना और अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ते जाना ही पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ की धारणा में जीवन के विभिन्न कर्तव्यों या दायित्वों का बोध मिलता है। उपनिषदों, गीता तथा स्मृतियों में जीवन के चार आधारभूत कर्तव्यों के रूप में 'पुरुषार्थ' का उल्लेख मिलता है जिन्हें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का नाम दिया गया है। इन चारों पुरुषार्थों को प्राप्त करके ही व्यक्ति जन्म मरण के बन्धन से मुक्त होता है।

डा० कापड़िया ने विभिन्न पुरुषार्थों का अर्थ स्पष्ट करने की दृष्टि से बतलाया है कि 'मोक्ष' जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। इसका तात्पर्य है कि मानव की वास्तविक प्रकृति आध्यात्मिक है और जीवन का उद्देश्य इसको अभिव्यक्त करना और इसके द्वारा ज्ञान और आनन्द प्राप्त करना है। 'अर्थ' मानव में प्राप्त करने की सहज प्रवृत्ति को बतलाता है, धन अर्जित और सग्रहीत करके तथा उसके उपभोग की प्रवृत्ति को व्यक्त करता है। हिन्दू विचारकों ने धन को जीवन में एक पुरुषार्थ के रूप में स्थान देकर उसे उचित मानवीय आकांक्षा माना है। 'काम' मानव के भावुक जीवन और उसके सहज स्वभाव से सम्बन्धित है। काम का तात्पर्य व्यक्ति के केवल मूल प्रवृत्ति सम्बन्धी जीवन (Instinctive Life) से नहीं है इसका अर्थ साथ ही उद्वेग (भ)पूर्ण और सौन्दर्यात्मक जीवन से भी है। मानव की सौन्दर्यात्मक भावना की अभिव्यक्ति सुन्दर एवं उत्कृष्ट वस्तु के निर्माण और उनकी प्रशंसा द्वारा होती है। जीवन का सर्वोपरि आनन्द सृजनात्मक प्रवृत्तियों में ही है। अर्थ और काम को व्यक्ति के लिए वांछनीय या अभीष्ट मानकर, हिन्दू विचारकों ने बतलाया है कि मानव की आध्यात्मिकता की अभिव्यक्ति केवल तभी होती है जब उसका जीवन आर्थिक दरिद्रता या उद्वेगात्मक अतृप्ति से ग्रसित न हो। 'धर्म' यह जानता है कि काम और अर्थ साधन हैं, न कि साध्य। वह जीवन जो इनकी अनियन्त्रित सन्तुष्टि में अपने आपको लगा देता है, अवांछनीय तथा घातक है। अतः यह आवश्यक है कि जीवन का निर्देशन आध्यात्मिक अनुभूति के आदर्श से होना चाहिए और धर्म को यही करने की आवश्यकता है। पुरुषार्थ का सिद्धान्त भौतिक इच्छाओं और आध्यात्मिक जीवन में सामंजस्य स्थापित करना है।[1]

1 K. M. Kapadia *Marriage and Family in India* pp 25 27

पुरुषार्थ का सिद्धान्त बताता है कि व्यक्ति को अपने जीवन में क्या प्राप्त करना है, उसके लक्ष्य क्या हैं, उसे किन मूलभूत दायित्वों का निभाना है। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि पुरुषार्थ व्यक्ति को उसके चार मौलिक कर्तव्यों का बोध कराते हैं। डॉ० राधाकमल मुकर्जी ने लिखा है कि वर्णों और आश्रमों के धर्मों और उत्तरदायित्वों की पूर्ति मनुष्य द्वारा चार पुरुषार्थों के आकलन पर निर्भर करती है। भारतीय दृष्टि से जीवन के मूल्यों को चार पुरुषार्थों में बाँट दिया गया है। गृहस्थ जीवन के उद्देश्य—अर्थ और काम को धर्म और मोक्ष के अधीन रखा गया है। इसमें मोक्ष ही अन्तिम ध्येय है, उसी में जीवन के सर्वोच्च और शाश्वत आदर्श की प्राप्ति होती है। इस प्रकार जीवन के सभी मूल्यों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का समन्वय होता है।[1] स्पष्ट है कि पुरुषार्थ का तात्पर्य जीवन के चार प्रमुख लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु उद्यम या प्रयत्न करने से है।

## पुरुषार्थ के प्रकार
### (TYPES OF *PURUSHARTHA*)

पुरुषार्थ के सिद्धान्त के अनुसार चार पुरुषार्थ (जीवन के लक्ष्य)—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष माने गये हैं जिनमें से प्रत्येक का यहाँ पृथक से वर्णन किया जा रहा है।

(1) धर्म (*Dharma*)—धर्म को एक प्रमुख एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुरुषार्थ माना गया है। धर्म व्यक्ति को कर्तव्य पथ पर आगे बढ़ने और अपने दायित्वों को निभाने की प्रेरणा देता है। धर्म का तात्पर्य भाग्य, अन्ध विश्वास या रूढ़िवादिता से नहीं है। धर्म वही है जिसे धारण किया जा सके, जिसे जीवन में उतारा जा सके या जिसके अनुरूप आचरण किया जा सके। यहाँ पुरुषार्थ के रूप में धर्म के सामाजिक पक्ष पर जोर दिया गया है। प्रत्येक आश्रम में व्यक्ति को धर्म के अनुरूप आचरण करने को कहा गया है। धर्म आचरण संहिता के रूप में व्यक्ति को सही मार्ग पर ले जाता है। धर्म अनेक गुण जैसे आत्म-संयम, सन्तोष, दया, सहानुभूति, उदारता, क्षमा, अहिंसा, अक्रोध तथा कर्तव्य पालन आदि के ग्रहण की प्रेरणा देता है।

धर्म एक ऐसा पुरुषार्थ है जो व्यक्ति को इस जीवन और पारलौकिक जीवन में एक सुन्दर समन्वय स्थापित करने की ओर आगे बढ़ाता है। धर्म का तात्पर्य उन सभी कर्तव्यों के पालन से है जो व्यक्ति के साथ-साथ समाज की प्रगति में भी योग देते हैं। श्रीकृष्ण ने बतलाया है कि धर्म वह है जो सभी प्राणियों की रक्षा करता है और उन सभी को धारण करता है। धर्म का तात्पर्य सामान्य धर्म एवं स्वधर्म दोनों के पालन से है। व्यक्ति को अपने वर्ण धर्म के पालन का आदेश दिया गया है। वह पंच महायज्ञों के द्वारा पाँच प्रकार के ऋणों से उऋण होता है, माता-पिता, देवी-देवता, ऋषि मुनियों अतिथियों तथा प्राणी-मात्र के प्रति अपने दायित्वों को निभाता

1 राधाकमल मुकर्जी, भारतीय समाज विन्यास, पृ० 45।

है, त्यागमय जीवन की ओर अग्रसर होता है। श्रीकृष्ण ने गीता में इस पुरुषार्थ के सम्बन्ध में कहा है कि जो व्यक्ति प्रत्येक कार्य का फल चाहते हैं एवं जिनका यह विचार है कि स्वर्ग से बढ़कर अन्य कोई दूसरी वस्तु नहीं है, वे अविवेकी होने के साथ ही भोग और ऐश्वर्य में ही आसक्ति रखते हैं, उनके अन्तःकरण में कोई निश्चयात्मक बुद्धि नहीं होती।[1] इस पुरुषार्थ की प्राप्ति वही व्यक्ति कर पाता है जो कर्म करने में विश्वास करता है उससे प्राप्त होने वाले फल में नहीं। डॉ० पी० वी० काणे ने बतलाया है कि धर्म का सम्बन्ध किसी विशेष ईश्वरीय मत से नहीं है बल्कि यह तो आचरण की संहिता है जो व्यक्तियों के क्रिया-कलापों को नियन्त्रित करती है। इसका लक्ष्य व्यक्ति को इस योग्य बनाना है कि वह मानव अस्तित्व के लक्ष्य को प्राप्त कर ले। वास्तव में जिस कार्य के करने से इह लोक में उन्नति एवं परलोक में कल्याण हो वही धर्म है। धर्म सबका धारण करता है, अधोगति में जाने से लोगों को बचाता है तथा जीवन की रक्षा करता है। इस प्रकार 'धर्म' को एक पुरुषार्थ मानकर धर्मानुकूल आचरण करने की व्यक्ति से अपेक्षा की गयी है ताकि उसका इह लोक और परलोक दोनों ही उन्नत हों।

(2) अर्थ (*Artha*)—हिन्दू विचारकों ने मानव की प्राप्त करने की सहज प्रवृत्ति को एक आकांक्षा के रूप में स्वीकार कर 'अर्थ' को पुरुषार्थ सिद्धान्त में महत्व दिया है। 'अर्थ' का तात्पर्य केवल धन अथवा सम्पत्ति से नहीं है बल्कि उन साधनों से है जिनकी सहायता से हम अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते एवं अपने अस्तित्व को बनाये रखते हैं। यहाँ अर्थ को साध्य न मानकर एक साधन मात्र माना गया है। जिम्मर ने 'अर्थ' का आशय स्पष्ट करने की दृष्टि से बताया है कि अर्थ का शाब्दिक तात्पर्य है—वस्तु, चीज, पदार्थ। इस अवधारणा के अन्तर्गत वे समस्त स्पर्शीय भौतिक वस्तुएँ आ जाती हैं, जिन्हें हम अपने अधिकार में रख सकते हैं और जिनसे सुख प्राप्त कर सकते हैं तथा जो हम खो भी सकते हैं और जो परिवार के भरण-पोषण, समृद्धि तथा धार्मिक कर्तव्यों को पूरा करने के लिए अर्थात् जीवन के दायित्वों को उचित तरीके से निभाने के लिए आवश्यक है।[2] श्री प्रभु का कथन है कि अर्थ का तात्पर्य उन सभी साधनों से है जो सांसारिक समृद्धि, जैसे धन या शक्ति प्राप्त करने के लिए आवश्यक है।[3] डॉ० कापड़िया के अनुसार 'अर्थ' मानव के प्राप्त करने के सहज स्वभाव की ओर संकेत करता है और उसकी धन के संग्रह, उसके उपभोग से प्राप्त होने वाले सुखों तथा अन्य तत्सम्बन्धी प्रवृत्तियों को बतलाता है।[4] वैदिक साहित्य के आधार पर श्री गोखले ने बताया है कि 'अर्थ' के अन्तर्गत वे सभी

1 गीता, 2।42 43, 44
2 H Zimmer *Philosophies of India* p 35
3 P H Prabhu *Hindu Social Organization* pp 79-80
4 K M Kapadia *op cit* p 25

भौतिक वस्तुएँ आ जाती है जो परिवार बसाने, गृहस्थी चलाने एव विभिन्न धार्मिक दायित्वो को निभाने के लिए आवश्यक है। इसमे पशु, भोजन, मकान तथा धन धान्य आदि को सम्मिलित किया गया है।[1] ऋग्वेद मे आर्यों ने इन्द्र तथा सोम देवताओ से प्रार्थना की है कि हमारे धन मे वृद्धि हो, विविध प्रकार के भौतिक पदार्थ हम प्राप्त हो तथा हम स्थायी समृद्धि के स्वामी हो। यहाँ 'अर्थ' पुरुषार्थ का प्रयोग समृद्धि और शक्ति प्राप्त करने के प्रयत्न के रूप मे किया गया है। यह कहा जा सकता है कि 'अर्थ' उन सभी भौतिक पदार्थों एव साधनो की प्राप्ति से सम्बन्धित है जिनके द्वारा मनुष्य अपना तथा परिवार का भरण पोषण करता है तथा मानव मात्र ही नही बल्कि प्राणीमात्र के प्रति अपने दायित्वो को निभाता है।

भारतीय जीवन-दर्शन म भौतिक समृद्धता को एक लक्ष्य के रूप मे स्वीकार किया गया है। 'अर्थ' के महत्व के सम्बन्ध मे महाभारत म कहा गया है कि धर्म का पालन पूर्णत अर्थ पर आधारित है तथा जिसके पास अर्थ नही है, वह अपने दायित्वो को ठीक स नही निभा सकता। कौटिल्य का मत है कि सभी प्रकार के दान एव इच्छा-पूर्ति अर्थ पर ही आश्रित है। निर्धनता को एक पापपूर्ण स्थिति माना गया है। धन के अभाव मे मनुष्य आर्थिक कार्यों का सम्पादन नही कर सकता, पच महायज्ञो को सम्पन्न कर पाच प्रकार के ऋणो से मुक्त नही हो सकता। पचतन्त्र मे बताया गया है कि दरिद्रता एक अभिशाप है, जो मृत्यु से भी बढकर है। धन के अभाव को प्रत्येक बुराई की जड माना गया है। अत जीवन मे 'अर्थ का काफी महत्व है। इसके बिना व्यक्ति न तो भली भाँति अपने बालको का भरण-पोषण कर सकता है, न ही पूरी तरह परिवार के लिए सुख-सुविधाएँ जुटा सकता है, न यज्ञ, दान दक्षिणा एव अतिथियो का सत्कार कर सकता है। यही कारण है कि उद्यम द्वारा गृहस्थ आश्रम म अर्थ को अर्जित करने पर जोर दिया गया है। महाभारत एव स्मृतियो मे तो यहाँ तक कहा गया है कि जो व्यक्ति गृहस्थ आश्रम म 'अर्थ' के पुरुषार्थ को प्राप्त किये बिना वानप्रस्थ या सन्यास आश्रम म प्रवेश कर लेता है उसे जीवन मे मोक्ष की प्राप्ति नही होती।

इसमे कोई सन्देह नही कि अर्थ का जीवन म काफी महत्व है। परन्तु साथ ही यहाँ इस बात पर विशेष जोर दिया गया है कि उचित साधनो से धन कमाया जाय। ईमानदारी से कमाया हुआ अर्थ (धन) ही व्यक्ति के सुख और सन्तोष मे वृद्धि करता है। धन का उपभोग भी इस प्रकार किया जाना चाहिए कि इससे किसी को कष्ट न हो तथा निन्दनीय कार्यों को किसी भी रूप मे बढावा न मिले। हिन्दू शास्त्र कारो ने बताया है कि प्रत्येक को धर्म के अनुसार न्यायोचित ढग के अर्थोपार्जन और उसका सदुपयोग करना चाहिए। डा० राधाकृष्णन का कथन है कि अर्थ एव सुख की प्राप्ति का प्रयत्न मनुष्य की उचित इच्छा है, परन्तु यदि वह मोक्ष प्राप्त करने का इच्छुक है तो उसे उचित तरीके से ही अर्थ की प्राप्ति करनी चाहिए। अत जोर इस

अर्थ सद्भाव सदुपयोग

1 B G Gokhale *Indian Thought through the Ages* p 51

बात पर दिया गया है कि व्यक्ति सदुपायों से ही धन कमाए और सत्कर्मों में ही उसे खर्च करे। साथ ही यह भी बताया गया है कि व्यक्ति को धन कमाने या भौतिक सुख-सुविधाओं को प्राप्त करने के प्रयत्न में अपने आपको पूर्णतः नहीं लगा देना है, उसे इसे ही जीवन का एक मात्र लक्ष्य नहीं समझ लेना चाहिए। यही कारण है कि यहाँ अर्थ को धर्म के अधीन माना गया है और केवल जीवन के एक स्तर अर्थात् गृहस्थ आश्रम में ही इसे अर्जित करने का आदेश दिया गया है। शेष तीन आश्रमों में व्यक्ति को 'अर्थ' से पृथक् रहने को कहा गया है।

(2) काम (*Kama*)—हिन्दू विचारकों ने जहाँ अर्थ को एक पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार किया है, वहाँ साथ ही 'काम' को जीवन का एक लक्ष्य माना है। काम का तात्पर्य केवल भोग वासना से ही नहीं है बल्कि सभी प्रकार की इच्छाओं या कामनाओं से है। 'काम' का प्रयोग दो अर्थों में किया गया है, एक संकुचित अर्थ में और, दूसरा व्यापक अर्थ में। संकुचित अर्थ में काम का तात्पर्य यौनिक प्रवृत्ति की सन्तुष्टि या यौन इच्छाओं की पूर्ति से है। व्यापक अर्थ में काम के अन्तर्गत मानव की सभी प्रवृत्तियाँ, इच्छाएँ तथा कामनाएँ आ जाती हैं। श्री कार्वे के अनुसार सीमित अर्थ में काम का तात्पर्य यौन-सम्बन्धी इच्छा से है, जबकि व्यापक रूप में इसका तात्पर्य व्यक्ति की इच्छा तथा आकांक्षा से है। इस दृष्टि से व्यक्ति जो कुछ भी चाहता है या चाहने की जो कुछ अभिलाषा उसके भीतर है वही काम है। काम के अन्तर्गत एक प्राणिशास्त्रीय और सांस्कृतिक प्राणी के रूप में व्यक्ति की सभी इच्छाएँ, कामनाएँ तथा प्रवृत्तियाँ आ जाती हैं। डॉ० कापडिया के अनुसार काम मानव के सहज स्वभाव एवं भावुक जीवन को व्यक्त करता है तथा उसकी काम-भावना और सौन्दर्यप्रियता की वृद्धि की सन्तुष्टि की ओर संकेत करता है।[1] काम जीवन के आनन्द को व्यक्त करता है और यह आनन्द शारीरिक और मानसिक दोनों ही स्तरों पर प्राप्त किया जाता है। यौन सम्बन्ध के द्वारा जहाँ व्यक्ति को शारीरिक स्तर पर आनन्द प्राप्त होता है वहाँ कलात्मक जीवन के माध्यम से मानसिक स्तर पर सुख या आनन्द की अनुभूति होती है। स्पष्ट है कि 'काम' पुरुषार्थ में केवल यौन तृप्ति ही नहीं बल्कि सांस्कृतिक दृष्टि से जीवन के आनन्द का उपभोग भी आता है। एक ओर जहाँ यह इन्द्रिय-सुख को व्यक्त करता है वहाँ दूसरी ओर मानव की भावुक एवं सौन्दर्यात्मक प्रवृत्तियों को प्रस्फुटित होने का अवसर प्रदान करता है।

काम के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इसके दो पहलू हैं। एक पहलू मानव के यौन-सम्बन्धी जीवन को और दूसरा उसके सौन्दर्यात्मक या भावुक जीवन को व्यक्त करता है। प्रथम पहलू पर विचार करने पर हम पाते हैं कि मानव में यौन सम्बन्धी इच्छा का पाया जाना स्वाभाविक है, क्योंकि यह उसकी मूल प्रवृत्ति के अन्तर्गत आती है। परन्तु वह यौन सुख को ही सब कुछ समझ बैठे, इसकी आज्ञा भी

1 K M Kapadia *op cit* p 25

काम के यौनसंबंधी व सौन्दर्यात्मक पहलू

उसे नहीं दी गयी है। यही कारण है कि हिन्दू विवाह के तीन उद्देश्यों में 'रति' (Sex pleasure) को सबसे निम्न स्थान दिया गया है। यहाँ धर्म और सन्तानोत्पत्ति को रति की तुलना में प्रमुखता दी गयी है। यौन सम्बन्ध का महत्व केवल इस दृष्टि से नहीं है कि इससे शरीर सुख मिलता है, बल्कि इस दृष्टि से भी है कि यह उत्तम सन्तानों के जन्म का माध्यम है। काम का दूसरा पहलू मानव के सौन्दर्यात्मक या भावुक जीवन से सम्बन्धित है। मनुष्य अपने सौन्दर्यात्मक या उद्वेगात्मक जीवन को कला के माध्यम से व्यक्त करता है। साहित्य, संगीत, नृत्य, चित्रकला, मूर्तिकला आदि व्यक्ति के इसी जीवन की अभिव्यक्ति है। वह जो कुछ सुन्दर है उसको देखता है, उसकी प्रशंसा करता है और आनन्द का अनुभव करता है। वह केवल इसी से सन्तुष्ट नहीं हो जाता बल्कि अपनी रचनात्मक कल्पना की सहायता से सौन्दर्य को मूर्त रूप देने का प्रयत्न भी करता है। वह कला का सृजन करता है, चित्र बनाता है, मूर्ति का निर्माण करता है, गीत गाता है, नृत्य करता है और आनन्द विभोर हो उठता है, अपने आपको भूल जाता है। व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास के लिए मानव की सौन्दर्य वृद्धि एवं सौन्दर्य सृष्टि की प्रवृत्ति को विकास का पूर्ण अवसर प्रदान करना आवश्यक है। डा० कापडिया के अनुसार मानव स्वभावतः सृजनात्मक है और यदि उसे उसकी सृजनात्मक प्रवृत्तियों को व्यक्त करने का अवसर न दिया जाय तो उसके व्यक्तित्व का सर्वोत्तम भाग कुंठित हो जाता है। जीवन का सर्वोपरि आनन्द सृजनात्मक प्रवृत्तियों में ही है। जो कुछ सुन्दर है उसकी प्रशंसा ही मानव जीवन को विकसित करती है और समृद्धशाली बनाती है। भावपूर्ण अभिव्यक्ति का दमन व्यक्ति के स्वास्थ्य तथा मानसिक सन्तुलन के लिए हानिप्रद है। व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास हेतु उद्वेगों की अभिव्यक्ति आवश्यक है।[1] स्पष्ट है कि काम एक ऐसा पुरुषार्थ है जो व्यक्ति की सौन्दर्यात्मक प्रवृत्ति को प्रस्फुटित होने और व्यक्तित्व के समुचित विकास का अवसर प्रदान करता है।

काम का व्यक्ति और समूह के जीवन में विशेष महत्व है। काम व्यक्ति की विभिन्न प्रकार की इच्छाओं और कामनाओं की पूर्ति कर उसे मानसिक सन्तुष्टि प्रदान करता है। काम के आधार पर पति-पत्नी में पारस्परिक प्रेम पनपता है, सन्तानोत्पत्ति होती है और व्यक्ति पितृ ऋण से मुक्त होता है, अपने माता पिता को मोक्ष का अधिकारी बनाता है। सन्तानोत्पत्ति के द्वारा व्यक्ति अमरता को प्राप्त करता है और समूह अथवा समाज की निरन्तरता को बनाये रखने में योग देता है। काम का धार्मिक दृष्टि से यह महत्व है कि व्यक्ति काम-इच्छाओं को पूर्ण कर विरक्ति की ओर आगे बढ़ता है तथा मोक्ष प्राप्ति का प्रयत्न करता है। अतृप्त इच्छाओं को लेकर व्यक्ति वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम में धर्म एवं मोक्ष पुरुषार्थ के मार्ग पर उचित रीति से नहीं बढ़ पाता है। काम पुरुषार्थ का इस दृष्टि से भी महत्व है कि व्यक्ति

1 *Ibid* p 26

बात पर दिया गया है कि व्यक्ति सदुपायों से ही धन कमाये और सत्कर्मों में उसे खर्च करे। साथ ही यह भी बताया गया है कि व्यक्ति को धन कमाने या भौतिक सुख-सुविधाओं को प्राप्त करने के प्रयत्न में अपने आपको पूर्णतः नहीं लगा देना है, उसे इसे ही जीवन का एक मात्र लक्ष्य नहीं समझ लेना चाहिए। यही कारण है कि यहाँ अर्थ को धर्म के अधीन माना गया है और केवल जीवन के एक स्तर अर्थात् गृहस्थ आश्रम में ही इसे अर्जित करने का आदेश दिया गया है। शेष तीन आश्रमों में व्यक्ति को 'अर्थ' से पृथक् रहने को कहा गया है।

(2) काम (*Kama*)—हिन्दू विचारकों ने जहाँ अर्थ को एक पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार किया है, वहाँ साथ ही 'काम' को जीवन का एक लक्ष्य माना है। काम का तात्पर्य केवल भोग वासना से ही नहीं है बल्कि सभी प्रकार की इच्छाओं या कामनाओं से है। 'काम' का प्रयोग दो अर्थों में किया गया है, एक संकुचित अर्थ में और, दूसरा व्यापक अर्थ में। संकुचित अर्थ में काम का तात्पर्य यौनिक प्रवृत्ति की संतुष्टि या यौन इच्छाओं की पूर्ति से है। व्यापक अर्थ में काम के अन्तर्गत मानव की सभी प्रवृत्तियाँ, इच्छाएँ तथा कामनाएँ आ जाती हैं। श्री कार्वे के अनुसार सीमित अर्थ में काम का तात्पर्य यौन-सम्बन्धी इच्छा से है, जबकि व्यापक रूप में इसका तात्पर्य व्यक्ति की इच्छा तथा आकांक्षा से है। इस दृष्टि से व्यक्ति जो कुछ भी चाहता है या चाहने की जो कुछ अभिलाषा उसके भीतर है वही काम है। काम के अन्तर्गत एक प्राणिशास्त्रीय और सांस्कृतिक प्राणी के रूप में व्यक्ति की सभी इच्छाएँ, कामनाएँ तथा प्रवृत्तियाँ आ जाती हैं। डा० कापडिया के अनुसार काम मानव के सहज स्वभाव एवं भावुक जीवन को व्यक्त करता है तथा उसकी काम भावना और सौन्दर्यप्रियता की वृद्धि की संतुष्टि की ओर संकेत करता है।[1] काम जीवन के आनन्द को व्यक्त करता है और यह आनन्द शारीरिक और मानसिक दोनों ही स्तरों पर प्राप्त किया जाता है। यौन सम्बन्ध के द्वारा जहाँ व्यक्ति को शारीरिक स्तर पर आनन्द प्राप्त होता है वहाँ कलात्मक जीवन के माध्यम से मानसिक स्तर पर सुख या आनन्द की अनुभूति होती है। स्पष्ट है कि 'काम' पुरुषार्थ में केवल यौन तृप्ति ही नहीं बल्कि सांस्कृतिक दृष्टि से जीवन के आनन्द का उपभोग भी आता है। एक ओर जहाँ यह इन्द्रिय सुख को व्यक्त करता है वहाँ दूसरी ओर मानव की भावुक एवं सौन्दर्यात्मक प्रवृत्तियों को प्रस्फुटित होने का अवसर प्रदान करता है।

काम के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इसके दो पहलू हैं। एक पहलू मानव के यौन सम्बन्धी जीवन को और दूसरा उसके सौन्दर्यात्मक या भावुक जीवन को व्यक्त करता है। प्रथम पहलू पर विचार करने पर हम पाते हैं कि मानव में यौन सम्बन्धी इच्छा का पाया जाना स्वाभाविक है, क्योंकि यह उसकी मूल प्रवृत्ति के अन्तर्गत आती है। परन्तु वह यौन सुख को ही सब कुछ समझ बैठे इसकी आज्ञा भी

1 K M Kapadia *op cit* p 25

काम के यौनसंबंधी व सौन्दर्यात्मक पहलू

उसे नहीं दी गयी है। यही कारण है कि हिन्दू विवाह के तीन उद्देश्यों में 'रति' (Sex pleasure) को सबसे निम्न स्थान दिया गया है। यहाँ धर्म और सन्तानोत्पत्ति को रति की तुलना में प्रमुखता दी गयी है। यौन सम्बन्ध का महत्व केवल इस दृष्टि से नहीं है कि इससे शरीर सुख मिलता है, बल्कि इस दृष्टि से भी है कि यह उत्तम सन्तानों के जन्म का माध्यम है। काम का दूसरा पहलू मानव के सौन्दर्यात्मक या भावुक जीवन से सम्बन्धित है। मनुष्य अपने सौन्दर्यात्मक या उद्वेगात्मक जीवन को कला के माध्यम से व्यक्त करता है। साहित्य संगीत, नृत्य, चित्रकला, मूर्तिकला आदि व्यक्ति के इसी जीवन की अभिव्यक्ति है। वह जो कुछ सुन्दर है उसको देखता है, उसकी प्रशंसा करता है और आनन्द का अनुभव करता है। वह केवल इसी से सन्तुष्ट नहीं हो जाता बल्कि अपनी रचनात्मक कल्पना की सहायता से सौन्दर्य को मूर्त रूप देने का प्रयत्न भी करता है। वह कला का सृजन करता है, चित्र बनाता है, मूर्ति का निर्माण करता है, गीत गाता है, नृत्य करता है और आनन्द-विभोर हो उठता है, अपने आपको भूल जाता है। व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास के लिए मानव की सौन्दर्य वृद्धि एवं सौन्दर्य-सृष्टि की प्रवृत्ति को विकास का पूर्ण अवसर प्रदान करना आवश्यक है। डा० कापडिया के अनुसार मानव स्वभावतः सृजनात्मक है और यदि उसे उसकी सृजनात्मक प्रवृत्तियों को व्यक्त करने का अवसर न दिया जाय तो उसके व्यक्तित्व का सर्वोत्तम भाग कुंठित हो जाता है। जीवन का सर्वोपरि आनन्द सृजनात्मक प्रवृत्तियों में ही है। जो कुछ सुन्दर है उसकी प्रशंसा ही मानव जीवन को विकसित करती है और समृद्धशाली बनाती है। भावपूर्ण अभिव्यक्ति का दमन व्यक्ति के स्वास्थ्य तथा मानसिक सन्तुलन के लिए हानिप्रद है। व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास हेतु उद्वेगों की अभिव्यक्ति आवश्यक है।[1] स्पष्ट है कि काम एक ऐसा पुरुषार्थ है जो व्यक्ति की सौन्दर्यात्मक प्रवृत्ति को प्रस्फुटित होने और व्यक्तित्व के समुचित विकास का अवसर प्रदान करता है।

काम का व्यक्ति और समूह के जीवन में विशेष महत्व है। काम व्यक्ति की विभिन्न प्रकार की इच्छाओं और कामनाओं की पूर्ति कर उसे मानसिक सन्तुष्टि प्रदान करता है। काम के आधार पर पति-पत्नी में पारस्परिक प्रेम पनपता है, सन्तानोत्पत्ति होती है और व्यक्ति पितृ ऋण से मुक्त होता है, अपने माता पिता को मोक्ष का अधिकारी बनाता है। सन्तानोत्पत्ति के द्वारा व्यक्ति अमरता को प्राप्त करता है और समूह अथवा समाज की निरन्तरता को बनाये रखने में योग देता है। काम का धार्मिक दृष्टि से यह महत्व है कि व्यक्ति काम-इच्छाओं को पूर्ण कर विरक्ति की ओर आगे बढ़ता है तथा मोक्ष प्राप्ति का प्रयत्न करता है। अतृप्त इच्छाओं को लेकर व्यक्ति वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम में धर्म एवं मोक्ष पुरुषार्थ के मार्ग पर उचित रीति से नहीं बढ़ पाता है। काम पुरुषार्थ का इस दृष्टि से भी महत्व है कि व्यक्ति

1 *Ibid* p 26

या इसके माध्यम से अपनी सौन्दर्यात्मक प्रवृत्ति को व्यक्त कर अपने व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास का अवसर मिलता है। यहाँ यह ध्यान रखना भी आवश्यक है कि हिन्दू समाज में काम को धार्मिक नियमों के द्वारा मर्यादित किया गया है ताकि व्यक्ति समाज द्वारा मान्यता प्राप्त तरीके से ही अपनी काम इच्छाओं की पूर्ति कर सके। यही कारण गृहस्थ आश्रम को ही 'काम' पुरुषार्थ की पूर्ति का स्थान माना गया है।

(4) मोक्ष (*Moksha*)—मोक्ष को जीवन का अन्तिम पुरुषार्थ माना गया है। बौद्ध साहित्य में इसे 'निर्वाण' और जैन साहित्य में 'कैवल्य' के नाम से पुकारा गया है। डा० कापड़िया के अनुसार इसका (मोक्ष का) अर्थ यह है कि मानव की वास्तविक प्रकृति आध्यात्मिक है और जीवन का लक्ष्य इसे प्रकट करना और इसके ज्ञान और आनन्द को प्राप्त करना है।[1] हिन्दू विचारक इस बात से भली भाँति परिचित थे कि जीवन में अर्थ और काम का महत्त्व है। परन्तु साथ ही वे यह भी जानते थे कि इन्हीं में अपने आपको जकड़े रखना भी उचित नहीं है। अतः सांसारिक सुख प्राप्ति के साथ ही आध्यात्मिक उन्नति भी आवश्यक है। यह तभी सम्भव है जब मनुष्य आत्म ज्ञान प्राप्त करके, ईश्वर चिन्तन में अपने को पूर्णतः लगा दे और अन्त में जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा प्राप्त कर ले। मोक्ष का तात्पर्य है हृदय की अज्ञानता का नाश। मीमांसा में स्वर्ग प्राप्ति को ही मोक्ष माना गया है। बौद्ध दर्शन में मोक्ष को जीवन मुक्ति और विदेह मुक्ति के रूप में व्यक्त किया गया है। जीवन-मुक्ति का तात्पर्य है—संसार में रहते हुए संसार के कष्टों से छुटकारा तथा तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति। विदेह मुक्ति का अर्थ है—जीवन मरण के बन्धन से मुक्त होना अर्थात् मरने के पश्चात् पुनः संसार में लौटकर नहीं आना।

सांख्यशास्त्र में मोक्ष के अर्थ के सम्बन्ध में बताया गया है कि यथार्थ में पुरुष किसी भी कार्य का कर्ता नहीं है। जो कुछ होता जाता है वह सब प्रकृति का ही खेल है। यहाँ तक कि मन एवं बुद्धि भी प्रकृति के ही विकार हैं। बुद्धि को जो कुछ ज्ञान प्राप्त होता है वह भी प्रकृति के कार्य का ही फल है। जब व्यक्ति को सात्त्विक ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तब पुरुष अनुभव करने लगता है कि मैं प्रकृति से भिन्न हूँ। इस स्थिति में व्यक्ति पर पड़ा हुआ माया का आवरण दूर हो जाता है और वह इससे अप्रभावित रहता है। इस अवस्था में वह सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त होकर कैवल्य स्थिति में पहुँच जाता है। कैवल्य का तात्पर्य है अकेलापन या प्रकृति के साथ संयोग न होना। पुरुष की इसी स्वाभाविक स्थिति को ही सांख्यशास्त्र में मोक्ष माना गया है। शिवगीता के अनुसार मोक्ष किसी स्थान पर रखी हुई कोई वस्तु नहीं है और न ही विभिन्न गाँवों में घूमकर इसे प्राप्त किया जा सकता है। हृदय की अज्ञानता-ग्रन्थि के

1 *Ibid* p 25

— स्वर्ग प्राप्ति

अद्वैत वेदांत - आत्मा द्वारा पुरुषार्थ अपने ब्रह्म-स्वरूप पहचानना

नाश होना अर्थात् व्यक्ति द्वारा ज्ञान प्राप्त करने को ही मोक्ष कहा गया है ।[1] गीता में बताया गया है कि बाह्य सुख दुख की आशा न कर जो अन्तःकरण में ही सुखी हो जाय, जो अपने आप में ही आनन्द प्राप्त करने लग जाय और जिसे अन्तःप्रकाश मिल जाय, वह योगी ब्रह्म रूप हो जाता है और उसे ही ब्रह्म में मिल जाने का मोक्ष प्राप्त होता है। जिन ऋषियों की द्वन्द्व-बुद्धि समाप्त हो गयी है अर्थात् जो यह जान चुके हैं कि सभी स्थानों में एक ही परमेश्वर है, जिनके पाप नष्ट हो चुके है तथा जो आत्म संयम से सभी प्राणियों का हित करने में लगे रहते हैं उन्हें निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त होता है ।[2]

अद्वैत वेदान्तियों की मान्यता है कि आत्मा स्वयं ही परब्रह्मस्वरूप है और जब आत्मा अपने इस स्वरूप को पहचान लेती है, तब वही स्थिति उसकी मुक्ति या मोक्ष है। इसी कारण अद्वैतवादियों का कहना है कि अपनी आत्मा के अमर, श्रेष्ठ, शुद्ध नित्य एवं सर्वव्यापी स्वरूप को पहचान कर उसी में लीन हो जाना ज्ञानवान व्यक्ति का इस संसार में प्रथम कर्तव्य है। स्पष्ट है कि जब व्यक्ति संसार के सुख दुखों का उपभोग करके यह अनुभव कर लेता है कि ये सब अस्थायी और अपूर्ण हैं, तो वह अपने आपको सांसारिक बंधनों से मुक्त करने का प्रयत्न करता है। यह वह अनुभव करता है कि व्यक्ति को पुनः पुनः जन्म लेकर इस संसार में आना पड़ता है और अनेक प्रकार के दुख भोगने पड़ते हैं। अतः वह जन्म मरण के बंधनों से छुटकारा पाने के लिए प्रयत्न करता है और इस प्रयत्न में सफलता ही वास्तविक मोक्ष है। व्यक्ति जब परमब्रह्म को ठीक प्रकार से जान लेता है, संसार के भोगों को भोगने के पश्चात् अपने सही स्वरूप को पहचान लेता है और उसी में समा जाता है तो इस स्थिति को मोक्ष के नाम से पुकारते हैं। मोक्ष को ब्रह्म की अनुभूति और परम आनन्द की स्थिति के रूप में लिया गया है। मोक्ष का तात्पर्य यह है कि आत्मा का परमात्मा से मिलन हो जाय, वे दोनों एकाकार हो जायें और व्यक्ति को विभिन्न रूपों में बार बार संसार में नहीं आना पड़े। इस दृष्टि से आवागमन के बंधनों से छुटकारा प्राप्त करना ही मोक्ष है।

मोक्ष-प्राप्ति के साधन के रूप में कर्म मार्ग, ज्ञान-मार्ग एवं भक्ति मार्ग का वर्णन किया गया है। (अ) कर्म-मार्ग के अन्तर्गत बताया गया है कि जो व्यक्ति अपने निर्धारित कर्मों का ठीक प्रकार से पालन और धर्मानुकूल आचरण करता है, वही मोक्ष प्राप्त करता है। अपने विभिन्न दायित्वों का निर्वाह किये बिना वैराग्य धारण करने वाला मोक्ष का अधिकारी नहीं माना जाता। गीता में कृष्ण ने अर्जुन को बताया है कि जो व्यक्ति बिना फल की इच्छा के अपने कर्मों को धर्मानुकूल रीति से करते रहते हैं, वे ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं। (ब) ज्ञान मार्ग के अन्तर्गत व्यक्ति अपने विचारों के आधार पर परमब्रह्म या ईश्वर के अव्यक्त स्वरूप में अपने मन को स्थिर कर लेता है। वह सभी

1 शिवगीता 13।32।
2 गीता, 5। 25 28।

प्राणियों के प्रति समभाव रखता है और सुख-दुख, हानि-लाभ, जन्म-मरण आदि को समान समझता है। मनुस्मृति में कहा गया है कि व्यक्ति आत्म-ज्ञान के द्वारा ही जन्म-मरण के बन्धनों से मुक्त होता है और मोक्ष का अधिकारी बनता है। अपने को निर्गुण ब्रह्म की उपासना में लगाकर आत्म-ज्ञान प्राप्त कर लेना मोक्ष प्राप्ति की दृष्टि से परम आवश्यक है। लेकिन अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म में अपने मन को स्थिर कर लेना कोई सरल कार्य नहीं है। इसीलिए मोक्ष प्राप्ति का अन्य मार्ग जिसे (म) भक्ति-मार्ग कहते हैं बताया गया है। भक्ति मार्ग के अन्तर्गत व्यक्ति ईश्वर को साकार मानकर उसकी पूजा-आराधना, भजन-कीर्तन करता है, अपने को समर्पित कर देता है। वह प्रेम और भक्ति के द्वारा ईश्वर को पाने का प्रयत्न करता है। ईश्वर के लिए कहा गया है कि वह प्रेम और भक्ति के आगे स्वयं झुक जाता है। भक्ति-मार्ग पर चलने वाले को संसार त्याग कर कहीं जंगल में तपस्या करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस मार्ग पर चलने वाले भगवान को ही माता-पिता, बन्धु, मित्र, सहायक और रक्षक के रूप में मानते हैं। स्पष्ट है कि जब व्यक्ति स्वधर्म का पालन करते हुए भगवान की शरण में चला जाता है और अपने को पूर्णतः समर्पित कर देता है तो वह मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। गीता में कृष्ण ने बताया है कि हे अर्जुन! मैं उन भक्तों का शीघ्र ही मृत्यु रूपी संसार के सागर से उद्धार करता हूँ जो मुझ में चित्त लगाते हैं।[1] इस प्रकार स्वधर्म के पालन, सबके प्रति सम भाव, मन को परम ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप में लीन तथा कर्मों को करते हुए उनके प्रति आसक्ति नहीं रखने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। ऐसा व्यक्ति सांसारिक सुख-दुख से अप्रभावित रहता है और जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

## पुरुषार्थ का समाजशास्त्रीय महत्व
## (SOCIOLOGICAL SIGNIFICANCE OF *PURUSHARTHA*)

डा० कापड़िया ने बताया है कि आश्रम व्यवस्था में पुरुषार्थ के सिद्धान्त की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। व्यक्ति के सम्पूर्ण दायित्वों को इस सिद्धान्त के माध्यम से व्यक्त किया गया है।[2] डा० प्रभु ने पुरुषार्थ को आश्रम-व्यवस्था का मनोवैज्ञानिक—नैतिक आधार माना है।[3] पुरुषार्थ को मनोवैज्ञानिक आधार इसलिए माना गया है कि व्यक्ति धर्म, अर्थ और काम की पूर्ति द्वारा मानसिक सन्तोष प्राप्त करता है और जीवन के उच्चतम आदर्श—मोक्ष प्राप्ति की ओर आगे बढ़ता है। पुरुषार्थ को नैतिक आधार मानने का कारण यह है कि यह व्यक्ति को मानवीय गुणों के विकास और धर्मानुकूल आचरण की प्रेरणा देता है, कर्तव्यों के पालन हेतु प्रोत्साहित करता है। पुरुषार्थ का सिद्धान्त हिन्दू विचारकों की भारतीय समाज को एक अनुपम देन है जो केवल भोगवाद की ओर व्यक्ति को प्रवृत्त नहीं करके उसे आध्यात्मिकता की ओर

1 गीता 12।6

2 K. M. Kapadia *op cit* p 27

वढने को प्रोत्साहित करती है। पुरुषार्थ सिद्धान्त में जीवन के प्रति एक समन्वित और व्यापक दृष्टिकोण अपनाया गया है। यदि व्यक्ति केवल अर्थ और काम में ही डूबा रहे तो उसमें और पशु में कोई अन्तर नहीं होगा। महाभारत में बताया गया है कि आहार, निद्रा, भय एवं मैथुन मनुष्यों और पशुओं के लिए समान रूप से स्वाभाविक हैं। यदि मनुष्यों और पशुओं में कुछ अन्तर है तो वह केवल धर्म का। जिस मनुष्य में धर्म नहीं है, वह पशु के समान है।[1] पुरुषार्थ का सिद्धान्त मानव की पशु प्रवृत्तियों का समाजीकरण करता है, उसकी आसुरी वृत्तियों को नियन्त्रित करता है। यह सिद्धान्त सांसारिक और आध्यात्मिक जीवन के बीच, इहलोक और परलोक के बीच, अर्थात् स्वार्थ और परमार्थ के बीच, एक सुन्दर समन्वय स्थापित करता है।

पुरुषार्थ के सिद्धान्त का समाजशास्त्रीय महत्व इस दृष्टि से है कि यह व्यक्ति और व्यक्ति के बीच तथा व्यक्ति और समूह के बीच सम्बन्धों को सन्तुलित करता है। यदि व्यक्ति अपने को ही सब कुछ मान ले और अन्य व्यक्तियों या समाज की बिल्कुल चिन्ता न करे तो जन-कल्याण नहीं हो सकता, समाज प्रगति की ओर आगे नहीं बढ़ सकता। प्रभु ने बताया है कि पुरुषार्थ व्यक्ति और साथ ही समूह दोनों से सम्बन्धित हैं। पुरुषार्थ बतलाते हैं कि व्यक्ति और समूह के बीच किस प्रकार के सम्बन्ध होने चाहिए, वे व्यक्ति और समूह की क्रियाओं के बीच उचित सम्बन्धों को परिभाषित करते हैं, वे व्यक्ति और समूह के बीच अनुचित सम्बन्धों की ओर भी ध्यान ले जाते हैं ताकि व्यक्ति उन सम्बन्धों से बच सके। इस तरह, पुरुषार्थ व्यक्ति और समूह को नियन्त्रित करते हैं और साथ ही उनके अन्तर-सम्बन्धों को भी।[2]

धर्म का एक पुरुषार्थ के रूप में इसी दृष्टि से महत्व है कि यह काम और अर्थ को नियन्त्रित करता है। काम और अर्थ ही जीवन के परम लक्ष्य नहीं हैं बल्कि धर्म और मोक्ष की प्राप्ति के साधन हैं। काम और अर्थ के उचित मात्रा में ही उपभोग पर पुरुषार्थ सिद्धान्त के अन्तर्गत जोर दिया गया है। धर्म एक पुरुषार्थ है जो व्यक्ति को अपने कर्तव्यों के पालन की प्रेरणा देता है, उसे गलत मार्ग पर जाने से रोकता है। यह अनुचित तरीके से धन कमाने या काम इच्छाओं की पूर्ति करने पर नियन्त्रण लगाता है। सामाजिक दृष्टि से इस पुरुषार्थ का महत्व यही है कि यह सभी के कल्याण का आदर्श प्रस्तुत करता है। धर्म व्यक्ति को मानसिक संघर्षों से मुक्त करता है, उसे दायित्व का बोध कराता है, विपदाओं के समय भी धैर्य बनाये रखने को प्रेरित करता है। धर्म अन्य पुरुषार्थों का मार्ग-दर्शन करता है।

अर्थ का एक पुरुषार्थ के रूप में यही महत्व है कि यह व्यक्ति और समाज दोनों की सुख समृद्धि की दृष्टि से आवश्यक है। यह पुरुषार्थ व्यक्ति को प्रयत्न या उद्यम करने के लिए प्रेरित करता है। व्यक्ति अर्थ के उपार्जन द्वारा ही स्वधर्म का

---

1 महाभारत, शान्ति पर्व, 294।29

2 P H Prabhu *op cit* p 82

पालन करता है, विभिन्न ऋणो से मुक्त होता है, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी, संन्यासी और यहाँ तक कि पशु-पक्षियों की आवश्यकताओं तक की पूर्ति करता है। निर्धनता को एक अभिशाप माना गया है क्योंकि एक निर्धन व्यक्ति न तो अपने परिवारीजनों का ठीक प्रकार से भरण पोषण कर पाता और न ही समाज के आर्थिक विकास में योग दे पाता है। व्यक्ति के द्वारा उद्यम किये बिना समाज का आर्थिक विकास सम्भव नहीं है और आर्थिक विकास के अभाव में समाज शक्तिशाली नहीं बन सकता। यही कारण है कि गृहस्थों के लिए अर्थ को एक पुरुषार्थ के रूप में जीवन का एक लक्ष्य माना गया है। लेकिन अर्थ को धर्म के अधीन रखा गया है, ताकि इसका उपार्जन और उपभोग उचित रीति से हो। आज अनेक आर्थिक और सामाजिक समस्याओं का एक मूल कारण अर्थ को अपना आपस एक लक्ष्य मानकर जीवन में बहुत अधिक महत्व देना है। धर्म के नियन्त्रण के शिथिल पड़ जाने से आज व्यक्ति धन कमाने या उसका उपभोग करने में उचित और अनुचित रीति का विवेक खो चुका है। पुरुषार्थ सिद्धान्त के अन्तर्गत अर्थ का महत्व इसी दृष्टि से है कि व्यक्ति उद्यम करके उचित रीति से धन कमाये और समाज के लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति करे।

काम पुरुषार्थ का महत्व इस दृष्टि से है कि यह यौन इच्छाओं की सन्तुष्टि तथा मानसिक तनावों को कम और स्नेह सम्बन्धों को दृढ़ करता है। काम इच्छाओं की पूर्ति में सन्तानोत्पत्ति होती है, वंश परम्परा चलती रहती है, समाज की निरन्तरता बनी रहती है और सांस्कृतिक परम्पराएँ पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती हैं। काम के द्वारा ही सन्तानों को जन्म देकर व्यक्ति पितृ ऋण से उऋण होता है और अपने धार्मिक दायित्वों को निभा पाता है। काम के बिना व्यक्ति के जीवन में निष्क्रियता आ जायगी और व्यक्ति आर्थिक दायित्वों को नहीं निभा पायेगा। काम व्यक्ति की कलात्मक या सृजनात्मक प्रवृत्तियों को विकास का अवसर प्रदान करता है। काम व्यक्तित्व के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। काम का इस दृष्टि से भी महत्व है कि काम इच्छाओं की पूर्ति या इन्द्रियों की सन्तुष्टि होने पर ही व्यक्ति में विरक्ति की भावना जाग्रत होती है और वह मोक्ष की ओर आगे बढ़ता है। काम पुरुषार्थ का यद्यपि जीवन में काफी महत्व है परन्तु इसे धर्म के अधीन रखा गया है।

मोक्ष जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना गया है और धर्म, अर्थ तथा काम को इसी लक्ष्य की पूर्ति के साधन। व्यक्ति जीवन में अर्थ और काम का उपभोग करता है लेकिन इसके बाद भी उसे निराशा, कष्ट, दुःख, चिन्ता एवं विपत्तियों का सामना करना पड़ता है। इनसे विचलित हुए बिना कर्तव्य पथ पर बढ़ते रहने की प्रेरणा मोक्ष पुरुषार्थ द्वारा ही प्राप्त होती है। यहाँ मोक्ष की धारणा पर जोर अवश्य दिया गया है। इस सम्बन्ध में व्यक्ति को अपने दायित्वों के प्रति उदासीन होने को नहीं कहा गया है। इस सम्बन्ध में व्यक्ति को यह आदेश दिया गया है कि सब ऋणों से

उऋण होने के पश्चात ही मोक्ष पुरुषार्थ की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। इस पुरुषार्थ ने व्यक्तियों को मानवीय गुणों के विकास, आत्म ज्ञान की प्राप्ति और परम ब्रह्म में अपने को लीन करने की प्रेरणा दी है।

मनु ने लिखा है कि मानवता का कल्याण तीनों (त्रिवर्ग), अर्थात धर्म, अर्थ और काम के सन्तुलित समन्वय में है। आपने बताया है कि कुछ कहते हैं कि मनुष्य का हित धर्म और अर्थ में है, कुछ कहते हैं कि यह केवल धर्म में है, जबकि दूसरे इस बात पर जोर देते हैं कि इस पृथ्वी पर केवल अर्थ ही मनुष्य का प्रमुख हित है। लेकिन सही स्थिति यह है कि मनुष्य का हित या कल्याण इन तीनों के सन्तुलित समन्वय में है।[1] अतः सभी पुरुषार्थों का अपना-अपना महत्व है और ये परस्पर सम्बन्धित हैं। किसी एक पुरुषार्थ पर आवश्यकता से अधिक जोर देकर जीवन का सन्तुलित विकास नहीं किया जा सकता। संसार में शायद ही अन्यत्र कहीं ऐसी व्यवस्था रही हो जहाँ सांसारिक और पारलौकिक जीवन में इतना व्यावहारिक समन्वय स्थापित किया गया हो जितना कि भारत में। पुरुषार्थ सिद्धान्त के अन्तर्गत व्यक्ति और समाज के दायित्वों का इस प्रकार से निर्धारण किया गया है कि दोनों एक दूसरे के विकास में सहायक हो सकें। डा० कापडिया ने बताया है कि पुरुषार्थ का सिद्धान्त भौतिक इच्छाओं और आध्यात्मिक जीवन में समन्वय स्थापित करता है। यह मनुष्य में पशुवत्-सहजात, यौन प्रवृत्ति, उसकी शक्ति तथा धन के प्रति मोह, उसकी कलात्मक एवं सांस्कृतिक जीवन के प्रति अभिलाषा, उसकी परमात्मा से पुनर्मिलन की लालसा को सन्तुष्ट करने का भी प्रयत्न करता है। यह जीवन को समग्रता में देखता है, इसकी आशाओं और आकांक्षाओं, इसकी उपलब्धियों एवं आनन्द, इसके परिष्कार एवं आध्यात्मीकरण का एकीकृत रूप में स्पष्ट करता है।[2] उपर्युक्त कथन से पुरुषार्थ सिद्धान्त के महत्व का पता चलता है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत जीवन के प्रति एक समन्वित एवं सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाया गया है ताकि व्यक्ति नियन्त्रित स्वतन्त्रता का अनुभव करता हुआ अपने तथा समाज के जीवन को उन्नत बना सके। वर्तमान समय में पुरुषार्थ का सिद्धान्त एक सिद्धान्त मात्र ही रह गया है। आज अर्थ और काम की ही प्रधानता है, धर्म तथा मोक्ष जीवन के लक्ष्यों के रूप में अधिकांशतः गौण हो गये हैं।

## प्रश्न

### (उत्तर संकेत सहित)

1 पुरुषार्थ की अवधारणा की विवेचना कीजिए। (रुहेलखण्ड, 1978)

[संकेत—इस प्रश्न के उत्तर में सम्पूर्ण अध्याय को संक्षेप में लिखना है।]

2 पुरुषार्थ क्या है ? इसके समाजशास्त्रीय महत्व की व्याख्या कीजिए। (रुहेलखण्ड, 1977, लखनऊ, 1969, 1977)

---

1 मनुस्मृति ii, 224

2 K M Kapadia *op cit* p 27

[सकेत—इस प्रश्न म पुरुपाथ का अथ एव 'पुरुपाथ का समाजशास्त्रीय महत्व' शीषक म दिया गया विवरण प्रस्तुत करना है।]

3 पुरुपाथ कितने प्रकार क हैं ? प्रत्यक का सक्षेप मे विवेचन कीजिए।

[सकेत—इस प्रश्न म पुरुपाथ का अथ एव उनके चारा प्रकारा का उल्लख करना है।]

4 चारो पुरुपार्थों म सामाजिक दृष्टि स धम सबसे महत्वपूण है। सिद्ध कीजिए। (लखनऊ, 1967)

[सकेत—इसम पुरुपाथ का अथ बताकर अथ, काम और मोक्ष का सक्षप म वणन करके धम का विस्तार स उल्लेख कर उसका महत्व लिखना है।]

5 चारा पुरुपार्थों का सामाजिक महत्व बताइए। (लखनऊ, 1971)

[सकेत—इस प्रश्न का उत्तर प्रश्न स० 2 के उत्तर की तरह ही लिखना है।]

6 पुरुपार्थ की व्याख्या कीजिए। काम और अथ, धम से किस प्रकार सम्बन्धित है ? (लखनऊ, 1971)

[सकेत—इस प्रश्न का उत्तर प्रश्न सख्या 2 क उत्तर की तरह ही लिखा जायगा।]

7 पुरुपाथ का सिद्धान्त भौतिक एव आध्यात्मिक जीवन का समन्वय करता है, स्पष्ट कीजिए। (गोरखपुर, 1976)

[सकेत—इसम पुरुपाथ का अथ, प्रकार एव उसके समाजशास्त्रीय महत्व को लिखना है।]

# 9

# भारत मे जाति-प्रथा
## (CASTE SYSTEM IN INDIA)

भारतीय सामाजिक संस्थाओं मे जाति एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण संस्था है। आदिकाल से ही भारत म जाति प्रथा का प्रचलन रहा है। पश्चिमी देशा मे सामाजिक स्तरीकरण (social stratification) का आधार वर्ग रहा है तो भारत मे जाति एव वर्ण। डा० सक्सेना का मत है कि जाति हिन्दू सामाजिक सरचना का एक मुख्य आधार रहा है, जिसम हिन्दुओ का सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक जीवन प्रभावित होता रहा है। हिन्दुओ के सामाजिक जीवन के किसी भी क्षेत्र का अध्ययन बिना जाति के विश्लेषण के अपूर्ण ही रहता है।[1] श्रीमती कर्वे का भी मत है कि यदि हम भारतीय संस्कृति के तत्वो को समझना चाहते हैं तो जाति प्रथा का अध्ययन नितान्त आवश्यक है।[2] यही कारण है कि समय-समय पर इतिहासकारो, धर्म शास्त्रियो, जनगणना-आयुक्तो, समाजशास्त्रियो, मानवशास्त्रियो एव अन्य देशी तथा विदेशी विद्वानो ने जाति प्रथा का अध्ययन किया है और अपने-अपने दृष्टिकोण प्रकट किये हैं। भारत म जाति की व्यापकता एव महत्व को बताते हुए मजूमदार लिखते हैं "जाति-व्यवस्था भारत मे अनुपम है। सामान्यत भारत जातियो एव सम्प्रदायो की परम्परात्मक स्थली माना जाता है। ऐसा कहा जाता है कि यहाँ की हवा म भी जाति घुली हुई है और यहाँ तक कि मुसलमान तथा ईसाई भी इससे अछूते नही बचे हैं।"[3] भारत म जातियो की अधिकता एव व्यापकता को देखकर हटटन लिखते है कि "जाति व्यवस्था के लिए विशेषज्ञो की एक सेना की आवश्यकता है।"

### जाति का अर्थ तथा परिभाषा
### (MEANING AND DEFINITION OF CASTE)

जाति शब्द अंग्रेजी भाषा के कास्ट (caste) का हिन्दी अनुवाद है। अंग्रेजी क caste शब्द की व्युत्पत्ति पुर्तगाली भाषा के 'casta' शब्द से हुई है जिसका अर्थ

1 डॉ० आर० एन० सक्सेना, भारतीय समाज तथा सामाजिक संस्थाएँ, पृ० 45।
2 I Karve *Kinship Organization in India* p 1
3 Majumdar *Races and Cultures of India*

मत, विभेद तथा जाति म लिया जाता है। जाति शब्द की उत्पत्ति का पता 1665 म ग्रमिया-डी आरेटा नामक विद्वान ने लगाया। उसके बाद फ्रास के अब्बे डुब्वाय न इसका प्रयोग प्रजाति के सन्दभ म किया। विभिन्न विद्वानो ने जाति को परिभाषित करन का प्रयास किया है।

मजूमदार एव मदान के अनुसार, "जाति एक बन्द वग है।"[1]

कूले के शब्दो म, जब एक वग पूणत आनुवशिकता पर आधारित हाता है, तो हम उस जाति कहते हैं।"[2] इन दोनो परिभाषाओ मे इस बात पर जोर दिया गया है कि जाति की सदस्यता जन्म पर आधारित है। कोई भी व्यक्ति अपने गुणा, सम्पत्ति एव शिक्षा म वृद्धि करके या व्यवसाय परिवतन करके जाति नही बदल सकता है। व्यक्ति जिस जाति मे जन्म लेता है, जीवनपयन्त उसी का सदस्य बना रहता है।

सर रिजले के अनुसार, 'जाति परिवारो या परिवारो के समूहो का एक सकलन है जिसका कि सामान्य नाम है, जो एक काल्पनिक पूवज मानव या दवता से सामान्य उत्पत्ति का दावा करता है, एक ही परम्परात्मक व्यवसाय करन पर बल देता है और एक सजातीय समुदाय के रूप म उनके द्वारा मान्य हाता है जा अपना ऐसा मत व्यक्त करन के याग्य है।'[3] हटटन न रिजले की परिभाषा की आलाचना करते हुए लिखा है कि रिजले ने जाति एव गोत्र म भेद नही किया है। एक काल्पनिक पूवज स उत्पत्ति गोत्र की मानी जाती है, जाति की नही।

जे० एच० हटटन के अनुसार, "जाति एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तगत एक समाज अनक आत्म केन्द्रित एव एक दूसरे से पूणत पृथक इकाइयो (जातियो) म विभाजित रहता है। इन इकाइयो के बीच पारस्परिक सम्बन्ध ऊँच-नीच के आधार पर सास्कारिक रूप मे निर्धारित होत ह।'[4]

केतकर के अनुसार "जाति एक सामाजिक समूह है जिसकी दा विशपताएँ ह—(1) सदस्यता केवल उन व्यक्तियो तक सीमित है जिन्हान उसी जाति म जन्म लिया हो, और इस प्रकार स पैदा हुए व्यक्ति ही इसमे सम्मिलित होते है (11) सदस्य एक कठार सामाजिक नियम द्वारा अपन समूह से बाहर विवाह करने से रोक दिये जात हैं।' केतकर न जाति की दा विशेषताओ, जन्मजात सदस्यता एव जाति अन्त विवाह (caste endogamy) का उल्लेख किया है जा उपयुक्त है किन्तु इसमे जाति की अन्य विशेषताओ का उल्लेख नही है।

ब्लण्ट के अनुसार, "जाति एक अन्तर्विवाही समूह अथवा अन्तर्विवाही समूहा

1 A caste is a closed class
—Majumdar and Madan *An Introduction to Social Anthropology* p 12
2 When a class is somewhat strictly hereditary we may call it a caste
—C H Cooley *Social Organisation* p 11
3 Risley *The People of India* p 5
4 J H Hutton *Caste in India* p 50
5 Ketkar *History of Caste in India* p 15

का समूह है, जिसका एक सामान्य नाम होता है, जिसकी सदस्यता आनुवंशिक होती है, जो सामाजिक सहवास के क्षेत्र में अपने सदस्यों पर कुछ प्रतिबन्ध लगाता है, इनके सदस्य या तो एक सामान्य परम्परागत व्यवसाय को करते हैं अथवा किसी सामान्य आधार पर अपनी उत्पत्ति का दावा करते हैं और इस प्रकार एक समरूप समुदाय के रूप में मान्य होते हैं।"[1] अब तक की परिभाषाओं में ब्लण्ट की परिभाषा अधिक सही है किन्तु इसमें एक त्रुटि यह है कि जाति की उत्पत्ति एक सामान्य पूर्वज से बतायी गयी है, जबकि कोई भी जाति अपनी उत्पत्ति किसी एक पूर्वज से नहीं मानती है।

इरावती कर्वे ने जाति अन्तर्विवाह (caste endogamy) को इतना अधिक महत्व दिया है कि वे जाति को मूलतः एक अन्तर्विवाही समूह मानती हैं। अन्तर्विवाह के कारण जाति की सामाजिक सीमाएँ निर्धारित हो जाती हैं। वे कहती हैं, "जाति वस्तुतः एक विस्तृत नातेदारी समूह (extended kin group) है।"[2]

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि जाति एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसकी सदस्यता जन्म पर आधारित है और जो अपने सदस्यों पर खान-पान, विवाह, पेशा और सामाजिक सहवास सम्बन्धी अनेक प्रतिबन्ध लागू करती है। भारत में जाति का स्वरूप इतनी विभिन्नता लिए हुए है कि इसकी कोई भी सर्वमान्य परिभाषा करना कठिन है। यही कारण है कि कई विद्वानों ने जाति की परिभाषा देने के बजाय उसकी विशेषताओं का उल्लेख किया है, इनमें हटटन, दत्ता, घुरिये आदि प्रमुख हैं।

## जाति-प्रथा की विशेषताएँ—संरचनात्मक तथा सांस्कृतिक पक्ष (CHARACTERISTICS OF CASTE SYSTEM)

एन० के० दत्ता[3] ने जाति की निम्नांकित संरचनात्मक एवं सांस्कृतिक विशेषताओं का उल्लेख किया है

(1) एक जाति के सदस्य जाति से बाहर विवाह नहीं कर सकते।

(2) प्रत्येक जाति में दूसरी जातियों के साथ खान पान के सम्बन्ध में कुछ प्रतिबन्ध होते हैं।

(3) अधिकांश जातियों के पेशे निश्चित होते हैं।

(4) जातियों में ऊँच-नीच का एक संस्तरण होता है, जिसमें ब्राह्मणों की स्थिति सर्वमान्य रूप से शिखर पर है।

(5) व्यक्ति की जाति उसके जन्म के आधार पर ही आजीवन के लिए निश्चित होती है। केवल जाति के नियमों को तोड़ने पर उसे जाति से बहिष्कृत किया जा सकता है, अन्यथा एक जाति से दूसरी जाति में जाना सम्भव नहीं है।

(6) सम्पूर्ण जाति-व्यवस्था ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा पर निर्भर है।

1 E. A. H. Blunt *The Caste System in Northern India* p. 4
2 I. Karve What is Caste *The Economic Weekly*, 1958
3 N. K. Dutta *Origin and Growth of Caste in India* p. 15

दत्ता द्वारा वर्णित जाति की विशेषताएँ जाति की विस्तृत व्याख्या करती हैं और बहुत कुछ सही भी है किन्तु इसमें कुछ अपवाद भी हैं। ऐसे उदाहरण भी हैं जब राजाओं ने कुछ व्यक्तियों या जाति को दान देकर ऊँची जाति में रखा, जैसे मनीपुर राज्य की लोही जाति को वहाँ के राजा ने क्षत्रिय घोषित किया तथा उसे जनेऊ पहनने की स्वीकृति प्रदान की।

डॉ० घुरिये[1] ने जाति की निम्नांकित छः सांस्कृतिक एवं संरचनात्मक विशेषताओं का उल्लेख किया है :

(1) समाज का खण्डात्मक विभाजन (Segmental Division of Society)—जाति व्यवस्था ने भारतीय समाज को विभिन्न खण्डों में विभाजित कर दिया है और प्रत्येक खण्ड के सदस्यों की स्थिति, पद तथा कार्य निश्चित है। घुरिये कहते हैं कि खण्ड विभाजन से तात्पर्य है—एक जाति के सदस्यों की सामुदायिक भावना सम्पूर्ण समुदाय के प्रति न होकर अपनी ही जाति तक सीमित होती है। व्यक्ति की निष्ठा एवं श्रद्धा समुदाय के बजाय अपनी जाति के प्रति होती है। प्रत्येक जाति की एक जाति पंचायत होती है जो जाति के सदस्यों पर नियन्त्रण रखती है और उनसे जातीय नियमों का पालन करवाती है। जाति के नियमों का उल्लंघन करने वाले पर जुर्माना किया जाता है और कभी कभी उसे जाति से बहिष्कृत भी कर दिया जाता है।

(2) संस्तरण (Hierarchy)—समाज में सभी जातियों की सामाजिक स्थिति समान नहीं है वरन् उनमें ऊँच-नीच का एक संस्तरण अथवा उतार-चढ़ाव पाया जाता है। ऊँच नीच की इस व्यवस्था में ब्राह्मणों का स्थान सबसे ऊँचा है और शूद्रों का स्थान सबसे नीचा। क्षत्रिय एवं वैश्य इनके मध्य में हैं। जन्म पर आधारित होने के कारण इस संस्तरण में स्थिरता एवं दृढ़ता पायी जाती है। यही कारण है कि निम्न जातियाँ साधारणतः उच्च जातियों में सम्मिलित नहीं हो सकती। जाति संस्तरण में मध्यवर्ती जातियों की तुलना में ब्राह्मणों एवं शूद्रों की स्थिति अधिक स्थिर है क्योंकि ब्राह्मणों का और अधिक ऊपर एवं शूद्रों का और अधिक नीचे जाना असम्भव है, जबकि मध्यवर्ती जातियाँ अपने को पास वाली जातियों से अधिक श्रेष्ठ एवं उच्च होने का दावा पेश करती रही हैं।

(3) भोजन तथा सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध (Restrictions on Fooding and Social Intercourse)—जाति-व्यवस्था में जातियों के परस्पर भोजन एवं व्यवहार से सम्बन्धित अनेक निषेध पाये जाते हैं। प्रत्येक जाति के ऐसे नियम हैं कि उसके सदस्य किस जाति के यहाँ कच्चा, पक्का तथा फलाहारी भोजन कर सकते हैं, किन के हाथ का बना भोजन व किन के यहाँ पानी पी सकते हैं, किन के साथ बैठकर हुक्का बीड़ी पी जा सकती है, किन के यहाँ के धातु या मिट्टी के बर्तनों का उपयोग अपने लिये किया जा सकता है, आदि। ब्राह्मणों के हाथ का बना कच्चा

1 G S Ghurye *Caste Class and Occupation* pp 26-27

व पक्का खाना सभी जातियो के लोग ग्रहण कर लेते हैं। किन्तु शूद्रो के हाथ का बना किसी भी प्रकार का भोजन उच्च जातियो के लोग स्वीकार नही करते। सामान्यतः ऊँची जातियो के द्वारा बनाया गया भोजन निम्न जातियाँ स्वीकार कर लेती हैं किन्तु जातियो के लोगो द्वारा बनाया गया कच्चा व कभी कभी पक्का भोजन भी उच्च जातियो द्वारा ग्रहण नही किया जाता है।

(4) नागरिक एव धार्मिक निर्योग्यताएँ एव विशेषाधिकार (Civil and Religious Disabilities and Privileges)—जाति-व्यवस्था मे उच्च जातियो को कई सामाजिक एव धार्मिक विशेषाधिकार प्राप्त हैं जबकि निम्न एव अछूत जातियो को उनसे वचित किया गया है। खास तौर से दक्षिणी भारत मे अछूत जातियो पर अनेक अयोग्यताएँ लादी गयी है। मालाबार के इजावाह लोगो को जूते पहनने, छाता लगाने एव गाय का दूध निकालने की मनाई थी। पेशवाओ के राज्य मे पूना मे महर एव मग अछूत जातियो का सायकाल तीन बजे से प्रात नौ बजे तक शहर मे प्रवेश की इजाजत इसलिए नही थी कि उस समय परछाई के लम्बी होने से किसी द्विज पर पड जाने से वह अपवित्र हो जाता था। पजाब मे हरिजन शहर मे चलते समय लकडी के गट्टे बजाता था जिससे कि लोगो को ज्ञात हो जाय कि अछूत आ रहा है और वे मार्ग से दूर हट जायें। उन्हें सडक पर थूकने की मनाही थी, अत वे गले मे थूकने के लिए एक बर्तन लटकाया करते थे। अछूतो को स्कूल, मन्दिर, तालाब, कुओ एव सार्वजनिक स्थानो एव बगीचो के उपयोग की मनाही थी। अछूतो की बस्तियाँ गाँव से दूर होती थी। इस प्रकार उच्च जातियो को सामाजिक एव धार्मिक विशेषाधिकार प्राप्त रहे हैं और अछूतो को अनेक निर्योग्यताओ से पीडित रहना पडा है।

(5) पेशे के अप्रतिबन्धित चुनाव का अभाव (Lack of Unrestricted Choice of Occupation)—प्राय प्रत्येक जाति का एक परम्परागत व्यवसाय होता है जो पीढी दर पीढी हस्तान्तरित होता रहता है। कई जातियो के नाम से ही उनके व्यवसाय का बोध होता है। प्रत्येक जाति यह चाहती है कि उसके सदस्य निर्धारित जातिगत व्यवसाय ही करें। अन्य जातियो के लोग भी एक व्यक्ति को अपना जातीय व्यवसाय बदलने से रोकते है। किन्तु कुछ व्यवसाय ऐसे है जैसे कृषि व्यापार एव सेना मे नौकरी जिसमे सभी जातियो के व्यक्ति काम करते हैं। मुगलकाल से ही जाति पर पेशे सम्बन्धी नियन्त्रण शिथिल हो गये थे। ब्लेन्ट का मत है कि "जाति का पेशा परम्परागत होता है परन्तु यह किसी अर्थ मे आवश्यक नही कि उसी के द्वारा सब या अधिकतर जातियाँ आज अपनी जीविका निर्वाह करती हैं।"[1]

(6) विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध (Restriction of Marriage)—जाति की एक प्रमुख विशेषता यह है कि प्रत्येक जाति अपनी ही जाति अथवा उपजाति मे विवाह करती है। जाति या उपजाति से बाहर विवाह करने वाले को जाति से बहिष्कृत कर

1 Quoted by G S Ghurye *op cit* p 15

दिया जाता है । वेस्टरमाक न तो जाति अन्तविवाह को जाति का सार तत्व (the essence of caste system) माना है ।[1] यद्यपि कुछ पर्वतीय जातिया एव दक्षिण के नम्बूद्री ब्राह्मणो मे अपने स निम्न जातिया की लडकियो से विवाह करन का प्रथा भी पायी जाती है किन्तु इन्ह अपवादही कहा जायगा । जाति अन्तर्विवाह के प्रचलन के बारे मे गेत का मत है कि इसका उद्देश्य जाति मिश्रण एव उपजातिया की सख्या म होने वाली वृद्धि को रोकना था ।[2]

उपयुक्त विशेषताओ के अतिरिक्त भी जाति की कुछ अन्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं

(7) जन्मजात सदस्यता (Inborn Membership)—जाति की सदस्यता जन्मजात होती है । एक व्यक्ति जिस जाति म जन्म लेता है, मृत्युपयन्त उसी म बना रहता है । शिक्षा धम व्यवसाय एव गुणो म वृद्धि करने स जाति परिवर्तित नहा की जा सकती । किन्तु हट्टन ने कुछ ऐसे उदाहरण भी दिय हैं जिनम जाति की सदस्यता पूणत जन्मजात नही हाती है य जातियाँ हैं मालाबार की अम्लवासी तथा उडीसा की शागिद पेशा चासा और करन ।

(8) जाति का राजनीतिक रूप (Political Form of Caste)—ड सक्सेना का मत है कि जाति एक राजनीतिक इकाई भी है क्योकि प्रत्येक जा[ति] व्यावहारिक आदश के नियम प्रतिपादित करती है और अपने सदस्या पर उनको लागू करती है । जाति पचायत उसके काय और सगठन जाति के राजनैतिक पक्ष के ही प्रतीक हैं । जाति के द्वारा विधायिक न्यायिक और निष्पादिक काय भी सम्पन्न होते है जिनके कारण उसे राजनीतिक इकाई का रूप मिलता है ।[3] उच्च जातियो की अपेक्षा निम्न जातियो मे जाति पचायतो का सगठन अधिक सुदृढ होता है । जाति पचायत के सदस्य साधारणत वशानुगत होते है । ब्रिग्ज (Briggs) न लिखा है कि जाति के कल्याण और सुरक्षा सम्बन्धी सभी काय जाति पचायत के अधिकार क्षत्र मे आत है । वतमान मे जाति पचायतो का क्षेत्र सीमित हो गया है । कुछ समय पूव तक ग्रामीण सामाजिक आथिक प्रणाली मे राजनीतिक सत्ता और विशेपाधिकार प्रभु जातियो (Dominant castes) के पास रहे है जिनके पास गाँव की अधिकतम भूमि रही है और जो सामाजिक सस्तरण म भी उच्च स्थान पर रही हैं ।

किन्तु जाति की इन विशेपताओ मे वतमान समय मे बहुत कुछ परिवतन आया है जिसके परिणामस्वरूप जाति के सरचनात्मक एव सांस्कृतिक स्वरूप मे परिवतन हुआ है । इस परिवतन का हम आगे उल्लेख करेंगे ।

---

1 E A Westermark History of Human Marriage p 59
2 Encyclopaedia of Religion and Ethics Vol III p 234
3 डॉ० आर० एन० सक्सेना पूव उद्धृत, पृ० 53

## जाति और अन्य अवधारणाएँ
## (CASTE AND OTHER CONCEPTS)

जाति और उससे सम्बन्धित कुछ अन्य अवधारणाओं का उल्लेख करना आवश्यक है क्योंकि कई बार जाति को उप जाति, गोत्र, जनजाति, प्रजाति, वर्ग एवं वर्ण के समान ही मान लिया जाता है जबकि इनमे पर्याप्त अन्तर है।

### जाति और उपजाति
### (CASTE AND SUB-CASTE)

कई बार इन दोनो मे कोई भेद नही किया जाता है किन्तु कुछ विद्वान व्यावहारिक दृष्टि से इनमे भेद करना उचित मानते हैं। एक जाति की सभी उपजातियो मे जाति की कुछ सामान्य विशेषताएँ पायी जाती है, जैसे सामान्य व्यवसाय तथा सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध के नियम आदि। जाति व उपजाति मे मूल अन्तर यह है कि जाति नही वरन उपजाति ही एक अन्तर्विवाही समूह है।

गेत (Gait) का मत है कि प्रत्येक उपजाति ही जाति है क्योकि अन्तर्विवाह का नियम उपजातियो पर ही दृढता से लागू होता है। फिर भी गेत के मत को पूर्णत इसलिए स्वीकार नही किया जा सकता कि उपजातियो म जाति के सभी संरचनात्मक और सांस्कृतिक पक्ष नही होते और ऐसा करने मे जातियो की संख्या म वृद्धि हो जायगी।

डा० घुरिये कहते हैं कि उपजातियो को ही जाति मानना चाहिए क्योकि जाति की प्रमुख विशेषताएँ जैसे खान पान सम्बन्धी प्रतिबन्ध, सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध, अन्तर्विवाह के नियम तथा अपनी जाति के प्रति पायी जाने वाली सामुदायिक भावना आदि उपजातियो मे ही पायी जाती है।

केतकर जाति और उपजाति को सापेक्ष (relative) शब्द मानते है अत इनका उपयोग तुलनात्मक तरीका से करने पर जोर देते है। उनके अनुसार जाति एक बडा समूह है जबकि उपजाति एक छोटा समूह है।

हट्टन जाति और उपजाति मे कोई भेद नही मानते। वे कहते है, "जब एक जाति का एक समूह पेशे, भाषा या स्थान परिवर्तन के आधार पर मुख्य समूह से अलग हो जाता है तो ऐसे समूह को स्वतन्त्र जाति या उपजाति कहा जाता है।"

स्पष्ट है कि जाति व उपजाति के भेद को लेकर विद्वानो मे मतभेद हैं। इन दोनो मे पर्याप्त समानता होने पर भी इन्हे एक ही नही माना जा सकता। जाति के नियम जैसे अन्तर्विवाह, खान पान तथा सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध आदि उपजाति के बजाय जाति पर ही कठोरता से लागू किये जाते हैं। एक व्यक्ति यदि अपनी जाति की विभिन्न उपजातियो मे विवाह करता है तो उतना बडा अपराध नही माना जाता जितना कि दूसरी जातियो से विवाह करने पर माना जाता है। यही बात भोजन और सामाजिक सहवास के नियमो पर भी लागू होती है।

## जाति और गोत्र
### (CASTE AND CLAN)

जाति की परिभाषा के दौरान रिजले एवं ब्लण्ट ने जाति व गोत्र की अवधारणा का एक साथ मिलाकर भ्रम पैदा कर लिया है। लेकिन वास्तव में इनमें बहुत अन्तर है। गोत्र की परिभाषा करते हुए मजूमदार एवं मदान लिखते हैं, "एक गोत्र अधिकांशत कुछ वंश समूहों का योग होता है और वे अपनी उत्पत्ति एक कल्पित पूर्वज से मानते हैं जो कि मानव, मानव के समान, पशु, पेड़, पौधा या निर्जीव वस्तु हो सकता है।"[1] इस प्रकार गोत्र का निर्माण एकपक्षीय (मातृपक्ष या पितृपक्ष) परिवारों से मिलकर होता है जो अपनी उत्पत्ति किसी एक ही पूर्वज से मानते हैं। गोत्र एवं जाति में निम्नांकित भेद हैं

(1) एक गोत्र के सदस्य अपने को एक पूर्वज की सन्तान मानते हैं जबकि जाति के सदस्य अपनी उत्पत्ति एक ही पूर्वज से नहीं मानते।

(2) जाति एक अन्तर्विवाही समूह है जबकि गोत्र बहिर्विवाही।

(3) गोत्र के संगठन में ऊँच नीच का भेद नहीं होता पर जातियों में संस्तरण पाया जाता है।

(4) गोत्र एक छोटा समूह है जबकि जाति बड़ा समूह है जिसमें कई गोत्र होते हैं।

(5) गोत्र एक काल्पनिक संस्था है जबकि जाति एक वास्तविकता है।

## जाति और जनजाति
### (CASTE AND TRIBE)

कई बार इन दोनों को भी समानार्थक शब्दों में प्रयुक्त किया जाता है जबकि इनमें पर्याप्त अन्तर है। जनजाति को परिभाषित करते हुए मजूमदार लिखते हैं, "एक जनजाति परिवारों या परिवारों के समूहों का संकलन होता है जिनका एक सामान्य नाम होता है जिसके सदस्य एक निश्चित भू भाग पर रहते हैं, सामान्य भाषा बोलते हैं और विवाह, व्यवसाय या उद्योग के विषय में कुछ निषेधों का पालन करते हैं और एक निश्चित एवं स्वीकृत परस्पर आदान प्रदान की व्यवस्था का विकास करते हैं।"[2] जाति व जनजाति में कुछ समानताएँ भी हैं जैसे कुछ जातियाँ ऐसी हैं जो जनजातियों की भाँति ही एक निश्चित क्षेत्र में रहती हैं और एक भाषायी क्षेत्र में रहने के कारण वे भी जनजातियों की तरह एक निश्चित भाषा का प्रयोग करती हैं। फिर भी इन दोनों में निम्नांकित अन्तर है

(1) जाति मुख्यत जन्म के आधार पर विकसित होती है जबकि जनजाति एक निश्चित भू-क्षेत्र में निवास करने के कारण।

1 Majumdar and Madan *An Introduction to Socia Anthropology* p 113-114
2 Majumdar *Races and Cu tures of India* p 355

(2) एक जाति का एक निश्चित परम्परात्मक व्यवसाय होता है जबकि जनजाति का नही और न ही उनमें व्यवसाय सम्बन्धी कोई नियम ही होते हैं।

(3) जनजातियाँ अपनी उत्पत्ति काल्पनिक पूर्वज से मानती हैं जबकि जातियाँ नही।

(4) प्रत्येक जनजाति का एक राजनीतिक सगठन होता है जबकि जाति म जाति पचायतें होने हुए भी जनजातियो की भाँति उनका राजनीतिक सगठन नही होता।

(5) जाति मे अन्तर्विवाह के कठोर नियम पाये जाते हैं जबकि जनजाति म मे नियम लचीले होते हैं।

वर्तमान मे कई जनजातियाँ अपना वश, धर्म, प्रथाओ एव रीति रिवाजो को बदल कर हिन्दू जाति व्यवस्था मे शामिल हो गयी हैं।

## जाति और प्रजाति
## (CASTE AND RACE)

प्रजाति एक प्राणीशास्त्रीय अवधारणा है। जब किसी बहुत बडे मानवीय समूह को उसके शारीरिक लक्षणो के आधार पर दूसरे मानवीय समूहो से भिन्न किया जाता है तो उस समूह को प्रजाति कहते हैं। मजूमदार लिखते है, "मनुष्यो का एक समूह, जिन्हे कुछ सामान्य शारीरिक लक्षणो के आधार पर दूसरों से पृथक किया जा सके चाहे इस प्राणीशास्त्रीय समूह के सदस्य दूर दूर तक क्यो न बिखरे हो, एक प्रजाति का निर्माण करेंगे।"[1] जाति एव प्रजाति मे यह समानता है कि दोनो की सदस्यता वशानुगत होती है तथा प्रत्येक जाति का प्रजाति की तरह ही एक नाम होता है। प्राय दोनो ही अन्तर्विवाह के नियमो का पालन करती है फिर भी दोनो म निम्नाकित अन्तर है

(1) प्रजाति एक प्राणीशास्त्रीय अवधारणा है, विभिन्न प्रजातियो मे भेद का आधार शारीरिक लक्षण है, जबकि जाति जन्म मे ही निर्धारित होती है और इसका आधार सामाजिक है।

(2) प्रजाति का क्षेत्रीय विस्तार जाति म अधिक होता है।

(3) जाति मे ऊँच नीच की भावना के आधार पर सस्तरण पाया जाता है, प्रजाति म भी ऊँच-नीच की भावना होती है किन्तु यह वैज्ञानिक आधार पर सही नही है।

(4) विवाह सम्बन्धी नियम जितने कठोर जाति म पाये जाते है उतने प्रजाति मे नही।

(5) एक जाति का एक निश्चित परम्परात्मक व्यवसाय होता है जबकि प्रजाति का व्यवसाय से कोई बन्धन नही पाया जाता।

---

1 Majumdar *op cit* p 16

(6) जाति म छुआछूत क नियम है किन्तु प्रजाति म नही।

(7) जाति म कुछ नैतिक नियम होत है जिनका सभी सदस्य पालन करते हैं जबकि प्रजाति म इस प्रकार क नियम नही होत है।

मार्क्स आर्थिक वर्गों के अध्ययन म रुचि रखता था। शुम्पीटर का मत है कि मार्क्स की प्राथमिक रुचि वर्गों क विकास म थी जबकि बोटोमोर का मत है कि मार्क्स सामाजिक व राजनीतिक परिवर्तन लान म वर्गों की भूमिका मे रुचि रखता था। उसका अध्ययन पूजीवादी व्यवस्था म बुर्जवा वग की उत्पत्ति व पूजीवाद की स्थापना तथा सर्वहारा वग के निर्माण तथा विकास से सम्बन्धित था। किन्तु उसका अध्ययन वग विहीन समाज के आदश स उसकी राजनीतिक प्रतिबद्धता क कारण विकृत हो गया था। फिर भी वर्गों के सामाजिक व राजनीतिक संघर्षों के विश्लेषण के उसकी देन महत्वपूर्ण है। भारत म वग-व्यवस्था को समझने से पूव यह आवश्यक है कि हम यह जान लें कि वग क्या है।

## जाति तथा वर्ग
## (CASTE AND CLASS)

जन्म क अतिरिक्त किसी भी आधार पर समाज म समूहो का निर्माण वग कहलाता है किन्तु इस बात को लेकर मतभेद है कि क्या वर्गों का आधार आर्थिक ही है या सामाजिक सास्कृतिक भी। वग की कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार है

आगबन (Ogburn) के अनुसार 'एक सामाजिक वग ऐसे व्यक्तियो का योग है, जिनकी एक दिय हुए समाज म अनिवाय रूप स समान सामाजिक स्थिति होती है।'[1] मकाइवर एव पज क शब्दो म एक सामाजिक वग समुदाय का वह भाग है जो सामाजिक स्थिति क आधार पर दूसरो स पृथक किया जा सके।'[2]

जिसबट (Gisbert) के अनुसार एक सामाजिक वग व्यक्तियो का समूह अथवा एक विशेष श्रेणी है जिसकी समाज म एक विशेष स्थिति होती है। यह विशेष स्थिति ही अन्य समूहो से उनके सम्बन्ध को निर्धारित करती है।'[3] ये सभी परिभाषाएँ इस बात को स्पष्ट करती है कि समान सामाजिक प्रस्थिति वाले समूह ही समाज म वर्गों का निर्माण करत है। क्लर्क, अध्यापक, व्यापारी, किसान आदि की सामाजिक प्रस्थितियाँ समाज म भिन्न भिन्न होने से ही य अलग अलग प्रकार के वग बन गय है।

1 A social class is the aggregate of persons having essentially the same social status in a given society
—Ogburn and Nimkoff *A Hand Book of Sociology* p 210

2 A social class is any portion of a community market off from the rest by social status
—MacIver and Page *Society* p 348

3 A social class is a category or group of persons having a definite status in a society which permanently determines their relation to other groups
—Gisbert *Fundamentals of Sociology* p 308

जिसबग (Ginsberg) के शब्दो म, 'एक सामाजिक वग एस व्यक्तियो का समूह है जो व्यवसाय, धन, शिक्षा, जीवनयापन की विधियो, विचारो, भावनाओ, मनोवृत्तियो और व्यवहारो मे एक-दूसरे के समान होते है अथवा इनम से कुछ आधारो पर एक दूसरे स समानता अनुभव करते हुए अपने को एक समूह का सदस्य समझते है।'[1] लेपियर (Lapiere) के अनुसार, "सामाजिक वग एक सास्कृतिक समूह है जिसे सम्पूण जनसख्या मे एक विशेष स्थिति अथवा पद प्रदान किया जाता है।'[2] ओलसन (Olsen) लिखत है, "सामाजिक वर्गों का निमाण उन व्यक्तियो के द्वारा होता है, जिन्हें लगभग समान मात्रा मे शक्ति, सुविधाएँ और सम्मान मिला होता है।"[3] इस प्रकार वग को सास्कृतिक आधार मानने वाली परिभाषाओ म इस बात को स्पष्ट किया गया है कि एक वग के लोगो की सास्कृतिक विशेषताएँ समान होती हैं।

## वर्ग की विशेषताएँ
## (CHARACTERISTICS OF CLASS)

वग की धारणाओ को और अधिक स्पष्टत समझने के लिए हम यहाँ वग की विशेषताओ का उल्लेख करेंगे

(1) समूहों का उतार चढ़ाव (Hierarchy of Groups)—समाज म वर्गों की एक श्रेणी होती है जिसमे कुछ वग ऊपर एव कुछ वग मध्यम एव कुछ निम्नतम स्थान पर होत हैं। उच्च वग के लोगो की सामाजिक प्रतिष्ठा एव शक्ति अन्य वर्गों की तुलना मे सर्वाधिक होती है और उसके सदस्यो की सख्या भी बहुत कम होती है। निम्न वर्गों के सदस्यो की सख्या अधिक होती है, इनकी सामाजिक प्रतिष्ठा एव शक्ति भी कम होती है तथा आर्थिक स्थिति कमजोर होन के कारण व कई सुविधाओ का प्राप्त नही कर पात। इस प्रकार से वग सरचना एक पिरामिड की भाँति होती है जिसके धरातल पर अधिक लोग होन स उसका हिस्सा बड़ा होता है और शिखर पर कम लोग होन स बहुत छोटा होता है। भारत मे 46% लोग निम्न वर्ग के हैं जो गरीबी रेखा से भी नीचे का जीवन व्यतीत करत है जबकि लगभग 5% लोग ही ऐसे हैं जो विभिन्न प्रकार की सुविधाओ से सम्पन्न हैं।

(2) समान प्रस्थिति (Equal Status)—एक वग के लोगो की सामाजिक प्रस्थिति एक समान होती है। प्रस्थिति निर्धारण के कई आधार हैं। सम्पत्ति को आधार मानें तो उन लोगो की सामाजिक प्रस्थिति ऊँची होगी जिनके पास अधिक

1 M Ginsberg Class Consciousness from *Encyclopaedia of Socia Sciences* p 536

2 A social class is culturally defined group that is accorded a particular position or status within the population as a whole
—Lapiere *Sociology* p 452

3 In short social classes composed of actors with approximately similar amounts of power privilege and prestige on one or more status dimensions
—Olsen *The Process of Social Organisation* p 196

सम्पत्ति है। इसी प्रकार से शिक्षा को आधार मानें तो शिक्षित एवं अशिक्षित की सामाजिक प्रतिष्ठा एवं प्रस्थिति भिन्न भिन्न होगी। फिर भी कोई एक ही आधार सामाजिक प्रस्थिति का निर्धारण नही करता है, उसमे अन्य तत्व जैसे व्यवसाय जाति की सदस्यता व्यवसाय की प्रतिष्ठा आदि भी महत्वपूर्ण हैं।

(3) ऊँच नीच की भावना (Feeling of Superiority Inferiority)—एक वर्ग के लोग दूसरे वर्ग के प्रति उच्चता या हीनता की भावना रखते हैं तथा अपने वर्ग के प्रति उनमें हम की भावना पायी जाती है। शासक एवं सम्पन्न वर्गों के लोग शासितो एवं गरीब वर्गों को अपने से हीन समझते हैं तथा निर्धन लोग धनी वर्ग को अपने से ऊँचा समझते है।

(4) वर्ग चेतना (Class Consciousness)—प्रत्येक वर्ग के लोगो मे वर्ग चेतना पायी जाती है प्रत्येक वर्ग की सामाजिक प्रतिष्ठा दूसरे से भिन्न होती है। उनमे उच्चता निम्नता या समानता की भावना पायी जाती है। एक वर्ग के लोगो की जीवन शैली खान पान सुख-सुविधाएँ समान होने एवं बचपन से ही उसके सदस्यो का समाजीकरण उस वर्ग के अनुरूप होने से एक वर्ग के लोगो मे अपने वर्ग के प्रति चेतना का निर्माण होता है। यह वर्ग चेतना उनके व्यवहारो एवं वर्गों के पारस्परिक सम्बन्धो को भी तय करती है। वर्ग चेतना के आधार पर ही एक वर्ग दूसरे वर्ग से प्रतिस्पर्द्धा करता है। वे अपने अधिकारो के प्रति भी सजग होते हैं। मजदूर वर्ग के लोग अपना वेतन महँगाई भत्ता, बोनस मकान किराया काम के घण्टे, भर्ती पद्धति आदि माँगो को लेकर एकजुट होकर हड़ताल एवं प्रदर्शन आदि करते है और उनके हितो की रक्षा के लिए वे परस्पर सहयोग करते है।

(5) सीमित सामाजिक सम्बन्ध (Restricted Social Relations)—एक वर्ग के लोगो के सामाजिक सम्बन्ध प्राय अपने ही वर्ग के लोगो तक सीमित होते हैं और अन्य वर्गों से एक निश्चित सामाजिक दूरी बनाये रखते है। वे अपने ही वर्ग मे से संगी साथी जीवन-साथी आदि का चुनाव करते हैं। आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक समानता के कारण एक वर्ग के लोगो के सम्बन्ध अपने ही वर्ग मे अधिक पाये जाते है।

(6) मुक्त-द्वार (Openness)—वर्ग व्यवस्था जाति की भाँति कठोर एवं बन्द न होकर एक मुक्त व्यवस्था है। इसका अर्थ है कि एक व्यक्ति एक वर्ग से दूसरे वर्ग मे आ-जा सकता है। एक व्यक्ति परिश्रम करके धनी बन सकता है और उच्च वर्ग की सदस्यता ग्रहण कर सकता है और दूसरी ओर सम्पन्न व्यक्ति दिवाला निकलने पर गरीब वर्ग मे सम्मिलित हो जाता है। अत यह आवश्यक नहीं है कि एक व्यक्ति जीवनपर्यन्त उसी वर्ग का सदस्य रहेगा जिस वर्ग मे उसने जन्म लिया है।

(7) वर्ग की वस्तुपरक विशेषता (Objective Aspect of Class)—एक वर्ग को पहचानने एवं एक को दूसरे से भिन्न करने के लिए वर्ग की कुछ विशेषताओं को देखा जाता है जैसे मकान का प्रकार मोहल्ले की प्रतिष्ठा, शिक्षा, आय, रहन-सहन,

पालन का तरीका आदि सम्पन्न एव प्रतिष्ठित लाग पक्के एव अच्छे मकानो व प्रतिष्ठित कालोनी म रहते हैं, उनकी आय व शिक्षा ऊँची होती है तथा व्यवहार का एक प्रतिमान पाया जाता है। निम्न वग के लाग झोंपडियो, कच्चे मकान व गन्दी बस्तियो मे रहते हैं, उनकी आय एव शिक्षा कम होती ह। इस प्रकार इन बाह्य विशेषताओ को देखकर एक वग की पहचान की जा सकती है।

(8) जन्म का महत्व नहीं (No Emphasis on Birth)—एक व्यक्ति उसी वग का सदस्य होगा जिसमे उसका जन्म हुआ ह, यह आवश्यक नही है। वर्ग की सदस्यता को तय करने म व्यक्ति की शिक्षा, योग्यता, सम्पत्ति तथा कुशलता भी महत्वपूर्ण पक्ष है। वग जन्म से सदा के लिए जाति की भाँति निर्धारित नही होते हैं।

(9) कम स्थिरता (Less Stable)—वग व्यवस्था मे अपक्षाकृत कम स्थिरता पायी जाती है क्योकि शिक्षा व्यवसाय, धन एव शक्ति आदि जिनके आधार पर वर्गों का निर्माण होता ह, परिवतनशील ह। वग का त्याग कर दूसरे की सदस्यता ग्रहण की जा सकती है, अत यह परिवर्तनशील व्यवस्था है। किन्तु वग परिवतन मे भी एक समय लगता है, कुछ ही घण्टो म यह कार्य नही होता है।

(10) उप वग (Sub classes)—प्रत्यक सामाजिक वग मे भी कई उप-वग पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए, मध्यम वग म भी सभी एक समान नही हैं, उनमे भी उच्च मध्यम वग, मध्य-मध्यम वग एव निम्न मध्यम वग आदि उपखण्ड है। इसी प्रकार से सभी धनी वग के लाग भी एक समान नही ह।

(11) जीवन अवसर (Life chances)—मैक्स वेबर का मत ह कि एक वग क लागो को जीवन के कुछ विशिष्ट अवसर एव सुविधाएँ समान रूप स प्राप्त होते हैं। मजदूरी करने के अवसर गरीब वग को तथा नय उद्योग धन्धे खोलने के एव उच्च जीवन स्तर बनाये रखने के अवसर सम्पन्न लोगो को समान रूप स प्राप्त होते हैं।

(12) पूणतया अर्जित (Completely Achieved)—चूंकि वग की सदस्यता जाति की भाँति जन्म से निर्धारित नही होती है, अत यह अर्जित है। एक व्यक्ति अपने गुणो, शिक्षा एव धन मे वृद्धि करके उच्च वग की सदस्यता ग्रहण कर सकता है।

(13) सामान्य जीवन (Common mode of Life)—एक वग के लोगो का जीवन जीने का तरीका लगभग समान होता है। उच्च वग के लोग विशिष्ट वस्तुओ का उपभोग करने अपव्यय करने एव दिखावा करने म अधिक विश्वास करते हैं, मध्यम वग के लाग रूढियो एव प्रथाओ के पालन म अधिक विश्वास करते हैं। निम्न वग का जीवन अभावग्रस्त होता है।

(14) वर्गों की अनिवार्यता (Essentiality of Classes)—चूंकि समाज म सभी व्यक्ति शिक्षा, व्यवसाय धन, योग्यता आदि की दृष्टि से समान नही होते हैं, अत व्यक्तियो म पायी जाने वाली इन भिन्नताओ के आधार पर समाज में ही स्वत

ही वर्ग व्यवस्था आवश्यक रूप से पैदा हो जाती है और एक विशेषता से सम्बन्धित समूह के लोग एक वर्ग का निर्माण करते हैं।

**जाति और वर्ग में अन्तर (Distinction between Caste and Class)**

**(1) जाति एक बन्द वर्ग है जबकि वर्ग में खुलापन पाया जाता है**—चूंकि जाति का आधार जन्म है अतः उसकी सदस्यता जीवनपर्यन्त होती है, उसे बदला नहीं जा सकता, जबकि वर्ग का आधार शिक्षा, व्यवसाय, सम्पत्ति आदि होने के कारण वर्ग बदला जा सकता है। एक व्यक्ति धन अर्जित कर श्रमिक वर्ग से मालिक वर्ग में तथा शिक्षा ग्रहण कर अशिक्षितों से शिक्षितों के वर्ग में जा सकता है। इसी कारण कहा जाता है कि जाति एक बन्द वर्ग है जबकि वर्ग में खुलापन पाया जाता है।

**(2) जाति का आधार जन्म है, वर्ग का नहीं**—जाति प्रथा में एक व्यक्ति उसी जाति का सदस्य होता है जिसमें उसने जन्म लिया है जबकि वर्ग का आधार शिक्षा, सम्पत्ति, पेशा एवं धर्म आदि होने के कारण इनमें से व्यक्ति जिन्हें प्राप्त कर लेता है उसी के आधार पर उसकी वर्ग-सदस्यता का निर्धारण होता है।

**(3) जाति की सदस्यता प्रदत्त है, वर्ग की अर्जित है**—एक व्यक्ति जाति की सदस्यता प्रयत्न करने पर बदल नहीं सकता क्योंकि वह समाज द्वारा जन्म के आधार पर एक ही बार प्रदान की जाती है, इसलिए यह स्थिर भी है, जबकि एक व्यक्ति जागरूक प्रयत्नों द्वारा किसी भी वर्ग की सदस्यता प्राप्त कर सकता है, अतः वर्ग की सदस्यता अर्जित है।

**(4) जाति में पेशे निश्चित होते हैं वर्ग में नहीं**—जाति व्यवस्था में प्रत्येक जाति का व्यवसाय परम्परागत एवं पूर्व-निर्धारित होता है, उसी के द्वारा जाति के सदस्य अपना जीवन-यापन करते हैं। वर्ग का कोई निश्चित पेशा नहीं है। एक वर्ग के लोग अपनी क्षमता एवं योग्यता के अनुसार विभिन्न व्यवसायों में लगे होते हैं। सभी श्रमिक एक ही व्यवसाय नहीं करते और न सभी पूंजीपति एक ही धन्धे में पूंजी लगाते हैं।

**(5) जाति में खान-पान पर प्रतिबन्ध है वर्ग में नहीं**—प्रत्येक जाति के खान-पान सम्बन्धी नियम होते हैं, स्पष्ट यह जाना है कि वे किन किन जातियों के यहाँ कच्चा व पक्का भोजन, पानी तथा हुक्का बीड़ी ग्रहण कर सकते हैं और किन के यहाँ नहीं जबकि वर्ग में इस प्रकार के कठोर प्रतिबन्ध नहीं होते हैं।

**(6) जाति अन्तर्विवाही है, वर्ग नहीं**—एक जाति के सदस्य अपनी ही जाति में विवाह करते हैं जबकि एक वर्ग के लोग अपने से ऊँचे एवं नीचे वर्ग में विवाह कर सकते हैं।

**(7) जाति वर्ग की अपेक्षा अधिक स्थिर है**—चूंकि जाति की सदस्यता जन्म पर आधारित होती है, और यह बदली नहीं जाती है, अतः जाति व्यवस्था एक स्थिर संगठन है। दूसरी ओर वर्ग व्यवस्था समाज की सामाजिक एवं राजनीतिक परि

स्थितिया क अनुसार बदलती रही है। सामन्त, दास, भूस्वामी, जागीरदार, पूजीपति एव श्रमिक आदि के रूप मे समय-समय पर अनेक वग अस्तित्व मे आते रहे है।

(8) वग की अपेक्षा जातियों का सस्तरण अधिक निश्चित एव स्पष्ट है—जाति व्यवस्था मे एक जाति से दूसरी जाति के बीच सामाजिक दूरी निश्चित होती है, कौन-सी जाति किससे ऊँची व किससे नीची है यह स्पष्ट है। किन्तु वग व्यवस्था म एक सस्तरण होते हुए भी सस्तरण के नियम कठोर नही हैं, एक वग क महत्व को दूसरे की अपेक्षा निम्न नही कहा जा सकता।

## जाति तथा वर्ण
### (CASTE AND VARNA)

प्राय जाति एव वण को एक ही समझ लिया जाता है। इसका कारण यह है कि प्राचीन समय म जाति नही वरन् वर्ण ही प्रचलित थे और कालान्तर म जाकर वर्णों से जातियो की उत्पत्ति हुई। होकाट कहते है कि कई व्यक्ति यह मानते है कि वण एव जाति म नाम का ही भेद है काय का नही। किन्तु हटटन का मत है कि ये दोनो भिन्न भिन्न अवधारणाएँ है। इन दोनो के बीच भ्रम पैदा होने का कारण इनके विभिन्न खण्डो जैसे ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र का दोनो म ही समान रूप से उपस्थित होना है। वण का अर्थ वरण करने से लिया जाता है जिसका तात्पय है एक व्यक्ति की अपनी योग्यतानुसार अपना व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता। पहले एक व्यवसाय का चयन करने वाले लोग एक वण के कहलाते थे। वण का एक अथ रग से भी लिया जाता है। एक ही प्रकार के शरीर क रग वालो का एक वर्ण माना गया। पुराणो मे उल्लेख है कि ब्राह्मण गौर वर्ण के, क्षत्रिय लाल वण क, वैश्य पीत वण के और शूद्र कृष्ण वण के होते हैं। 'वण' का एक अथ 'व्यक्ति वृत्ति' अर्थात् स्वभाव स भी लिया गया है। जिन लोगो का स्वभाव एक समान होता है वे एक वण के मान जाते है। वण का आधार गुण एव कम माना जाता है। कृष्ण ने गीता मे कहा है—'चातुवर्ण्य मया सृष्ट गुण कम विभागश' अर्थात् मैंने चारो वर्णों की रचना उनके गुण के आधार पर की है। शास्त्रों म चार वर्णों—ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र का उल्लेख किया गया है। वण व्यवस्था का आधार कार्य एव गुण होने के कारण इसम कठोरता का अभाव रहा है। व्यक्ति अपना वण बदल सकता था और यह भी आवश्यक नही था कि पुत्र का वण एव पिता का वण एक ही हो, यद्यपि कालान्तर म जाकर वर्णों मे भी जाति की ही भाँति कठोरता आ गयी थी। वण एव जाति की परिभाषा एव विशेषताओ का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। अत यहाँ हम इन दोनो के मध्य पाये जाने वाले भेद को स्पष्ट करेंगे।

**वण एव जाति में अन्तर (Distinction between *Varna* and Caste)**

(1) वण गुण तथा कर्म पर आधारित है जबकि जाति जन्म पर—जाति की सदस्यता व्यक्ति को जन्म से प्राप्त होती है जबकि वण की सदस्यता गुण एव

कम के आधार पर। ऐसा माना जाता है कि जन्म से सभी शूद्र पैदा होते हैं, अपने गुण एवं कर्मों के आधार पर ही व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य वर्ण प्राप्त करते हैं।

(2) **वर्ण की संख्या जाति से कम है**—शास्त्रों में केवल चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र का उल्लेख किया गया है जबकि जातियों की संख्या हजारों में है।

(3) **वर्ण जाति की अपेक्षा अधिक प्राचीन है**—जाति की उत्पत्ति जैन एवं बौद्ध धर्म के ह्रास के बाद मानी जाती है जबकि वर्ण व्यवस्था प्राचीन वैदिक काल से प्रचलित रही है।

(4) **वर्ण जाति की अपेक्षा लचीली व्यवस्था है**—जाति जन्म से निर्धारित होने के कारण कठोर है उसे बदला नहीं जा सकता जबकि वर्ण का आधार कर्म एवं गुण होने के कारण उसे बदलना सम्भव है। परशुराम ब्राह्मण थे जो बाद में क्षत्रिय बन गये थे।

(5) **वर्ण मे खान पान, विवाह एवं सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध नहीं पाये जाते जबकि जाति मे पाये जाते हैं**—क्षत्रिय राजा शान्तनु ने शूद्र कन्या सत्यवती से तथा दुष्यन्त ने कण्व ऋषि द्वारा पालित शकुन्तला से विवाह किया था।

(6) **वर्ण समानता पर आधारित है, जाति नहीं**—वर्ण व्यवस्था मे ऊँच-नीच का संस्तरण नहीं पाया जाता है सभी वर्णों का समान महत्व माना गया है। दूसरी ओर जातियों में ऊँच नीच की भावना होती है। गांधीजी ने लिखा है कि वर्ण हमारे अधिकार नहीं कर्तव्य बताते हैं जबकि जाति की असमानता का एक ज्वलन्त उदाहरण है जिसमें ऊँची जातियों को विशेषाधिकार दिये गये हैं और शूद्रों को उनसे वंचित किया गया है।

(7) वर्ण व्यवस्था कर्तव्यों की व्याख्या करती है जबकि जाति खान पान, विवाह, सामाजिक सहवास एवं पेशा सम्बन्धी निषेधों की।

## जाति व्यवस्था की उत्पत्ति
## (ORIGIN OF CASTE SYSTEM)

जाति जैसी जटिल एवं विचित्र व्यवस्था की उत्पत्ति कब और कैसे हुई। इस बात को लेकर विद्वानों मे विवाद पाया जाता है। जाति सदैव परिवर्तनशील संस्था रही है अतः इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में निश्चिततापूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। मैकाइवर कहते हैं "उत्पत्तियाँ सदैव अगम्य होती हैं।"[1] इस अर्थ में किसी भी संस्था की उत्पत्ति ढूंढना एक कठिन कार्य है। मजूमदार कहते हैं कि 'जाति संरचना के सम्बन्ध में एक शताब्दी के परिश्रम और सावधानीपूर्ण किये गये अनुसंधान के पश्चात् भी हम निश्चित रूप से उन परिस्थितियों की व्याख्या नहीं कर पाये हैं जिन्होंने इस विशिष्ट व्यवस्था के निर्माण और विकास में भाग दिया है।'[2] कितने ही

1 Origins are always obscure —MacIver, S...
2 D N Majumdar Races and Cultures of India p 284

भारतीय एव विदेशी विद्वानो ने जाति-प्रथा के उद्भव के प्रश्न को सुलझाने के लिए अपने-अपने सिद्धान्तो को जन्म दिया है। किसी ने जाति को कर्मकाण्डो का प्रतिफल माना तो किसी ने इसे ब्राह्मणो का स्वार्थ जाल, किसी ने आर्यों को इसके लिए उत्तरदायी ठहराया तो किसी ने आर्यों एव अनार्यों के सास्कृतिक सम्पर्क को। कुछ ने भारत मे होने वाले प्रजातीय मिश्रण मे जाति का उद्गम पाया तो कुछ ने पेशा एव जाति की घनिष्ठता मे। कुछ विद्वानो ने धार्मिक विश्वासो, भौगोलिक पृथकता एव सास्कृतिक भिन्नता को, तो कुछ ने जनजातीय विश्वासो एव टोटम को इसके लिए उत्तरदायी ठहराया। वेदो मे श्रद्धा रखने वालो ने ब्रह्मा को ही जाति के उद्गम के लिए उत्तरदायी माना। इन विद्वानो ने तथ्यो एव तर्कों के आधार पर अपने मत की पुष्टि करने का भी प्रयास किया है। ब्लट (Blunt) कहते है कि "इनमे से कुछ सिद्धान्त तो बिल्कुल ही हास्यास्पद है, लेकिन जिन सिद्धान्तों को काफी चतुरता और वैज्ञानिक रूप से प्रस्तुत किया गया है, वे भी जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति के वास्तविक आधार को स्पष्ट नही करते।"[1] जाति व्यवस्था की एतिहासिकता को समझने के लिए इसकी उत्पत्ति के प्रमुख सिद्धान्तो का उल्लेख यहाँ आवश्यक है।

**(1) परम्परागत सिद्धान्त (Traditional Theory)**

इस सिद्धान्त की उत्पत्ति का स्रोत वेद, शास्त्र, उपनिषद, स्मृतियाँ एव धर्मशास्त्र रहे है। लगभग 118 धर्म ग्रन्थो मे इस सिद्धान्त का उल्लेख मिलता है। इस सिद्धान्त का आदि स्रोत ऋग्वेद के दसवें मण्डल का 'पुरुष सूक्त' नामक मन्त्र है जो इस प्रकार है

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्य कृत ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्य पदभ्यां शूद्रो अजायत ॥

अर्थात ब्राह्मणो का जन्म ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रियो का भुजाओ से, वैश्यो का उदर के निम्न भाग से तथा शूद्रो का पैरो से हुआ। इसके बाद वाले मन्त्रो मे चारो के कार्यों का भी उल्लेख किया गया है। महाभारत के शान्ति पर्व मे एक कथा के अनुसार कृष्ण ने 100 ब्राह्मणो, 100 क्षत्रियो, 100 वैश्यो एव 100 शूद्रो को जन्म दिया और उन्ही से सारी सृष्टि की रचना हुई। गीता मे भी कृष्ण ने कहा है कि मैंने चारो वर्णों की रचना उनके गुण एव कर्म के आधार पर की है। मनुस्मृति मे भी ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के अनुसार ही वर्णों की उत्पत्ति मानी गयी है, किन्तु जातियो की उत्पत्ति के लिए मनु प्रतिलोम विवाह और वर्णसकरता को उत्तरदायी मानते हैं। महाभारत एव गीता मे भी वर्णसकरता को जाति की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी ठहराया गया है।

**समालोचना**—(1) यह सिद्धान्त जाति की नही वरन् वर्ण की उत्पत्ति को स्पष्ट करता है। (2) वर्तमान वैज्ञानिक एव तार्किक युग मे कोई भी इस बात को

1 E A H Blunt *op cit* p 11

स्वीकार नहीं करता है कि ब्रह्मा के विभिन्न अगो से जातियो की उत्पत्ति हुई है। अत यह सिद्धान्त अवैज्ञानिक एव अतार्किक है। (3) जाति की उत्पत्ति का प्रकट करने के लिए विभिन्न धर्म ग्रन्थो म विभिन्न प्रकार की बातें कही गयी है। अत जब सिद्धान्त ही एक मत को प्रकट नही करता है तो उसे स्वीकार कैसे किया जा सकता है। (4) प्रतिलोम विवाह तथा वर्णसकरता से ही नयी जातियो की उत्पत्ति हुई इस बात को भी स्वीकार नही किया जा सकता। वास्तव म इसकी उत्पत्ति के लिए अनेक कारको का योगदान रहा है।

## (2) प्रजातीय सिद्धान्त (Racial Theory)

अनेक विद्वानो की मान्यता है कि जाति प्रथा का उद्गम प्रजातीय भिन्नता एव प्रजातीय मिश्रण के कारण हुआ इनम घुरिये, रिजले, मजूमदार, एन० के० दत्ता, राय, आदि प्रमुख है। हर्बर्ट रिजले ने प्रजाति मिश्रण एव अनुलोम विवाह को जाति की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी ठहराया है। उनका मत है कि जाति प्रथा आर्यों की देन है। आर्य लोग फारस से जब भारत मे आये तो अपने साथ वहाँ की समाज व्यवस्था भी लाये। वहाँ समाज चार भागो म बटा हुआ था। उन्होने उसी व्यवस्था को भारत म भी लागू किया। इसके अतिरिक्त आर्य भारत म आक्रमणकारी के रूप म आये, जब उन्होने यहाँ के मूल निवासी द्रविडो को परास्त किया तो उनम विजेता होने से श्रेष्ठता के भाव पैदा हुए। उन्होने यहाँ के मूल निवासियो की प्रजाति, शारीरिक रचना एव संस्कृति से अपने को श्रेष्ठ समझा। चूंकि आर्य बाहर से आये तथा अपने साथ स्त्रियो को नही लाये थे अत उन्होने यहाँ के मूल निवासियो की लडकियो से विवाह किया इससे अनुलोम विवाह प्रारम्भ हुए किन्तु बदले मे उन्होने आर्य लडकी का विवाह द्रविड लडके से करने पर रोक लगा दी, इससे प्रतिलोम विवाह निषिद्ध हुए। जब आर्य लोगो म स्त्रियो की आवश्यकता पूरी हो गयी तो उन्होने अनुलोम विवाह पर भी रोक लगा दी। किन्तु जब कभी भी अनुलोम एव प्रतिलोम विवाह के नियमो की अवहेलना हुई तो ऐसे विवाहो से उत्पन्न सन्तानो को वर्णसकर माना गया और इस समूह को एक नवीन जाति का दर्जा दिया गया। इस प्रकार जातियो की संख्या म निरन्तर वृद्धि होती गयी तथा विभिन्न समूहो म वर्ग भेद भी उत्पन्न हुआ। इस प्रकार रिजले के अनुसार प्रजाति-सघर्ष ने अनुलोम विवाह को अनुलोम विवाह ने प्रजातीय मिश्रण को प्रजातीय मिश्रण ने वर्ण सकरता एव वर्ग भेद को जन्म दिया। रिजले प्रजाति को जाति की उत्पत्ति के लिए इतना ठोस आधार मानते है कि वे कहते है भारत म व्यक्ति की नाक की बनावट (जो कि प्रजातीय विशेषता है) के आधार पर ही उसकी सामाजिक स्थिति का ज्ञान किया जा सकता है।[1]

डा० घुरिये ने भी रिजले के प्रजातीय सिद्धान्त को स्वीकार किया है। वे भी आर्यों एव अनार्यों के प्रजातीय एव सांस्कृतिक सम्पर्क को जाति-व्यवस्था के लिए

---

1 H Risley *The Tribes and Castes of Bengal*

उत्तरदायी मानत है। रक्त शुद्धता की भावना के कारण ही आर्यों एव अनार्यों म कई उच्च एव निम्न समूह बने। इस प्रकार जाति व्यवस्था का आदि स्रोत आर्य एव द्रविडो के बीच पाया जाने वाला प्रजाति भेद था।

डॉ० मजूमदार भी रिजले के प्रजातीय सिद्धान्त से सहमति व्यक्त करते है। उनका मत है कि आर्य जब भारत म आये, उससे पूर्व ही उनम तीन वर्ग थ जो परस्पर विवाह नही करते थे। भारत मे आने पर द्रविडो को उन्होने निम्नतम श्रेणी म रखा। आर्यों के आने के बाद भी समय समय पर अनेक अन्य प्रजातीय समूह आक्रमणकारी के रूप मे आते रहे जिसके परिणामस्वरूप "विभिन्न प्रजातीय समूहों के पारस्परिक सम्पर्क और सास्कृतिक सघर्षों के कारण भारत मे विभिन्न सामाजिक समूहो का निर्माण हुआ। ये सभी समूह अन्तर्विवाही बन गये जिसस कि वे दूसरे प्रजातीय समूह के प्रभाव से बचकर अपनी प्रजातीय विशुद्धता और सांस्कृतिक एकता की रक्षा कर सकें।"[1] इन सामाजिक समूहो ने आगे चलकर व्यवसाय एव विवाह स सम्बन्धित अपने नियम बनाये तथा रक्त की शुद्धता को बनाये रखने के प्रयास किये।

समालोचना—(1) जाति की उत्पत्ति म प्रजाति मिश्रण एक महत्वपूर्ण कारक रहा है किन्तु इसका एकमात्र कारण प्रजाति मिश्रण एव सास्कृतिक सम्पर्क को ही नही माना जा सकता। ऐसा करके हम अन्य कारको की अवहेलना करते हैं।

(2) हट्टन कहते हैं कि प्रजातियो म खान पान एव छुआछूत नही पाया जाता है जबकि जाति म पाया जाता है। यदि प्रजाति ही जाति की उत्पत्ति का आधार है तो जाति म छुआछूत व खान पान के निषेध क्यो पनपे ?

(3) प्रजाति म ही जाति का जन्म हुआ तो दुनिया के दूसरे भागो मे भी प्रजातीय सम्पर्क होने पर जाति-प्रथा क्या नहीं पनपी, ऐसा भारत म ही क्यो हुआ ?

(4) हट्टन कहते हैं कि प्रजाति भेद भाव के आधार पर अनुलोम विवाह पर तो प्रकाश डाला जा सकता है किन्तु जाति की उत्पत्ति पर नही।

(3) धार्मिक सिद्धान्त (Religious Theory)

जाति प्रथा की उत्पत्ति म धर्म को प्रमुख आधार मानने वालो म होकार्ट (Hocart) तथा सेनार्ट (Senart) प्रमुख हैं।

होकार्ट का मत है कि धार्मिक क्रियाओ अथवा कर्मकाण्डो (rituals) के कारण ही जाति प्रथा का उद्गम हुआ। प्राचीन भारत मे धर्म का अत्यधिक महत्व था, राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था। वह धार्मिक एव शासकीय दोनो ही कार्यों का प्रधान होता था। धार्मिक कार्यों की अभिव्यक्ति यज्ञ हवन एव देवताओ को बलि चढाकर की जाती थी। इन कर्मकाण्डो को करने वाले विभिन्न समूह थे जसे ब्राह्मण मन्त्रोच्चारण एव हवन का कार्य करवाते, माली पुष्प लाते तथा नाई हजामत एव निमन्त्रण देने का कार्य करते। इन भिन्न भिन्न समूहो की सामाजिक स्थिति उनके

1 Majumdar *op cit* p 301

कार्यों की पवित्रता के अनुसार ऊँची या नीची थी। यह स्थिति समूह के सदस्यों में पीढ़ी दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती रही और ऐसे समूह बाद में चलकर जाति के रूप में विकसित हुए। इस प्रकार धार्मिक क्रियाओं ने ही जाति को जन्म दिया।

सेनाट ने होकाट के सिद्धान्त की कमी को दूर करने का प्रयास किया। उन्होंने भोजन, विवाह और सामाजिक सहवास में सम्बन्धित निषेधों के आधार पर जाति की उत्पत्ति को स्पष्ट किया है। आपका मत है कि पारिवारिक पूजा तथा कुल देवता को चढ़ाये जाने वाले भोजन में भिन्नता एवं निषेधों के कारण ही जाति प्रथा का जन्म हुआ। एक देवता को मानने वाले अपने को एक पूर्वज की सन्तान मानते थे और अपने देवता को एक विशेष प्रकार के भोजन का भोग चढ़ाते थे। एक देवता को मानने वालों ने अपने को दूसरे देवता को मानने वालों से भिन्न समझा। इसके अतिरिक्त भारत में आर्यों के आवागमन से यहाँ मिश्रित प्रजातीय समूह बने। आर्य लोग प्रजातीय शुद्धता तथा पूजा-विधि की पवित्रता बनाये रखना चाहते थे। पुरोहितों ने अपनी पवित्रता तथा सामाजिक स्थिति को ऊँची बनाये रखने के लिए नैतिक बल का प्रयोग किया। इस प्रकार धार्मिक आधार पर समाज में उच्च एवं निम्न जातीय समूहों का निर्माण हुआ।

समालोचना—(1) होकाट एवं सेनाट ने जाति की उत्पत्ति के लिए धर्म को ही उत्तरदायी माना है, यह सिद्धान्त एकांगी है। इसमें अन्य पक्षों की अवहेलना की गयी है। (2) दहलमन कहते हैं कि सेनाट ने जाति की उत्पत्ति को इतनी सरल बना दिया है कि वह वैज्ञानिक नहीं रह गयी है। (3) सेनाट ने सामान्य पूर्वज की कल्पना करके जाति एवं गोत्र में भ्रम पैदा कर दिया है। (4) यह सिद्धान्त यह भी प्रकट नहीं करता है कि विभिन्न जातियों में विवाह एवं खान-पान के निषेध क्यों पाये जाते हैं। (5) इस सिद्धान्त से प्रकट होता है कि दोनों ही विद्वानों ने स्वयं जाति का अध्ययन नहीं किया था। सम्भवतः उन्होंने बौद्ध मठों एवं उनमें सम्पन्न किये जाने वाले कर्मकाण्डों के आधार पर ही जाति की उत्पत्ति को दर्शाने का प्रयास किया है।

## (4) व्यावसायिक सिद्धान्त (Occupational Theory)

इस सिद्धान्त के जन्मदाता नेसफील्ड (Nesfield) हैं। दहलमन तथा ब्लंट भी इस सिद्धान्त के समर्थकों में से हैं। नेसफील्ड ने जाति की उत्पत्ति के प्रजातीय एवं धार्मिक सिद्धान्तों की आलोचना की। वे प्रजाति एवं धर्म के स्थान पर व्यवसाय को ही जाति प्रथा की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी मानते हैं। आपके अनुसार, 'व्यवसाय और केवल व्यवसाय ही जाति प्रथा की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी है।'[1] एक व्यवसाय विशेष के करने वाले लोगों ने अपने को एक जाति का घोषित किया। व्यवसायों की उच्चता एवं निम्नता उनकी पवित्रता एवं अपवित्रता के आधार पर तय होती

1 Function and function alone is responsible for the origin of the Caste System —Nesfield *Brief View of the Caste System* p 7

है। जिन व्यवसायों को समाज में ऊँचा एवं पवित्र माना जाता है, उन्हें अपनाने वाली जाति भी समाज में ऊँची मानी गयी। अपवित्र एवं निम्न समझे जाने वाले व्यवसायों को करने वाली जाति की सामाजिक स्थिति भी निम्न समझी गयी।

हट्टन का विचार है कि प्रत्येक व्यवसाय एक तकनीकी ज्ञान होता है जो पिता से पुत्र को प्राप्त होता रहा है। एक प्रकार का व्यवसाय करने वालों ने अपना एक व्यावसायिक संघ (Guild) बनाया और एक संघ के लोगों ने व्यावसायिक ज्ञान को अपने ही लोगों को प्रदान किया। इस प्रकार व्यावसायिक संघ ही बाद में चलकर जातियों के रूप में विकसित हुए।

सर डेंजिल इबेटसन (Sir Denzil Ibbetson) का मत है कि जाति निर्माण की प्रक्रिया तीन स्तरों से गुजरी है। प्रथम अवस्था जनजाति अवस्था थी जिसमें एक व्यक्ति सभी कार्यों के बारे में थोड़ा बहुत जानता था। दूसरी अवस्था व्यावसायिक संघों की है जिसमें प्रत्येक व्यवसाय के अलग-अलग संघ थे। तीसरे स्तर में उस समय जातियाँ बनी जब व्यवसाय वंशानुगत हो गया।

इबेटसन जाति के विकास में केवल दो ही स्तर मानते हैं—एक जनजातीय स्तर एवं दूसरा जातीय स्तर। डॉ० नर्मदेश्वर प्रसाद भी व्यावसायिक सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। वे लिखते हैं, "सम्पूर्ण विवाद इस तथ्य की ओर ले जाता है कि जातियाँ अधिक या न्यून मात्रा में व्यावसायिक समूह थे और जिस समूह का जितना निम्न व्यवसाय था उतनी ही निम्न उसकी सामाजिक स्थिति थी।"[1]

समालोचना—(1) हट्टन कहते हैं कि व्यावसायिक संघ दुनिया के दूसरे भागों में भी रहे हैं फिर वहाँ जातियाँ क्यों नहीं बनी, भारत में ही ऐसा क्यों हुआ? (2) हट्टन कहते हैं कि जब व्यवसाय से ही जाति निर्धारित होती है तो भारत में खेती करने वाली विभिन्न जातियाँ क्यों हैं और उनकी सामाजिक स्थिति में अन्तर क्यों पाया जाता है। उत्तरी भारत में खेती करने वालों का ऊँचा स्थान है जबकि दक्षिणी भारत में निम्न, ऐसा क्यों है? (3) नेसफील्ड ने जाति की उत्पत्ति में धर्म के महत्व को स्वीकार नहीं किया है जबकि धर्म भी जाति की उत्पत्ति में एक महत्वपूर्ण तत्व रहा है। (4) डॉ० मजूमदार कहते हैं कि इस सिद्धान्त में प्रजातीय तत्वों की अवहेलना की गयी है जबकि प्रजाति भी जाति की उत्पत्ति में एक महत्व-पूर्ण कारक रहा है।

(5) ब्राह्मणों की चतुर युक्ति का सिद्धान्त (Theory of Clever Device of Brahmins)

इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों में घुरिये एवं अब्बे डुबायस (Abbe Dubois) प्रमुख हैं। अब्बे डुबायस का मत है कि जाति प्रथा ब्राह्मणों की चतुर युक्ति और राजनीतिक योजना का फल है जो उन्होंने अपनी सत्ता को बनाये रखने के लिए निर्मित

1 N Prasad *The Myth of the Caste System* p 55



की। घुरिय का मत है कि ब्राह्मणो ने अपने कुल और सम्मान को बनाये रखने के लिए जाति-प्रथा को जन्म दिया। घुरिये का मत है कि आर्य संस्कृति मे ब्राह्मणो का प्रमुख स्थान था। यह संस्कृति मुख्यत गंगा के मैदान मे ही पनपी और जाति के मुख्य आधार भी इसी क्षेत्र मे पनपे। अनुलोम विवाह की धारणा भी ब्राह्मणो से उत्पन्न वह बच्चा है जिसका जन्म और लालन-पालन गंगा-यमुना के मैदान मे हुआ और यही से ब्राह्मणो ने उसे भारत के अन्य भागो मे फैलाया।'[1]

यदि हम ब्राह्मणो को दिये गये अधिकारो को देखें तो यह सिद्धान्त कुछ सीमा तक सही प्रतीत होता है। ब्राह्मणो को ही वेदो का अध्ययन करने का अधिकार दिया गया है उन्हे ही सबसे श्रेष्ठ माना गया है ब्राह्मण चाहे मूर्ख भी हो उसका आदर किया जाना चाहिए, उनके सभी अपराध क्षम्य है।

समालोचना—जाति-प्रथा की उत्पत्ति को केवल ब्राह्मणो की चतुर युक्ति के आधार पर स्वीकार नही किया जा सकता। एक समय मे एक व्यक्ति को मूर्ख बनाया जा सकता है किन्तु लम्बे समय तक सभी व्यक्तियो को मूर्ख नही बनाया जा सकता। जाति प्रथा भारत मे प्राचीन काल से चली आ रही है और ब्राह्मणो की इस चतुर योजना को किसी ने भी न समझा हो ऐसी बात नही है। वास्तव मे इसकी उत्पत्ति के लिए अन्य कारक भी उत्तरदायी रहे है।

(6) आदिम संस्कृति या माना का सिद्धान्त (Theory of Primitive Culture or *Mana*)

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन हट्टन ने 1961 की जनगणना रिपोर्ट मे प्रजातीय सिद्धान्त की आलोचना के दौरान किया। आपका मत है कि जाति की उत्पत्ति को समझने के लिए हमे एसे आदिवासी नागा की संस्कृति का अध्ययन करना होगा, जो सभ्यता के बाह्य सम्पर्कों के प्रभाव से मुक्त रही है। उदाहरण के लिए नागा जनजाति के कुछ विशेष समूह है जो हिन्दू, बौद्ध या इस्लाम धर्म के प्रभाव से मुक्त रहे है और इनमे जाति व्यवस्था नही पायी जाती है। इन लोगो का प्रत्येक गाँव एक स्वतन्त्र राजनैतिक इकाई रहा है। साधारणत एक गाँव के लोग एक ही व्यवसाय करते रहे है। एक गाँव के लोग वस्त्र बनाने का कार्य करते है तो दूसरे गाँव के मिट्टी के बर्तन। जातक ग्रन्थ मे भी बताया गया है कि कुछ व्यवसाय पृथक पृथक गाँवो मे सीमित थे।[2] आर्यों के आने से पूर्व भारतीय समाज मे यही व्यवस्था थी किन्तु आर्यों ने इसे और अधिक स्पष्ट रूप दिया।

विभिन्न जातियो के बीच पाये जाने वाले विवाह एवं खान पान सम्बन्धी निषेधो को समझाने के लिए हट्टन ने 'माना' का सहारा लिया। 'माना' एक रहस्यमयी अलौकिक एवं अवैयक्तिक शक्ति है जो प्रत्येक व्यक्ति एवं वस्तु मे

1 G S Ghurye *op cit* p 178
2 Hutton *op cit* p 113

भिन्न भिन्न मात्रा म पायी जाती है। यह स्पश से एक व्यक्ति से दूसरे मे आ-जा सकती है, इसका प्रभाव अच्छा एव बुरा दोनो ही हो सकता है। इसलिए 'माना' मे विश्वास करने वाले लोग अपरिचित व्यक्तियो के स्पश से डरते है। अय शक्तियो एव समूहो के 'माना' से बचने के लिए ही अर्तविवाह, खान पान एव सामाजिक सहवास सम्बन्धी निषध लागू किये गय। आय जब भारत मे आये ता उनके सामाजिक एव राजनीतिक प्रभाव ने भारत मे ऊँच-नीच के भेद भाव को पनपाया। आर्यों मे पहले से ही सामाजिक वर्गों की निश्चित श्रेणियाँ थी और भारत के मूल निवासियो मे भी 'माना' की शक्ति के आधार पर अनक निषेध पाये जाते थे एव समूह-विभाजन भी था। किन्तु यहाँ के मूल निवासियो म ऊँच नीच का भेद भाव नही था, यह आर्यों के प्रभाव के कारण ही पैदा हुआ। हट्टन ने जाति उत्पत्ति के लिए अनेक कारको जैसे भौगोलिक पृथक्करण, खान पान सम्बन्धी निषेध, माना म विश्वास, विभिन्न प्रजातियो एव सस्कृतियो का सघष, वर्णों का विकास तथा प्रशासको की आर्थिक एव प्रशासकीय नीतियो आदि के प्रभाव को भी स्वीकार किया है।

**समालोचना**—(1) मजूमदार एव राय कहते है कि 'माना' की धारणा विश्व की सभी जनजातियो मे पायी जाती है फिर भारत मे ही उसके आधार पर जाति की उत्पत्ति क्यो हुई। (2) एक क्षेत्र विशेष मे पाये जाने वाली नागा जनजाति की सस्कृति के आधार पर ही सम्पूण देश की सस्कृति को नहीं समझा जा सकता, वह सारे देश की सस्कृति की न तो प्रतिनिधि मानी जा सकती है और न ही सस्कृति की कुछ विशेषताओ के आधार पर जाति की उत्पत्ति का समझा जा सकता है। (3) जब हट्टन स्वय यह मानते है कि जाति की उत्पत्ति मे अनक कारको का योग रहा है ता फिर 'माना' या आदिम सस्कृति के आधार पर ही इस सस्था के उद्गम को स्पष्ट नही किया जा सकता।

(7) अय सिद्धात (Other Theories)

उपयुक्त सिद्धान्तो के अतिरिक्त भी कुछ अन्य मत इस प्रकार से है

(क) एस० सी० राय ने सांस्कृतिक सम्पक को ही जाति की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी माना। आर्यो एव अनार्यों की सास्कृतिक विशेषताओ म पर्याप्त समानताएँ थी, इसलिए आर्यों की वण व्यवस्था को द्रविडो ने स्वीकार कर लिया क्योकि द्रविडो मे भी व्यवसाय के आधार पर समूह बने हुए थे। इस प्रकार आर्यों एव अनार्यों के सास्कृतिक एकीभाव ने जाति व्यवस्था को जन्म दिया। आर्यों ने अपने राजनीतिक प्रभाव के कारण इस व्यवस्था मे सर्वोच्च स्थान ग्रहण किया।

(ख) गिलबट (Gilbert) का मत है कि भौगोलिक परिस्थितियो की विभिन्नता के कारण ही जाति प्रथा का जन्म हुआ। एक भौगोलिक क्षेत्र मे रहने वाले लोगो की एक जाति बनी जैसे कन्नौज मे रहने वाले कन्नौजिय तथा सरस्वती नदी के किनारे रहने वाले सारस्वत कहलाये। उन्होने अपन मत की पुष्टि के लिए

तमिल साहित्य का सहारा लिया। तमिल साहित्य मे विभिन्न स्थानो म बसन वाल लोगो के विभिन्न नाम पाये जाते है।

(ग) राइस (Rice) के अनुसार जाति प्रथा की उत्पत्ति टोटम के कारण हुई। टोटम एक कल्पित पूवज है। एक टोटम को मानने वालो के अपने खान-पान एव विवाह के नियम पाये जाते है। ये टोटम समूह ही आगे चल कर जातियाँ बन गयी।

(घ) स्लेटर (Slater) का मत ह कि उद्योग धन्धो के भेदो को गुप्त रखने के लिए ही जाति प्रथा का जन्म हुआ। एक व्यवसाय करन वाले लोगो ने अपने व्यावसायिक ज्ञान को अपनी सन्तानो को ही दिया। ये व्यावसायिक समूह ही कालान्तर मे जाति मे परिवर्तित हो गय।

(च) बहुकारक सिद्धान्त—जाति प्रथा की उत्पत्ति को प्रकट करन के लिए अनेक सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है किन्तु सभी सिद्धान्तो म एक या दो कारको पर ही विशेष जोर दिया गया है और अन्य कारको की अवहेलना की गयी है। जाति प्रथा एक जटिल सस्था है, इसके उदभव एव विकास मे अनेक तत्व उत्तर दायी रहे है। जाति प्रथा एक लम्बे विकास का परिणाम है जिस पर धम, प्रजाति, भौगोलिक, राजनीतिक, सास्कृतिक सम्पर्क, रक्त की शुद्धता की भावना, व्यवसाय एव कमकाण्ड आदि सभी का प्रभाव रहा है। हटटन ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है, 'यह बात जोर देकर कही जाती है कि भारतीय जाति प्रथा कई भौगालिक सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक कारको की अन्त क्रिया का स्वाभाविक परिणाम है जो अन्यत्र कही भी इस प्रकार सम्मिलित रूप मे नही पाय जात।"[1] अत स्पष्ट है कि जाति प्रथा को जन्म दन म किसी एक कारक का नही वरन अनेक कारको का योग रहा है। वास्तव मे इसकी उत्पत्ति नही वरन उदविकास हुआ है।

## जाति-प्रथा के कार्य (भूमिका) अथवा महत्व
## (FUNCTIONS (ROLE) OR IMPORTANCE OF CASTE-SYSTEM)

वतमान मे जाति प्रथा को एक निरथक एव हानि प्रद सस्था कहना एक फैशन-सी बन गयी है, विशेयकर समाज सुधारको, शिक्षितो एव राजनताओ मे जाति की आलाचना करना एक रिवाज-सा हो गया है। आज दिनोदिन जाति प्रथा के विरोधी भावो मे वृद्धि हाती जा रही है। वतमान मे जाति का स्वरूप विघटित हा रहा है किन्तु प्राचीनकाल मे जाति ने व्यक्ति समाज और राष्ट्र के लिए महत्वपूर्ण काय किये है। हटटन[2] न जाति द्वारा किये जाने वाले कार्यों को तीन भागो मे विभक्त किया है—(1) व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित काय, (2) जातीय समुदाय के लिए काय, (3) समाज और सम्पूण राष्ट्र के लिए जाति द्वारा किये जाने वाले काय।

1 J H Hutton *Caste in India* p 188
2 J H Hutton *op cit* pp 111 32

(I) सदस्यों के व्यक्तिगत जीवन में जाति के कार्य या लाभ

जाति व्यक्ति के जीवन पर अमिट प्रभाव डालती है और उसका अन्य लोगों से सम्बन्ध निर्धारण करती है। व्यक्ति के लिए जाति निम्नांकित कार्य करती है

(1) **सामाजिक स्थिति का निर्धारण**—जाति के आधार पर ही व्यक्ति की समाज में स्थिति निर्धारित होती है जिसे सम्पत्ति, निर्धनता, सफलता, असफलता और व्यक्तिगत गुण-दोष के आधार पर बदला नहीं जा सकता। यह सामाजिक स्थिति तब तक बनी रहती है जब तक कि वह जाति के नियमों का उल्लंघन न करे। (2) **मानसिक सुरक्षा**—जाति प्रत्येक व्यक्ति का पद और कार्य जन्म से ही निश्चित कर देती है। प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि उसे किस समूह में विवाह करना है, किस प्रकार के सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक कार्यों में भाग लेना है। यह सब पूर्व-निर्धारित होने से व्यक्ति को मानसिक सन्तोष एवं सुरक्षा प्राप्त होती है। (3) **व्यवसाय का निर्धारण**—प्रत्येक जाति का एक परम्परागत व्यवसाय होता है। इसलिए व्यक्ति के सामने व्यवसाय चुनने की समस्या नहीं होती और न ही व्यावसायिक प्रतिस्पर्द्धा ही पायी जाती है। बचपन से व्यक्ति को जातीय व्यवसाय का प्रशिक्षण मिलने से वह उसमें दक्ष भी हो जाता है। (4) **वैवाहिक समूह का निर्धारण**—जाति ही यह तय करती है कि व्यक्ति अपना जीवन साथी किस समूह में से चुनेगा, इस सन्दर्भ में व्यक्ति को जातीय नियमों का पालन करना होता है। (5) **सामाजिक सुरक्षा**—प्रत्येक जाति की एक जाति पंचायत एवं जाति-संगठन होता है। व्यक्ति पर किसी भी प्रकार का संकट आने, बीमारी, बुढ़ापा एवं दुर्घटना के समय जाति के सदस्य व्यक्ति की सहायता करते हैं। (6) **व्यवहारों पर नियन्त्रण**—प्रत्येक जाति के अपने कुछ नियम एवं प्रतिबन्ध होते हैं जिनके द्वारा व्यक्ति के व्यवहारों को नियन्त्रित किया जाता है। जातीय नियमों का उल्लंघन करने वाले को जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है।

व्यक्ति के लिए जाति का महत्व बताते हुए मजूमदार एवं मदान लिखते हैं, "एक स्थायी वातावरण या अवस्था के अन्तर्गत सामाजिक व आर्थिक सुरक्षा प्रदान करने के लिए जाति, व्यक्ति की प्रतिरक्षा की प्रमुख व्यवस्था है जो कि उनकी परिवर्तनशील क्षमताओं पर आधारित नहीं है।"[1]

(II) जाति समुदाय से सम्बन्धित कार्य या लाभ

जाति व्यक्ति के लिए ही नहीं वरन सम्पूर्ण जाति समुदाय के लिए भी अनेक कार्य करती है

(1) **धार्मिक भावना की रक्षा**—प्रत्येक जाति के देवी देवता एवं धार्मिक विधि विधान होते हैं जिनकी जाति के सदस्य प्राण पण से रक्षा करते हैं। सामान्य मान्यता

1 Majumdar and Madan *Social Anthropology* p 237

यह है कि यह जाति ही है जो जनता के धार्मिक जीवन म अपने सदस्यो की स्थिति को निश्चित करती है। (2) **रक्त की शुद्धता बनाये रखना**—एक जाति के व्यक्ति अपनी ही जाति मे विवाह करत हैं इसस रक्त की शुद्धता बनी रहती है और अन्य जातियो के रक्त दोष नही आ पात ह। (3) **सामाजिक स्थिति का निर्धारण**—प्रत्यक जाति अपने समुदाय के लिए जाति सस्तरण म निश्चित सामाजिक स्थिति को निर्धारित करती है। मजूमदार एव मदान लिखत हैं कि सामूहिक प्रयत्न और आन्दोलन के लिए एक सामान्य सगठन के निर्माण द्वारा स्वय की जाति व्यक्ति के लिए गति शीलता के अवसर बढाती है। इस प्रकार कायस्थ, जो अब उत्तर भारत मे ब्राह्मणों के बाद ही समझे जाते हैं, 18वी शताब्दी मे केवल एक परिष्कृत शूद्र जाति थी।[1] (4) **सस्कृति की रक्षा**—हट्टन कहत हैं प्रत्येक जाति की अपनी एक सामान्य सस्कृति रही है जिसके अन्तगत उस जाति विशेष का ज्ञान, कार्य-कुशलता, व्यवहार आदि आत है ये सब जाति म एक पीढी से दूसरी पीढी मे हस्तान्तरित होते रहते हैं, वयस्क अपन नये सदस्यो को ये सब सिखा देते है। इस प्रकार प्रत्येक जाति अपनी सस्कृति की स्थिरता को बनाय रखती है। (5) **जातीय एकता को प्रोत्साहन**—जाति अपन सदस्यो को एकता के सूत्र मे बाँधती है, आवश्यकता के समय सदस्य एक दूसरे की सहायता करते है, जाति के सदस्यो की भलाइ के लिए जाति-विद्यालय, धर्मशालाएँ चिकित्सालय, छात्रावास आदि का निर्माण किया जाता है।

**(III) सम्पूर्ण समाज या राष्ट्र के लिए काय या लाभ**

जाति प्रथा ने सम्पूर्ण समाज और राष्ट्र के लिए भी कई महत्वपूर्ण काय किये है। हट्टन कहत है कि जाति द्वारा व्यक्ति एव समुदाय के लिए किये जाने वाले काय तो अन्य समितियो द्वारा भी किय जा सकत हैं किन्तु जाति द्वारा जो काय सम्पूर्ण समाज एव राष्ट्र के लिए किये जात है वे किसी अन्य समिति अथवा सस्था द्वारा नही किय जाते।[2] वे काय इस प्रकार हैं

(1) **समाज के विकास और रक्षा मे सहायक**—जाति व्यवस्था न हिंदू समाज की रक्षा की है और सदस्यो को एकता के सूत्र मे बाँधने का काय भी किया है। फरनीवाल क अनुसार जाति प्रथा के कारण भारत मे एक बहु समाज (A Plural Society) स्थिर रह पाया है। जाति व्यवस्था ने समाज को ऐसी अवस्था प्रदान की है जिससे कोई भी समुदाय, चाहे वह प्रजातीय हो या सामुदायिक सामाजिक हो, व्यावसायिक हो या धार्मिक, अपनी विशिष्ट प्रकृति और पृथक सत्ता को बनाये रखते हुए अपने को समग्र समाज के एक सहयोगी अग के रूप मे उपयुक्त बना सकता है।'[3] समय समय पर भारत म बाह्य आक्रमणकारी आते रहे, उनसे सारे समाज

1 *Ibid* p 237
2 J H Hutton *op cit* p 114
3 J S Furnivall *Netherlands India A Study of Plural Economy* p 464

की रक्षा का कार्य जाति ने किया है और बाह्य समूह समाज के ही अंग बन कर रह गये। हट्टन लिखते हैं कि, "जाति-प्रथा का सबसे महत्वपूर्ण कार्य, जो कि उसे एक अद्वितीय संस्था बना देता है, यह है या रहा है कि यह भारतीय समाज को अखण्ड बनाती है और विभिन्न प्रतिद्वन्द्वी समूहों को एक समुदाय में जोड़ती है।"[1] जोड (Joad) के अनुसार, 'जाति प्रथा अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में इस विशाल देश में निवास करने वाले विभिन्न विचार, विभिन्न धार्मिक विश्वास, रीति रिवाज और परम्पराएँ रखने वाले विविध वर्गों का एक सूत्र में पिरोने का एक सफलतम प्रयास था।"

(3) राजनीतिक स्थिरता—किसी भी देश में जब बाह्य आक्रमणकारियों का शासन स्थापित होता है तो वे वहाँ राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन लाते हैं, किन्तु भारत इसका अपवाद है। यहाँ समय समय पर कई आक्रमणकारी आये लेकिन जाति ने इन आक्रमणकारियों से भारत की राजनीतिक एवं सांस्कृतिक रक्षा की है। अब्बे डुबाय लिखते हैं, "मैं हिन्दुओं की जाति प्रथा को उनके अधिनियम का सबसे अधिक सुखमय प्रयास समझता हूँ। मुझे इस बात का पूरा विश्वास है कि यदि भारत की जनता उस समय भी बर्बरता के पंक में नहीं डूबी, जबकि सारा यूरोप डूबा हुआ था, और यदि भारत ने सदा अपना सिर ऊँचा रखा, विविध विज्ञानों, कलाओं तथा सभ्यता का संरक्षण और विकास किया तो इसका पूर्ण श्रेय उसकी उस जाति प्रथा को है जिसके लिए वह बहुत प्रसिद्ध है।"[2] जाति की राजनीतिक भूमिका आज भी बहुत महत्वपूर्ण है।

(3) श्रम विभाजन—जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न जातियों के बीच कार्य विभाजन किया गया है, इससे उनमें दक्षता एवं विशेषीकरण पनपा है। पुनर्जन्म एवं कर्म की धारणा के कारण जाति के कार्यों की पुष्टि की गयी है। व्यक्ति यह सोचता है कि पिछले जन्म के कर्मों के आधार पर इस जन्म में जाति एवं व्यवसाय विशेष प्राप्त हुआ है यदि इसे ठीक ढंग से किया गया तो अगले जन्म में उच्च जाति मिलेगी। हट्टन लिखते हैं "सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक विभिन्न कार्यों जिनमें शिक्षा से लेकर सफाई, सरकारी से लेकर पारिवारिक कार्य सुचारु रूप से चलते हैं और ये सभी कार्य धार्मिक विश्वास या कर्म की धारणा के आधार पर किये जाते हैं।"[3]

(4) धार्मिक सहिष्णुता एवं उदारता—धर्म के आधार पर विश्व के विभिन्न भागों में समय समय पर अनेक क्रान्तियाँ हुई हैं। भारत में भी अनेक धार्मिक सम्प्रदायों का प्रचलन रहा है किन्तु सभी सम्प्रदाय हिन्दू जाति व्यवस्था में ही आत्मसात हो

1 J H Hutton *op cit* p 119
2 Abbe Dubois *Hindu Manners and Customs* p 14
3 J S Hutton *op cit* pp 121 122

गय। इसका प्रमुख कारण जाति व्यवस्था म पायी जाने वाली सहिष्णुता एव उदारता है।

(5) दायित्व निर्वाह की प्रेरणा—जाति व्यवस्था ने लोगो को अपने कतव्य एव दायित्व निर्वाह की प्रेरणा दी है। कम के सिद्धान्त ने लोगो मे यह विश्वास पैदा किया कि ऊँची एव नीची जाति मे जन्म पूव जन्म मे कम पर निभर है। यदि हम इस जन्म मे अपने कतव्यो का समुचित रूप से पालन नही करेंगे तो अगले जन्म म निम्न जाति म जन्म लेना पडगा। पुनजन्म एव कम के सिद्धान्त ने भारतीय समाज को आर्थिक एव सामाजिक सघर्षों से छुटकारा दिलाया तथा समाज म एकता बनाये रखी।

(6) जाति ने ही सम्पूण देश की सस्कृति को एक पीढी से दूसरी पीढी को हस्तान्तरित कर उसे स्थिरता प्रदान की है।

उपयुक्त कार्यों के अतिरिक्त जाति ने रक्त की शुद्धता बनाये रखने, शिक्षा प्रदान करने तथा समाजवादी व्यवस्था को कायम रखने का काय भी किया है। इसलिए ही हटटन लिखते हैं कि जाति प्रथा ही एक ऐसी सामाजिक प्रथा है जिसका आधार दबाव शक्ति से भी दढ है।

## जाति-प्रथा के दोष अथवा हानियाँ
## (DEMERITS OF CASTE SYSTEM)

जाति व्यवस्था ने अनक महत्वपूण काय किये है किन्तु समय के साथ इसमे अनेक दोष उत्पन्न हो गये और आज अधिकाश लोग जाति के उन्मूलन की बात करने लगे है। रिजले का मत है कि जाति एक निम्न स्तर का सगठन है जो विकास के माग मे बाधक है। डॉ० राधाकृष्णन का मत है कि 'दुर्भाग्यवश वही जाति प्रथा जिसे सामाजिक सगठन को नष्ट होने से रक्षा करने के साधन के रूप मे विकसित किया गया था, आज उसी की उन्नति म बाधक बन रही है।' प्रो० वाडिया लिखते है 'उपनिषदो का उच्चकोटि का तत्व दशन और गीता का कम ज्ञान इस व्यवस्था म अत्याचारो के कारण केवल वाग्जाल बन गया। एक तरफ तो भारत सम्पूण विश्व की एकता का उपदेश देता है और दूसरी ओर उसने एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था को अपनी छाती से चिपटा रखा है जिसने उसकी सन्तानो को निममतापूर्वक अलग अलग गुटो म विभाजन कर रखा है उनको अनन्त शताब्दियो के लिए एक दूसरे से पृथक कर दिया है।'[1] जाति प्रथा की हानियाँ अथवा दोष निम्नांकित है

(1) श्रमिक की गतिशीलता मे बाधक—चूकि प्रत्यक जाति का एक परम्परागत व्यवसाय होता है और व्यक्ति को जाति से बाहर के व्यवसायो को चुनने की मनाही होती है अत दूसरे व्यवसायो मे दक्ष होने पर भी व्यक्ति अपने जातीय व्यवसाय को बदल नही सकता।

1 A R Wadia *Contemporary Indian Philosophy* p 363

**(2) श्रमिक की कुशलता में बाधक**—जाति प्रथा में खान-पान सम्बन्धी अनेक निषेध हैं जिनका कुप्रभाव लोगों की शारीरिक एवं मानसिक दक्षता पर पड़ता है। इसके अतिरिक्त जाति अन्तर्विवाह के कारण कई बार वंशानुक्रमण में अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इससे भी लोगों के स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ता है।

**(3) आर्थिक विकास में बाधक**—जाति प्रथा के कारण उद्योगों में श्रम विभाजन उचित रूप से लागू नहीं हो पाता। उच्च जातियों के लोग कारखानों में निम्न कार्य नहीं करना चाहते। वे जातीय आधार पर विरोधी गुट बनाते हैं। जातिवाद के कारण योग्य व्यक्तियों को आगे बढ़ने का अवसर नहीं मिलता है और अयोग्य व्यक्ति उच्च पदों पर पहुँच जाते हैं। ये सभी स्थितियाँ देश में आर्थिक विकास में बाधक हैं।

**(4) राष्ट्रीय एकता में बाधक**—जाति व्यवस्था के अन्तर्गत सम्पूर्ण समाज छोटे छोटे भागों में बंटा होता है। प्रत्येक जाति राष्ट्रीय हितों के स्थान पर जातीय हितों को प्राथमिकता देती है, जाति प्रथा ने ही समाज में छुआ छूत एवं ऊँच-नीच की भावना पैदा की है और विभिन्न जातियों के लोगों को परस्पर मिलने नहीं दिया है। इस कारण लोगों में राष्ट्रीय एकता की भावना का विकास नहीं हो पाया है। जातिवाद की भावना ने राष्ट्रीय एकीकरण में बाधा उपस्थित की है।

**(5) प्रजातन्त्र विरोधी**—जाति प्रजातन्त्र विरोधी है। प्रजातन्त्र स्वतन्त्रता, समानता एवं भाईचारे की भावना पर आधारित है जबकि जाति जन्म से ही ऊँच नीच एवं असमानता पर जोर देती है। अतः ये दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं। आज लोग जाति के नाम पर वोट माँगते हैं और देते हैं, विभिन्न पदों पर जातीय आधार पर नियुक्तियाँ की जाती हैं। ये सभी स्थितियाँ स्वस्थ प्रजातन्त्र के विकास के मार्ग में बाधक हैं।

**(6) निम्न जातियों का शोषण**—जाति प्रथा के अन्तर्गत निम्न जातियों से कठोर श्रम कराया गया और उन्हें गन्दे एवं घृणित कार्य सौंपे गये तथा बदले में बहुत ही कम पारिश्रमिक दिया गया। कई बार तो उच्च जातियों के लोग इनसे बेगार तक लेते रहे हैं।

**(7) धर्म परिवर्तन**—आर्थिक एवं सामाजिक शोषण से मुक्ति पाने के लिए निम्न जातियों के कई लोग ईसाई एवं मुसलमान बन गये। निम्न जातियों को हिन्दू समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता रहा है किन्तु जब वे धर्म परिवर्तन कर ईसाई या मुसलमान बन जाते हैं तो उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा में वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार धर्म परिवर्तन को प्रोत्साहन मिलता है।

**(8) समाज का विभाजन**—जाति व्यवस्था ने हिन्दू समाज को अनेक छोटी छोटी इकाइयों में बाँट दिया है और प्रत्येक इकाई अपने ही हित साधन की चिन्ता करती है सम्पूर्ण समाज की नहीं।

(9) **सामाजिक समस्याओं का जन्म**—जाति-व्यवस्था के विवाह सम्बन्धी नियमो ने समाज म वाल विवाह, दहेज, विधवा विवाह निपेध, बेमेल विवाह कुलीन विवाह आदि की समस्याओ का जन्म दिया है जो आज भी हिन्दू समाज को घुन की तरह खाये जा रही है।

(10) **अस्पृश्यता**—जाति-व्यवस्था ने हिन्दू समाज म अस्पृश्यता को जन्म दिया है। कई जातियो को छूने से ही नही वरन उनकी परछाई पडने मात्र से ही उच्च जाति का व्यक्ति अशुद्ध हो जाता है। अस्पृश्य जातियो को कई सामाजिक धार्मिक, आर्थिक एव राजनीतिक अधिकारो स भी वचित किया गया है।

(11) **प्रगति मे बाधक**—जाति प्रथा व्यक्ति एव समाज की प्रगति म भी बाधक रही है। जाति सम्बन्धी नियमो का उल्लघन करने पर जाति स बहिष्कृत होने के भय के कारण लोग परम्पराओ से चिपके रहते है और नवीन आविष्कारो को अपनाने से डरते ह। अत व अपना विकास नही कर पाते और सम्पूण देश अन्य देशो की तुलना म पिछड जाता ह। यहाँ जाति व्यवस्था ने लोगो को अकमण्य एव भाग्यवादी बनाने म भी योग दिया है।

(12) **स्त्रियो की गिरी हुई दशा**—स्त्रियो की समाज म निम्न प्रतिष्ठा एव गिरी हुई दशा के लिए जाति प्रथा ही उत्तरदायी है, बाल विवाह के प्रचलन, विधवा विवाह के अभाव तथा स्त्रियो की शिक्षा एव अन्य अनेक अधिकारो से वचित कर दिये जाने के कारण समाज म उनकी दशा निम्न रही।

जाति व्यवस्था के उपयुक्त दोषो को देखकर ही कई व्यक्ति इसे समूल नष्ट करने की बात करते है। किन्तु जाति व्यवस्था अनेक दृष्टियो से लाभदायक संस्था रही ह। इसलिए इसे नष्ट करने के बजाय इसम सुधार किया जाना चाहिए। मजूमदार व मदान ने उचित ही लिखा है, ' इस व्यवस्था की हानिकारक सहवर्ती प्रथाओ अस्पृश्यता, एक जाति द्वारा दूसरी का शोषण और ऐसी ही अन्य को समाप्त कर देना चाहिए, न कि सम्पूण व्यवस्था को, टूटी हुई विषली अँगुली को काटना चाहिए न कि पूरे हाथ को।"[1]

## प्रश्न
### (उत्तर सकेत सहित)

1 जाति-व्यवस्था की प्रमुख विशेषताओ की विवेचना कीजिए।
(आगरा, 1975, लखनऊ, 1976, गोरखपुर, 1977)
[सकेत—इसम जाति की परिभाषा एव विशेषताओ का उल्लेख कीजिए।]

2 जाति प्रथा के लाभो एव हानियो का उल्लेख कीजिए।
[सकेत—इसम जाति की परिभाषा देकर जाति प्रथा के काय एव हानियाँ शीर्षक म दिये गये वर्णन का उल्लेख करिए।]

1 Majumdar and Madan *op cit* p 238

3 जाति की परिभाषा दीजिए। जाति और वर्ग में भेद स्पष्ट कीजिए।
(गोरखपुर, 1974, 78)

[संकेत—देखिए जाति की परिभाषा, विशेषताएँ तथा 'जाति तथा वर्ग' शीर्षक।]

4 जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति के सिद्धान्तों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
(लखनऊ, 1964, 66, 70, 72, गोरखपुर, 1978)

[संकेत—इसमें जाति की उत्पत्ति के सभी सिद्धान्तों को संक्षेप में लिखिए।]

5 जाति की उत्पत्ति के किसी एक सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
(लखनऊ, 1975)

[संकेत—इसमें किसी भी एक सिद्धान्त का विस्तार से उल्लेख करके उसकी समालोचना कीजिए।]

6 जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के व्यावसायिक सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
(गोरखपुर, 1973, लखनऊ, 1976)

[संकेत—इसमें व्यावसायिक सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या की जायगी।]

# 10

# जाति-प्रथा के बदलते प्रतिमान
## विभिन्न युगों में जाति
## (CHANGING PATTERNS OF CASTE SYSTEM CASTE IN DIFFERENT PERIODS)

जाति प्रथा का विशद विवेचन करने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसके गतिशील पक्ष (Dynamics) का अध्ययन करें। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो जाति व्यवस्था को एक पुरातन शाश्वत एवं स्थिर संस्था मानते हैं। किन्तु परिवर्तन प्रकृति का नियम है और कोई वस्तु परिवर्तन से परे नहीं है। समय के साथ जाति व्यवस्था में भी अनेक परिवर्तन हुए हैं और इसका वर्तमान स्वरूप पुरातन स्वरूप से भिन्न है। जाति की गत्यात्मकता के दो पक्ष हैं प्रथम, जाति व्यवस्था की ऐतिहासिक विवेचना और द्वितीय, वर्तमान समय में जाति व्यवस्था में होने वाले परिवर्तन। जाति-व्यवस्था की गत्यात्मकता अथवा गतिशील पक्षों की जानकारी प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसकी ऐतिहासिक व्याख्या करें और साथ ही उसके वर्तमान परिवर्तित स्वरूप की प्राचीन स्वरूप से तुलना करें। "वर्तमान की उत्पत्ति अतीत से होती है अतएव वर्तमान को समझने के लिए अतीत का समझना आवश्यक हो जाता है।" यहाँ हम जाति के विभिन्न युगों में बदलते प्रतिमानों का उल्लेख करेंगे साथ ही वर्तमान समय में जाति को प्रभावित करने वाले कारकों एवं जाति के भविष्य पर भी विचार करेंगे।

**डा० घुरिये**[1] ने जाति के इतिहास को चार युगों—वैदिक काल, उत्तर वैदिक काल, धर्मशास्त्र काल और वर्तमान काल में बाँटा है। **डा० नर्मदेश्वर प्रसाद**[2] ने जाति के इतिहास को दस युगों में बाँटा है। हम यहाँ जाति की गतिशीलता या ऐतिहासिकता का अध्ययन उसे छः विभिन्न युगों में बाँटकर करेंगे वैदिककाल, उत्तर वैदिककाल, धर्मशास्त्रकाल, मध्यकाल, ब्रिटिश काल तथा स्वातन्त्र्योत्तर काल।

---

1. G S Ghurye *Caste Class and Occupation*, p 24
2. डा० नर्मदेश्वर प्रसाद जाति व्यवस्था पृ० 52।

## (1) वैदिक काल (Vedic Period)

यह काल ईसा से 2000 वर्ष पूर्व से लेकर 600 वर्ष पूर्व तक माना जाता है। ऋग्वेद और ब्राह्मण ग्रन्थ इस काल के प्रमुख ग्रन्थ हैं। ऋग्वेद में ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य इन तीनो का उल्लेख किया गया है। पुरुष सूक्त मे शूद्रो का वर्णन भी मिलता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रो की उत्पत्ति सृष्टि के रचयिता ब्रह्मा के विभिन्न अगो से मानी गयी है। डॉ० घुरिये का मत है कि इस युग मे इन वर्णों मे कठोरता नही थी और इनमे ऊर्ध्वगामी अथवा अधोगामी परिवर्तन पूर्णतया असम्भव नही थे। इस युग मे वर्ण शब्द का प्रयोग रंग के लिए किया गया और चार वर्णों के चार रग मान लिये गये जैसे ब्राह्मण श्वेत वर्ण के, क्षत्रिय रक्त वर्ण के, वैश्य पीत वर्ण के और शूद्रो का कृष्ण वर्ण का माना गया। इस युग मे वर्णो पर पेशे का भी कोई प्रतिबन्ध नही था और एक वर्ण का व्यक्ति दूसरे वर्ण का पेशा अपना सकता था। इसी प्रकार से विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध भी नही थे और एक वर्ण का व्यक्ति दूसरे वर्ण मे विवाह कर सकता था। समय के साथ-साथ इस युग मे चारो वर्णों ने जाति की विशेषताएँ ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया था, वे अलग अलग सामाजिक इकाई के रूप मे स्थापित हो चुके थे और उनके बीच उच्चता एव निम्नता का क्रम भी तय हो चुका था। वर्णों के संस्तरण मे ब्राह्मणो की स्थिति सर्वोच्च थी, उसके बाद क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रो की। ये वर्ण अन्तर्विवाह के नियम पालन करते थे यद्यपि ब्राह्मण क्षत्रिय कन्याओ से यदा कदा विवाह कर लेते थे। अन्य वर्णों के सदस्य शूद्र स्त्रियो को रखैल के रूप में स्वीकार कर लेते थे। खान पान और छुआछूत के नियमो का इस युग मे उल्लेख नही मिलता है। ऋग्वेद मे सुनार, नाई, मोची, चिकित्सक लुहार, व्यापारी और रथ बनाने आदि के कार्यों का भी उल्लेख है किन्तु यह स्पष्ट नही है कि इन कार्यों को करने वालो की वर्ण स्थिति क्या थी। कुछ पेशे इस युग मे वशानुगत हो चुके थे। ऋग्वेद मे कुछ ऐसे समूहो का भी उल्लेख है जिनसे जाति का बोध होता है जैसे चाण्डाल और निषाद। चाण्डाल को शूद्र पिता और ब्राह्मण माता की सन्तान कहा गया है। निषादों की स्थिति चाण्डालो से उच्च थी। स्पष्ट है कि इस युग मे जाति की कुछ विशेषताएँ प्रकट होने लगी थी।

## (2) उत्तर-वैदिक काल (Post Vedic Period)

यह काल ईसा के 600 वर्ष पूर्व से ईसा की तीसरी शताब्दी तक माना गया है। इस काल मे तीन प्रकार का साहित्य मिलता है जो जाति की गतिशीलता पर प्रकाश डालता है। प्रथम, वह साहित्य जिसमे आर्यों के सामाजिक जीवन सम्बन्धी नियमो एव आदर्शों का उल्लेख किया गया है। दूसरा, रामायण और महाभारत का साहित्य और तीसरा बौद्ध साहित्य। यह युग ब्राह्मणो एव क्षत्रियो के बीच संघर्ष का युग था। इस युग मे ब्राह्मणो की स्थिति का सगठन और शूद्रो की स्थिति का

परा हुआ। इस युग के साहित्य में वर्णों के साथ साथ जातियों का उल्लेख किया गया है। इस युग में 'वर्ण' शब्द के साथ-साथ जाति शब्द का भी प्रयोग हुआ। जाति का तात्पर्य वर्ण अथवा वर्णों में ... समूहों के लिए किया गया। आश्रमों एवं ऋणों की व्यवस्था केवल ब्राह्मणों हेतु ही मानी गयी। यज्ञ करने, शिक्षा ग्रहण करने एवं संस्कार करने का अधिकार ब्राह्मणों का ही था। इस युग में ब्राह्मणों को अनेक विशेषाधिकार प्रदान किए ... अन्य वर्णों को चाहिए कि ... ब्राह्मणों की सेवा करें। ब्राह्मणों की हत्या महापाप माना गया। ब्राह्मणों की सम्पत्ति हथियाने वाले का विनाश हो ... इस प्रकार इस युग में ब्राह्मणों की स्थिति बहुत ऊँची हो गयी थी।

दूसरी ओर शूद्रों की स्थिति बहुत गिर गयी थी। शूद्रों को ... माना गया और उनकी उत्पत्ति दूसरे सभी वर्णों की सेवा के लिए ही मानी ... शूद्रों का शिक्षा एवं उपनयन संस्कार का अधिकार नहीं था। उन्हें तपस्या ... का अधिकार भी नहीं था। शास्त्रों में वर्णित आठ प्रकार के विवाहों में ... विवाह शूद्रों के लिए माना गया। शूद्रों को सम्पत्ति रखने के अधिकार से ... कर दिया गया। सवर्ण स्त्री के साथ सम्भोग करने वाले शूद्र को जीवित ... या मृत्यु दण्ड देने का विधान किया गया। ब्राह्मण पुरुष और शूद्र स्त्री के ... पर भी रोक लगा दी गयी। सैद्धान्तिक दृष्टि से शूद्रों की स्थिति निम्न थी ... उनकी अच्छी स्थिति के प्रमाण भी मिलते हैं। दशरथ की स्त्री शूद्र थी। ... चन्द्रगुप्त भी शूद्र था। इस काल में वैश्य और शूद्र समान स्तर पर रखे ... उनके लिए समान विवाह विधान और पेशों की व्यवस्था की गयी। इस यु... कर्म के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया गया और विभिन्न जातियों को अ... मर्यादाओं के अनुसार रहने को कहा गया। भोजन सम्बन्धी नियमों की रचना ... इस युग में हुई और भोजन सम्बन्धी पवित्रता व अपवित्रता के विचार पनपे। ... के छूने पर स्नान करने का विधान बना। शूद्रों के रहने की व्यवस्था गाँव ... बाहर की गयी। उन्हें सवर्णों के कुएँ के उपयोग करने की मनाही कर दी गयी। एक वर्ण द्वारा दूसरे वर्ण के व्यवसाय को अपनाने पर भी रोक लगा दी गयी। इस प्रकार इस युग में जाति के विवाह, व्यवसाय, खान-पान, छुआछूत और ... के नियमों में कठोरता आयी।

(3) धर्मशास्त्र काल (*Dharmashastra Period*)

यह काल ईसा की तीसरी शताब्दी से 11वीं शताब्दी तक माना जाता है। इस युग में विभिन्न संहिताओं एवं स्मृतियों की रचना हुई इसलिए इसे स्मृति युग भी कहा जाता है। इस युग में याज्ञवल्क्य संहिता, विष्णु संहिता, पाराशर स्मृति और नारद स्मृति आदि के आधार पर विभिन्न वर्णों के कर्तव्य निर्धारित किए गए। इस काल में उत्तर वैदिक काल में विकसित जाति सिद्धान्तों को स्थापित ...

नयी जातियों के उद्भव को प्रोत्साहन दिया गया। डॉ० घुरिये का मत है कि इस युग में दो महत्वपूर्ण विकास हुए जिससे जाति के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्षों पर प्रभाव पड़ा। एक तरफ ब्राह्मणों को दान देने की पवित्रता एवं महत्व पर जोर दिया गया और दूसरी ओर पुनर्जन्म और कर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने से ब्राह्मणों का महत्व बढ़ा और जाति-व्यवस्था सुदृढ़ हुई।

इस काल के शास्त्रों में कई ऐसे उदाहरण हैं जो ब्राह्मणों की उच्च प्रतिष्ठा के सूचक हैं। मनु ने ब्राह्मणों को इस सृष्टि का सम्राट कहा। विष्णु ने उन्हें ईश्वर व मानव के बीच कड़ी माना। वे कहते हैं, 'देवता अदृश्य है किन्तु ब्राह्मण साक्षात देवता है। ब्राह्मण के द्वारा ही संसार सधा है। यदि साक्षात देवता प्रसन्न होते हैं तो अदृश्य देवता भी।" नारद का कहना है कि राजा को प्रातःकाल ब्राह्मणों के दर्शन करना चाहिए। सभी वर्णों का ब्राह्मणों की सेवा करने की बात भी कही गयी है।

दूसरी ओर शूद्रों की स्थिति में और गिरावट आयी यद्यपि जैन और बौद्ध धर्म के प्रभाव के कारण शूद्रों के प्रति शास्त्रकारों में कुछ उदारता आयी। वैश्यों और शूद्रों को एक ही श्रेणी में रखा गया क्योंकि दोनों की उत्पत्ति अपेक्षाकृत अपवित्र अंगों से हुई है। अपनी जाति में ही भोजन करने और छूने के कारण अपवित्र हो जाने का विचार इस युग में दृढ़ हो चुका था। विष्णु का कहना है कि सवर्णों को शूद्रों के साथ यात्रा नहीं करनी चाहिए। मनु चाण्डालों के निवास के लिए नगर से बाहर व्यवस्था करने की बात कहते हैं और कौटिल्य तो उन्हें श्मशान से भी दूर बसाने के पक्ष में है। चाण्डाल को मध्याह्न से पहले ही नगर में प्रवेश करना चाहिए और झाडू को बगल में तथा गले में छोटा बर्तन लटकाना चाहिए। इस युग में सवर्णों का दूसरे वर्णों में भी विवाह करने की छूट थी किन्तु शूद्र-स्त्री धार्मिक कार्यों में भाग नहीं ले सकती थी। अनुलोम और प्रतिलोम विवाह के कारण इस युग में जातियों की संख्या बढ़ी। यद्यपि जाति अन्तरर्वैवाहिकी का पालन होता था फिर भी अन्तर्जातीय विवाह के अनेक उदाहरण भी मिलते हैं। इस युग में जातिगत पेशों को मान्यता दी गयी किन्तु दूसरी जाति के व्यवसाय भी अपनाये गये हैं। हर्षवर्धन जन्म से वैश्य पर कर्म से क्षत्रिय थे तथा चारुदत्त जन्म से ब्राह्मण व कर्म से वैश्य थे। राजा को यह अधिकार दिया गया कि वह विभिन्न जातियों को उनके पेशे करने को प्रेरित और बाध्य करे। इस प्रकार इस युग में जाति को समाज का आवश्यक और स्वाभाविक अंग माना गया और जाति संगठन को बनाये रखने के लिए अनेक विधान बनाये गये थे।

(4) मध्यकाल (Medieval Period)

यह काल 11वीं से 17वीं शताब्दी तक माना जाता है। इस युग में जाति व्यवस्था पर मुसलमानों का प्रभाव पड़ा। इससे जाति के बन्धन कठोर हुए।

पतन हुआ। इस युग के साहित्य म वर्णों के साथ साथ वर्णसंकर जातियों का भी उल्लेख किया गया है। इस युग मे 'वण' शब्द के साथ-साथ सर्वप्रथम 'जाति' शब्द का भी प्रयोग हुआ। जाति का तात्पय वण अथवा वर्णों मे पाये जाने वाले उप समूहो के लिए किया गया। आश्रमो एव वर्णों की व्यवस्था केवल ब्राह्मणो के लिए ही मानी गयी। यज्ञ करने, शिक्षा ग्रहण करन एव सस्कार करने का अधिकार केवल ब्राह्मणो को ही था। इस युग मे ब्राह्मणो को अनक विशेषाधिकार प्रदान किय गय। अय वर्णों को चाहिए कि व ब्राह्मणो की सवा करें। ब्राह्मणो की हत्या करना महापाप माना गया। ब्राह्मणो की सम्पत्ति हथियाने वाले का विनाश हो जाता है। इस प्रकार इस युग मे ब्राह्मणो की स्थिति बहुत ऊँची हो गयी था।

दूसरी ओर शूद्रो की स्थिति बहुत गिर गयी थी। शूद्रो को काल रग का माना गया और उनकी उत्पत्ति दूसरे सभी वर्णों की सेवा के लिए ही मानी गयी। शूद्रो का शिक्षा एव उपनयन सस्कार का अधिकार नही था। उ्हे तपस्या एव यज्ञ का अधिकार भी नही था। शास्त्रो मे वर्णित आठ प्रकार के विवाहो मे पशाच विवाह शूद्रो क लिए माना गया। शूद्रो को सम्पत्ति रखने के अधिकार से वचित कर दिया गया। सवण स्त्री के साथ सम्भोग करने वाले शूद्र का जीवित जला देने या मृत्यु दण्ड देन का विधान किया गया। ब्राह्मण पुरुष और शूद्र स्त्री के विवाह पर भी रोक लगा दी गयी। सैद्धान्तिक दृष्टि स शूद्रो की स्थिति निम्न थी किन्तु उनकी अच्छी स्थिति के प्रमाण भी मिलते है। दशरथ की स्त्री शूद्र थी। सम्राट चन्द्रगुप्त भी शूद्र था। इस काल मे वैश्य और शूद्र समान स्तर पर रखे गय। उनके लिए समान विवाह विधान और पेशो की व्यवस्था की गयी। इस युग म कम के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया गया और विभिन्न जातियों को अपनी मर्यादाओ के अनुसार रहन को कहा गया। भोजन सम्बन्धी नियमो की रचना भी इस युग मे हुई और भोजन सम्बन्धी पवित्रता व अपवित्रता के विचार पनपे। शूद्रो के छूने पर स्नान करने का विधान बना। शूद्रो के रहन की व्यवस्था गाँव से बाहर की गयी। उन्हे सवर्णों के कुएँ के उपयोग करने की मनाही कर दी गयी। एक वण द्वारा दूसरे वण के व्यवसाय को अपनाने पर भी रोक लगा दी गयी। इस प्रकार इस युग म जाति के विवाह, व्यवसाय, खान पान, छुआछूत और सस्तरण के नियमो म कठोरता आयी।

### (3) धर्मशास्त्र काल (*Dharmashastra* Period)

यह काल ईसा की तीसरी शताब्दी से 11वी शताब्दी तक माना जाता है। इस युग म विभिन्न सहिताओ एव स्मृतियो की रचना हुई इसलिए इसे स्मृति युग भी कहा जाता है। इस युग में याज्ञवल्क्य सहिता, विष्णु सहिता पाराशर सहिता और नारद स्मृति आदि के आधार पर विभिन्न वर्णों के कर्तव्य निर्धारित किय गय। इस युग म उत्तर वैदिक काल मे विकसित जाति सिद्धान्तो को स्थायित्व मिला और

नयी जातियों के उद्भव को प्रोत्साहन दिया गया। डॉ० घुरिये का मत है कि इस युग में दो महत्वपूर्ण विकास हुए जिनसे जाति के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्षों पर प्रभाव पड़ा। एक तरफ ब्राह्मणों को दान देने की पवित्रता एवं महत्व पर जोर दिया गया और दूसरी ओर पुनर्जन्म और कर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने से ब्राह्मणों का महत्व बढ़ा और जाति-व्यवस्था सुदृढ़ हुई।

इस काल के शास्त्रों में कई ऐसे उदाहरण हैं जो ब्राह्मणों की उच्च प्रतिष्ठा के सूचक हैं। मनु ने ब्राह्मणों को इस सृष्टि का सम्राट कहा। विष्णु ने उन्हें ईश्वर व मानव के बीच कड़ी माना। वे कहते हैं, 'देवता अदृश्य हैं किन्तु ब्राह्मण साक्षात देवता है। ब्राह्मण के द्वारा ही संसार सधा है। यदि साक्षात देवता प्रसन्न होते हैं तो अदृश्य देवता भी। नारद का कहना है कि राजा को प्रातःकाल ब्राह्मणों के दर्शन करना चाहिए। सभी वर्णों का ब्राह्मणों की सेवा करने की बात भी कही गयी है।

दूसरी ओर शूद्रों की स्थिति में और गिरावट आयी यद्यपि जैन और बौद्ध धर्म के प्रभाव के कारण शूद्रों के प्रति शास्त्रकारों में कुछ उदारता आयी। वैश्यों और शूद्रों को एक ही श्रेणी में रखा गया क्योंकि दोनों की उत्पत्ति अपेक्षाकृत अपवित्र अंगों से हुई है। अपनी जाति में ही भोजन करने और छूने के कारण अपवित्र हो जाने का विचार इस युग में दृढ़ हो चुका था। विष्णु का कहना है कि सवर्णों को शूद्रों के साथ यात्रा नहीं करनी चाहिए। मनु चाण्डालों के निवास के लिए नगर से बाहर व्यवस्था करने की बात कहते हैं और कौटिल्य तो उन्हें श्मशान से भी दूर बसाने के पक्ष में हैं। चाण्डाल को मध्याह्न के पहले ही नगर में प्रवेश करना चाहिए और झाड़ू को बगल में तथा गले में छोटा बर्तन लटकाना चाहिए। इस युग में सवर्णों का दूसरे वर्णों में भी विवाह करने की छूट थी किन्तु शूद्र-स्त्री धार्मिक कार्यों में भाग नहीं ले सकती थी। अनुलोम और प्रतिलोम विवाह के कारण इस युग में जातियों की संख्या बढ़ी। यद्यपि जाति अन्तर्विवाहिकी का पालन होता था फिर भी अन्तर्जातीय विवाह के अनेक उदाहरण भी मिलते हैं। इस युग में जातिगत पेशों को मान्यता दी गयी किन्तु दूसरी जाति के व्यवसाय भी अपनाये गये हैं। हर्षवर्धन जन्म से वैश्य पर कर्म से क्षत्रिय थे तथा चारुदत्त जन्म से ब्राह्मण व कर्म से वैश्य थे। राजा को यह अधिकार दिया गया कि वह विभिन्न जातियों को उनके पेशे करने को प्रेरित और बाध्य करे। इस प्रकार इस युग में जाति को समाज का आवश्यक और स्वाभाविक अंग माना गया और जाति संगठन को बनाये रखने के लिए अनेक विधान बताये गये थे।

### (4) मध्यकाल (Medieval Period)

यह काल 11वीं से 17वीं शताब्दी तक माना जाता है। इस युग में जाति व्यवस्था पर मुसलमानों का प्रभाव पड़ा। इससे जाति के बन्धन कठोर हुए।

इस युग के शास्त्रकारो म पाराशर, हेमाद्रि, माधव और कमलाकर आदि प्रमुख हैं। इस युग म क्षत्रियो की शक्ति क्षीण हो चुकी थी। वैश्यो और शूद्रो को इस युग म वस्तुत एक ही श्रेणी मे रखा गया। इस युग मे भी शूद्रो को अनेक निर्योग्यताएँ प्राप्त थी। शूद्रो की स्थिति को सुधारने के लिए सम्पूर्ण भारत म सुधारवादी आन्दोलन हुए। जाति व्यवस्था म इस युग मे कोई विशेष परिवतन नहीं हुए और उसका पुरातन स्वरूप ही बना रहा। यद्यपि समय के अनुसार कुछ परिवतन अवश्य हुए। जाति के वशगत व्यवसाय म लचीलापन पाया जाता है। पूना के पेशवा शासक ब्राह्मण थे। कुछ क्षेत्रो मे आदिवासियो न भी शासन किया, भील और गोड इसके उदाहरण हैं। इस युग म जाति अन्तर्वैवाहिकी को पूरी तरह स्वीकार कर लिया गया किन्तु प्रतिलोम विवाह का नही। इस काल म वण सकर जातियो की सख्या भी बढी। घुरिये ने ऐसे अनेक शिलालेखो का उल्लेख किया है जो इस बात की पुष्टि करते हैं कि आज की अनेक जातियाँ मध्ययुग म अस्तित्व मे आ गयी थीं।

(5) ब्रिटिश काल (British Period)

यह काल भारत मे अग्रेजी राज्य की स्थापना स लकर 1947 तक माना जाता है जब भारत स्वतन्त्र हुआ। इस युग मे जाति मे अनेक परिवतन हुए और कई उपजातियाँ अस्तित्व मे आयी। इस काल म जाति मे परिवतन को ईसाई धम तथा नयी आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था ने प्रभावित किया। अग्रेजी शासन काल मे पूजीवादी व्यवस्था का श्रीगणेश हुआ और उसके साथ औद्योगीकरण एव नगरीकरण बढा। जाति-व्यवस्था को ग्रामीण कृषि व्यवस्था पर आधारित समाज ने प्रश्रय दिया था। पूजीवादी औद्योगिक व्यवस्था न उस अथ व्यवस्था को समाप्त कर दिया। शास्त्रकारो न जातियो म जिस ऊँच नीच को जन्म दिया अग्रेजी राज्य मे बने कानूनो न उस समाप्त कर दिया।

ईसाई धम क प्रभाव स बचने के लिए उपाय खोजे जाने लगे। ईसाई धम के प्रभाव के कारण कई सुधारवादी आन्दोलन हुए। ब्रह्म समाज आय समाज और प्राथना समाज न जाति व असमानता के सिद्धान्त पर प्रहार किया। सुधारवादी आन्दोलनो से शूद्रो की स्थिति मे परिवतन हुआ। किन्तु दूसरी ओर अग्रेजो ने ब्राह्मणो को भी सुरक्षा प्रदान की। अग्रेजो द्वारा बनाये गये कानूनो का आधार हिन्दू धमग्रन्थ ही थे। शासकीय अदालतो के स्थान पर अब भी जातीय अदालतें अधिक प्रभावी थी।

औद्योगीकरण एव शहरीकरण के कारण नवीन पेशो का जन्म हुआ। शूद्रो ने नये व्यवसाय अपनाकर अपनी सामाजिक स्थिति ऊँची उठायी। शूद्रो ने भी सुधारवादी आन्दोलन म भाग लिया। डॉ० अम्बेडकर और महात्मा गाँधी आदि न हरिजनो एव पिछड वर्गों के कल्याण के लिए सामाजिक एव राजनतिक स्तर पर प्रयास किये। इस युग म जाति और पेशे का सम्बन्ध टूटा। जाति अन्तर्वैवाहिक

के नियमो को भी तोडने के प्रयास हुए तथा अन्तर्जातीय विवाहो का प्रोत्साहन मिला। आर्य समाज और ब्रह्म समाज ने भी अन्तर-जाति विवाह की पुष्टि की। पश्चिम के व्यक्तिवाद, उदारवाद और रोमास के विचारो ने वैयक्तिक स्वतन्त्रता को बढ़ावा दिया। इससे प्रेम विवाह और अन्तर जाति विवाह बढ़े। अंग्रेजी शासन काल ने जाति पचायत के दायरे को भी सीमित कर दिया, विवाह, तलाक व न्याय का कार्य अब जाति पचायत के स्थान पर न्यायालय के अधिकार क्षेत्र मे आ गये। इस प्रकार अंग्रेजी शासन काल मे ऐसी प्रक्रियाएँ अस्तित्व मे आयी जिनके कारण जाति प्रथा की जड़ें हिल गयी।

(6) आधुनिक काल (स्वातन्त्र्योत्तर काल) [Modern Period (After Independence)]

स्वतन्त्रता के बाद भारत म धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना हुई। जाति व प्रजातन्त्र को विरोधी मानकर इसे समाप्त करने के लिए कानूनी प्रयास किये गये। सविधान म जातीय भेद भावो को समाप्त कर दिया गया तथा निम्न जातियो को सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक सरक्षण एव अधिकार प्रदान किय गये। जातीय सगठन बने उनमे राजनैतिक चेतना आयी और उनका राजनीतिक महत्व बढा। जजमानी सम्बन्ध शिथिल हुए और सगठित होकर सस्कृतीकरण की प्रक्रिया द्वारा निम्न जातियो ने सस्तरण म ऊँचा उठने का प्रयास किया। बेली व मण्डल बाम का मत है कि जाति के आर्थिक आधार समाप्त हो रहे हैं और राजनैतिक अधिकार राज्य के हाथ मे चले गये हैं। किन्तु आर्थिक एव राजनैतिक 'असुरक्षा ने जातिवाद को प्रोत्साहन दिया है। जाति ने ट्रेड यूनियन का रूप लिया है। भगियो की हडतालें इसका स्पष्ट उदाहरण है। हम यहाँ वर्तमान समय मे जाति-व्यवस्था मे परिवर्तन लाने वाले कारको और उनके प्रभाव से आने वाले नवीन परिवर्तनो का उल्लेख करेंगे।

## जाति व्यवस्था मे परिवर्तन लाने वाले कारक
## (FACTORS RESPONSIBLE FOR CHANGE IN CASTE SYSTEM)

वर्तमान समय मे जाति मे अनेक परिवर्तन हुए हैं और उसका परम्परात्मक स्वरूप विघटित हुआ है। जाति मे परिवर्तन, विघटन या उसे निबल बनाने वाले कारक इस प्रकार है

(1) पाश्चात्य शिक्षा एव सभ्यता—अंग्रेजो के आने से पूर्व भारत मे धार्मिक शिक्षा का प्रचलन था, जिसमे केवल ब्राह्मणो को ही शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार था, शेष जातियो को शिक्षा से वचित किया गया था। वे अपने जातीय व्यवसाय की शिक्षा परिवार जनो से घर मे ही प्राप्त करती थी। अंग्रेजो ने भारत में धर्म-निरपेक्ष एव सार्वभौमिक शिक्षा प्रारम्भ की। इस शिक्षा ने भारतीयो को रूढ़िवादिता एव सकीर्णता से मुक्ति दिलायी एव लोगो में स्वतन्त्रता, समानता एव भाईचारे की

भावना पैदा की। वैज्ञानिक शिक्षा ने लोगो मे तार्किक दृष्टिकोण का विकास किया। फलस्वरूप जाति व्यवस्था निबल हुई ।

अग्रेजो के 150 वर्षों के राज्य के कारण भारत का पश्चिमी सभ्यता एव संस्कृति से सम्पर्क हुआ। पश्चिम के व्यक्तिवाद, उदारवाद, भौतिकवाद एव उपयोगिता वाद ने यहाँ नवीन विचारो को बढावा दिया । धन एव व्यक्ति के गुणो का महत्व बढा। प्रेम विवाह एव अन्तर्जातीय विवाह के कारण जातीय बधन शिथिल हुए तथा खान पान एव छुआछूत सम्बधी कठोरता कम हुई।

(2) **औद्योगीकरण एव नगरीकरण**—औद्योगीकरण के कारण भारत मे बडे बडे कारखानो की स्थापना हुई जिनमे सभी जातियो के लोग साथ साथ काम करने लगे। इससे पूर्व प्रत्येक जाति का अलग अलग व्यवसाय था। औद्योगीकरण मे यह सम्भव न था कि चमडे के कारखाने मे केवल चमार या सूती कपडे के कारखाने में केवल जुलाहे ही काम करें। सभी जातियो के लोगो द्वारा एक ही कारखाने मे साथ काम करने से उनमे पारस्परिक समझ बढी तथा जातीय भेद भाव दूर हुए। सभी जातियो के मजदूरो ने मिल कर ट्रेड यूनियन बनायी, वे एक ही दल, झण्डे एव कार्य क्रम के दौरान सघर्ष करने लगे। नगरो मे सभी जातियो के लोग साथ साथ रहने लगे, इससे भी उनके बीच व्याप्त जातीय भेद भाव कम हुए।

(3) **धन का बढता महत्व**—वर्तमान समय मे जन्म के स्थान पर व्यक्तिगत गुणो एव धन का महत्व बढा है। व्यक्ति का मूल्याकन अब जाति के आधार पर नही वरन उसकी सम्पत्ति एव गुणो के आधार पर होने लगा।

(4) **स्वतन्त्रता आदोलन**—अग्रेजो से मुक्ति पाने के लिए स्वतन्त्रता आदोलन के दौरान हमारे राष्ट्रीय नेताओ ने सभी देशवासियो का जातीय भेद भाव भुला कर आदोलन मे भाग लेने का आह्वान किया जिसके फलस्वरूप विभिन्न प्रातो, धर्मों, जातियो एव भाषाओ से सम्बन्धित लोगो ने एक झण्डे के नीचे एकत्रित होकर सत्याग्रह एव आदोलन किये। सभी जातियो के लोग जेलो मे साथ साथ रहते, खाते पीते एव उठते बैठते। इससे भी जातीय भेद भाव समाप्त हुआ।

(5) **प्रजातन्त्र की स्थापना**—स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश मे प्रजातन्त्र की स्थापना की गयी। नवीन सविधान मे रग, लिंग, जन्म, धर्म, आदि के आधार पर किसी के प्रति भेद भाव न बरतने का उल्लेख किया गया है। साथ ही सभी देश वासियो को समान मौलिक अधिकार प्रदान किये गये है। प्रजातान्त्रिक विचारो के कारण भी जाति प्रथा निबल हुई।

(6) **धार्मिक आदोलन**—ब्रह्म समाज, आर्य समाज प्रार्थना समाज रामकृष्ण मिशन तथा नानक, नामदेव, तुकाराम कबीर आदि सन्तो ने जाति के दोषो की कटु आलोचना की और जातीय छुआछूत एव ऊँच नीच को समाप्त करने में योग दिया।

(7) **यातायात एव सचार के साधनो मे उन्नति**—यातायात एव सचार के

नवीन साधनो के कारण लोगो मे गतिशीलता बढी, विभिन्न प्रान्तो, धर्मों एव जातियो के लोग रेल, बस एव वायुयान म सहयात्री बन यात्रा करने लगे। इससे उनमे सम्पर्क बढ़ा, समानता के भाव पनपे, छुआछूत कम हुई और खान पान के नियमो मे शिथिलता आयी।

(8) स्त्री शिक्षा का प्रसार—स्त्रियो मे शिक्षा के अभाव न जातीय नियमो के पालन म योग दिया। किन्तु जब स्त्रियो मे शिक्षा का प्रसार हुआ तो उन्होने जातीय बन्धनो को तोडा और जाति-प्रथा के कारण उनको जिन यातनाओं को बर्दाश्त करना पड रहा था उनके प्रति विद्रोह किया। उन्होन भी जाति से सम्बन्धित विवाह एव खान पान के नियमो को चुनौती दी। नवीन शिक्षा प्राप्त स्त्रियाँ जातीय बन्धनो को स्वीकार नही करती हैं।

(9) सयुक्त परिवारों के विघटन न भी जाति प्रथा को विघटित किया। सयुक्त परिवार मे जातीय नियमो का पालन पोषण होता था। एकाकी परिवारो की स्थापना के कारण जाति का पोषण करने वाले विचारो मे कमी आयी।

(10) जाति पचायतों का ह्रास—जाति प्रथा को दृढता प्रदान करने म जाति पचायतो एव ग्राम पचायतो ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। जातीय नियमों का उल्लघन करने वालों को जाति पचायतें दण्ड देती थी। उनके डर से सभी लोग जाति नियमो का पालन करते थे किन्तु जब जाति पचायतें समाप्त हुईं और उनके स्थान पर नवीन अदालतें स्थापित हुईं तो जाति प्रथा भी कमजोर हुई।

(11) जजमानी प्रथा की समाप्ति—जजमानी प्रथा म एक जाति दूसरी जाति की सेवा करती थी, उनम पारस्परिक निर्भरता थी। किन्तु जब औद्योगीकरण हुआ एव नवीन व्यवसायों की स्थापना हुई तो जजमानी प्रथा टूटी, लोग अपने जातीय व्यवसाय के स्थान पर अन्य व्यवसाय भी करने लगे। इसस जातीय व्यवसाय सम्बन्धी बाध्यता समाप्त हुई और जाति व्यवस्था का आर्थिक आधार समाप्त हुआ।

(12) नवीन कानूनों का प्रभाव—ब्रिटिश काल से ही कई ऐसे कानून बने जो जाति प्रथा के विरुद्ध थे। हिन्दू विवाह वैधकरण अधिनियम 1949, विशेष विवाह अधिनियम 1954 हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 आदि ने विभिन्न धर्मों एव जातियो के स्त्री पुरुषो के विवाह को वैध घोषित किया। इसस जाति अन्तर्विवाह के नियम म शिथिलता आयी। 1955 के 'अस्पृश्यता अपराध अधिनियम' द्वारा छुआछूत समाप्त कर दिया गया। भारतीय सविधान के अनुच्छेद 15 के अनुसार राज्य किसी भी नागरिक के प्रति धर्म, मूलवश, जाति, लिंग, जन्म स्थान आदि के आधार पर भेद-भाव नहीं बरतेगा। अनुच्छेद 17 के अनुसार अस्पृश्यता का अन्त कर दिया गया है। सविधान मे भारत को एक धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया गया है, धर्म ने ही जाति को स्थायित्व प्रदान किया है। धर्म का महत्व घटने के साथ साथ जाति व्यवस्था का महत्व भी घटा है।

## जाति व्यवस्था मे वर्तमान परिवर्तन
## (RECENT CHANGES IN CASTE SYSTEM)

उपयुक्त कारकों के परिणामस्वरूप जाति व्यवस्था की सरचना एव कार्यों मे अनेक परिवतन आये है और जाति मे नवीन प्रवृत्तियो का उदय हुआ है

(1) **ब्राह्मणो की स्थिति मे गिरावट**—जाति प्रथा के अन्तगत सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्र म ब्राह्मणा का एकाधिकार एव प्रभुत्व रहा है। किन्तु वतमान मे व्यक्तिगत गुणो एव धन का महत्व बढ जाने के कारण निम्न जातियो के व्यक्ति भी शिक्षा ग्रहण कर, धन सचय कर एव चुनाव म विजय प्राप्त कर अपनी सामाजिक आर्थिक एव राजनीतिक स्थिति को ऊँची उठाने मे सफल हुई है। यहा तक कि कई बार तो ब्राह्मणो को निम्न जातियो के अधिकारियो क अधीन काय करना पडता है। धार्मिक क्रियाओ एव पूजा पाठ का महत्व घटन के कारण भी ब्राह्मणो की परम्परागत प्रभुता को ठेस पहुची है।

(2) **जातीय सस्तरण मे परिवतन**—जाति प्रथा मे विभिन्न जातियो का एक सस्तरण पाया जाता है। प्रत्येक जाति यह जानती है कि कौन कौन सी जातियाँ उससे ऊँची एव नीची है। सभी जातिया इस सस्तरण को स्वीकार करती रही है। किन्तु वर्तमान मे इस सस्तरण मे परिवतन आया है और निम्न जातिया अपनी सामाजिक, आर्थिक एव राजनीतिक स्थिति मे सुधार करके जातीय सस्तरण मे ऊचा उठने का प्रयास कर रही है। श्रीनिवास ने इस प्रक्रिया के लिए सस्कृतीकरण' (Sanskritization) शब्द का प्रयोग किया है। पहल जाति ही व्यक्ति का समाज म स्थान निधारित करती थी, किन्तु अब गुण, योग्यता शिक्षा, सम्पत्ति एव राजनीतिक शक्ति के आधार पर सामाजिक स्थिति तय होन लगी है। बडे बडे नगरो मे अपरिचितता का लाभ उठा कर निम्न जातियो के व्यक्ति अपने को उच्च जाति का घोषित करने लगे हैं।

(3) **पेशे के चुनाव मे स्वतन्त्रता**—परम्परात्मक जाति प्रथा म प्रत्यक जाति का एक निश्चित व्यवसाय होता था जिसे बदला नही जा सकता था। किन्तु अब व्यक्ति अपनी क्षमता एव योग्यता के अनुसार व्यवसाय चुनने लगा। आज हम शर्मा शू स्टोर, अग्रवाल पान भण्डार वर्मा टेलरिग हाउस देखन को मिलेंगे। इसके अतिरिक्त वतमान मे कई नय व्यवसाय जैसे डाक्टरी, इजीनियरिग वकालत एव सरकार के विभिन्न विभागो म सेवा काय आदि खुल है जिनम सभी जातिया के व्यक्ति काय करते हैं। कृषि काय म अनेक जातियाँ लगी हुई है। इस प्रकार आज एक जाति अनेक व्यवसायो म तथा एक व्यवसाय म अनक जातियाँ लगी हुई हैं। फिर भी ब्राह्मणो एव हरिजनो ने कार्यों को अन्य जातिया न नहीं अपनाया है।

(4) **भोजन सम्बन्धी प्रतिबन्धों मे परिवतन**—परम्परागत जाति प्रथा म

खान पान सम्बन्धी अनेक निषेध थे। शाकाहारी, मासाहारी, कच्चे एव पक्के भोजन के बारे मे पवित्रता एव अपवित्रता की धारणा प्रचलित थी। किन्तु अब कुछ ब्राह्मण भी मासाहारी भोजन करने लगे हैं। कच्चे एव पक्के भोजन का भेद समाप्त हुआ है होटल, रेस्तरा एव क्लब मे सभी जातियो के व्यक्ति साथ साथ खाने पीने लगे है। धातु एव मिट्टी के बर्तनो को लेकर पवित्रता एव अपवित्रता की जो धारणा थी वह समाप्त हुई हैं। अब उच्च जातियाँ निम्न जातियो के यहाँ भोजन एव पानी ग्रहण करने लगी हैं।

**(5) जन्म के महत्व मे कमी**—जाति व्यवस्था म जन्म का अधिक महत्व था। ब्राह्मण के परिवार मे जन्म लेने वाला व्यक्ति इसलिए श्रेष्ठ समझा जाता था कि उसने ऊँची जाति मे जन्म लिया है। किन्तु वर्तमान मे जन्म के बजाय व्यक्ति के कर्म एव गुणो का महत्व बढा है। आज योग्य, कुशल एव साहसी व्यक्ति को श्रेष्ठ माना जाता है चाहे वह निम्न जाति का ही क्यो न हो।

**(6) विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्धों मे परिवर्तन**—जाति व्यवस्था का मूल आधार जाति अन्तर्विवाह (Caste endogamy) रहा है। प्रत्येक व्यक्ति का अपनी जाति मे ही विवाह करना होता था। यही नही, जाति प्रथा ने बाल विवाह, कुलीन विवाह एव विधवा-विवाह निषेधो को जन्म दिया। किन्तु वर्तमान में जाति के विवाह सम्बन्धी नियन्त्रण शिथिल हुए है, अब अन्तर्जातीय विवाह, विलम्ब विवाह विवाह विच्छेद एव विधवा पुनर्विवाह होने लगे है।

**(7) अस्पृश्य जातियो के अधिकारो मे वृद्धि**—परम्परागत जाति व्यवस्था मे शूद्र एव अस्पृश्य जातियो को अनेक सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एव राजनीतिक अधिकारो से वंचित किया गया था। किन्तु समाज सुधारको एव सरकारी प्रयत्नो के कारण आज उन्हे उच्च जातियो के समकक्ष ही सभी अधिकार एव सुविधाएँ प्राप्त हैं। उन्हे आर्थिक एव राजनैतिक सरक्षण प्रदान किया गया है, विधान मण्डलो ससद, सरकारी नौकरियो एव अन्य क्षेत्रो म उनके लिए स्थान सुरक्षित रखे गये हैं। कानूनी रूप मे अस्पृश्यता का अन्त कर दिया गया है।

**(8) जातीय समितियों का निर्माण**—विभिन्न जातियो ने वर्तमान मे अपने प्रान्तीय एव राष्ट्रीय स्तर के सगठन बनाये हैं जो अपने जातीय हितो की रक्षा करते हैं। ये जातीय समितियाँ जाति को सामाजिक एव राजनैतिक गतिशीलता तथा शक्ति प्रदान करने एव आर्थिक लाभ पहुचाने का कार्य करती है।

**(9) जातियों के बदलते हुए सम्बन्ध**—वर्तमान मे जातियो के पारस्परिक सम्बन्धो मे भी परिवर्तन आया है। पहले दो जातियो के बीच जजमानी सम्बन्ध पाये जाते थे और एक जाति दूसरी जाति की अपने व्यवसाय द्वारा सेवा करती थी। अब जजमानी सम्बन्ध टूटे हैं तथा राजनैतिक शक्ति को लेकर उनमे टकराव होने लगा है। शक्ति के नवीन समीकरण पनपे है, सत्ता अब प्रभु जाति एव उच्च जातियो के

हाथ से निम्न एव बहुसंख्यक जातियो के हाथो मे आयी है। यह बात पचायतों के चुनावो से स्पष्ट है।

## क्या जाति वर्ग मे परिवर्तित हो रही है ?
## (IS CASTE CHANGING INTO CLASS ?)

जाति व्यवस्था मे होने वाले विभिन्न परिवर्तनो को देखकर कई विद्वान यह निश्चय देते हैं कि भारत मे जातियाँ वर्ग का रूप ले रही है। उनका मत है कि औद्योगीकरण एव नगरीकरण के प्रभाव के कारण जाति सरचना मे परिवर्तन हुए हैं, जन्म का महत्व घटा है और व्यवसाय एव जाति के आर्थिक आधारो मे परिवर्तन हुआ है। जाति के अन्दर ही वर्ग पैदा होने लगे हैं और विभिन्न जातियो के व्यक्ति एव वर्ग मे सम्मिलित हो रहे है। जाति ने अपना जातीय सगठन बनाकर वर्ग की विशेषताएँ ग्रहण की हैं। उदाहरण के लिए, शहरो मे हरिजनो की अपनी ट्रेड यूनियन है जो अपने हितो के लिए उसी प्रकार से सघर्ष करती है जैसे मजदूर वर्ग मालिक वर्ग से। इसी प्रकार से उद्योगो मे पाये जाने वाले श्रमिक सगठनो मे सभी जातियों के सदस्य होते है। इन सगठनो के निर्माण का आधार जाति नहीं वरन् समान व्यवसाय है। एक व्यवसाय मे लगे विभिन्न जातियो के लोगो मे वर्ग चेतना पैदा हुई है। वे अपनी मागो को मनवाने के लिए एक ही झण्डे, मच एव राजनैतिक दल के अन्तर्गत सम्मिलित होते है। देश के विभिन्न भागो मे बनने वाले जातीय सगठनो मे एकाधिक जातियो के सदस्य पाये जाते है। विशेष तौर पर निम्न जातियो द्वारा बनाये जाने वाले सगठनो मे एकाधिक निम्न जातियाँ सम्मिलित हुई है। *रजनी कोठारी ने गुजरात मे क्षत्रिय जाति के सगठन का उल्लेख करते हुए कहा है* की इस सगठन मे एकाधिक जातियो के सदस्य हैं। इस प्रकार जाति जो कि पहले एक बन्द व्यवस्था थी, मे अब वर्ग की भाँति ही खुलापन (Openness) आता जा रहा है। उद्योगो मे ही नही वरन कृषि मे भी यही स्थिति है। औद्योगीकरण के कारण ग्रामीण व्यवसायो के नष्ट हो जाने से ग्रामीण दस्तकारी जातिया अपने व्यवसाय को छोड कर कृषि कार्य करने लगी है और वे भूमिहीन कृषक के रूप मे सर्वहारा वर्ग मे बदल रही है। निम्न जातियो को वर्ग के रूप मे बदलने मे प्रजातन्त्रीय व्यवस्था एव उन्हे दिये गये आर्थिक राजनैतिक अधिकारो ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। सरकारी नौकरियाँ, विधान मण्डलो एव ससद आदि मे निम्न जातियो को दी गयी सुविधा के कारण उनमे राजनैतिक सत्ता द्वारा अपने आर्थिक हितो की रक्षा के लिए जब एकजुट होती है तब भी वे वर्ग की विशेषता ग्रहण कर लेती है।

ब्राइस रेन (Bryce Ryan) का मत है कि जाति व्यवस्था का आधार विभिन्न जातियो के बीच सांस्कृतिक भिन्नता का पाया जाना है किसी प्रकार के सघर्ष का पाया जाना नही। आज एक ओर विभिन्न जातियो के बीच सांस्कृतिक अन्तर कम हुआ है अर्थात् विवाह खान पान एव सामाजिक सहवास के नियमो मे शिथिलता आयी है किन्तु दूसरी ओर उनके बीच पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा एव सघर्ष

मे दिनो दिन वृद्धि होती जा रही है।[1] इसका अर्थ हुआ कि जाति मे वर्ग संघर्ष की विशेषताएँ आती जा रही हैं और जाति वर्ग का रूप ले रही है। उपर्युक्त विश्लेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि भारत मे जाति वर्ग के रूप मे परिवर्तित होने की प्रक्रिया मे है।

इतना सब होने पर भी हम यह स्वीकार नही कर सकते कि जाति ने वर्ग का रूप ग्रहण कर लिया है या भविष्य मे कर लेगी। जाति का आधार सामाजिक है और वर्ग का आर्थिक। इन दोनों की प्रकृति एवं मौलिक विशेषताओ मे काफी अन्तर है। इतना अवश्य है कि समय के साथ जाति मे कुछ वर्ग की विशेषताएँ आने लगी है। फिर भी यह अपनी पृथकता बनाये रखेगी। इस सन्दर्भ मे डॉ० योगेन्द्रसिंह ने उचित ही लिखा है कि किसी समान राजनैतिक या आर्थिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कई बार कुछ जातियाँ संगठित हो जाती हैं और इस दृष्टि से उनमे वर्ग की विशेषताएँ दिखायी देने लगती हैं, लेकिन ये परिवर्तन क्षणिक हैं। ऐसे लौकिक लक्ष्यो की प्राप्ति के बाद जातियाँ पुनः अपने मौलिक प्रकार्यों जैसे वैवाहिक, सहभोजी तथा धार्मिक अनुष्ठान पर लौट आती हैं।"[2] नमर्देश्वर प्रसाद का मत है कि भारतीय जाति-व्यवस्था धार्मिक पौराणिक किस्म की है जबकि यूरोपीय जाति-व्यवस्था आर्थिक राजनैतिक किस्म की। आधुनिक समय मे भारतीय जाति व्यवस्था ने आर्थिक-राजनैतिक विशेषताओ को भी ग्रहण कर लिया है, अर्थात् अब इसमे दोनो किस्मो का सम्मिश्रण है। यूरोप मे जाति के वर्ग के रूप मे बदलने की और वर्ग के जाति रूप में दृढ होने की सदैव सम्भावना रही है, लेकिन भारत मे जाति ने कभी भी अपने को पूर्णतः वर्ग के रूप मे मुक्त नही किया।"[3] डॉ० सक्सेना का मत है कि "वर्तमान भारत उन्ही परिवर्तनकारी शक्तियो के प्रभाव मे है जिन्होने पश्चिमी समाज की वर्ग व्यवस्था को जन्म दिया, किन्तु निश्चयपूर्वक यह नही कहा जा सकता कि जाति प्रथा वर्ग व्यवस्था मे परिवर्तित हो जायेगी क्योकि समान परिवर्तनकारी शक्तियाँ दो विभिन्न समाजो मे परिवर्तन की समान गति और दिशा को जन्म नही दे सकती।'[4] डॉ० के० एल० शर्मा लिखते हैं कि जाति की प्रकृति संस्कारात्मक एवं धर्म सभा से हटकर चुनावो व्यवसायो एवं नौकरी मे अपने सदस्यो को सुविधाएँ प्रदान करने के रूप मे बदल गयी हैं, लेकिन जातियाँ न तो मार्क्सवादी और न ही वेबर द्वारा बतलाये गये वर्गो के रूप मे बदली हैं। डॉ० शर्मा यह तो मानते हैं कि भारतीय समाज की समस्याएँ वर्ग प्रकृति की है किन्तु समाज विभाजन मे वर्ग निश्चित प्रकार्यात्मक इकाइयो के रूप मे नही पाये जाते।[5] इस

1 Bryce Ryan Quoted by R N Saxena *op cit* p 95
2 Yogendra Singh *op cit* p 17?
3 Narmadeshwar Prasad *op cit* p 140
4 R N Saxena *op cit* p 96
5 K. L Sharma *New Introduction* in *Review of Caste in India* by J Murdock (1977) p XXV

सम्पूर्ण विवरण से स्पष्ट है कि यह कहना भ्रामक है कि भारत में जाति व्यवस्था वर्ण-व्यवस्था के रूप में परिवर्तित हो रही है।

## भारत में जाति का भविष्य
## (FUTURE OF CASTE IN INDIA)

जाति व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों एवं नवीन शक्तियों के सघात के कारण कई बार यह प्रश्न किया जाता है कि क्या भविष्य में भारत में जातियाँ समाप्त हो जायेंगी, यदि नहीं तो उनके भविष्य का स्वरूप क्या होगा अथवा क्या होना चाहिए। स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत में धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना की गयी, जाति, रंग एवं लिंग पर आधारित भेदभाव एवं अस्पृश्यता को कानून द्वारा समाप्त कर दिया गया, प्रजातन्त्र की स्थापना की गयी जिसमें देश के सभी नागरिकों को समान मौलिक अधिकार प्रदान किये गये। औद्योगीकरण, नगरीकरण, सुधार आन्दोलनों, पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के प्रभावों आदि के कारण जाति की संरचना एवं प्रकार्यों में अनेक नवीन स्थितियाँ पैदा हुई हैं, जाति में वर्गगत विशेषताएँ पनपने लगी हैं। इन सब कारणों से प्रगतिवादी लेखकों एवं राजनीतिज्ञों ने कई बार जाति के समाप्त होने की बात कही है। कुछ लोग मानते हैं कि जाति प्रथा अपने आप ही समाप्त हो जायगी, किन्तु ऐसा मानना निराधार है। डॉ० शर्मा का मत है कि जाति में समय के साथ अनुकूलन करने एवं समुत्थान की शक्ति निहित है जो जाति व्यवस्था के समाप्त होने के झूठे भय को अप्रमाणित सिद्ध करती है। डॉ० श्रीनिवास ने गुजरात, उड़ीसा, मद्रास, आन्ध्र, मैसूर बिहार तथा उत्तर प्रदेश में जाति में उभरती हुई जागरूकता और नवीन संगठनों के निर्माण के कारण जाति के शक्तिशाली होने की बात कही है।[1] डॉ० घुरिये एवं डा० श्रीनिवास का मत है कि जहाँ एक ओर अंग्रेजी शासन काल में होने वाले परिवर्तनों ने जाति प्रथा के बन्धन ढीले किये, वहाँ उन्होंने जाति-प्रथा को प्रोत्साहन भी दिया। अछूत आन्दोलन ने जाति की जड़ों को मजबूत करने में सहयोग दिया। जातीय संगठनों के निर्माण ने भी जाति को सुदृढ़ बनाया है। डॉ० योगेन्द्रसिंह का मत है कि जाति में होने वाले परिवर्तनों का समुत्थान एवं लचीलेपन की दृष्टि से देखा जाना चाहिए। लम्बे समय तक जाति राजनीति, अर्थ-व्यवस्था तथा संस्कृति के क्षेत्र में आधुनिकीकरण करने वाली सामाजिक संरचनाओं के संचालन के लिए संस्थात्मक आधार प्रदान करती रहेगी। यह कहना वैज्ञानिक दृष्टि से तार्किक नहीं है कि जाति व्यवस्था समाप्त हो रही है।

डॉ० श्रीनिवास कहते हैं कि भारत में कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो संख्या में थोड़े हैं किन्तु शक्तिशाली हैं उनका मत है कि जाति प्रथा समाप्त हो जानी चाहिए। दूसरी ओर अधिकांश जनता विशेषतः हिन्दू लोग न केवल जाति प्रथा को समाप्त

1 M N Srinivas, quoted by Yogendra Singh *op cit* p 166

करने के विरोधी हैं वरन् वे किसी ऐसी समाज व्यवस्था की भी कल्पना नही कर सकते जिसमे जाति-व्यवस्था न हो। ग्रामो मे निवास करने वाली 80 प्रतिशत जनता के लिए जाति आज भी वे सारे काय करती है जो पाश्चात्य औद्योगिक नगरो के लिए कल्याणकारी राज्य करता है।[1] जाति व्यवस्था को समाप्त करने के लिए अनेक कानून भी बनाये गये हैं, किन्तु प्रस्ताव पास कर देने एव कानून बनाने से ही कोई कार्य नहीं हो जाता है। श्रीनिवास कहते हैं, "मैं आपको स्पष्ट शब्दो मे कह देना चाहता हूँ कि यदि आप यह सोच रहे हैं कि आप जाति से सरलता से मुक्ति पा सकते हैं तो आप गम्भीर त्रुटि कर रहे है। जाति एक बहुत ही शक्तिशाली सस्था है और यह समाप्त होने से पूव बहुत ही खून खराबा करगी।"[2]

स्पष्ट है कि भारत म जाति व्यवस्था एक गतिशील सस्था है जो समय एव परिस्थितियो के साथ सदैव परिवर्तित होती रही है और आने वाले समय म भी वह आवश्यकता के अनुरूप अपने को ढालने म समथ है। अत इसके समाप्त हान क कोई आसार नजर नही आते है।

## प्रश्न
### (उत्तर सकेत सहित)

1 जाति व्यवस्था स आप क्या समझते ह ? क्या आधुनिक भारत म जाति व्यवस्था वग व्यवस्था का रूप ले रही है ? (आगरा, 1978)
[सकेत—जाति व्यवस्था के अथ के लिए 'भारत मे जाति प्रथा' अध्याय देखिए। इसके बाद 'क्या जाति वर्ग मे परिवर्तित हो रही है' शीषक के अ तगत वर्णित सामग्री लिखनी है।]

2 जाति और वग मे अ तर बताइए। क्या आपके विचार म जाति वग मे परिवर्तित हो रही है ? कारण बताइए। (रुहेलखण्ड, 1976)
[सकेत—जाति और वग के अ तर क लिए 'भारत मे जाति प्रथा' अध्याय देखिए। आगे का उत्तर प्रश्न 1 के द्वितीय भाग के उत्तर के समान ही होगा।]

3 आपके मतानुसार वतमान समय मे ऐसे कौन से तत्व रहे हैं जो जाति-व्यवस्था के विघटन के लिए उत्तरदायी है ? (आगरा, 1967)
[सकेत—इसके उत्तर के लिए 'जाति व्यवस्था मे परिवतन लाने वाले कारक' शीषक देखिए।]

4 जाति-व्यवस्था मे हो रह आधुनिक परिवर्तनो, विशेषकर स्वत त्रता प्राप्ति क बाद होने वाले परिवतनो के लिए कौन से कारक उत्तरदायी है ? (आगरा, 1973)
[सकेत—इसके उत्तर के लिए 'जाति व्यवस्था मे परिवतन' शीर्षक के अ तगत दी गयी सामग्री लिखिए।]

1 M N Sriniwas *Caste in Modern India and other Essays* p 70
2 M N Sriniwas *op cit* p 72

5 जाति-व्यवस्था की गतिशीलता पर एक लेख लिखिए।
[सकेत—इसके उत्तर मे विभिन्न कालो म जाति-व्यवस्था मे होन वाले परिवतनो को सक्षेप मे लिखना है।]

6 जाति-व्यवस्था मे हो रहे अभिनव परिवतना की विवेचना कीजिए।
(गोरखपुर, 1973, 75, लखनऊ, 1975)
[सकेत—इसका उत्तर प्रश्न 4 के उत्तर के समान ही होगा।]

7 जाति की परिभाषा कीजिए तथा इसम हो रहे आधुनिक परिवतनो की विवेचना कीजिए। (गोरखपुर, 1969, 76)
[सकेत—जाति की परिभाषा के लिए 'भारत मे जाति प्रथा' अध्याय देखिए। शेष उत्तर प्रश्न 4 के उत्तर के समान ही होगा।]

# 11

# भारत में विवाह . अर्थ एव प्रकार
## (MARRIAGE IN INDIA   MEANING & TYPES)

मानव ही सम्कृति का धनी है। मैलिनोवस्की सस्कृति को मानव आवश्यकता की पूर्ति का एक साधन मानते हैं। मानव की विभिन्न प्राणीशास्त्रीय आवश्यकताओं में यौन सन्तुष्टि एक आधारभूत आवश्यकता है। मानव के अतिरिक्त अन्य प्राणी भी यौन इच्छाओं की पूर्ति करते हैं, लेकिन उनमें इसका केवल दैहिक आधार है। मानव में यौन इच्छाओं की पूर्ति का आधार अकेले दैहिक, अपितु सामाजिक एवं सांस्कृतिक है। यौन इच्छाओं की सन्तुष्टि ने ही विवाह, परिवार तथा नातेदारी संस्थाओं को जन्म दिया है। परिवार के बाहर भी यौन सन्तुष्टि सम्भव है, किन्तु समाज ऐसे सम्बन्धों को अनुचित मानता है। कभी-कभी कुछ समाजों में परिवार के बाहर यौन सम्बन्धों को सम्मानजनक रूप में स्वीकार किया जाता है, किन्तु वह भी एक निश्चित सीमा तक ही। यौन इच्छाओं की पूर्ति स्वस्थ जीवन एवं सामान्य रूप से जीवित रहने के लिए भी आवश्यक मानी गयी। इसके अभाव में कई मनोविकृतियाँ पैदा हो जाती हैं। यौन इच्छा की पूर्ति किस प्रकार की जाय, यह समाज और संस्कृति द्वारा निश्चित होता है। विवाह का उद्देश्य सदैव ही यौन-सन्तुष्टि नहीं होता है वरन् कभी कभी तो यह केवल सामाजिक सांस्कृतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही किया जाता है। उदाहरण के लिए, नागाओं में एक पुत्र अपनी सगी माँ को छोड़कर पिता की अन्य विधवा स्त्रियों से विवाह कर लेता है। इसका कारण यौन सन्तुष्टि नहीं, वरन् स्त्रियों को मिलने वाली सम्पत्ति में उत्तराधिकार को प्राप्त करना है।

विवाह का एक आधार स्त्री में माँ एवं पुरुष में पिता बनने की इच्छा भी है, जिसकी पूर्ति वैध रूप में विवाह द्वारा ही सम्भव है। विवाह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को संस्कृति का हस्तान्तरण भी करता है। कुछ समाजों में आर्थिक जीवन विषम लिंगियों के बीच सहयोग एवं श्रम विभाजन पर आधारित होता है। आर्थिक क्रियाओं को स्त्री-पुरुष द्वारा सामूहिक रूप से सम्पन्न करने की आवश्यकता ने भी विवाह को अनिवार्य बना दिया। इन सभी कारणों से ही विवाह रूपी संस्था प्रत्येक काल और प्रत्येक समाज में विद्यमान रही है यद्यपि इसके स्वरूपों में भिन्नता पायी जाती है।

भारत में भी विवाह के क्षेत्र में अनेक विभिन्नताएँ पायी जाती हैं। प्राचीन काल से ही यहाँ विभिन्न धर्मों सम्प्रदायों, प्रजातियों भाषाओं एवं मतों से सम्बन्धित

5 जाति-व्यवस्था की गतिशीलता पर एक लेख लिखिए।
[सकेत—इसके उत्तर मे विभिन्न कालो मे जाति व्यवस्था मे होने वाले परिवतनो को सक्षेप मे लिखना है।]

6 जाति-व्यवस्था मे हो रहे अभिनव परिवतनो की विवेचना कीजिए।
(गोरखपुर, 1973, 75, लखनऊ, 1975)
[सकेत—इसका उत्तर प्रश्न 4 के उत्तर के समान ही होगा।]

7 जाति की परिभाषा कीजिए तथा इसमे हो रहे आधुनिक परिवतनो का विवेचना कीजिए। (गोरखपुर, 1969, 76)
[सकेत—जाति की परिभाषा के लिए 'भारत मे जाति प्रथा' अध्याय देखिए। शेष उत्तर प्रश्न 4 के उत्तर के समान ही होगा।]

# 11

# भारत मे विवाह . अर्थ एव प्रकार
## (MARRIAGE IN INDIA MEANING & TYPES)

मानव ही सस्कृति का धनी है। मलिनोवस्की सस्कृति को मानव आवश्यकता की पूर्ति का एक साधन मानते हैं। मानव की विभिन्न प्राणीशास्त्रीय आवश्यकताओ मे यौन सन्तुष्टि एक आधारभूत आवश्यकता है। मानव के अतिरिक्त अन्य प्राणी भी यौन इच्छाओ की पूर्ति करते है, लेकिन उनमे इसका केवल दैहिक आधार है। मानव म यौन इच्छाओ की पूर्ति का आधार अशत दैहिक, अशत सामाजिक एव सास्कृतिक है। यौन इच्छाओ की सन्तुष्टि ने ही विवाह परिवार तथा नातेदारी सस्थाओ को जन्म दिया है। परिवार के बाहर भी यौन सन्तुष्टि सम्भव है, किन्तु समाज ऐसे सम्बन्धो को अनुचित मानता है। कभी-कभी कुछ समाजो मे परिवार के बाहर यौन सम्बन्धो को सस्थात्मक रूप मे स्वीकार किया जाता है, किन्तु वह भी एक निश्चित सीमा तक ही। यौन इच्छाओ की पूर्ति स्वस्थ जीवन एव सामान्य रूप से जीवित रहने के लिए भी आवश्यक मानी गयी। इसके अभाव मे कई मनोविकृतियाँ पैदा हो जाती है। यौन इच्छा की पूर्ति किस प्रकार की जाय, यह समाज और सस्कृति द्वारा निश्चित होता है। विवाह का उद्देश्य सदैव ही यौन-सन्तुष्टि नही होता है वरन् कभी कभी तो यह केवल सामाजिक सास्कृतिक उद्देश्यो की पूर्ति के लिए ही किया जाता है। उदाहरण के लिए, नागाओ मे एक पुत्र अपनी सगी माँ को छोडकर पिता की अन्य विधवा स्त्रियो से विवाह कर लेता है। इसका कारण यौन सन्तुष्टि नही, वरन् स्त्रियो को मिलने वाली सम्पत्ति मे उत्तराधिकार का प्राप्त करना है।

विवाह का एक आधार स्त्री मे माँ एव पुरुष मे पिता बनने की इच्छा भी है, जिसकी पूर्ति वैध रूप मे विवाह द्वारा ही सम्भव है। विवाह एक पीढी से दूसरी पीढी का सस्कृति का हस्तान्तरण भी करता है। कुछ समाजो मे आर्थिक जीवन विपम लिंगियो के बीच सहयोग एव श्रम विभाजन पर आधारित होता है। आर्थिक क्रियाओ को स्त्री-पुरुष द्वारा सामूहिक रूप से सम्पन्न करने की आवश्यकता ने भी विवाह को अनिवाय बना दिया। इन सभी कारणो से ही विवाह रूपी सस्था प्रत्येक काल और प्रत्येक समाज म विद्यमान रही है, यद्यपि इसके स्वरूपो मे भिन्नता पायी जाती है।

भारत म भी विवाह के क्षेत्र मे अनेक विभिन्नताएँ पायी जाती हैं। प्राचीन काल से ही यहाँ विभिन्न धर्मो सम्प्रदायो, प्रजातियो, भाषाओ एव मतो से सम्बन्धित

यौन क्रिया और उससे सम्बन्धित सामाजिक आर्थिक सम्बन्धो मे सम्मिलित होने का अधिकार प्रदान करती है।'[1]

उपर्युक्त परिभाषाओ के आधार पर हम यह कह सकते है कि विवाह दो विषम लिंगियो को पारिवारिक जीवन मे प्रवेश करने की सामाजिक, धार्मिक अथवा कानूनी स्वीकृति है। स्त्री-पुरुषो एव बच्चो को विभिन्न सामाजिक व आर्थिक क्रियाओ मे सहगामी बनाना, सन्तानोत्पत्ति करना तथा उनका लालन पालन एव समाजीकरण करना विवाह के प्रमुख कार्य हैं। विवाह के परिणामस्वरूप माता पिता एव बच्चो के बीच कई अधिकारो एव दायित्वो का जन्म होता है।

## विवाह के उद्देश्य
### (AIMS OF MARRIAGE)

जब हम विवाह के उद्देश्य पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि विवाह दो विषम लिंगियो को यौन सम्बन्ध स्थापित करने की सामाजिक या कानूनी स्वीकृति प्रदान करता है। विवाह ही परिवार की आधारशिला है और परिवार मे ही बच्चो का समाजीकरण एव पालन-पोषण होता है। समाज की निरन्तरता विवाह एव परिवार से ही सम्भव है। यह नातेदारी का भी आधार है। विवाह के कारण कई नातेदारी सम्बन्ध पनपते है। विवाह आर्थिक हितो की रक्षा एव भरण-पोषण के लिए भी आवश्यक है। विवाह सदस्य व्यक्ति को शारीरिक, सामाजिक एव मानसिक सुरक्षा प्रदान करती है। मरडाक (Murdock) ने 250 समाजो का अध्ययन करने पर सभी समाजो मे विवाह के तीन उद्देश्यो का प्रचलन पाया—(1) यौन सन्तुष्टि, (2) आर्थिक सहयोग, (3) सन्तानो का समाजीकरण एव लालन-पालन। संक्षेप मे विवाह के उद्देश्यो को हम इस प्रकार से प्रकट कर सकते हैं

(1) यौन इच्छाओ की पूर्ति एव समाज मे यौन क्रियाओ का नियमन करना।
(2) परिवार का निर्माण करना एव नातेदारी का विस्तार करना।
(3) वैध सन्तानोत्पत्ति करना व समाज की निरन्तरता को बनाये रखना।
(4) सन्तानो का लालन-पालन एव समाजीकरण करना।
(5) स्त्री पुरुषो मे आर्थिक सहयोग पैदा करना।
(6) मानसिक सन्तोष प्रदान करना।
(7) माता पिता एव बच्चो मे नवीन अधिकारो एव दायित्वो को जन्म देना।
(8) संस्कृति का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरण करना।
(9) धार्मिक, सामाजिक एव सांस्कृतिक उद्देश्यो की पूर्ति करना।
(10) सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना।

1 Marriage involves the social sanction generally in the form of the civil or/and religious ceremony authorizing two persons to opposite sexes to engage in sexual and other consequent and corelated socio economic relations with one another

—Majumdar and Madan *An Introduction to Social Anthropology* p 79

लोग रहते आय है जिनकी प्रथाओ, रीति रिवाजो, सस्कृतियो, सस्थाओ एव जीवन
दर्शन मे भिन्नता पायी जाती है। इस भिन्नता ने यहा की विवाह सस्था को भी
प्रभावित किया है। भारत मे विवाह के अनेक रूप जैसे एक विवाह, बहुपति विवाह,
द्वि विवाह एव बहुपत्नी विवाह आदि पाये जाते हैं, कुछ समाजो मे विवाह को एक
सस्कार माना गया है तो कुछ मे एक सामाजिक एव दीवानी समझौता। हम यहाँ
इसी विवाह सस्था का भारतीय सन्दर्भ मे उल्लेख करेंगे।

## विवाह क्या है ?

## (WHAT IS MARRIAGE ?)

विवाह का शाब्दिक अर्थ है, 'उद्वह' अर्थात वधू को वर के घर ले जाना।[1]
विवाह को परिभाषित करते हुए **लूसी मेयर** लिखते है, "विवाह की परिभाषा यह है
कि वह स्त्री पुरुष का ऐसा योग है, जिससे स्त्री से जन्मा बच्चा माता पिता की वैध
सन्तान माना जाय।"[2] इस परिभाषा मे विवाह को स्त्री व पुरुष के एस सम्बन्धो के
रूप मे स्वीकार किया गया है जो सन्तानो को जन्म देते है उन्हे वैध घोषित करते
हैं तथा इसके फलस्वरूप माता पिता एव बच्चो को समाज मे कुछ अधिकार एव
प्रस्थितिया प्राप्त होती है।

**डब्ल्यू० एच० आर० रिवर्स** के अनुसार, "जिन साधनों द्वारा मानव समाज
यौन सम्बन्धो का नियमन करता है, उन्हे विवाह की सज्ञा दी जा सकती है।"[3]

**वेस्टरमार्क** के अनुसार, "विवाह एक या अधिक पुरुषो का एक या अधिक
स्त्रियो के साथ होने वाला वह सम्बन्ध है, जिसे प्रथा या कानून स्वीकार करता है
और जिसमे इस सगठन मे आने वाले दोनो पक्षो एव उनसे उत्पन्न बच्चो के अधिकार
एव कर्तव्यो का समावेश होता है।"[4] वेस्टरमार्क ने विवाह बन्धन मे एक समय मे
एकाधिक स्त्री पुरुषो के सम्बन्धो को स्वीकार किया है जिन्हे प्रथा एव कानून की
मान्यता प्राप्त होनी है। स्त्री पुरुषो से उत्पन्न सन्तानें वैध होती है और वे अपने
माता पिता से कुछ अधिकारो एव दायित्वो को ग्रहण करती है।

**बोगार्डस** के अनुसार, 'विवाह स्त्री और पुरुष के पारिवारिक जीवन मे
प्रवेश करने की एक सस्था है।'[5]

**मजूमदार एव मदान** लिखते है विवाह मे कानूनी या धार्मिक आयोजन के
रूप मे उन सामाजिक स्वीकृतियो का समावेश होता है जो दो विषम लिंगियो को

---

1 उद्वाहतत्वम् भार्यात्व सम्पादक ग्रहण विवाह । मनुस्मृति 3/20।
2 लूसी मेयर, सामाजिक नृविज्ञान की भूमिका हिन्दी अनुवाद, पृ० 90।
3 डब्ल्यू० एच० आर० रिवर्स, सामाजिक सगठन, हिन्दी अनुवाद पृ० 29।
4 Marriage is a relation of one or more men to one or more women which is recognized by custom or Law and involves certain rights and duties both in the case of the parties entering the union and in the case of children born of it —Westermark *The History of Human Marriage* Vol I p 26
5 Marriage is an institution admitting men and women to Family life —E S Bogardus *Sociology* 1957 p 75

यौन क्रिया और उससे सम्बन्धित सामाजिक आर्थिक सम्बन्धो मे सम्मिलित होने का अधिकार प्रदान करती है ।"[1]

उपर्युक्त परिभाषाओ के आधार पर हम यह कह सकते है कि विवाह दो विषम लिंगियो को पारिवारिक जीवन मे प्रवेश करने की सामाजिक, धार्मिक अथवा कानूनी स्वीकृति है । स्त्री-पुरुषो एव बच्चो को विभिन्न सामाजिक व आर्थिक क्रियाओ मे सहगामी बनाना, सन्तानोत्पत्ति करना तथा उनका लालन पालन एव समाजीकरण करना विवाह के प्रमुख काय हैं । विवाह के परिणामस्वरूप माता पिता एव बच्चो के बीच कई अधिकारो एव दायित्वो का जन्म होता है ।

## विवाह के उद्देश्य
## (AIMS OF MARRIAGE)

जब हम विवाह के उद्देश्य पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि विवाह दो विषम लिंगियो को यौन सम्बन्ध स्थापित करने की सामाजिक या कानूनी स्वीकृति प्रदान करता है । विवाह ही परिवार की आधारशिला है और परिवार मे ही बच्चो का समाजीकरण एव पालन पोषण होता है । समाज की निरन्तरता विवाह एव परिवार से ही सम्भव है । यह नातेदारी का भी आधार है । विवाह के कारण कई नातेदारी सम्बन्ध पनपते हैं । विवाह आर्थिक हितो की रक्षा एव भरण पोषण के लिए भी आवश्यक है । विवाह सस्था व्यक्ति को शारीरिक, सामाजिक एव मानसिक सुरक्षा प्रदान करती है । मरडाक (Murdock) ने 250 समाजो का अध्ययन करने पर सभी समाजो मे विवाह के तीन उद्देश्यो का प्रचलन पाया—(1) यौन सन्तुष्टि (2) आर्थिक सहयोग, (3) सन्तानो का समाजीकरण एव लालन-पालन । सक्षेप मे विवाह के उद्देश्यो को हम इस प्रकार से प्रकट कर सकते है

(1) यौन इच्छाओ की पूर्ति एव समाज मे यौन क्रियाओ का नियमन करना ।
(2) परिवार का निर्माण करना एव नातेदारी का विस्तार करना ।
(3) वैध सन्तानोत्पत्ति करना व समाज की निरन्तरता को बनाये रखना ।
(4) सन्तानो का लालन पालन एव समाजीकरण करना ।
(5) स्त्री पुरुषो मे आर्थिक सहयोग पैदा करना ।
(6) मानसिक सन्तोष प्रदान करना ।
(7) माता पिता एव बच्चो मे नवीन अधिकारो एव दायित्वो को जन्म देना ।
(8) सस्कृति का एक पीढी से दूसरी पीढी को हस्तान्तरण करना ।
(9) धार्मिक, सामाजिक एव सास्कृतिक उद्देश्यो की पूर्ति करना ।
(10) सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना ।

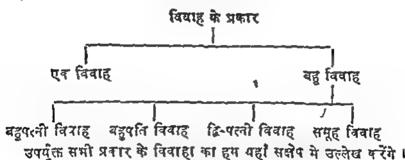
1 Marriage involves the social sanction generally in the form of the civil or/and religious ceremony authorizing two persons to opposite sexes to engage in sexual and other consequent and corelated socio-economic relations with one another

—Majumdar and Madan *An Introduction to Social Anthropology* p 79

स्पष्ट है कि विवाह केवल वैयक्तिक सन्तुष्टि का साधन मात्र ही नही है, वरन् एक सामाजिक क्रिया विधि भी है, जिससे समाज की सरचना को सुदृढता प्रदान की जाती है। मजूमदार एव मदान के शब्दो मे, "विवाह से वैयक्तिक स्तर पर शारीरिक (यौन) और मनोवैज्ञानिक (सन्तान प्राप्ति) सन्तोष प्राप्त होता है, तो व्यापक सामूहिक स्तर पर इससे और सस्कृति के अस्तित्व निर्वाह मे योग मिलता है।"[1]

## भारत मे विवाह के प्रकार
## (TYPES OF MARRIAGE IN INDIA)

मानव समाज के विकास के साथ साथ विवाह के भी विभिन्न प्रकार अस्तित्व मे आये हैं। मार्गन (Morgan) एव अन्य उद्विकासवादियो की मान्यता है कि सभ्यता के अति प्राचीन काल मे विवाह जैसी कोई सस्था नही थी, उस समय समाज मे कामाचार (Sex Promiscuity) का प्रचलन था। धीरे धीरे समूह विवाह प्रारम्भ हुए और विभिन्न स्तरो से गुजरने के बाद एक विवाह सस्था अस्तित्व मे आयी। भारत एक ऐसा देश है, जिसमे विभिन्न प्रकार की सस्कृतियाँ एव विकास के विभिन्न स्तरो वाले समाज पाये जाते हैं। पति पत्नी की सख्या के आधार पर भारत मे पाये जाने वाले विवाहो के प्रमुख प्रकारो को हम निम्नांकित प्रकार से रखांकित कर सकते है




उपर्युक्त सभी प्रकार के विवाहो का हम यहाँ सक्षेप मे उल्लेख करेंगे।

### (1) एक विवाह
### (MONOGAMY)

श्री वुकेनोविक (Vukcnovic) के अनुसार उस विवाह को एक विवाह कहना चाहिए जिसमे न केवल एक पुरुष की एक पत्नी या एक स्त्री का एक ही पति हो बल्कि दोनो मे से किसी की मृत्यु हो जाने पर भी दूसरा पक्ष अन्य विवाह न करे। एक विवाह मे एक समय मे एक पुरुष एक ही स्त्री से विवाह करता है। इसके भी कई रूप पाये जाते हैं। एक रूप वह जिसमे एक पुरुष का एक स्त्री से विवाह होता है और किसी एक पक्ष की मृत्यु हो जाने पर भी दूसरा पक्ष विवाह नही करता। दूसरा

1 Marriage ensures a biological satisfaction (that of sex) and a psychological satisfaction (that of having children) on the individual plane on the wider collective plane it ensures a twofold survival of that of the group and its culture —*Ibid* p 79

रूप वह जिसमे एक पुरुष एक स्त्री से विवाह करता है किन्तु रखैल के रूप म कई स्त्रियाँ रख सकता है। तीसरा रूप वह है जिसम तलाक या मृत्यु हो जान पर दूसरा विवाह कर लिया जाता है। एक विवाह और बहु विवाह का सम्बन्ध व्यक्ति से न होकर समाज से है अर्थात् कोई व्यक्ति नही वरन् समाज ही एक विवाही या बहु विवाही होता है। इस सन्दर्भ मे लूसी मेयर लिखते हैं, "एक विवाही और बहु विवाही शब्द विवाह या समाज के लिए प्रयुक्त होते हैं, व्यक्तियो के लिए नही। निष्ठाहीन पति या कामाचारी व्यक्ति को बहु विवाही कहना भाषा के साथ खिलवाड करना है, यद्यपि कुछ लोग ऐसा करते हैं।"[1]

हिन्दू समाज म एक विवाह को आदर्श माना गया है। कई वैदिक देवता भी एक विवाही थे। दम्पत्ति शब्द का प्रयोग भी घर के दो सयुक्त स्वामी पति पत्नी के लिए ही हुआ है। भारतीय धर्मशास्त्रो मे भी पति से पत्नीव्रत धर्म एव पत्नी से पतिव्रत धर्म के पालन की अपेक्षा की गयी है। हिन्दू विवाह का एक उद्देश्य धार्मिक कार्यों की पूर्ति करना भी है जिसे पति व पत्नी को साथ निभाना चाहिए। पुत्र प्राप्ति भी धार्मिक कार्यों के निर्वाह के लिए आवश्यक मानी गयी है। धर्मशास्त्रो जैसे मनुस्मृति एव बोधायन सूत्र मे प्रथम स्त्री से पुत्र उत्पन्न न होने पर पुरुष को दूसरा विवाह करने की ओर पुरुष के नपुसक होने पर स्त्री को 'नियोग' द्वारा सन्तान प्राप्त करने की स्वीकृति दी गयी है। पति की मृत्यु हो जाने पर सतानहीन विधवा द्वारा तथा नपुसक एव रोगी पति की स्त्री द्वारा देवर या किसी सगोत्री, सपिडी या उत्तम वर्ण के व्यक्ति से यौन सम्बन्ध स्थापित कर पुत्र प्राप्त करने की प्रथा को 'नियोग' कहा गया है।

वर्तमान मे एक विवाह को विवाह का सर्वश्रेष्ठ रूप समझा जाता है। वेस्टरमार्क ने एक-विवाह को ही विवाह का आदि स्वरूप माना है। मैलिनोवस्की की भी मान्यता है कि "एक विवाह ही विवाह का सच्चा स्वरूप है रहा था और रहेगा।"[2] वर्तमान म हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के द्वारा एक-विवाह को आवश्यक कर दिया गया है। शिक्षा एव सभ्यता के विकास के साथ-साथ एक विवाह का प्रचलन बढता ही जा रहा है।

एक विवाह के कारण (Causes of Monogamy)

विश्व मे एक विवाह प्रथा के प्रचलन के कई कारण है उनमे से प्रमुख कारण इस प्रकार है

1 लूसी मेयर, पूर्व उद्धृत, पृ० 86।

2 Monogamy is has been and will remain the only true type of marriage" —Malinowski B *Marriage in Encyclopaedia Britannica* Vol XIX 14th ed 1938 pp 940 950

(1) विश्व मे स्त्री व पुरुष का अनुपात लगभग बराबर है। यदि एक विवाह के स्थान पर बहुपति अथवा बहुपत्नी विवाह का पालन किया जाता है तो इसका अर्थ होगा कुछ लोगो को विवाह से वचित करना।[1]

(2) एकाधिक पति अथवा पत्नी होने पर परिवार मे अनुकूलन की समस्या पैदा होती है तथा मानसिक तनावो मे वृद्धि होती है। सामाजिक सगठन की स्थिरता के लिए पारिवारिक सघर्षों एव तनावो का दूर होना आवश्यक है।

(3) कई समाजो मे कन्या मूल्य की प्रथा है। एकाधिक विवाह करने पर कन्या मूल्य जुटाना बहुत कठिन होता है। अत एक विवाह प्रथा का ही पालन किया जाता है।

(4) पारिवारिक सुख शान्ति को बनाये रखने के लिए तथा बहुपत्नी विवाह के कारण उत्पन्न होने वाली समस्याओं से मुक्ति पाने के लिए एक विवाह ही सर्वोत्तम विवाह माना जाता है।

उन समाजो म भी जहाँ बहुपति अथवा बहुपत्नी विवाह प्रचलित हैं, सामान्यत तो एक विवाह ही अधिक पाया जाता है क्योंकि एकाधिक जीवन साथी का खर्च उठाना कठिन होता है। एक-विवाह के लाभ एव दोष निम्नांकित है

एक विवाह के लाभ (Merits of Monogamy)

(1) एक विवाह से निर्मित परिवार अपेक्षतया अधिक स्थायी होते हैं। (2) ऐसे विवाहो से निर्मित परिवारो मे स्त्री की प्रतिष्ठा ऊँची होती है। (3) एक विवाही परिवारो मे बच्चो का लालन पालन, समाजीकरण एव शिक्षा का काय उचित रूप से सम्पन्न होता है। (4) एक विवाही परिवारो म सघर्षों के अभाव मे मानसिक तनाव भी कम पाया जाता है। (5) एक-विवाही परिवार का जीवन-स्तर ऊँचा होता है। (6) एक विवाही परिवार मे सन्तानों की सख्या कम होती है, अत परिवार छोटा एव सुखी होता है।

एक विवाह के दोष (Demerits of Monogamy)

(1) एक-विवाह के कारण यौन अनैतिकता मे वृद्धि होती है और भ्रष्टाचार बढ़ता है। इसस स्त्री पुरुष के विवाह के अतिरिक्त यौन सम्बन्ध (Extra marital sex relations) स्थापित करने के अवसर बढ जाते हैं। (2) यौन सम्बन्धी छूट के अभाव म यौन अपराधो मे वृद्धि होती है। (3) इस विवाह से उत्पन्न परिवार म एकाधिपत्य की प्रवृत्ति पायी जाती है और स्त्रियो का शोषण होता है।

एक विवाह की इन कमियों की तुलना मे इससे होने वाले लाभ अधिक हैं। इसलिए ही वतमान में विश्व के सभी देशो म एक विवाह प्रथा पर ही अधिक जोर दिया जाने लगा है।

---

1 Beals and Hoijer *An Introduction to Anthropology* (1957) p 4?8

## (2) बहु विवाह
## (POLYGAMY)

जब एकाधिक पुरुष अथवा स्त्रियाँ विवाह बन्धन मे बँधते हैं तो ऐसे विवाह को बहु-विवाह कहते है। बहु विवाह के प्रमुख चार रूप पाये जाते हैं—बहुपति विवाह, बहुपत्नी विवाह, द्वि पत्नी विवाह एव समूह विवाह। हम यहा इनका सक्षेप म उल्लेख करेंगे

### (अ) बहुपति विवाह (Polyandry)

बहुपति विवाह को परिभाषित करते हुए **डा० रिवस** लिखत हैं, "एक स्त्री का कई पतियो के साथ विवाह सम्बन्ध बहुपति विवाह कहलाता है।"[1]

**मिचेल (Mitchell)** लिखते हैं, "एक स्त्री द्वारा एक पति के जीवित होते हुए अन्य पुरुषो से भी विवाह करना या एक समय पर ही दो या दो से अधिक पुरुषो से विवाह करना बहुपति विवाह है।"[2]

**डा० कापडिया** के अनुसार, "बहुपति विवाह एक प्रकार का सम्बन्ध है जिसमे एक स्त्री के एक समय मे एक से अधिक पति होते है या जिसमे सब भाई एक पत्नी या पत्नियो का सम्मिलित रूप से उपभोग करते हैं।"[3]

स्पष्ट है कि बहुपति विवाह मे एक स्त्री का एकाधिक पुरुषो से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित होता है।

अति प्राचीन काल से ही भारत मे बहुपति प्रथा का प्रचलन रहा है यद्यपि यह प्रचलन सीमित मात्रा मे ही रहा है। वैदिक साहित्य मे बहुपति प्रथा की सख्त मनाही थी किन्तु महाभारत काल मे ऐसे विवाहो के कुछ उदाहरण पाये जाते हैं। द्रौपदी का विवाह पाच पाण्डव भाइयो से हुआ था। किन्तु इसे नियम न मानकर एक असाधारण घटना ही माना जाता है। द्रविड सस्कृति के मालावाही लोगो मे बहुपति विवाह का प्रचलन रहा है। डॉ० सक्सेना का मत है कि दक्षिण मे कुछ प्राग-द्रविड सास्कृतिक समूहो मे भी बहुपतित्व की प्रथा रही है। यह प्रथा देहरादून के जौनसार बावर परगना, टिहरी, गढवाल तथा शिमला की पहाडियो मे रहने वाले खस राजपूतो, नीलगिरि की पहाडिया म रहने वाले टोडा एव कोटा लोगो लद्दाखी बोटा, मद्रास के तियान एव इरावा, मालाबार के नायर, हरावान तथा कम्पाला, कम्बल, कुग वासियो एव कुछ समय पूव तक छोटा नागपुर की सथाल, एव मध्य भारत की उराव जनजाति म प्रचलित रही है। किन्तु वनमान मे धीरे-धीरे इस प्रकार के विवाह का प्रचलन समाप्त होता जा रहा है।

---

1 डब्ल्यू० एच० आर० रिवस, पूर्व उद्धत, पृ० 34।

2 G D Mitchell *Dictionary of Sociology* p 134

3 Polyandry is a form of union in which a woman has more than one husband at a time or in which brothers share a wife or wives in common
—K M Kapadia *Marriage and Family in India* p 52

बहुपति विवाह के भी दो रूप पाये जाते हैं—(i) भ्रातृक बहुपति विवाह, एव (ii) अभ्रातृक बहुपति विवाह।

(i) भ्रातृक बहुपति विवाह (Fraternal or Adelphic Polyandry)—जब दो या अधिक भाई मिलकर किसी एक ही स्त्री से विवाह करते है अथवा सबसे बडा भाई किसी एक स्त्री से विवाह करता है और अन्य भाई स्वत ही उस स्त्री के पति माने जाते हैं तो इस प्रकार के विवाह को भ्रातृक बहुपति विवाह कहते हैं। भ्रातृक बहुपति विवाह का प्रचलन खस टोडा एव कोटा लोगो तथा पजाब के पहाडी भागो, लद्दाख, कागडा जिला के स्पीती और लाहोल परगनो मे पाया जाता है। खस लोगो मे सबसे बडा भाई ही विवाह करके स्त्री लाता है और शेष भाई स्वत ही उस स्त्री के पति बन जाते हैं। नीलगिरि पर्वत के टोडा लोगो मे भी भ्रातृक बहुपति विवाह का प्रचलन है। डा० रिवर्स का कहना है कि कभी कभी सगे भाइयो के स्थान पर सगोत्री भाई मिलकर भी एक स्त्री से विवाह कर लेते है। इन लोगो मे सन्तान निर्धारण का एक सास्कृतिक तरीका प्रचलित है। जब स्त्री गर्भवती होती है तो भाइयो मे से कोई भी भाई गर्भकाल के पाँचवें महीने मे स्त्री को एक तीर व धनुष भेंट करता है यह प्रथा 'पुरसुतमिपी' के नाम से जानी जाती है। यही भाई होने वाली सन्तान का सामाजिक रूप से पिता माना जाता है, चाहे प्राणीशास्त्रीय रूप से उसका पिता कोई अन्य भाई ही क्यो न हो। अधिकाशत सामाजिक पितृत्व सबसे बडे भाई को ही प्रदान किया जाता है फिर भी सभी भाई समान रूप से पिता माने जाते है। सन्तानो को उनके पिता का नाम पूछने पर प्रभावशाली एव प्रसिद्ध भाई का ही नाम लिया जाता है।

(ii) अभ्रातृक बहुपति विवाह (Non Fraternal Adelphic Polyandry) इस प्रकार के विवाह मे पति परस्पर भाई नही होते है। स्त्री बारी बारी से समान अवधि के लिए प्रत्येक पति के पास रहती है। यह प्रथा टोडा तथा नायरो मे पायी जाती है।

बहुपति विवाह को हम मातृ पक्ष एव पितृ पक्ष दोनो से जोड सकते है। टोडा, खस एव कोटा आदि मे पितृपक्षीय बहुपति प्रथा का प्रचलन है जिसमे स्त्री विवाह के बाद या तो पतियो के सामूहिक निवास पर जाकर रहती है या बारी-बारी से सभी पतियो के पास कुछ समय के लिए रहती है। मातृपक्षीय बहुपति विवाही परिवार मे स्त्री अपनी माँ के परिवार मे या मूल निवास स्थान पर ही रहती है और पति ही बारी बारी से वहाँ निवास के लिए आते रहते है। यह प्रथा मातृवशीय नायर लोगो मे पायी जाती है।

**बहुपति विवाह के कारण (Causes of Polyandry)**—वेस्टरमार्क का मत है कि बहुपति विवाह का मुख्य कारण लिंग अनुपात का असन्तुलित होना है। जिन समाजो मे स्त्रियो की तुलना मे पुरुष अधिक होते हैं वहाँ बहुपति प्रथा पायी जाती है। इस असन्तुलन का एक कारण यह है कि कई समाजों मे कन्यावध (Female

infanticide) की प्रथा पायी जाती रही है। जिन समाजों का जीवन संघर्षमय होता है, वहाँ स्त्रियो का भार समझा जाता है। अत उन्हे पैदा होते ही मार दिया जाता है। रायट ब्रिफाल्ट का मत है कि यह बात सदा ही सही नही है क्योकि लद्दाख, तिब्बत एव सिक्किम मे स्त्री पुरुषो के अनुपात मे कोई विशेष अन्तर नही है। लद्दाख मे तो स्त्रियो की सख्या पुरुषो से अधिक है, फिर भी वहाँ बहुपतित्व पाया जाता है।

(2) सपनर, कनिघम एव डॉ० सक्सेना ने गरीबी को ही इस प्रकार के विवाहो के लिए उत्तरदायी माना है। पैदावार कम होने, कृषि योग्य भूमि का अभाव होने, सुगमतापूर्वक धन न कमा सकने आदि के कारण परिवार का भरण-पोषण कठिन होता है। इसलिए कई पुरुष मिलकर एक स्त्री से विवाह करते हैं।

(3) जनसख्या को मर्यादित रखने की इच्छा के कारण भी बहुपति विवाह का पालन किया जाता है क्योकि इस विवाह मे सन्तानें कम होती हैं।

(4) वधू मूल्य—कई समाजो म बहुपति विवाह का कारण वधू मूल्य की अधिकता है। वधू मूल्य को जुटाने के लिए सभी भाई सामूहिक प्रयास करते हैं और ऐसी दशा मे विवाह करके लायी गयी स्त्री पर भी सभी का सामूहिक अधिकार होता है।

(5) सम्पत्ति के विभाजन को रोकने के लिए भी बहुपति विवाह का प्रचलन पाया जाता है। यदि सभी भाई अलग अलग विवाह करते हैं तो उनमे तथा उनकी सतानो मे सम्पत्ति बाँटनी होगी। इसके विपरीत यदि सभी भाई एक स्त्री के साथ एक ही परिवार मे रहते हैं, तो सम्पत्ति भी सामूहिक बनी रहती है।

(6) भौगोलिक परिस्थितियाँ—टोडा एव खस लोग जिन स्थानो पर रहते है, वहाँ कृषि योग्य भूमि का अभाव है और सम्पूर्ण प्रदेश पथरीला एव पहाडी है। अत इन्हें प्रकृति से कठोर सघर्ष करना होता है जिसमे अकेला व्यक्ति अक्षम होता है। अत सभी भाई मिलकर ही परिवार की स्त्री एव बच्चो का भरण पोषण करते है।

(7) धार्मिक कारण—खस लोग अपने आपको पाण्डवो के वशज मानते हैं। अत ये भी 'द्रौपदी विवाह' प्रथा का पालन करते हैं। इस प्रकार बहुपति विवाह विभिन्न भौगोलिक, धार्मिक, जनांकिकी एव आर्थिक कारणो का परिणाम है।

बहुपति विवाह के परिणाम (Consequences of Polyandry)—बहुपति विवाह के विभिन्न परिणाम सामने आये हैं। इससे उत्पन्न प्रमुख गुण व दोष इस प्रकार हैं

गुण (Merits)—(1) बहुपति विवाह के कारण कम सन्तानें पैदा होती हैं। अत यह प्रथा आदर्श परिवार के निर्माण एव जनसख्या वृद्धि को रोकने मे सहायक है। (2) इस प्रकार के विवाह के कारण सम्पत्ति की सयुक्तता बनी रहती है। कृषि योग्य भूमि का बँटवारा न होने से वह टुकडे-टुकडे होने से बच जाती है। (3) बहुपति विवाह के कारण परिवार का विभाजन एव विघटन नहीं होने पाता, इस कारण से परिवार की सामूहिकता एव एकता बनी रहती है। (4) ऐसे विवाह के कारण

परिवार को अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति करने एव आर्थिक क्रियाओं के सम्पादन म सभी का सहयोग प्राप्त होता है। साथ ही प्रकृति से सघर्ष भी सामूहिक रूप से किया जाता है।

दोष (Demerits)—(1) इस प्रकार के विवाह के कारण स्त्रियों में बांझपन आ जाता है। ऐसा कौनसे जविकीय कारणो से होता है, यह अभी स्पष्ट नहीं है। पर यह वास्तविकता है कि बहुपति विवाही समाजो की जनसंख्या दिनोदिन घट रही है और एक समय एसा भी आ सकता है जब व बिल्कुल समाप्त हो जायें। (2) बहुपति विवाह म लडकियो की तुलना म लडके अधिक पैदा होते हैं। अत स्वत ही यौन असन्तुलन उत्पन्न हो जाता है, फलस्वरूप बहुपति प्रथा स्वत चलती रहती है। (3) बहुपति विवाह मे एक स्त्री का कई पुरुषो स यौन सम्बन्ध रखने होते हैं। इस कारण से यौन रोग पनपते हैं एव स्त्री का स्वास्थ्य क्षीण हो जाता है। (4) इस प्रकार की विवाह प्रथा वाले समाजो मे स्त्रियो को कुछ अधिक यौन स्वतन्त्रता प्राप्त होने स वहाँ यौन अनैतिकता बढ़ जाती है।

(ब) बहुपत्नी विवाह (Polygyny)

बहुविवाह का एक रूप बहुपत्नी विवाह भी है जिसम एक पुरुष एकाधिक स्त्रियो से विवाह करता है। कापडिया का मत है कि भारतवष मे बहुपत्नी विवाह का प्रचलन वैदिक युग से वतमान समय तक प्रचलित रहा है।[1] भारत मे प्राचीन समय मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र इन चार वर्णों मे पाये जाते थे। शूद्रो को छोडकर शेष तीन वर्णो का अपने वण के अतिरिक्त अपने से निम्न वण की लडकियो से विवाह करने की भी स्वीकृति प्राप्त थी। इस प्रकार ब्राह्मण चार क्षत्रिय तीन एव वैश्य दो वण की स्त्रियो से विवाह कर सकत थे। ऐसा कहा जाता है कि स्मृतिकार मनु के दस एव याज्ञवल्क्य के दो पत्नियां थी। अल्टेकर का मत है कि बहुपत्नी प्रथा धनी, शासक एव अभिजात वग क लोगो म सामान्य थी।[2] बहुपत्नी विवाह के भी दो रूप पाये जात है—सीमित एव असीमित। सीमित बहुपत्नीत्व (Restricted Polygyny) मे एक स्त्री के मरने पर ही दूसरी स्त्री से विवाह किया जाता है। असीमित बहुपत्नीत्व (Unrestricted Polygyny) मे स्त्री के बाझ होने की स्थिति मे अपनी प्रतिष्ठा बढाने के लिए पुरुष एकाधिक स्त्रियो से विवाह करता है।

भारतीय धम ग्रन्थो मे सन्तान न होने पर दूसरा विवाह करने की स्वीकृति दी गयी है किन्तु सामान्य स्थिति मे एकाधिक पत्नियां रखना उचित नही माना गया है। महाभारत मे कहा गया है कि जो व्यक्ति अपनी पुत्र सम्पन्न एव धमपरायण स्त्री के होते हुए दूसरा विवाह करता है, उसका पाप कभी भी नही धुल सकता है।[3] मनु

1 K M Kapadia *Marriage and Family in India* p 97
2 A S Altekar *The Position of Women in Hindu Civilisation* p 104
3 महाभारत, XII, 5-13

कौटिल्य और आपस्तम्ब आदि ने सैद्धान्तिक दृष्टि से बहुपत्नीत्व को स्वीकार किया है किन्तु एक पत्नीत्व के आदर्श का सर्वोपरि रखा है। हिन्दुओं एव मुसलमानो के अतिरिक्त बहुपत्नीत्व प्रथा भारत की नागा, गोड, बैगा, भील, टोडा, लुशाई आदि जनजातियो म भी पायी जाती है। मध्य भारत की अधिकाश प्रोटो आस्ट्रोलायड जनजातियों मे यह प्रचलित रही है। बगाल मे अनुलोम एव कुलीन विवाह प्रथा के कारण बहुपत्नीत्व का प्रचलन रहा है। दक्षिण मे नम्बूद्री ब्राह्मणो मे भी यह प्रथा पायी जाती है। वतमान म बहुपत्नीत्व पर कानूनी रोक लगा दी गयी है।

बहुपत्नी विवाह के कारण (Causes of Polygyny)—(1) पुत्र प्राप्ति के लिए—हिन्दुओ मे पुत्र का धार्मिक महत्व है। वही मृत माता पिता के लिए पिंडदान एव तपण करता है। अत एक स्त्री के कोई सतान अथवा पुत्र न होने पर दूसरी स्त्री से विवाह किया जाता है। स्मृतिकारो ने प्रथम स्त्री के पुत्र न होने पर दूसरा विवाह करने की छूट दी है।

(2) आर्थिक कारण—भारत मे उन जनजातियो को जो पहाडी भागो मे रहती है, जीवनयापन के लिए प्रकृति से कठोर सघर्ष करना पडता है। विषम भौगोलिक परिस्थितियाँ होने पर आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति परिवार के कई सदस्यो के सहयोग से ही सम्भव हो पाती है। परिवार म अधिक स्त्रियाँ होने पर उन्हें खेतो म काम पर एव गृह उद्योगो मे लगा कर उनका आर्थिक सहयोग प्राप्त किया जाता है।

(3) सामाजिक प्रतिष्ठा—धनवान, जमींदार एव ऐश्वयशाली व्यक्ति अधिक पत्नियाँ इसलिए रखत हैं कि इससे उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा बढती है। मुसलमान शासक हरम और क्षत्रिय राजा कई रानियाँ एव बाँदियाँ रखते थे।

(4) लिंग असमानता—बहुपत्नीत्व का एक कारण समाज म पुरुषो की तुलना मे स्त्रियो का अधिक होना है। शिकार, युद्ध एव आर्थिक साहसिक कार्यों मे स्त्रियो की तुलना म पुरुषो के मरने के अवसर होते हैं, इससे पुरुषो की सख्या घट जाती है और बहुपत्नीत्व पनपता है।

(5) कामवासना एव यौन अनुभव—पुरुषो मे कामवासना की अधिकता एव नवीन यौन अनुभव की इच्छा ने भी बहुपत्नीत्व को जन्म दिया।

(6) साली विवाह—जिन समाजो मे साली विवाह की प्रथा प्रचलित है वहाँ प्रथा के रूप मे एक व्यक्ति को अपनी पत्नी की सभी बहिनो से विवाह करना पडता है।

(7) देवर विवाह—कुछ समाजो मे देवर विवाह का भी प्रचलन है। अत जब एक भाई की मृत्यु हो जाती है तो उसकी विधवा स्त्री से दूसरा भाई विवाह कर लेता है। इससे जीवित भाई की पत्नियो की सख्या बढ जाती है।

(8) युद्ध एव आक्रमण—युद्ध एव आक्रमण के समय भी स्त्रियो का अपहरण करके लाना और उनसे विवाह कर लिया जाता है।

(9) कई जनजातियो मे घर की उचित देख-रेख एव बच्चो के समुचित पालन पोषण के लिए एकाधिक पत्नियाँ रखना अच्छा माना जाता है। अफ्रीका की जनजातियो मे स्त्री अक्सर अपने पिता के घर आती जाती रहती है। अत बच्चो एव घर की देख रेख के लिए एकाधिक पत्नियाँ रखी जाती है। सरेरे (Serere) लोगो मे कहावत है—"एक पत्नी का अर्थ है कोई पत्नी नही होना या एक आँख होना।"

वेस्टरमार्क ने बहुपत्नीत्व के निम्नांकित कारण बताये है (1) जगली जन जातियो मे गर्भवती एव दुग्धपान कराने वाली स्त्री के साथ सहवास नही किया जाता। इस बाधित ब्रह्मचर्य के कारण उनमे बहुपत्नीत्व की प्रथा चल पडी। (2) जगली जनजातियो मे पुरुषो की तुलना मे स्त्रिया जल्दी वृद्ध हो जाती हैं। अत पुरुष दूसरा विवाह कर लेता है। (3) विविधता की इच्छा के कारण भी बहुपत्नीत्व पाया जाता है। (4) जीवन यापन की कठिनाई के कारण परिवार में कई सन्तानो का होना आवश्यक रहता है जिसे कई स्त्रियो से विवाह करके ही पूरा किया जा सकता है।

**बहुपत्नी विवाह के परिणाम (Consequences of Polygyny)**—बहुपत्नी विवाह के परिणामस्वरूप समाज को कुछ लाभ एव हानियाँ दोनो ही होती हैं उनका हम यहाँ उल्लेख करेंगे।

**लाभ (Merits)**—(1) बहुपत्नीत्व के कारण कामी पुरुषो की यौन इच्छाए परिवार मे पूरी हो जाती है। अत समाज मे भ्रष्टाचार एव अनैतिकता मे वृद्धि नही हो पाती है। (2) परिवार मे अनेक स्त्रियाँ होने पर बच्चो का लालन पालन एव घर की देख रेख सरलता से हो जाती है। (3) इससे परिवार की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति सुगमता से हो जाती है। (4) किसी समाज मे पुरुषो की तुलना म स्त्रियो की अधिकता हो और एक विवाह प्रथा का पालन किया जाता है तो ऐसी दशा मे कई स्त्रियो को विवाह से वचित रहना पडेगा। विवाह के अभाव मे उनमे कई विकार पैदा हो सकते हैं। बहुपत्नी विवाह के कारण ऐसे समाजो मे स्त्रियो को विवाह से वचित नही रहना पडता। (5) बहुपत्नी विवाह समाज के अधिकाशत धनी एव समृद्ध लोगो मे पाये जाते हैं। अत ऐसे विवाह से उत्पन्न सन्तानें शारीरिक एव मानसिक दृष्टि से उत्तम होती हैं।

**हानियाँ (Demerits)**—(1) बहुपत्नी विवाह के कारण परिवार मे सघर्ष, ईर्ष्या एव वमनस्य का वातावरण उत्पन्न होता है। स्त्रियाँ परस्पर छोटी छोटी बातो को लेकर झगडती रहती हैं। इससे परिवार की सुख शान्ति समाप्त हो जाती है। (2) कई पत्नियाँ होने पर परिवार म सन्तानों की सख्या बढ़ जाती है। अधिक सन्तानो की शिक्षा दीक्षा एव देखभाल करना प्राय कठिन होता है। (3) ऐसे विवाहो के कारण स्त्रियो की सामाजिक प्रतिष्ठा गिर जाती है और उनका शोषण होता है। (4) एकाधिक पत्नियाँ होने पर एक पुरुष उन सभी की यौन इच्छाओ को सन्तुष्ट नही कर सकता। ऐसी स्थिति म समाज म यौन अनाचार पनपता है। (5)

एकाधिक पत्नियाँ रखने वाले व्यक्ति की मृत्यु होने पर समाज म विधवाओं की सख्या मे वृद्धि हो जाती है।

इन हानियो का देखते हुए ही वतमान म बहुपत्नीत्व के स्थान पर एक विवाह के नियम को स्वीकार किया गया है।

(स) द्वि-पत्नी विवाह (Biogamy)

बहुविवाह का एक रूप द्वि पत्नी विवाह भी है। इस प्रकार के विवाह मे एक पुरुष एक साथ दो स्त्रियों से विवाह करता है। कई बार पहली स्त्री के सन्तान न होने पर दूसरा विवाह कर लिया जाता है। आरेगन तथा एस्कीमो जनजातियो म यह प्रथा प्रचलित है। भारत मे दक्षिण की कुछ जनजातियो म यह प्रथा पायी जाती है। किन्तु वर्तमान मे ऐसे विवाहो पर कानूनी रोक लगा दी गयी है।

(द) समूह विवाह (Group Marriage)

समूह विवाह म पुरुषो का एक समूह स्त्रियो के एक समूह से विवाह करता है और समूह का प्रत्यक पुरुष समूह की प्रत्यक स्त्री का पति होता है। परिवार और विवाह की प्रारम्भिक अवस्था मे यह स्थिति रही होगी एसी उद्‌विकासवादियो की धारणा है। यह प्रथा आस्ट्रेलिया की जनजातियो मे पायी जाती है जहाँ एक कुल की सभी लडकियाँ दूसरे कुल की भावी पत्नियाँ समझी जाती हैं। वेस्टरमाक का मत है कि ऐसे विवाह तिब्बत, भारत एव लका के बहुपतित्व वाले समाजो मे पाये जाते हैं। डा० सक्सना का मत है कि बहुपति विवाही समाजो मे आर्थिक स्थिति म सुधार होने पर पुरुष एकाधिक स्त्रियाँ रखते हैं, तब बहुपति विवाह समूह विवाह का रूप ले लेता है।[1] टोडा लोगो मे बहुपतित्व एव बहुपत्नीत्व का सम्मिश्रण हो रहा है क्योकि उन्होने बालिका-वध की प्रथा त्याग दी है। अत उनम स्त्रियो की सख्या बढ रही है। यदि हम समूह विवाह का प्रयोग इस अर्थ मे करते हैं जो यह सूचित करता हो कि समूह का प्रत्येक पुरुष दूसरे समूह की प्रत्येक स्त्री का पति हो तथा उत्पन्न सन्ताना को भी सम्पूर्ण समूह की सन्तान समझा जाता हो, तो इस प्रकार के विवाह के उदाहरण विश्व म कही नही है।

इस प्रकार हम देखते है कि भारत मे विभिन्न प्रकार के विवाह पाये जाते हैं। विभिन्न समाजो म विवाह की भिन्नता का कारण उनकी सामाजिक आर्थिक एव जनांकिकी परिस्थितियो की भिन्नता है। हिन्दुओ मे विवाह धार्मिक संस्कार माना जाता है तो जनजातियो एव अन्य लोगो मे सामाजिक समझौता।

1 डा० आर० एन० सक्सेना, भारतीय समाज तथा सामाजिक सस्थाए, पृ० 35।
2 For details see *Social Anthropology* (Hindi) by M L Gupta and D D Sharma pp 213 236

## प्रश्न
### (उत्तर-सकेत सहित)

1 विवाह का सामाजिक महत्व क्या है ? इसके विभिन्न प्रकारो का वर्णन कीजिए।
[सकेत—इसमे विवाह की परिभाषा उद्देश्य एव भारत मे विवाह के प्रकार शीर्षको मे दिये गये विवरण को सक्षेप मे प्रस्तुत करना है।]

2 विवाह की परिभाषा देते हुए उसके उद्देश्यो की विवेचना कीजिए।
[सकेत—इसमे विवाह की परिभाषा एव उद्देश्य का उल्लेख किया जायेगा।]

3 भारत मे बहु पति विवाह का उल्लेख करते हुए इसके कारणो एव परिणामो की व्याख्या कीजिए।
[सकेत—इसमे 'बहु पति विवाह' शीर्षक के अन्तगत दिया गया सम्पूर्ण विवरण लिखना है।]

4 भारत म 'बहुपत्नि विवाह' के कारणो एव परिणामो का उल्लेख कीजिए।
[सकेत—इसमे 'बहुपत्नि विवाह' शीर्षक के अन्तगत दिये गये सम्पूर्ण विवरण को लिखना है।]

11627
21/9/2021

# 12

# हिन्दू विवाह • प्रकृति, स्वरूप तथा आधुनिक परिवर्तन
## (HINDU MARRIAGE NATURE FORMS AND RECENT CHANGES)

विवाह रूपी सस्था किसी न किसी रूप म विश्व के सभी समाजो मे पायी जाती है। विवाह ही परिवार एव नातदारी का आधार है। हिन्दुओ मे विवाह सस्था का सामाजिक सरचना म एक विशिष्ट स्थान है तथा यह विश्व के अन्य समाजो मे पाये जाने वाले विवाहो मे भिन्नता लिये हुए है। हिन्दुओ म विवाह का एक धार्मिक सस्कार के रूप मे स्वीकार किया गया है। विवाह के द्वारा एक व्यक्ति गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करता है जो अन्य सभी आश्रमो का मूल है। प्रत्येक हिन्दू के लिए विवाह एक अनिवार्य कर्तव्य माना गया है। हिन्दुओ म चार पुरुषार्थो—धम, अर्थ, काम और मोक्ष की व्यवस्था की गयी है जिनकी पूर्ति गृहस्थाश्रम मे ही सम्भव है। इसी प्रकार स हिन्दुओ म प्रत्येक व्यक्ति पर तीन ऋण—पितृ ऋण, देव ऋण एव ऋषि ऋण चुकाने का भार माना गया है। पितृ ऋण स मुक्ति पाने के लिए विवाह करके सन्तानोत्पत्ति करना आवश्यक माना गया हो। मनु विवाह का यौन सम्बन्धो के उचित नियन्त्रण एव इस लोक व परलोक के सुख के लिए आवश्यक मानते है।[1] शास्त्रो मे लिखा है कि पति-पत्नी एव बच्चो से युक्त मानव ही पूर्ण मानव है।[2] वेदो मे अविवाहित व्यक्ति को अपवित्र माना गया है। धार्मिक दृष्टि स वह अपूर्ण है और वह सस्कारो मे भाग लेने योग्य नही है।[3] शतपथ ब्राह्मण मे कहा गया है कि पत्नी निश्चित रूप के पति का अर्द्धांश है, अत जब तक पुरुष पत्नी प्राप्त नही करता एव सन्तान उत्पन्न नही करता तब तक वह पूर्ण नही होता। विवाह करके सन्तान के माध्यम से ही व्यक्ति अपने को अमर बनाता है।

हिन्दू शास्त्रकारो न स्त्रियो के लिए विवाह की अनिवार्यता पर विशेष जोर दिया है। उनके लिए विवाह उपनयन सस्कार (जनेऊ सस्कार) की भाँति है। बिना विवाह के स्त्रिया को स्वर्ग नही मिल सकता। महाभारत मे एक उल्लेख है कि कुणी ऋषी की पुत्री सुभ्रू (Subhru) तपस्या के बल पर स्वग जाना चाहती थी। परन्तु

1 *Manu* 4 96

2 He only is perfact man whe consists of his wife himself and his offspring

3 A person who is unmarried is unholy From the religious point of view he remains incomplete and is not fully eligible to participate in sacraments
—A S Altekar *The Position of Women in Hindu Civili-ation,* p 31

जब नारद ने उसे बताया कि विवाह के बिना ऐसा सम्भव नहीं है तो उसने अपनी तपस्या का आधा भाग शृंगवत ऋषि को देकर विवाह किया तभी वह स्वर्ग जा सकी। स्त्री के लिए विवाह की अनिवार्यता का एक कारण यह भी है कि अविवाहित पुरुष की तुलना में अविवाहित स्त्री को अधिक खतरों का सामना करना पड़ता है।

हिन्दू विवाह के बारे में कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने भ्रामक धारणाएँ व्यक्त की हैं। ब्रिफाल्ट ने अपनी पुस्तक 'सेक्स इन रिलीजन' में लिखा है कि हिन्दुओं में फसल कटने के समय मनाये जाने वाले उत्सवों के अवसर पर यौन स्वच्छन्दता पायी जाती है। इसी प्रकार से प्रो० पाओलो मैन्टेगाजा (Prof Paolo Mantegazza) कहते हैं कि भारत के कुछ भागों में साहूकार ऋण लेने वाले व्यक्ति की पत्नी का तब तक उपयोग करता है जब तक उसका ऋण नहीं लौटा दिया जाता। किन्तु इस प्रकार की धारणाएँ निराधार एवं तथ्यहीन हैं।

वास्तव में हिन्दुओं में विवाह संस्था का एक विशिष्ट स्थान है जो मानसिक स्थिरता एवं त्यागमय जीवन को प्रेरणा देती है, व्यक्ति का समुचित समाजीकरण करती है और सामाजिक जीवन को व्यवस्थित बनाती है। सदियों से चली आ रही इस पवित्र संस्था में समय के साथ साथ अनेक परिवर्तन हुए हैं और कुछ समस्याओं ने भी जन्म लिया है। फिर भी इसका मौलिक रूप वैसा ही बना हुआ है। हम यहाँ हिन्दू विवाह के अर्थ, उद्देश्य, स्वरूप, समस्याओं एवं उसमें आने वाले परिवर्तनों आदि का उल्लेख करेंगे।

## हिन्दू विवाह का अर्थ
## (MEANING OF HINDU MARRIAGE)

पिछले अध्याय में हमने विवाह की कुछ परिभाषाओं का उल्लेख किया। ये परिभाषाएं विवाह को दो विषम लिंगियों के बीच पाये जाने वाले यौन सम्बन्धों को सामाजिक एवं वैधानिक स्वीकृति के रूप में प्रकट करती हैं। इन सम्बन्धों के परिणामस्वरूप स्त्री-पुरुषों में पारस्परिक अधिकार एवं कर्तव्यों का उदय होता है।

किन्तु हिन्दुओं में विवाह को एक संस्कार के रूप में स्वीकार किया गया है। आध्यात्मिक प्रयोजनों से ही स्त्री पुरुष परस्पर स्थायी सम्बन्धों में बँधते हैं। अन्य समाजों की भाँति हिन्दू विवाह एक सामाजिक या दीवानी समझौता नहीं है। हिन्दुओं की मान्यता है कि विवाह संस्कार के पश्चात् ही मानव में नियमों के परिपालन की भावनाएँ जाग्रत होती हैं। गृहस्थ आश्रम को स्वर्ग के समान माना गया है। हिन्दुओं में विवाह धार्मिक कर्तव्यों की पूर्ति, पुत्र-प्राप्ति, पारिवारिक सुख सामाजिक एकता, पितृ ऋण से मुक्ति, पुरुषार्थों की पूर्ति उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है।

डॉ० कापड़िया ने हिन्दू विवाह को एक संस्कार के रूप में स्वीकार किया है। वे लिखते हैं "हिन्दू विवाह एक संस्कार है।"[1] एक हिन्दू अपने जीवन में विभिन्न

---

1 Hindu Marriage is a Sacrament —K. M. Kapadia *Marriage and Family in India* 1958 p 168

संस्कारों को सम्पन्न करता हुआ ही आगे बढ़ता है और अपने व्यक्तित्व को पूर्णता प्रदान करता है। प्रत्येक हिन्दू से प्रतिदिन पंचमहायज्ञ करते रहने की अपेक्षा की गयी है और इन यज्ञों का पति-पत्नी के सहयोग से पूरा करने की बात कही गयी है। हिन्दुओं के लिए विवाह एक आवश्यक संस्कार एवं कर्तव्य माना गया है। मेधातिथि के अनुसार "विवाह कन्या को पत्नी बनाने के लिए एक निश्चित क्रम से की जाने वाली अनेक विधियों से सम्पन्न होने वाला पाणिग्रहण संस्कार है, जिसकी अन्तिम विधि सप्तर्षि-दर्शन है।"[1] हिन्दुओं में कामवासना को कभी भी विवाह में अधिक महत्व नहीं दिया गया। कापड़िया ने लिखा है, "विवाह प्राथमिक रूप से कर्तव्यों की पूर्ति के लिए होता है इसलिए विवाह का मौलिक उद्देश्य धर्म था।"[2] इस प्रकार हिन्दू विवाह में धर्म, पुत्र प्राप्ति और रति-आनन्द तीनों को सम्मिलित किया गया है। हिन्दू विवाह स्त्री पुरुष का पति पत्नी के रूप में एक अलौकिक अविच्छेद्य एवं शाश्वत मिलन है तथा इस पवित्र बंधन को तोड़ना अधार्मिक है। हिन्दुओं में एक विवाह को ही आदर्श माना गया है अन्य प्रकार के विवाहों को नहीं।

## हिन्दू विवाह के उद्देश्य एवं महत्व
## (AIMS AND IMPORTANCE OF HINDU MARRIAGE)

हिन्दुओं में विवाह धार्मिक एवं सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक आवश्यक कर्तव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में अनेक कारणों से विवाह का विशेष महत्व है जैसे—विवाह के द्वारा ही व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है, ऋणों से मुक्ति प्राप्त करता है, पुरुषार्थों का निर्वाह करता है, समाज के प्रति अपने दायित्वों को निभाता है, विभिन्न प्रकार के संस्कारों को सम्पन्न करता है, यौन सन्तुष्टि प्राप्त करता है, संतति को जन्म देता है और मोक्ष प्राप्ति के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। हिन्दू विवाह का उद्देश्य केवल कामवासना को तृप्त करना ही नहीं है। दफ्तरी ने सप्रमाण लिखा है "कामवासना की तृप्ति ही विवाह का एकमात्र उद्देश्य नहीं समझा जाता था।"[3] हिन्दू विवाह में धर्म, पुत्र-प्राप्ति एवं यौन सुख प्रमुख उद्देश्य माने गये हैं। हिन्दू विवाह के उद्देश्यों को बताते हुए डॉ० कापड़िया लिखते हैं, 'हिन्दू विवाह के उद्देश्य धर्म, प्रजा (सन्तान) तथा रति (आनन्द) बतलाये गये हैं।'[4] हम यहाँ हिन्दू विवाह के इन तीनों उद्देश्यों का उल्लेख करेंगे।

**(1) धर्म या धार्मिक कार्यों की पूर्ति** (*Dharma* or Religious Duties)—हिन्दू विवाह में धर्म एवं धार्मिक कर्तव्यों की पूर्ति को सर्वोपरि स्थान दिया गया है।

---

1 मनुस्मृति, 3/20।

2 Marriage being thus primarily for the fulfilment of duties the basic aim for marriage was Dharma —Kapadia *op cit* p 168

3 Sexual enjoyment was not regarded as the sole objective of marriage —K L Daftri *The Social Institutions in Ancient India* (1947) p 160

4 The aims of Hindu marriage are said to be Dharma Praja (Progeny) and rati —K. M Kapadia *op cit* p 167

धार्मिक कार्यों की पूर्ति के लिए पत्नी का होना अनिवार्य है अन्यथा वे अपूर्ण ही मान जायेंगे। प्रत्येक गृहस्थ से यह अपेक्षा की जाती है कि वह प्रतिदिन ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ एवं नृयज्ञ आदि पाँच महायज्ञ करे। यज्ञ में पति एवं पत्नी दोनों का होना आवश्यक है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम जब अश्वमेध यज्ञ करने लगे तो सीताजी की अनुपस्थिति के कारण यह सम्भव न हुआ, यज्ञ करने के लिए उन्हें सीताजी की सोने की प्रतिमा बनानी पड़ी थी। धर्मग्रन्थों के अनुसार एक पत्नी के मरने पर तुरन्त दूसरा विवाह करना चाहिए अन्यथा धार्मिक कार्य सम्पन्न नहीं किये जा सकते। कालिदास ने लिखा है कि कामदेव को जीतने वाले शिवजी के सम्मुख जब सप्तर्षि और अरुन्धती आये तो उनकी इच्छा अरुन्धती से विवाह करने की हुई क्योंकि धर्म सम्बन्धी क्रियाओं के सम्पादन के लिए पतिव्रता स्त्री मूल आवश्यकता है।[1] यही कारण है कि पत्नी को पुरुष की धर्म पत्नी कहा जाता है। कापड़िया ने भी लिखा है 'हिन्दू विचारकों ने धर्म को विवाह का प्रथम उद्देश्य माना। विवाह की इच्छा धार्मिक कृत्यों के द्वारा एक साथी प्राप्त करने के लिए की जाती थी। विवाह के समय यज्ञ की पवित्र अग्नि प्रज्ज्वलित की जाती और गृहस्वामी का यह कर्तव्य हो जाता कि वह पंच महायज्ञ में अपनी पत्नी के साथ नित्य आहुति प्रदान करे। इन उत्तरदायित्वों की समाप्ति गृहस्वामी की मृत्यु पर ही होती थी। पत्नी की मृत्यु हो जाने पर इनमें व्यवधान पड़ जाता था और इसीलिए गृहस्वामी के लिए तुरन्त ही दूसरी पत्नी लाने का विधान था।'[2]

(2) प्रजा अथवा पुत्र प्राप्ति (Progeny)—विवाह का दूसरा उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति माना गया है। हिन्दुओं में पुत्र का विशेष स्थान है, वही पिता के लिए तर्पण और पिण्डदान करता है, उसे मोक्ष दिलाता है। मनुसंहिता तथा महाभारत में पुत्र शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार बतायी गयी है—'पुत्र वह है जो पिता को पुत अर्थात् नरक से बचाये।' परिवार में पुत्र की स्थिति इतनी ऊँची रखी गयी कि सन्तान उत्पादन परिवार तथा समुदाय के हित में एक कर्तव्य माना गया। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर पुत्र की आकांक्षा प्रकट की गयी है। पाणिग्रहण करते समय वर वधू को कहता है—'मैं उत्तम सन्तान प्राप्त करने के लिए तेरा पाणिग्रहण करता हूँ।'[3] अग्नि से याचना करते हुए पति कहता है, "हे अग्नि मैं सन्तानों द्वारा अमृत्व का उपभोग करूँ।" विवाह के समय पुरोहित वर-वधू को आशीर्वाद देते हुए दस पुत्र उत्पन्न करने का आदेश प्रकट करता है। पितृ ऋण से मुक्ति पाने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति विवाह करके सन्तानों को जन्म दे। महाभारत में कहा गया है कि जो पुरुष सन्तान (पुत्र) को जन्म नहीं देता वह अधार्मिक होता है। सन्तान को वेद एवं सदा

---

1 कालिदास, कुमारसम्भव, 6/13।
2 K. M. Kapadia *op cit* p 167
3 ऋग्वेद 10/85/36।

बना रहने वाला देवता माना गया है। इस प्रकार हिन्दू विवाह मे यशस्वी एव दीर्घायु पुत्रो की प्राप्ति पर जोर दिया गया है क्योकि ऐसी सतान ही इस लोक और परलोक मे सुख प्रदान करने वाली होती है। सतान पैदा करने पर ही वश एव समाज की निरन्तरता बनी रहती है।

(3) रति आनन्द (Sexual Pleasure)—हिन्दू विवाह का तीसरा उद्देश्य यौन सन्तुष्टि है। उपनिषदो मे यौन सुख को सबसे बड़ा सुख कहा गया है। वात्स्यायन ने रति आनन्द की तुलना ब्रह्मानन्द से की है। इस प्रकार धर्मशास्त्रो मे यौन इच्छाओ की पूर्ति को आवश्यक माना गया है किन्तु वह मनमाने ढग से नही वरन् समाज द्वारा स्वीकृत तरीको से होनी चाहिए। विवाह के द्वारा ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारो पुरुषार्थों की पूर्ति होती है। विवाह में रति आनन्द को तीसरा स्थान दिया गया है और इसका उद्देश्य उत्तम धार्मिक सतानो की प्राप्ति है। कापड़िया ने लिखा है, "यद्यपि काम अथवा यौन सम्बन्ध विवाह का एक कार्य है किन्तु इसे तीसरा स्थान दिया गया है। इससे स्पष्ट है कि यह विवाह का अत्यन्त ही कम वाछनीय उद्देश्य है। विवाह मे यौन सम्बन्ध की निरन्तर भूमिका पर बल देने के लिए ही यह कहा जाता है कि शूद्र का विवाह केवल यौन सम्बन्ध के लिए होता है। शूद्र एक घृणित व्यक्ति माना जाता है शूद्र पत्नी के साथ यौन सम्बन्ध को इस प्रकार जोड़ना विवाह मे रति का उचित स्थान देने का एक तरीका है।"[1]

इस प्रकार हिन्दू विवाह धार्मिक कार्यों की पूर्ति, पुत्र प्राप्ति, रति आनन्द, ऋणो से मुक्ति, पुरुषार्थ की पूर्ति स्त्री पुरुष के व्यक्तित्व का विकास, परिवार, समाज एव समुदाय की निरन्तरता एव उनके प्रति अपने दायित्वो का निर्वाह आदि उद्देश्यो अपने मे समाये हुए है।

## हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार
## (HINDU MARRIAGE A RELIGIOUS SACRAMENT)

हिन्दू विवाह के उद्देश्यो एव स्वरूपो का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि यह एक धार्मिक सस्कार है। कापड़िया ने लिखा है "हिन्दू विवाह एक सस्कार है। यह पवित्र समझा जाता है क्योकि यह तभी पूर्ण होता है जबकि ये पवित्र कृत्य पवित्र मन्त्रो के साथ किये जायें।"[2] सस्कार को स्पष्ट करते हुए डॉ० सक्सेना लिखते है, "हिन्दू धर्म शास्त्रो के अनुसार सस्कार शब्द का तात्पर्य ऐसे धार्मिक अनुष्ठान से है जिसके द्वारा मानव जीवन की क्षमताओ का उद्घाटन होता है जो मानव को सामाजिक जीवन के योग्य बनाने वाले आन्तरिक परिवर्तनो का प्रतीक होता है और जिसके द्वारा सस्कार दीक्षित व्यक्ति को स्तर विशेष प्राप्त होता है। जिसके

1 K M Kapadia *op cit* p 167
2 *Ibid* p 169

धम ग्रन्थो म ऐसे अनेक उदाहरण हैं जो यह प्रकट करते हैं कि विवाह के अभाव मे तपस्या करने पर भी स्वग प्राप्ति नही हो सकी।

(5) पतिव्रत का आदश (Ideal of *Pativrata*)—एक हिन्दू स्त्री से यह अपक्षा की जाती है कि वह पतिव्रत धम का पालन करे, स्वप्न मे भी पर पुरुष का चिन्तन नहीं करे। वह अपना जीवन पति के चरणों मे पति की सेवा के लिए अर्पित कर दे। वह पति की हर सुख सुविधा का ध्यान रखे। पति ही उसके लिए तीथ एव ईश्वर है। धमशास्त्रो मे लिखा है, "जिस प्रकार नदी समुद्र मे जाकर अपने व्यक्तित्व को खो देती है उसी प्रकार पत्नी अपना व्यक्तित्व पति मे खो देती है।" पति का सन्तोष ही उसके जावन का एकमात्र आनन्द है। पौराणिक साहित्य मे ऐसे उदाहरण दिये गये है कि जहाँ पति ने पत्नी से वेश्या के घर ले जाने को कहा और पत्नी ने सहर्ष ऐसा किया। पति चाहे कितना ही दुष्ट-स्वभाव, पापी, रोगी, शराबी एव अत्याचारी क्या न हो, पत्नी के लिए तो वही सब कुछ है। पतिव्रत के आदश ने ही सती प्रथा को विकसित किया। पतिव्रत का यह आदश भी विवाह की धार्मिक प्रकृति को प्रकट करता है।

(6) स्त्री के लिए एकमात्र सस्कार (The only *Sanskar* for Woman)—एक हिन्दू पुरुष अपने जीवन काल मे अनक प्रकार के सस्कार सम्पन्न करता है। इन सस्कारो से उसका शुद्धिकरण एव व्यक्तित्व का विकास होता है। किन्तु स्त्री के जीवनकाल मे विवाह ही एकमात्र सस्कार है अन्य सस्कार उसके द्वारा सम्पन्न नही किये जा सकत।

(7) पत्नी के सम्बोधक शब्द—हिन्दुओ मे पत्नी को सम्बोधित करने के लिए 'धम पत्नी' एव 'सहधमचारिणी' आदि शब्दो का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ है धार्मिक कार्यों मे सहयोग प्रदान करने वाली। पत्नी ही पति के धार्मिक कार्यों को पूर्णता प्रदान करती है।

(8) धार्मिक अनुष्ठान एव विधि विधान (Religious Rituals and Ceremonies)—हिन्दू समाज को एक सस्कार बनाने के लिए व सारे अनुष्ठान और विधि विधान भी ह जो विवाह के दौरान किये जाते हैं। पी० वी० काणे ने हिन्दू विवाह के दौरान सम्पन्न किये जाने वाले 39 प्रमुख अनुष्ठानो एव विधि विधानो का किया है।[1] इन धार्मिक कृत्यो के अभाव मे विवाह को पूण नही माना जाता हम विवाह के दौरान सम्पन्न किये जाने वाले कुछ प्रमुख सस्कारो का उल्लेख ि विवाह की धार्मिक प्रकृति के सूचक ह

(1) वाग्दान—यह वह सस्कार है जिसमे वर-पक्ष की ओर से विवाह का जाता है और कन्या पक्ष द्वारा उसे स्वीकार किया जाता है। वैदिक । म वर पक्ष द्वारा प्रस्ताव रखने एव कन्या-पक्ष द्वारा स्वीकार किये

History of Dharmashastra Vol II pp 531 36

बिना मनुष्य का धार्मिक, सामाजिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष असम्भव है।"[1] अपने जीवन मे हिंदू पुरुष अनेक सस्कारों को करता हुआ आगे बढता है। ये सस्कार गर्भाधान से प्रारम्भ होकर दाह सस्कार मे समाप्त होते हैं। सस्कार का तात्पर्य है व्यक्ति का शुद्धिकरण करना। विवाह भी अनेक सस्कारो मे से एक सस्कार माना गया है, यह गृहस्थाश्रम का प्रवेश द्वार है। निम्नांकित विशेषताएँ हिंदू विवाह को एक धार्मिक सस्कार के रूप मे प्रकट करती हैं

(1) **विवाह का धार्मिक आधार** (Religious Basis of Marriage)—यदि हम हिन्दू विवाह के उद्देश्यो का विश्लेषण करें तो हम पायेंगे कि उसमे धर्म को प्रधानता दी गयी है। प्रत्येक हिन्दू के लिए प्रतिदिन पच महायज्ञ करना आवश्यक है और ये यज्ञ बिना पत्नी के पूर्ण नहीं माने जाते। इस प्रकार विवाह एक हिंदू के लिए आवश्यक धार्मिक कर्तव्य है। डॉ० कापडिया ने उचित ही लिखा है, 'यह स्पष्ट है कि जब हिंदू विचारको ने धर्म को विवाह का प्रथम तथा सर्वोच्च उद्देश्य तथा सन्तानोत्पादन का इसका दूसरा श्रेष्ठ उद्देश्य माना तो स्वाभाविक रूप से विवाह पर धर्म का आधिपत्य हो गया। विवाह की इच्छा रति या सन्तानोत्पत्ति के लिए इतनी अधिक नही की जाती थी जितनी अपने धार्मिक कर्तव्यो के पालनार्थ एक साथी प्राप्त करने के लिए।"[2] हिंदू विवाह का दूसरा उद्देश्य पुत्र प्राप्ति है क्योंकि वही पिण्ड दान एव तर्पण आदि के द्वारा पितरो को नरक से बचाता है। रति को विवाह मे सबसे निम्न स्थान दिया गया है। स्पष्ट है कि विवाह के उद्देश्य इसे एक धार्मिक सस्कार का रूप प्रदान करते हैं।

(2) **विवाह की अविच्छेद्य प्रकृति** (Irrevocable Nature of Marriage)—हिंदू विवाह पति पत्नी का जन्म जन्मान्तर का पवित्र एव अटूट बन्धन माना जाता है। ऐसी मान्यता है कि जो इस जन्म मे पति पत्नी है वे अगले जन्म मे भी फिर पति पत्नी बनेंगे। भारतीय धर्मशास्त्रो मे तलाक एव परित्याग का कोई स्थान नही है। पत्नी के लिए पति परमेश्वर, पतिव्रत एव सतीत्व की धारणा दी गयी है और पति के लिए पत्नीव्रत की। इनकी पुष्टि के लिए अनेक कथाएँ कही गयी हैं जिनका उद्देश्य पति पत्नी मे सघर्ष की स्थितियो को टालना एव उनमे सामजस्य बनाये रखना है।

(3) **ऋणो से उऋण होने के लिए विवाह आवश्यक है** (Marriage is essential for getting rid of *Rinas*)—धर्मशास्त्रो मे विवाह को स्वर्ग का द्वार माना गया है। विवाह के द्वारा ही व्यक्ति गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करता है जो कि सभी आश्रमो का आधार है। गृहस्थ बनकर ही व्यक्ति अपने देव ऋण, पितृ ऋण एव ऋषि ऋण से उऋण हो सकता है। वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि पुरुषार्थों की पूर्ति भी विवाह द्वारा कर सकता है। विवाह को मनु स्वर्ग की सीढी बताते हैं।

1 डॉ० आर० एन० सक्सेना भारतीय समाज तथा सामाजिक सस्थाएँ पृ० 22 23।
2 K M Kapadia *op cit* p 167

धर्म-ग्रन्थों में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जो यह प्रकट करते है कि विवाह के अभाव मे तपस्या करने पर भी स्वर्ग प्राप्ति नही हो सकी।

(5) पतिव्रत का आदर्श (Ideal of *Pativrata*)—एक हिन्दू स्त्री से यह अपेक्षा की जाती है कि वह पतिव्रत धर्म का पालन करे, स्वप्न मे भी पर पुरुष का चिन्तन नहीं करे। वह अपना जीवन पति के चरणों मे पति की सेवा के लिए अर्पित कर दे। वह पति की हर सुख सुविधा का ध्यान रखे। पति ही उसके लिए तीर्थ एवं ईश्वर है। धर्मशास्त्रो मे लिखा है, "जिस प्रकार नदी समुद्र मे जाकर अपने व्यक्तित्व को खो देती है उसी प्रकार पत्नी अपना व्यक्तित्व पति मे खो देती है।" पति का सन्तोष ही उसके जीवन का एकमात्र आनन्द है। पौराणिक साहित्य में ऐसे उदाहरण दिये गये हैं कि जहाँ पति ने पत्नी से वेश्या के घर ले जाने को कहा और पत्नी ने सहर्ष ऐसा किया। पति चाहे कितना ही दुष्ट-स्वभाव, पापी, रोगी, शराबी एवं अत्याचारी क्यों न हो, पत्नी के लिए तो वही सब कुछ है। पतिव्रत के आदर्श ने ही सती प्रथा को विकसित किया। पतिव्रत का यह आदर्श भी विवाह की धार्मिक प्रकृति को प्रकट करता है।

(6) स्त्री के लिए एकमात्र संस्कार (The only *Sanskar* for Woman)—एक हिन्दू पुरुष अपने जीवन काल मे अनेक प्रकार के संस्कार सम्पन्न करता है। इन संस्कारो से उसका शुद्धिकरण एवं व्यक्तित्व का विकास होता है। किन्तु स्त्री के जीवनकाल मे विवाह ही एकमात्र संस्कार है, अन्य संस्कार उसके द्वारा सम्पन्न नही किये जा सकते।

(7) पत्नी के सम्बोधक शब्द—हिन्दुओ मे पत्नी को सम्बोधित करने के लिए 'धर्म-पत्नी' एवं 'सहधर्मचारिणी' आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ है धार्मिक कार्यों में सहयोग प्रदान करने वाली। पत्नी ही पति के धार्मिक कार्यों को पूर्णता प्रदान करती है।

(8) धार्मिक अनुष्ठान एवं विधि विधान (Religious Rituals and Ceremonies)—हिन्दू समाज को एक संस्कार बनाने के लिए वे सारे अनुष्ठान और विधि विधान भी हैं जो विवाह के दौरान किये जाते हैं। पी० वी० काणे ने हिन्दू विवाह के दौरान सम्पन्न किये जाने वाले 39 प्रमुख अनुष्ठानो एवं विधि-विधानो का उल्लेख किया है।[1] इन धार्मिक कृत्यों के अभाव मे विवाह को पूर्ण नही माना जाता है। हम विवाह के दौरान सम्पन्न किये जाने वाले कुछ प्रमुख संस्कारो का उल्लेख करेंगे जो विवाह की धार्मिक प्रकृति के सूचक हैं

(1) वाग्दान—यह वह संस्कार है जिसमे वर-पक्ष की ओर से विवाह का प्रस्ताव रखा जाता है और कन्या पक्ष द्वारा उसे स्वीकार किया जाता है। वैदिक मन्त्रो एवं गृह सूत्रों में वर पक्ष द्वारा प्रस्ताव रखने एवं कन्या पक्ष द्वारा स्वीकार किये

1 P V Kane *History of Dharmashastra* Vol II pp 531 36

जाने की व्यवस्था है। किन्तु वर्तमान समय में विवाह का प्रस्ताव कन्या-पक्ष के द्वारा रखा जाता है एवं वर-पक्ष द्वारा स्वीकार किया जाता है। ऐसा माना जाता है कि मध्यकाल में स्त्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा कम हो गयी थी तभी से यह प्रस्ताव वर के स्थान पर कन्यापक्ष के द्वारा प्रस्तुत किया जाने लगा।

(ii) **कन्यादान**—इसमें कन्या का पिता धार्मिक एवं पवित्र भाव से अपनी कन्या का दान वर को करता है। कन्यादान को धर्मशास्त्रों में श्रेष्ठ दान बताया गया है। कन्यादान करते समय कन्या का पिता वर से कहता है अमुक गोत्र में उत्पन्न, अमुक नाम वाली आभूषणों से युक्त इस कन्या को तुम स्वीकार करो। वर कन्या को स्वीकार करता है और वधू से कहता है, "तू मेरे साथ वृद्धावस्था प्राप्त कर, मेरे दिये हुए वस्त्रों को धारण कर, कामी पुरुषों से अपनी रक्षा कर तथा तू सौ वर्ष की आयु वाली हो तथा धन सन्तान वाली हो।" इसके बाद मण्डप में बैठे हुए सभी लोगों को सम्बोधित करते हुए वर एवं वधू दोनों कहते हैं, "हम दोनों प्रसन्नतापूर्वक गृहस्थाश्रम में रहने के लिए एक दूसरे को ग्रहण करते हैं हमारे दोनों के हृदय जल के समान शान्त और मिले हुए रहेंगे, दोनों सदा एक दूसरे से प्रसन्न रहेंगे।" पिता, वर से यह आश्वासन माँगता है कि वह कोई भी धार्मिक कार्य बिना पत्नी के नहीं करेगा। इसका अर्थ है कि पत्नी आजीवन पुरुष की संगिनी रहेगी।

(iii) **विवाह होम**—विवाह के समय अग्नि प्रज्वलित की जाती है और उसकी साक्षी में विवाह बंधन सम्पन्न होता है। वर एवं वधू अग्नि में अनेक आहुतियाँ देते हैं तथा अग्नि से याचना की जाती है कि वह कन्या की रक्षा करे, उसकी सन्तान को चिरायु करे, स्त्री बाँझ होने के दोष से बची रहे और जीवित रहने वाली सन्तानों की माता बने और पुत्र सम्बन्धी आनन्द को प्राप्त करे।

(iv) **पाणिग्रहण**—पाणिग्रहण का अर्थ है वर वधू द्वारा एक-दूसरे के हाथ को स्वीकार करना। इस समय छः मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है और वर वधू परस्पर प्रतिज्ञाएँ करते हैं। इन मन्त्रों में वर वधू से कहता है— 'मैं ऐश्वर्य सुसन्तान एवं सौभाग्य के लिए तेरे हाथ को ग्रहण करता हूँ तू मुझ पति के साथ वृद्धावस्था को सुखपूर्वक प्राप्त हो।" वधू कहती है हे वीर! मैं सौभाग्य की वृद्धि के लिए आपके हाथ को ग्रहण करती हूँ, आप मुझ पत्नी के साथ वृद्धावस्था तक प्रसन्न और अनुकूल रहिये। सभामण्डप में बैठे हुए विद्वान लोग गृहस्थाश्रम के अनुष्ठान के लिए तुझको मुझे देते हैं। आज से मैं आपके हाथ और आप मेरे हाथ बिक चुके हैं अब कभी हम एक-दूसरे के प्रति अप्रिय आचरण नहीं करेंगे।'

(v) **अग्निपरायण**—इसमें वर एवं वधू अग्नि की प्रदक्षिणा करते हुए अग्नि की साक्षी में परिणय बंधन स्वीकार करते हैं। वर कहता है—"हे वधू मैं सामवेद के समान प्रशंसित हूँ, तू ऋग्वेद के समान प्रशंसित है तू पृथ्वी के समान गर्भाग्नि गृहस्थाश्रम के व्यवहारों को धारण करने वाली है और मैं

वर्षा करने वाले सूर्य के समान हूँ, हम दोनो मिलकर विवाह करें, बहुत-से पुत्रों को जन्म दें, हमारे पुत्र सौ वर्ष तक देखते सुनते रहें और सौ वर्ष तक जीवित रहें।'

(vi) अश्मारोहण—इसमे कन्या का भाई कन्या का पैर उठाकर एक पत्थर की शिला पर रखता है। उस समय वर वधू से कहता है—हे देवी! तू इस पत्थर पर चढ़ और इस पत्थर के तुल्य ही तू धार्मिक कार्यों म दृढ़ हो। कलहकारियो का दबाकर स्थिर हो लड़ाई करने वालो को नीचा करके पीडित कर। इस प्रकार कन्या को सभी स्थितियो म दृढ रहने के लिए कहा जाता है।

(vii) लाजाहोम—इसमे वर और वधू पूर्व की ओर मुह करके खडे हो जाते हैं फिर वधू अपने भाई से खीलें (भुने हुए चावल) लेकर अग्निकुण्ड म डालते हुए तीन मन्त्रों का उच्चारण करती है। कन्या कहती है कि वह ईश्वर की आज्ञा पालन के लिए अपने पिता के कुल को छोडकर पति के कुल म जाने को तयार है। मेरे पति दीर्घजीवी हो, मेरे पितृकुल एव पतिकुल के लोग धन-धान्य से सम्पन्न हो। वह ईश्वर से प्रार्थना करती है कि उसका पति के साथ प्रेम बढ़े।

(viii) सप्तपदी—इसमे पति पत्नी ग्रन्थि-बन्धन किये हुए उत्तर दिशा की ओर सात कदम साथ साथ चलते हैं। प्रत्येक कदम के साथ मन्त्रोच्चारण किया जाता है और इन सातो पदो के चलने के दौरान सात कामनाएँ की जाती हैं जो क्रमश इस प्रकार हैं—अन्न की कामना, बल की कामना, धन की कामना, सुख, सन्तान, प्राकृतिक सहायता एव पारस्परिक सद्भाव की कामना। इस प्रकार विवाह के दौरान सम्पन्न किये जाने वाले ये सस्कार विवाह की धार्मिक प्रकृति को प्रकट करते हैं।

(9) ब्राह्मणों की उपस्थिति (Presence of Brahmins)—हिन्दू समाज व्यवस्था म ब्राह्मणो को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। विवाह कार्य उन्ही के द्वारा सम्पन्न कराया जाता है। किसी कार्य मे ब्राह्मण की उपस्थिति उस कार्य की पवित्रता एव गरिमा को बढाने वाली होती है।

(10) वेदमन्त्रों का उच्चारण (Recitation of Vedic *Mantras*)—विवाह के समय वैदिक रीति-रिवाजो का पालन किया जाता है और वैदिक मन्त्रो का उच्चारण किया जाता है। वेदो को हिन्दुओ में बहुत ही पवित्र माना जाता है और उनमें जो कुछ लिखा है वह ईश्वर के मुख से निकले वाक्य माने जाते हैं। अत वैदिक मन्त्रो का उच्चारण भी विवाह को धार्मिक सस्कार बनाते हैं।

(11) अग्नि की साक्षी (Presence of Fire)—ब्राह्मणो एव वेदो की भाँति अग्नि को भी पवित्र माना गया है। उसकी साक्षी मे ही वर वधू विवाह बन्धन में बँधते हैं। विवाह के समय जो अग्नि प्रज्वलित की जाती है उसको गृहस्थी सदैव अपने घर में जलाये रखते हैं। साथ ही वर वधू के सुखी एव सम्पन्न जीवन के लिए अग्नि से कई प्रकार की प्रार्थनाएँ भी की जाती हैं।

उपर्युक्त सभी तथ्यो से हिन्दू विवाह की धार्मिक प्रकृति स्पष्ट हो जाती है। इसी आधार पर पी० एच० प्रभु ने लिखा है, "अत हिन्दू के लिए विवाह एक

संस्कार है तथा इस कारण विवाह सम्बन्ध मे जुडने वाले पक्षों का सम्बन्ध संस्कार रूपी है न कि प्रसंविदा की प्रकृति का।"[1] किन्तु वर्तमान मे हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 के पारित हो जाने के बाद हिन्दू विवाह की संस्कारात्मक प्रकृति समाप्त हो गयी है और यह मात्र एक सामाजिक समझौता रह गया है यद्यपि न्यायालय ने हिन्दू रीति से सम्पन्न विवाह का एक संस्कार के रूप मे स्वीकार किया है फिर भी विवाह-विच्छेद की स्वीकृति के कारण अब विवाह अटूट बंधन नहीं रहा है।

## हिन्दू विवाह के स्वरूप
## (FORMS OF HINDU MARRIAGE)

विवाह के स्वरूप से हमारा तात्पर्य विवाह बंधन मे बँधने की विभिन्न विधियों से है। मनु ने आठ प्रकार के विवाहो का उल्लेख किया है किन्तु वशिष्ठ ने केवल छ प्रकार के विवाहो को ही बताया है। मनु का कहना है कि प्रथम चार प्रकार के विवाह ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य श्रेष्ठ एवं धर्मानुसार हैं जबकि शेष चार असुर, गन्धर्व राक्षस और पिशाच निकृष्ट कोटि के है। प्रथम चार प्रकार के विवाहो से उत्पन्न सन्तान यशस्वी, शीलवान, सम्पत्तिवान और अध्ययनशील होती है जबकि शेष चार प्रकार के विवाहो से उत्पन्न सन्तान दुराचारी, धर्म विरोधी एवं मिथ्यावादी होती है।[2] यहाँ इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि हिन्दू शास्त्रकार स्त्री की सामाजिक प्रतिष्ठा एव सम्मान को बनाये रखने के प्रति बडे सजग थे इसलिए ही उन्होंने पैशाच एव राक्षस विवाहो को भी सामाजिक स्वीकृति प्रदान की है। हिन्दू विवाह के प्रमुख आठ स्वरूप इस प्रकार हैं

(1) ब्राह्म विवाह (*Brahma* Marriage)—यह विवाह सभी प्रकार के विवाहो से श्रेष्ठ माना गया है। मनु ने ब्राह्म विवाह को परिभाषित करते हुए लिखा है, 'वेदो के ज्ञाता शीलवान वर को स्वयं बुलाकर, वस्त्र एव आभूषण आदि से सुसज्जित कर पूजा एव धार्मिक विधि से कन्या दान करना ही ब्राह्म विवाह है।"[2] गौतम ने धर्मसूत्र मे ब्राह्म विवाह का वर्णन करते हुए लिखा है, 'वेदो का विद्वान, अच्छे आचरण वाला, बन्धु-बान्धवो से सम्पन्न, शीलवान वर को वस्त्र के जोड़े एव अलंकारो से सुसज्जित कन्या दान देना ही ब्राह्म विवाह है।"[3] याज्ञवल्क्य लिखते हैं, "ब्राह्म विवाह उसे कहते हैं जिसमे वर को बुलाकर शक्ति के अनुसार अलंकारो से अलंकृत कर कन्यादान दिया जाता है। ऐसे विवाह से उत्पन्न पुत्र इक्कीस पीढ़ियों को पवित्र करने वाला होता है।"[4]

---

1 For the Hindu then marriage is a sanskar and as such the relations between the marrying parties are of a sacramental nature
—P H Prabhu op cit p 171

2 मनुस्मृति, 3/27।

3 गौतम धर्मसूत्र, 3 अध्याय 4 सूत्र।

4 याज्ञवल्क्य 1/58।

(2) दैव विवाह (*Daiva* Marriage)—गौतम एव याज्ञवल्क्य ने दैव विवाह के लक्षण का उल्लेख इस प्रकार किया है—वेदों में दक्षिणा देने के समय पर यज्ञ कराने वाले पुरोहित को अलकारो से सुसज्जित कन्या दान ही 'दैव' विवाह है। मनु लिखते हैं, "सद्कर्म मे लगे पुरोहित को जब वस्त्र और आभूषणो से सुसज्जित कन्या दी जाती है तो इसे दैव विवाह कहते है।" प्राचीन समय मे यज्ञ और धार्मिक अनुष्ठानो का अधिक महत्व था। जो ऋषि अथवा पुरोहित इन पवित्र धार्मिक कार्यों को सम्पन्न कराता यजमान उससे अपनी कन्या का विवाह कर देता था। मनु कहते हैं कि इस प्रकार के विवाह से उत्पन्न सन्तान सात पीढी ऊपर की एव सात पीढी नीचे के व्यक्तियो का उद्धार करा देती है। कुछ स्मृतिकारो ने इस प्रकार के विवाह की आलोचना की है क्योकि कई बार वर एव वधू की आयु मे बहुत अन्तर होता था। वर्तमान समय म इस प्रकार के विवाह नही पाये जाते। अल्टेकर लिखते हैं कि, "दैव विवाह वैदिक यज्ञो के साथ साथ लुप्त हो गये।"[1]

(3) आर्ष विवाह (*Arsha* Marriage)—इस प्रकार के विवाह मे विवाह का इच्छुक वर कन्या के पिता को एक गाय और एक बैल अथवा इनके दो जोडे प्रदान करके विवाह करता है। गौतम ने धर्मसूत्र मे लिखा है, "आर्ष विवाह मे वर कन्या के पिता को एक गाय और एक बैल प्रदान करता है।" याज्ञवल्क्य लिखते हैं, कि दो गाय लेकर जब कन्यादान किया जाये तब उसे आर्ष विवाह कहते है। मनु लिखते है "गाय और बैल का एक युग्म वर के द्वारा धर्म कार्य हेतु कन्या के लिए देकर विधिवत कन्यादान करना आर्ष विवाह कहा जाता है।" आर्ष का सम्बन्ध ऋषि शब्द से है। जब कोई ऋषि किसी कन्या के पिता को गाय और बैल भेंट के रूप मे देता है तो यह समझ लिया जाता था कि अब उसने विवाह करने का निश्चय कर लिया है। कई आचार्यों ने गाय व बैल भेंट करने को कन्या मूल्य माना है। किन्तु यह सही नहीं है गाय व बैल भेंट करना भारत जैसे देश मे पशुधन के महत्व को प्रकट करता है। बैल को धर्म का एव गाय को पृथ्वी का प्रतीक माना गया है जो कि विवाह की साक्षी के रूप मे दिये जाते थे। कन्या के पिता को दिया जाने वाला जोडा पुन वर को लौटा दिया जाता था। इन सभी तथ्यो के आधार पर स्पष्ट है कि आर्ष विवाह मे कन्या मूल्य जैसी कोई बात नहीं है। वर्तमान मे इस प्रकार के विवाह प्रचलित नही हैं।

(4) प्राजापत्य विवाह (*Prajapatya* Marriage)—प्राजापत्य विवाह भी ब्राह्म विवाह के समान होता है। इसमे लडकी का पिता आदेश देते हुए कहता है 'तुम दोनो एक साथ रहकर आजीवन धर्म का आचरण करो।" याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इस प्रकार के विवाह से उत्पन्न सन्तान अपने वश की बारह पीढियो को पवित्र करने वाली होती है। वशिष्ठ और आपस्तम्ब ने प्राजापत्य विवाह का कहीं उल्लेख

1 Daiva marriage disappeared with vedic sacrifices
—A S Altekar, *The Position of Women in Hindu Civilization* p 45

नही किया है। डॉ० अल्टेकर का मत है कि विवाह के आठ प्रकारो की सख्या को पूर्ण करने हेतु ही इस पद्धति को पृथक् रूप दे दिया गया है।[1]

(5) असुर विवाह (*Asur* Marriage)—मनु लिखते हैं, "कन्या के परिवार वालो एव कन्या को अपनी शक्ति के अनुसार धन देकर अपनी इच्छा से कन्या को ग्रहण करना 'असुर विवाह' कहा जाता है।"[2] याज्ञवल्क्य एव गौतम का मत है कि अधिक धन देकर कन्या को ग्रहण करना असुर विवाह कहलाता है। कन्या मूल्य देकर सम्पन्न किये जाने वाले सभी विवाह असुर विवाह की श्रेणी में आते हैं। कन्या मूल्य देना कन्या का सम्मान करना है साथ ही कन्या के परिवार को उसके चले जाने की क्षतिपूर्ति भी है। कन्या मूल्य की प्रथा विशेषत निम्न जातियो मे प्रचलित है, उच्च जातियाँ इसे घृणा की दृष्टि से देखती हैं। स्मृतिकारो ने तो कन्या मूल्य देकर प्राप्त की गयी स्त्री को 'पत्नी' कहने मे भी इन्कार किया है। इस प्रकार के दामाद के लिए 'विजामाता' शब्द का प्रयोग किया गया है। कैकयी, गान्धारी और माद्री के विवाहो मे उनके माता पिता को कन्या मूल्य के रूप मे बहुत अधिक धनराशि दिये जाने का उल्लेख मिलता है।[3]

(6) गान्धर्व विवाह (*Gandharva* Marriage)—मनु कहते हैं, "कन्या और वर की इच्छा से पारस्परिक स्नेह द्वारा काम और मैथुन युक्त भावों से जो विवाह किया जाता है, उसे गान्धर्व विवाह कहते हैं।"[4] याज्ञवल्क्य पारस्परिक स्नेह द्वारा होने वाले विवाह को गान्धर्व विवाह कहते है। गौतम कहते है, "इच्छा रखती हुई कन्या के साथ अपनी ही इच्छा से सम्बन्ध स्थापित करना गान्धर्व विवाह कहलाता है।"[5] प्राचीन समय मे गान्धर्व नामक जाति द्वारा इस प्रकार के विवाह किये जाने के कारण ही ऐसे विवाहो का नाम गान्धर्व विवाह रखा गया है। वर्तमान मे हम इसे प्रेम विवाह के नाम से जानते हैं जिसमे वर एव वधू एक दूसरे से प्रेम करने के कारण विवाह करते हैं। इस प्रकार के विवाह मे धार्मिक क्रियाएँ सम्बन्ध स्थापित होने के बाद की जाती हैं। कुछ स्मृतिकारों ने इस प्रकार के विवाह को स्वीकृत किया है तो कुछ ने अस्वीकृत। बौधायन धर्मसूत्र मे इसकी प्रशंसा की गयी है। वात्स्यायन ने अपने 'कामसूत्र' मे इसे एक आदर्श विवाह माना है। दुष्यन्त का शकुन्तला के साथ गान्धर्व विवाह ही हुआ था।

(2) राक्षस विवाह (*Rakshasa* Marriage)—मनु कहते हैं, 'मारकर, अंग छेदन करके, घर को तोडकर, हल्ला करती हुई, रोती हुई कन्या को बलात् अप

1 Prajapatya was added later probably to make the number of the forms of marriage eight —A S Altekar *Ibid* pp 46-47

2 मनुस्मृति, 3/31।

3 A S Altekar *op cit* pp 39 40

4 मनुस्मृति, 3/32।

5 इच्छया स्वय सयोगो गान्धर्व ॥ गौतम, 4/8।

हरण करके लाना 'राक्षस' विवाह कहा जाता है।"[1] याज्ञवल्क्य लिखते है—'राक्षसो युद्ध हरणात्' अर्थात् युद्ध मे कन्या का अपहरण करके उसके साथ विवाह करना ही राक्षस विवाह है। इस प्रकार के विवाह उस समय अधिक होते थे जब युद्धो का महत्व था और स्त्री को युद्ध का पुरस्कार माना जाता था। महाभारत काल मे इस प्रकार के विवाह के अनेक उदाहरण मिलते है। भीष्म ने काशी के राजा को पराजित किया और उसकी लडकी अम्बा को अपने भाई विचित्रवीय के लिए उठा लाया। श्रीकृष्ण का रुक्मणी एव अर्जुन का सुभद्रा के साथ भी इसी प्रकार का विवाह हुआ था। राक्षस विवाह मे वर एव वधू पक्ष के बीच परस्पर मारपीट एव लडाई झगडा होना है। इस प्रकार के विवाह क्षत्रियो मे अधिक होने के कारण इसे 'क्षात्र विवाह' भी कहा जाता है। आजकल इस प्रकार के विवाह अपवाद रूप मे ही देखने को मिलते है।

(8) पैशाच विवाह (*Paisacha* Marriage)—मनु कहते हैं, "सोई हुई, उन्मत्त, घबडाई हुई, मदिरा पान की हुई अथवा राह म जाती हुई लडकी के साथ बलपूवक कुकृत्य करने के बाद उससे विवाह करना पैशाच विवाह है।"[2] इस प्रकार के विवाह को सबसे निकृष्ट कोटि का माना गया है। वशिष्ठ एव आपस्तम्ब ने इस प्रकार के विवाह को मान्यता नही दी है। किन्तु इस प्रकार के विवाह को लडकी का दोष न होने के कारण तथा कौमार्य भग हो जाने के बाद उसे सामाजिक बहिष्कार से बचाने एव उसका सामाजिक सम्मान बनाये रखने के लिए ही स्वीकृति प्रदान की गयी है।

'मत्स्य पुराण' मे 'ब्राह्म' विवाह को सवश्रेष्ठ, प्राजापात्य को मध्यम एव आर्ष, असुर तथा गान्धव को निम्न कोटि का बताया गया है। राक्षस विवाह को भी अधम तथा पशाच विवाह को महाभ्रष्ट माना गया है। वतमान समय मे हिन्दुओ मे ब्राह्म, असुर, गान्धव एव कही कही पैशाच विवाह प्रचलित है। दैव, आर्ष, प्राजापत्य एव राक्षस विवाह पूणत समाप्त हो चुके है। डॉ० मजूमदार कहते है "हिन्दू समाज अब केवल दो स्वरूपो को मान्यता देता है—ब्राह्म तथा असुर, उच्च जातियो मे पहले प्रकार का और निम्न जातियो म दूसरे प्रकार का विवाह प्रचलित है। यद्यपि उच्च जातियो म असुर प्रथा पूणत नष्ट नही हुई है।"[3] वतमान समय म पढे लिखे लोगो म गान्धव विवाह जिसे हम प्रेम विवाह कहते है का भी प्रचलन पाया जाता है।

## हिन्दू विवाह के नियम
## (RULES CONNECTED WITH HINDU MARRIAGE)

प्रत्येक समाज म विवाह से सम्बन्धित कुछ नियम पाये जाते है। जीवन साथी के चुनाव के दौरान तीन बातें सामने आती हैं—चुनाव का क्षेत्र चुनाव का पक्ष एव

1 मनुस्मृति, 3/33।
2 मनुस्मृति 3/34।
3 D N Majumdar *Races and Culture of India* p 173

चुनाव की कसौटियाँ। चुनाव के क्षेत्र को दो प्रकार से सीमित किया जाता है—(i) कुछ लोगों का विवाह में अधिमान्यता (Preference) प्रदान करके और ऐसा करना वांछनीय ही नहीं वरन् कर्तव्य भी समझा जाता है। उदाहरण के लिए, दक्षिणी भारत एवं महाराष्ट्र में ममेरे फुफेरे भाई बहिनों के विवाह को अधिमान्यता दी जाती है। (ii) कुछ सम्बन्धियों से विवाह करना अवांछनीय या निषेध माना जाता है। इनके अतिरिक्त अन्तर्विवाह एवं बहिर्विवाह के नियम भी जीवन साथी के चुनाव को निर्देशित करते हैं। कापडिया एवं प्रभु दोनों ने ही इस बात को स्वीकार किया है। प्रभु लिखते हैं, "हिंदू धर्मशास्त्रों में जीवन साथियों के चुनाव को नियन्त्रित करने की दृष्टि से हिंदू विवाह को व्यवस्थित करने हेतु अन्तर्विवाह और बहिर्विवाह के कुछ नियम निर्धारित किये गये हैं।"[1] हिंदू विवाह से सम्बन्धित सभी नियमों को हम अन्तर्विवाह, बहिर्विवाह अनुलोम एवं प्रतिलोम आदि चार भागों में बाँट सकते हैं। संक्षेप में इनका हम यहाँ विवेचन करेंगे।

(I) अन्तर्विवाह (Endogamy)

अन्तर्विवाह का तात्पर्य है एक व्यक्ति अपने जीवन साथी का चुनाव अपने ही समूह में से करे। इसे परिभाषित करते हुए डॉ० रिवर्स लिखते हैं, "अन्तर्विवाह से अभिप्राय है उस विनियम का जिससे अपने समूह में से विवाह साथी चुनना अनिवार्य होता है।"[2]

वैदिक एवं उत्तरवैदिक काल में द्विजों का (ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य) एक ही वर्ण था और द्विज वर्ण के लोग अपने में ही विवाह करते थे। शूद्र वर्ण पृथक् था। स्मृतिकाल में अन्तर्वर्ण विवाहों की स्वीकृति प्रदान की गयी थी। लेकिन जब एक वर्ण कई जातियों एवं उपजातियों में विभक्त हुआ तो विवाह का दायरा सीमित होता गया और लोग अपनी ही जाति एवं उप जाति में विवाह करने लगे और इसे ही अन्तर्विवाह माना जाने लगा। कापडिया ने वैश्यों की एक जाति 'बनिया' की कई उप शाखाओं जैसे लाड, मोढ, पोरवाड, नागर श्रीमाली आदि का उल्लेख किया है। लाड स्वयं भी 'बीसा' एवं 'दस्सा' इन दो उप भागों में बँटी हुई है। स्वयं 'बीसा' भी अहमदाबादी, खम्बाती आदि स्थानीय खण्डों में बँटी हुई है। प्रत्येक खण्ड अन्तर्विवाही है। कुछ उपजातियों में 'गोल', 'एकडा' आदि हैं जो चुनाव के क्षेत्र को एक स्थानीय सीमा तक संकुचित कर देते हैं। गाँव के लोग अपनी कन्या का विवाह कस्बा के लोगों के साथ कर देते हैं किन्तु उनके पुत्रों के लिए कस्बे वाले कन्यायें नहीं देते। ऐसी स्थिति में विवाह का एक क्षेत्र निर्धारित करना पड़ता है जो 'गोल' अथवा 'एकडा' कहलाता है।[3] वर्तमान समय में एक व्यक्ति अपनी ही जाति, उप जाति, प्रजाति, धर्म,

1 P H Prabhu *op cit* p 154
2 डॉ० डब्ल्यू० एच० आर० रिवर्स, सामाजिक संगठन पृष्ठ 32।
3 K M Kapadia *op cit* p 117

क्षेत्र, भाषा एव वर्ग के सदस्यों से ही विवाह करना है। केतकर ने तो कहा है कि "कुछ हिन्दू जातियाँ ऐसी हैं जो पन्द्रह परिवारों के बाहर विवाह नहीं करती।" एक तरफ हमे अन्तर्जातीय एव अन्तर्राष्ट्रीय विवाह देखने को मिलते हैं वहीं दूसरी ओर अन्तर्विवाह के कारण विवाह का दायरा सकुचित हो गया है।

अन्तर्विवाह के कारण (Causes of Endogamy)—विवाह के क्षेत्र को इस प्रकार सीमित करने के कई प्रजातीय एव सास्कृतिक कारण रहे है। इनमे से प्रमुख इस प्रकार हैं

(1) प्रजाति मिश्रण पर रोक—भारत म समय समय पर कई प्रजातियो के लोग आये और उन्होंने अपने को किसी न किसी वर्ण मे सम्मिलित कर लिया। अन्तप्रजातीय मिश्रण को रोकने के लिए अन्तर्वर्ण विवाहो पर प्रतिबन्ध लगाये गये। विशेषत आर्य एव द्रविड प्रजातियो के बीच रक्त मिश्रण को रोकने के लिए ऐसा किया गया।

(2) सास्कृतिक भिन्नता—आर्यों एव द्रविडो तथा बाह्य आक्रमणकारियो की सस्कृति म पर्याप्त भिन्नता थी। इस कारण वैवाहिक सम्बन्धो म भी कठिनाई पैदा होती थी। जब वर्ण विभिन्न जातियो एव उपजातियो म विभक्त हुए तो सास्कृतिक भिन्नता मे भी वृद्धि हुई। प्रत्येक जाति और उप जाति अपनी सास्कृतिक विशेषता को बनाये रखना चाहती थी अत उन्होंने अन्तर्विवाह पर जोर दिया।

(3) जन्म का महत्व—प्रारम्भ मे व्यक्ति को उसके कर्म के आधार पर आँका जाता था किन्तु धीरे-धीरे जन्म का महत्व बढा और रक्त शुद्धता की भावना ने जोर पकडा फलस्वरूप अन्तर्विवाह पनपा।

(4) जैन एव बौद्ध धर्म का विकास—ब्राह्मणवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के कारण जैन एव बौद्ध धर्मों का उदय हुआ। इस कारण ब्राह्मणो की शक्ति मे गिरावट आयी। किन्तु ज्योंही इन दोनो धर्मों म शिथिलता आयी ब्राह्मणो ने अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को पुन प्राप्त करने के लिए कठोर जातीय नियम बनाये और अन्तर्विवाह के नियमो का कडाई से पालन किया जाने लगा।

(5) मुसलमानों का आक्रमण—मुसलमान आक्रमणकारियो ने हिन्दुओ के धर्म एव सस्कृति पर कठोर प्रहार किया। उन्होने हिन्दू लडकियो से विवाह करने प्रारम्भ किये। इस स्थिति से बचने एव अपने धर्म तथा सस्कृति की रक्षा के लिए हिन्दुओ ने अन्तर्विवाह के नियमो को कठोर बना दिया।

(6) बाल विवाह—मध्य युग से ही जब बाल विवाहो की वृद्धि हुई तो अन्तर्विवाह का पालन किया जाने लगा क्योकि जब माता पिता ही बच्चो का विवाह तय करते हैं तो वे जातीय नियमो के विरुद्ध विवाह की बात नही सोच पाते।

(7) उपजातियों का क्षेत्रीय केन्द्रीयकरण—भौगोलिक दृष्टि से पृथक पृथक क्षेत्रो मे निवास तथा यातायात और सचार वाहन के साधनो के अभाव के कारण

उपजातियों का पारस्परिक सम्पर्क सम्भव नहीं था। अतः एक क्षेत्र में निवास करने वाली उपजाति ने अपने ही सदस्यों से विवाह करने पर जोर दिया।

(8) व्यावसायिक ज्ञान की सुरक्षा—प्रत्येक जाति का एक परम्परागत व्यवसाय पाया जाता है। अपने व्यावसायिक ज्ञान को गुप्त रखने की इच्छा ने भी अन्तर्विवाह को प्रोत्साहित किया।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त व्यक्ति का अपनी ही जाति के प्रति लगाव, जाति से बहिष्कृत किये जाने का डर तथा जाति पचायत एवं ग्राम पचायत द्वारा जातीय नियमों को कठोरता से लागू करने आदि के कारण भी अन्तर्विवाह के नियमों का पालन उत्तरोत्तर बढ़ता गया। अन्तर्विवाह के इन नियमों से एक ओर हिन्दू समाज को कुछ लाभ प्राप्त हुए तो दूसरी ओर इससे कई हानियाँ भी हुई है। इससे लोगों के सम्पर्क का दायरा सीमित हो गया, सकीर्णता की भावना पनपी, पारस्परिक घृणा, द्वेष एवं कटुता की वृद्धि हुई, क्षेत्रीयता की भावना पनपी, जातिवाद बढ़ा, व्यावसायिक ज्ञान एक समूह तक ही सीमित हो गया। इन सभी के कारण भारतीय समाज की प्रगति अवरुद्ध हुई। किन्तु वर्तमान समय में नगरीकरण, औद्योगीकरण, यातायात एवं सचारवाहन के साधनों के विकास एवं एकाकी परिवारों की स्थापना के कारण अन्तर्विवाह के नियम शिथिल होते जा रहे हैं। विवाह से सम्बन्धित विधानों ने भी अन्तर्वर्ण एवं अन्तर्जातीय विवाहों को स्वीकृति प्रदान की है। फिर भी नैतिक शक्ति और सामाजिक बाध्यता इतनी प्रबल है कि हिन्दू अन्तर्विवाह के नियमों को पूर्णत त्याग नहीं सकते।

(II) बहिर्विवाह (Exogamy)

बहिर्विवाह से तात्पर्य है एक व्यक्ति जिस समूह का सदस्य है उससे बाहर विवाह करे। रिवर्स लिखते है, 'बहिर्विवाह से बोध होता है उस विनिमय का जिसमें एक सामाजिक समूह के सदस्य के लिए यह अनिवार्य होता है कि वह दूसरे सामाजिक समूह से अपना जीवन साथी ढूँढ़े।"[1] हिन्दुओं में बहिर्विवाह के नियमों के अनुसार एक व्यक्ति को अपने परिवार, गोत्र, प्रवर, पिण्ड एवं जाति के कुछ समूहों के बाहर विवाह करना चाहिए। जनजातियों में एक ही टोटम को मानने वाले लोगों का भी परस्पर विवाह करने की मनाही है। गोत्र, प्रवर एवं पिण्डों के नियमों में सदैव अनिश्चितता रही है। इस सन्दर्भ में प्रभु ने लिखा है, "अपने उत्पत्ति के समय से लेकर प्रत्येक युग में बहिर्विवाह के नियमों से सम्बन्धित इन तीन शब्दों 'गोत्र', 'प्रवर' और 'पिण्ड' के वास्तविक अर्थों और अवधारणाओं में इतना अधिक परिवर्तन, मतभेद और रूपान्तरण हुआ है कि इनके मौलिक अर्थों के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी कहना असम्भव सा हो गया है।"[2] हिन्दुओं में प्रचलित बहिर्विवाह के स्वरूपों का हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

1 डब्ल्यू० एच० आर० रिवर्स, पूर्व उद्धृत, पृ० 32।
2 P H Prabhu *op cit* p 154 55

(क) गोत्र बहिर्विवाह (*Gotra Exogamy*)—हिंदुओं में सगोत्र विवाह निषेध है। गोत्र का सामान्य अर्थ उन व्यक्तियों के समूह से है जिनकी उत्पत्ति एक ही ऋषि पूर्वज से हुई हो। 'सत्याषाढ हिरण्यकेशी श्रौतसूत्र' के अनुसार विश्वामित्र, जमदग्नि, भारद्वाज, गौतम, अत्रि, वशिष्ठ, कश्यप और अगस्त्य नामक आठ ऋषियों की संतानों को गोत्र के नाम से पुकारा गया। छान्दोग्य उपनिषद् में गोत्र शब्द का प्रयोग परिवार के अर्थ में हुआ है। गोत्र शब्द के तीन या चार अर्थ हैं जैसे गौशाला, गाय का समूह, किला तथा पर्वत आदि। इस प्रकार एक घेरे या स्थान पर रहने वाले लोगों में परस्पर विवाह वर्जित था। गोत्र का शाब्दिक अर्थ गो+त्र अर्थात् गायों के बाँधने का स्थान (गोशाला या बाड़ा) अथवा गोपालन करने वाला समूह है। जिन लोगों की गायें एक स्थान पर बँधती थी, उसमें नैतिक सम्बन्ध बन जाते थे और सम्भवतः वे रक्त सम्बन्धी भी होते थे अतः वे परस्पर विवाह नहीं करते थे। विज्ञानेश्वर ने गोत्र का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि वंश परम्परा में जो नाम प्रसिद्ध होता, उसी को गोत्र कहते हैं। इस प्रकार एक गोत्र के सदस्यों द्वारा अपने गोत्र से बाहर विवाह करना ही गोत्र बहिर्विवाह कहलाता है।

गोत्र बहिर्विवाह का प्रारम्भ कब व कैसे हुआ इस बारे में निश्चितता से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कापडिया का है कि वैदिक काल में सगोत्र विवाह निषिद्ध नहीं थे क्योंकि इस समय गान्धर्व विवाह एवं स्वयंवर की प्रथा का प्रचलन था जिनमें गोत्र सम्बन्धी निषेधों का बना रहना असम्भव था। धर्मशास्त्रों में द्विजों को कलियुग में सगोत्र विवाह से बचने को कहा गया। इसका अर्थ है उस समय सगोत्र विवाह पर प्रतिबन्ध नहीं थे। आर्य भारत में ईरान से आये थे और ईरान में गोत्र बहिर्विवाह के नियम नहीं थे। डा० अल्टेकर का मत है कि ईसा के 600 वर्ष पूर्व सगोत्र विवाह पर निषेध नहीं था। मनु ने भी सगोत्र विवाह को पाप नहीं माना। सर्वप्रथम गृहसूत्र साहित्य में सगोत्र विवाह की मनाही की गयी। बौधायन धर्मसूत्र में तो कहा गया है कि यदि अज्ञानवश भी सगोत्र कन्या से विवाह हो जाता है तो उसका पालन माता की तरह किया जाय। स्मृतिकारों ने सगोत्र विवाह करने वालों के लिए अनेक दण्ड प्रायश्चित एवं जाति से बहिष्कृत करने की व्यवस्था की है। ऐसे व्यक्ति को चाण्डाल की सजा दी गयी है।

विज्ञानेश्वर का मत है कि ब्राह्मणों के ही वास्तविक गोत्र होते हैं, क्षत्रियों एवं वैश्यों के गोत्र उनके पुरोहितों के गोत्रों के आधार पर होते हैं। शूद्रों के कोई गोत्र नहीं होते। किन्तु वर्तमान में सभी जातियों में गोत्र पाये जाते हैं और वे गोत्र बहिर्विवाह के नियमों का पालन करती हैं। हिंदू विवाह अधिनियम द्वारा वर्तमान में सगोत्र विवाह से प्रतिबन्ध हटा दिये गये हैं किन्तु व्यवहार में आज इसका प्रचलन है।

---

1 A S Altekar *op cit* p 73

उपजातियो का पारस्परिक सम्पर्क सम्भव नही था। अत एक क्षेत्र मे निवास करने वाली उपजाति ने अपने ही सदस्यो से विवाह करने पर जोर दिया।

(8) व्यावसायिक ज्ञान की सुरक्षा—प्रत्येक जाति का एक परम्परागत व्यवसाय पाया जाता है। अपने व्यावसायिक ज्ञान को गुप्त रखने की इच्छा ने भी अन्तर्विवाह को प्रोत्साहित किया।

उपर्युक्त कारणो के अतिरिक्त व्यक्ति का अपनी ही जाति के प्रति लगाव, जाति से बहिष्कृत किए जाने का डर तथा जाति पचायत एव ग्राम पचायत द्वारा जातीय नियमो को कठोरता से लागू करने आदि के कारण भी अन्तर्विवाह के नियमो का पालन उत्तरोत्तर बढता गया। अन्तर्विवाह के इन नियमो से एक ओर हिन्दू समाज को कुछ लाभ प्राप्त हुए तो दूसरी ओर इससे कई हानियाँ भी हुई है। इसस लोगो के सम्पर्क का दायरा सीमित हो गया सकीर्णता की भावना पनपी, पारस्परिक घृणा, द्वेष एव कटुता की वृद्धि हुई, क्षेत्रीयता की भावना पनपी, जातिवाद बढा, व्यावसायिक ज्ञान एक समूह तक ही सीमित हो गया। इन सभी के कारण भारतीय समाज की प्रगति अवरुद्ध हुई। किन्तु वर्तमान समय मे नगरीकरण, औद्योगीकरण, यातायात एव सचारवाहन के साधनो के विकास एव एकाकी परिवारो की स्थापना के कारण अन्तर्विवाह के नियम शिथिल होते जा रहे हैं। विवाह से सम्बन्धित विधानो ने भी अन्तर्वर्ण एव अन्तर्जातीय विवाहो को स्वीकृति प्रदान की है। फिर भी नैतिक शक्ति और सामाजिक बाध्यता इतनी प्रबल है कि हिन्दू अन्तर्विवाह के नियमो को पूर्णत त्याग नही सकते।

(II) बहिर्विवाह (Exogamy)

बहिर्विवाह से तात्पर्य है एक व्यक्ति जिस समूह का सदस्य है उससे बाहर विवाह करे। रिवर्स लिखते है, 'बहिर्विवाह से बोध होता है उस विनियम का जिसमे एक सामाजिक समूह के सदस्य के लिए यह अनिवार्य होता है कि वह दूसरे सामाजिक समूह से अपना जीवन साथी ढूँढे।"[1] हिन्दुओ मे बहिर्विवाह के नियमो के अनुसार एक व्यक्ति को अपने परिवार गोत्र प्रवर, पिण्ड एव जाति के कुछ समूहों से बाहर विवाह करना चाहिए। जनजातियो मे एक ही टोटम को मनाने वाले लोगो को भी परस्पर विवाह करने की मनाही है। गोत्र प्रवर एव पिण्डों के नियमो की सदैव अनिश्चितता रही है। इस सन्दर्भ मे प्रभु ने लिखा है "अपने उत्पत्ति के समय से लेकर प्रत्येक युग मे बहिर्विवाह के नियमो से सम्बन्धित इन तीन शब्दो 'गोत्र', 'प्रवर' और 'पिण्ड' के वास्तविक अर्थों और अवधारणाओ मे इतना अधिक परिवर्तन, सकलन और रूपान्तरण हुआ है कि इनके मौलिक अर्थों के सम्बन्ध म निश्चित रूप से कुछ भी कहना असम्भव सा हो गया है।'[2] हिन्दुओ मे प्रचलित बहिर्विवाह के स्वरूपो का हम यहाँ सक्षेप म उल्लेख करेंगे।

1 डब्ल्यू० एच० आर० रिवर्स, पूर्व उद्धृत, पृ० 32।
2 P H Prabhu *op cit* p 154 55

(क) गोत्र बहिर्विवाह (*Gotra* Exogamy)—हिन्दुओं में सगोत्र विवाह निषेध है। गोत्र का सामान्य अर्थ उन व्यक्तियों के समूह से है जिनकी उत्पत्ति एक ही ऋषि पूर्वज से हुई हो। 'सत्याषाढ हिरण्यकेशी श्रौतसूत्र' के अनुसार विश्वामित्र, जमदग्नि, भारद्वाज गौतम, अत्रि, वशिष्ठ, कश्यप और अगस्त्य नामक आठ ऋषियों की संतानों को गोत्र के नाम से पुकारा गया। छान्दोग्य उपनिषद् में गोत्र शब्द का प्रयोग परिवार के अर्थ में हुआ है। गोत्र शब्द के तीन या चार अर्थ हैं जैसे गोशाला, गाय का समूह, किला तथा पर्वत आदि। इस प्रकार एक घेरे या स्थान पर रहने वाले लोगों में परस्पर विवाह वर्जित था। गोत्र का शाब्दिक अर्थ गो+त्र अर्थात् गायों के बाँधने का स्थान (गोशाला या बाड़ा) अथवा गोपालन करने वाला समूह है। जिन लोगों की गायें एक स्थान पर बँधती थी, उसमें नैतिक सम्बन्ध बन जाते थे और सम्भवत वे रक्त सम्बन्धी भी होते थे अत वे परस्पर विवाह नहीं करते थे। *विज्ञानेश्वर ने गोत्र का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि वंश परम्परा में जो नाम प्रसिद्ध होता,* उसी को गोत्र कहते हैं। इस प्रकार एक गोत्र के सदस्यों द्वारा अपने गोत्र से बाहर विवाह करना ही गोत्र बहिर्विवाह कहलाता है।

गोत्र बहिर्विवाह का प्रारम्भ कब व कैसे हुआ इस बारे में निश्चितता से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कापडिया का है कि वैदिक काल में सगोत्र विवाह निषिद्ध नहीं थे क्योंकि इस समय गान्धर्व विवाह एवं स्वयंवर की प्रथा का प्रचलन था जिनमें गोत्र सम्बन्धी निषेधों का बना रहना असम्भव था। धर्मशास्त्रों में द्विजों को कलियुग में सगोत्र विवाह से बचने को कहा गया। इसका अर्थ है उस समय सगोत्र विवाह पर प्रतिबन्ध नहीं थे। आर्य भारत में ईरान से आये थे और ईरान में गोत्र बहिर्विवाह के नियम नहीं थे। डा० अल्टेकर का मत है कि ईसा के 600 वर्ष पूर्व सगोत्र विवाह पर निषेध नहीं था। मनु ने भी सगोत्र विवाह को पाप नहीं माना। सर्वप्रथम गृह्यसूत्र साहित्य में सगोत्र विवाह की मनाही की गयी। बौधायन धर्मसूत्र में तो कहा गया है कि यदि अज्ञानवश भी सगोत्र कन्या से विवाह हो जाता है तो उसका पालन माता की तरह किया जाय। स्मृतिकारों ने सगोत्र विवाह करने वालों के लिए अनेक दण्ड, प्रायश्चित एवं जाति से बहिष्कृत करने की व्यवस्था की है। ऐसे व्यक्ति को चाण्डाल की संज्ञा दी गयी है।

विज्ञानेश्वर का मत है कि ब्राह्मणों के ही वास्तविक गोत्र होते हैं, क्षत्रियों एवं वैश्यों के गोत्र उनके पुरोहितों के गोत्रों के आधार पर होते हैं। शूद्रों के कोई गोत्र नहीं होते। किन्तु वर्तमान में सभी जातियों में गोत्र पाये जाते हैं और वे गोत्र बहिर्विवाह के नियमों का पालन करती हैं। हिन्दू विवाह अधिनियम द्वारा वर्तमान में सगोत्र विवाह से प्रतिबन्ध हटा दिये गये हैं किन्तु व्यवहार में आज इसका प्रचलन है।

---

1 A S Altekar *op cit* p 73.

(ख) सप्रवर बहिर्विवाह (*Sapravar* Exogamy)—गोत्र से सम्बन्धित ही एक शब्द है 'प्रवर' जिसका वैदिक इण्डेक्स के अनुसार शाब्दिक अर्थ है, 'आह्वान करना' (Invocation or Summons) ।[1] कर्वे के अनुसार 'प्रवर का अर्थ क्षत्रियों मे लगभग वंशकार या कुलकार की तरह ही है ।" प्रवर का अर्थ है 'महान् (great one) । ब्राह्मण लोग हवन यज्ञ आदि के समय गोत्र व वंशकार के नाम का उच्चारण करते थे । इस अर्थ मे प्रवर का तात्पर्य 'श्रेष्ठ' (The excellent one) से ही था ।[2] प्रभु का मत है कि प्राचीन समय मे अग्नि पूजा और हवन का प्रचलन था । हवन के लिए अग्नि प्रज्वलित करते समय पुरोहित अपने प्रसिद्ध ऋषि पूर्वजो का नामोच्चारण करता था । इस प्रकार समान पूर्वज और समान ऋषियो के नाम उच्चारण करने वाले व्यक्ति अपने को एक ही प्रवर से सम्बद्ध मानने लगे ।[3] एक प्रवर के व्यक्ति अपने को सामान्य ऋषि पूर्वजो से संस्कारात्मक एव आध्यात्मिक रूप से सम्बन्धित मानते हैं अत वे परस्पर विवाह नही करते । कापडिया लिखते हैं "प्रवर संस्कार अथवा ज्ञान के उस समुदाय की ओर संकेत करता है जिससे एक व्यक्ति सम्बन्धित होता है ।"[4] प्रवर आध्यात्मिक दृष्टि से परस्पर सम्बन्धित लोगो के समूह की ओर संकेत करता है न कि रक्त सम्बन्धियो की ओर ।

प्रवर पहले केवल ब्राह्मणो के ही होते थे किन्तु बाद मे क्षत्रिय एव वैश्यो ने भी अपना लिए । शूद्रो के कोई प्रवर नही थे । ऐसी मान्यता है कि धर्म सूत्र काल व मनु के समय मे सप्रवर विवाह पर कठोर नियत्रण नही था । पी० वी० काणे का मत है कि सप्रवर विवाह निषेध तीसरी शताब्दी से प्रारम्भ हुए और नवी शताब्दी तक चलते चलते तो इनका रूप कठोर हो गया । वर्तमान समय मे यज्ञो के प्रचलन एव महत्व मे कमी आ जाने के कारण प्रवर जैसी कोई संस्था नही है । हिन्दू विवाह अधिनियमो द्वारा 'सप्रवर' विवाह सम्बन्धी निषेधो को समाप्त कर दिया गया है ।

(ग) सपिण्ड बहिर्विवाह (*Sapinda* Exogamy)—सप्रवर और सगोत्र बहिर्विवाह के नियम पितृ पक्ष के सम्बन्धियो मे विवाह की स्वीकृति नही देते । सपिण्ड विवाह निषेध के नियम मातृ एव पितृ पक्ष की कुछ पीढियो मे विवाह पर रोक लगाते है । कर्वे सपिण्डता का अर्थ बताती हैं स+पिण्ड (together+ball of rice, a body) अर्थात् मृत व्यक्ति को पिण्ड दान देने वाले या उसके रक्त कण से सम्बन्धित । स्मृति मे सपिण्ड का प्रयोग दो अर्थों मे हुआ है—(i) वे सभी व्यक्ति सपिण्डी है जो एक व्यक्ति का पिण्ड दान करते है (ii) मिताक्षरा के अनुसार वे सभी जो एक ही शरीर से पैदा हुए है सपिण्डी हैं । विज्ञानेश्वर के अनुसार एक ही पिण्ड

1 Vedic Index II p 39 quoted by P H Prabhu *op cit* p 155
2 I Karve *Kinship Organisation in India*
3 P H Prabhu *op cit* p 156
4 Pravara indicates a school of ritual or learning to which a person belonged —K M Kapadia *op cit* p 128
5 I Karve *op cit* p 48

या देह रखने वालो मे एक ही शरीर के अवयव होने के कारण सपिण्डता का सम्बन्ध होता है। पिता और पुत्र सपिण्डी हैं क्योंकि पिता के शरीर के अवयव पुत्र मे आते हैं। इसी प्रकार से माँ व सन्तानें, दादा दादी एव पोते भी सपिण्डी है। सपिण्ड विवाह भी निषेध रहे हैं। रामायण एव महाभारत काल मे सपिण्डता का नियम एक स्थान पर निवास करने वाले पितृ पक्षीय लोगो पर लागू होता था। मध्य युगीन टीकाकारो के अनुसार पिता की ओर से सात व माँ की ओर स पाँच पीढियो मे विवाह नहीं किया जाना चाहिए।

दायभाग के प्रवतक जीमूतवाहन पिण्ड का अर्थ जौ या चावल के आटे से बने गोलो से लेते है जो मृत व्यक्ति को नदी किनारे या जलाशय के पास श्राद्ध या मृत्यु के समय तर्पित किये जाते है और यह तपण का अधिकार एक ही पूवज की सन्तानो को ही है। इस प्रकार से पिण्डो का तपण करने वाले सपिण्डी माने जाते है और वे परस्पर विवाह नही कर सकते। कितनी पीढियो के लोगो को सपिण्डी कहे इस बारे मे मतभेद है। वशिष्ठ ने पिता की ओर से सात व माता की ओर से पाँच गौतम न पिता की ओर से आठ व माता की ओर से छ पीढियो तक के लोगो स विवाह करने पर प्रतिबन्ध लगाया है। गौतम ने तो सपिण्ड विवाह करन वाले को प्रायश्चित करने एव जाति से बहिष्कृत करने की बात कही है।

किन्तु सदैव ही सपिण्डता के नियमो का विवाह मे पालन नहीं हुआ है। कृष्ण ने अपने मामा की लडकी रुक्मणी तथा अर्जुन ने भी अपन मामा की लडकी सुभद्रा स विवाह किया था। कृष्ण ने अपने पिता की ओर स पाँचवी पीढी की लडकी सत्यभामा स भी विवाह किया था। कापडिया लिखते हैं कि पाँचवी छठी और सम्भवत चौथी पीढी म विवाह की परम्परा यादव कुल मे भी थी। देवण भट्ट तथा माधवाचाय ने मामा की लडकी से विवाह का समथन किया था। कर्नाटक व मैसूर के ब्राह्मणो मे बहिन की लडकी तथा दक्षिण भारत मे मामा की लडकी से विवाह करन की प्रथा आज भी प्रचलित है। हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 ने सपिण्ड बहिर्विवाह को मान्यता प्रदान की है। माता एव पिता दोनो पक्षो से तीन तीन पीढियो के सपिण्डियो मे परस्पर विवाह पर रोक लगा दी गयी है। फिर भी यदि किसी समूह की प्रथा अथवा परम्परा इसे निषिद्ध नही मानती है तो ऐसा विवाह भी वैध माना जायगा।

**(घ) ग्राम बहिर्विवाह (Village Exogamy)**— उत्तरी भारत और प्रमुखत पजाब एव दिल्ली के आस पास यह नियम है कि एक व्यक्ति अपने ही गाँव मे विवाह नही करेगा। पजाब मे तो उन गावो म भी विवाह करा की मनाही है जिनकी सीमा व्यक्ति के गाँव की सीमा को छूती हो। इस प्रकार के विवाह का कारण गाँव की जनसख्या का सीमित होना, उसमे एक ही गोत्र वश अथवा परिवार के सदस्यो का निवास होना आदि रहे हैं। सगोत्री एव सपिण्डियो से विवाह के निषेध क कारण ही ऐसे विवाह प्रचलन मे आये। गाँवो म इस प्रकार के विवाह को 'खेड़ा बहिर्विवाह' के नाम से जानते हैं।

(च) टोटम बहिर्विवाह (*Totem* Exogamy)—इस प्रकार के विवाह का नियम भारतीय जनजातियो मे प्रचलित है। टोटम कोई भी एक पशु, पक्षी, पेड पौधा अथवा निर्जीव वस्तु हो सकती है जिसे एक गोत्र के लोग आदर एव श्रद्धा की दृष्टि से देखते है, उसमे अपना आध्यात्मिक सम्बन्ध जोडते है। एक गोत्र का एक टोटम होता है और एक टोटम को मानने वाले परस्पर भाई बहिन समझे जाते हैं अत वे परस्पर विवाह नही कर सकते।

कुछ लोग दिशा बहिर्विवाह का भी पालन करते है। जिस दिशा मे उनकी कन्या का विवाह होता है उसी दिशा से वे पुत्र वधू प्राप्त नही करते हैं। उत्तरी भारत मे एक कहावत प्रचलित है 'पूव की जटी पश्चिम का बटा' अर्थात लडकियाँ पूव दिशा के गावो से ही प्राप्त की जाती है।

बहिर्विवाह के लाभ (Merits of Exogamy)—(i) वस्टरमार्क का मत है कि बहिर्विवाह का प्रचलन अगम्यगमन (incest) अर्थात् निकट सम्बन्धियो से यौन सम्बन्धो को रोकने के लिए हुआ। (ii) प्राणीशास्त्रीय दृष्टि से ऐसा माना जाता है कि बहिर्विवाह से उत्पन्न सन्तानें शारीरिक एव मानसिक दृष्टि से उत्तम होती हैं क्योकि एक ही पीढी मे विवाह करने पर बच्चो मे शारीरिक दोष आने की सम्भावना रहती है। (iii) *बहिर्विवाह के कारण विभिन्न समूहो म सामाजिक एव सास्कृतिक* सम्पर्क बढता है और भेद भाव तथा सघष की सम्भावना समाप्त हो जाती है। (iv) बहिर्विवाह के कारण परिवार मे सुख शान्ति एव प्रेम का वातावरण बना रहता है यदि परिवार मे ही विवाह की छूट दे दी जाय तो परिवार का वातावरण तनाव एव सघषमय हो जायेगा। (v) समनर एव केलर न अन्तर्विवाह को रूढिवादी एव बहिर्विवाह को प्रगतिवादी बताया है।[1] पी० वी० काणे ने लिखा है, "बहिर्विवाह के द्वारा एक पीढी को अपने दोष दूर करने का अवसर मिल जाता है क्योंकि इसके द्वारा रक्त के सयोग हमेशा नवीन रूप ग्रहण करते रहते हैं।"[2]

इस प्रकार बहिर्विवाह समाज को प्रगतिशील बनाता है तथा उसमे सास्कृतिक एकता उत्पन्न करता है, समाज म नैतिकता एव व्यवस्था बनाये रखता है।

बहिर्विवाह से हानियां (Demerits of Exogamy)—बहिर्विवाह से जहाँ कुछ लाभ हैं वही कुछ हानिया भी हैं जैसे—(i) इससे विवाह का क्षेत्र सकुचित हो जाता है अत विवाह साथी चुनाव मे कठिनाइ आती है। ब्लण्ट ने बताया कि पिता की ओर से सात व माँ की ओर से पाच पीढिया को छोडकर विवाह करने से करीब 2121 सम्भाव्य सम्बन्धियो से विवाह अर्जित हो जाता है। (ii) विवाह का दायरा सीमित होने से योग्य वर नही मिल पाते फलस्वरूप दहेज की समस्या पैदा होती है। (iii) दहेज न जुटा पाने के कारण योग्य लडकी को अयोग्य, बूढे एव कुरूप के साथ

1 Endogamy is conservative while exogamy is progressive
—Summner and Keller *The Science of Society* Vol III

2 P V Kane *Gotra and Pravara in Vedic Literature* p 283 84

भी ब्याहनी पड़ती है इस कारण से बेमेल विवाह बढ़ते हैं। इस प्रकार के विवाह विधवाओं की समस्या को भी जन्म देते हैं। इस प्रकार बहिर्विवाह के नियम समाज में कई कुरीतियों को जन्म देने के लिए भी उत्तरदायी हैं।

## अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह
### (*ANULOMA* AND *PRATILOMA* MARRIAGES)

हिन्दुओं में विवाह-साथी के चुनाव में अनेक निषेधों का पालन किया जाता है उनमें अनुलोम या प्रतिलोम के नियम भी महत्वपूर्ण हैं। इन नियमों का पालन लगभग सभी हिन्दू करते हैं। हम यहाँ संक्षेप में इनका उल्लेख करेंगे।

**(1) अनुलोम (*Anuloma*)**

जब एक उच्च वर्ण, जाति, उपजाति कुल एवं गोत्र के लड़के का विवाह ऐसी लड़की से किया जाय जिसका वर्ण, जाति, उप जाति, कुल एवं वंश लड़के से नीचा हो तो ऐसे विवाह को अनुलोम विवाह कहते है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार के विवाह में लड़का उच्च सामाजिक समूह का होता है और लड़की निम्न सामाजिक समूह की। उदाहरण के लिए, एक ब्राह्मण लड़के का विवाह एक क्षत्रिय या वैश्य लड़की से होता है तो इसे हम अनुलोम विवाह कहेंगे। वैदिक काल से लेकर स्मृति काल तक अनुलोम विवाहों का प्रचलन रहा है। मनुस्मृति[1] में लिखा है एक ब्राह्मण को अपने से निम्न तीन वर्णों क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र की कन्या से, क्षत्रिय को अपने से निम्न दो वर्णों वैश्य एवं शूद्र से और वैश्य अपने वर्ण के अतिरिक्त शूद्र कन्या से भी विवाह कर सकता है। किन्तु मनु पाणिग्रहण संस्कार करने की स्वीकृति केवल सवर्ण विवाह के लिए ही देते हैं। याज्ञवल्क्य[2] ने भी ब्राह्मण को चार, क्षत्रिय को तीन, वैश्य को दो एवं शूद्र को एक विवाह करने की बात कही है। मनु ने एक अन्य स्थान पर शूद्र कन्या से द्विज लड़के का विवाह अनुचित भी बताया है। ऐसे विवाह से द्विज का वर्ण दूषित हो जाता है, उसके परिवार का स्तर गिर जाता है और उसकी सन्तान को शूद्र की स्थिति प्राप्त होती है। ऐसे विवाह से उत्पन्न सन्तान को मनु 'पार्षव' (एक जीवित शव) की संज्ञा देते हैं तथा उस सम्पत्ति में भी कोई अधिकार नहीं होता है। प्राचीन समय में अनुलोम विवाह का विस्तार वर्णों तक था। किन्तु जब वर्ण अनेक जातियों एवं उपजातियों में बँट गये और उनमें रक्त शुद्धता एवं ऊँच-नीच की भावना पनपी तथा जैन एवं बौद्ध धर्म का उदय हुआ तो कुलीन विवाह (Hypergamy) का प्रचलन हुआ। कुलीन विवाह का तात्पर्य है एक जाति अथवा उप जाति में विवाह करने पर वधू के लिए वर उच्च कुल या गोत्र से प्राप्त किया जाता है। कुलीन विवाह का सर्वाधिक प्रचलन बंगाल में रहा है जहाँ उच्च कुल के लड़के का विवाह निम्न कुल की

1 मनुस्मृति, 3-13
2 याज्ञवल्क्य स्मृति, 57।

कई लडकियो से होता था। डा० राधाकृष्णन् का मत है कि भारत मे अनुलोम विवाहो का प्रचलन दसवीं शताब्दी तक रहा।[1]

रिजले का मत है कि प्रारम्भ मे अन्तर्वर्ण विवाहो का प्रचलन इण्डो आयन प्रजाति मे स्त्रियो की कमी पूरी करने के लिए हुआ और जैसे ही उनकी आवश्यकता की पूर्ति हो गयी उन्होने ऐसे विवाहो पर प्रतिबन्ध लगा दिया।

**अनुलोम विवाह के प्रभाव हानियाँ (Effects of *Anuloma* Demerits)**—अनुलोम विवाह ने समाज मे अनेक समस्याओ को जन्म दिया। उसके निम्नांकित दुष्परिणाम निकले

(1) **उच्च कुलो मे लडकों की कमी**—जो कुल सामाजिक दृष्टि से ऊँचा माना जाता है उस कुल के लडको से नीचा समझा जाने वाले कुल के लोग अपनी कन्या का विवाह कराना चाहते है, परिणामस्वरूप ऊँचे कुल की लडकियो के लिए वर का अभाव हो जाता है और उन्हे अविवाहित ही रहना पडता है।

(2) **नीचे कुल मे लडकियों की कमी**—नीचे कुल के सभी लोग जब अपनी कन्या का विवाह उच्च कुल मे कर देते है तो नीचे कुल के लडको के लिए कन्या का अभाव हो जाता है और कई लडको का अविवाहित ही रहना पडता है।

(3) **बहुपति एव बहुपत्नी विवाह का जन्म**—ऊँचे कुल के लडके से नीचे कुल के सभी लोग अपनी कन्या का विवाह करना चाहते है। ऐसी स्थिति मे उच्च कुल मे बहुपत्नी विवाह का प्रचलन होगा, दूसरी ओर नीचे कुल म लडकियो का अभाव होन पर बहुपति विवाह का प्रचलन होगा।

(4) **वर मूल्य प्रथा**—जब नीचे कुल वाले उच्च कुल के लडको को वर के रूप मे प्राप्त करना चाहते है तो लडको का अभाव हो जाता है। ऐसी स्थिति मे वर मूल्य प्रथा का प्रचलन बढ जाता है।

(5) **बेमेल विवाह**—अनुलोम विवाह के कारण ऊँचे कुल मे लडकी का विवाह कभी-कभी प्रौढ या वृद्ध व्यक्ति के साथ भी कर दिया जाता है। बगाल एव बिहार मे उच्च कुलो के कई लडको के तो सौ तक पत्नियाँ होती है जिन्हे याद रखने के लिए रजिस्टर रखना होता है। कई बार तो वधू की आयु वर की पुत्री के बराबर होती है।

(6) **बाल विधवाओं मे वृद्धि**—अनुलोम विवाह के कारण उच्च कुल के पुरुषो के कई पत्नियाँ होती है। ऐसे व्यक्ति की मृत्यु हो जाने पर समाज म बाल विधवाओ की सख्या बढ जाती है।

(7) **बाल विवाह का प्रचलन**—अनुलोम विवाह मे प्रत्येक पिता यह चाहता है कि उसकी कन्या का विवाह उच्च कुल के लडके से हो अत ज्योही कोई योग्य वर मिला कि कन्या का विवाह करवा दिया जाता है। कई बार तो चार-पाँच वर्ष से कम आयु की कन्याओ का भी विवाह कर दिया जाता है।

1 S Radhakrishnan *Religion and Society* p 173

(8) **कन्या मूल्य का प्रचलन**—अनुलोम विवाह के कारण नीचे कुलो मे कन्याओ का अभाव हो जाता है जिसके फलस्वरूप कन्या मूल्य का प्रचलन होता है।

(9) **सामाजिक बुराइयाँ**—अनुलोम विवाह प्रथा ने समाज मे रूढिवादिता तथा सामाजिक, पारिवारिक एव वैयक्तिक जीवन म अनेक समस्याओ को जन्म दिया है। निम्न कुल की लडकियो का देर तक विवाह न होने पर समाज म भ्रष्टाचार व नैतिक पतन की समस्या पैदा होती है। कई कन्याएँ तो जब उनके माता पिता द्वारा वर मूल्य नही जुटाया जाता तो वे सामाजिक निन्दा से तग आकर आत्म हत्या तक कर लेती है।

**प्रतिलोम विवाह** (*Pratiloma* Marriage or Hypogamy)

अनुलोम विवाह का विपरीत रूप प्रतिलोम विवाह है। इस प्रकार के विवाह मे लडकी उच्च वण, जाति, उप जाति, कुल या वश की होती है और लडका निम्न वण, जाति, उप जाति, कुल या वश का। इसे परिभाषित करते हुए कापडिया लिखते हैं, "एक निम्न वण के व्यक्ति का उच्च वण की स्त्री के साथ विवाह प्रतिलोम विवाह कहलाता था।"[1] उदाहरण के लिए, यदि एक ब्राह्मण लडकी का विवाह किसी क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र लडके से होता है तो एसे विवाह को हम प्रतिलोम विवाह कहेंगे। इस प्रकार के विवाह म स्त्री की स्थिति निम्न हो जाती है। स्मृतिकारो ने इस प्रकार के विवाह की कटु आलोचना की है। ऐसे विवाह स उत्पन्न सन्तान को 'चाण्डाल' अथवा 'निषाद' कहा जाता था। हिन्दू विवाह वैधता अधिनियम, 1949 एव 1955 के हिन्दू विवाह अधिनियम मे अनुलोम एव प्रतिलोम विवाह दोनो को ही वैध माना गया है।

**प्रश्न**

**(उत्तर सकेत सहित)**

1 हिन्दू विवाह के आदर्शों का उल्लेख कीजिए तथा इसके प्रमुख स्वीकृत प्रकारो का वणन कीजिए। (गोरखपुर, 1969, लखनऊ, 1976)

[सकेत—इस प्रश्न के उत्तर मे हिन्दू विवाह का अर्थ, उद्देश्य एव आठो प्रकारो का उल्लेख किया जायगा।]

2 विवाह का सामाजिक महत्व क्या है ? हिन्दू विवाह के उद्देश्यो पर प्रकाश डालिए। (आगरा, 1974)

[सकेत—इस प्रश्न के उत्तर के लिए इस अध्याय मे दी गयी भूमिका हिन्दू विवाह का अथ एव उद्देश्यो को लिखना होगा।]

3 "हिन्दू विवाह एक धार्मिक सस्कार है।" स्पष्ट कीजिए। (आगरा, 1970 लखनऊ, 1971, 77, गोरखपुर, 1972, 77 राजस्थान, 1977, 78)

[सकेत—इस प्रश्न के उत्तर के लिए सस्कार का अथ बताकर हिन्दू विवाह

1 K M Kapadia *op cit* p 107

की ग्यारह विशेषताओं का उल्लेख करना है जो 'हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार' शीर्षक में दी गयी है।]

4 हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में विवाह के महत्व को समझाइए। यह धार्मिक संस्कार क्यों माना गया है? (गोरखपुर, 1974, रुहेलखण्ड, 1979)
[संकेत—इसमें विवाह के महत्व के दौरान भूमिका एवं उद्देश्य के अन्तर्गत दिये गये विवरण को लिखकर 'हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार' नामक शीर्षक में दिये गये तथ्यों को लिखना होगा।]

5 'हिन्दू विवाह एक संस्कार है।' इस कथन की व्याख्या करते हुए हिन्दू विवाह के उद्देश्यों को समझाइए। (लखनऊ, 1977)
[संकेत—इसमें हिन्दू विवाह के उद्देश्य एवं उसकी सांस्कारिक विशेषताओं को लिखना होगा।]

6 अनुलोम और प्रतिलोम पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
(गोरखपुर, 1968, 70, 76, 78, लखनऊ, 1966, 69, 73)
[संकेत—इस प्रश्न के उत्तर के लिए अनुलोम एवं प्रतिलोम का अर्थ, लाभ एवं हानि लिखना होगा।]

7 हिन्दू समाज में विवाह को नियन्त्रित करने वाले विभिन्न प्रतिबन्धों का पर्यावलोकन कीजिए। (गोरखपुर, 1972)
[संकेत—इस प्रश्न के उत्तर में 'हिन्दू विवाह के नियम' शीर्षक में दिये हुए विवरण को प्रस्तुत करना होगा।]

8 हिन्दुओं में बहिर्विवाह सम्बन्धी नियमों का वर्णन कीजिए।
(गोरखपुर, 1969, 75, 77, लखनऊ, 1976)
[संकेत—इस प्रश्न के अन्तर्गत बहिर्विवाह का अर्थ, स्वरूप एवं उसके लाभ तथा हानियों का उल्लेख करना होगा।]

# 13

# हिन्दू विवाह से सम्बन्धित समस्याएँ
## (PROBLEMS CONNECTED WITH HINDU MARRIAGE)

प्राचीन काल से हिन्दुओं में विवाह एक पवित्र संस्कार के रूप में माना जाता रहा है। इसे प्रत्येक हिन्दू के लिए एक आवश्यक कर्तव्य माना गया है क्योंकि इसके द्वारा विभिन्न ऋणों, पुरुषार्थों एवं आश्रमों की पूर्ति होती है। विवाह धर्म, परिवार, समाज एवं जाति का मुख्य आधार रहा है। प्राचीन भारतीय समाज में विवाह बन्धन में बँधने वाले दोनों ही पक्ष परस्पर एक दूसरे का सम्मान करते और वैवाहिक कर्तव्यों का निभाते हैं। समय के साथ-साथ सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में कई परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों ने हमारी सामाजिक संस्थाओं को भी प्रभावित किया और विवाह संस्था भी अछूती नहीं रही। समाज में रूढ़ियाँ बढ़ती रहीं और बिना तर्क के उन्हें स्वीकार किया गया। ईश्वर के नाम पर धर्म एवं समाज में अनेक कुप्रथाओं ने जन्म लिया और हमारे धर्मभीरु समाज ने उन्हें और दृढ़ता प्रदान की। के० एम० पणिक्कर लिखते हैं, "हिन्दू जीवन जंगली पेड़ पौधों के समान अव्यवस्थित ढंग से बढ़ता गया। प्रत्येक प्रकार की रूढ़ि को चाहे वह कितनी ही विघातक क्यों न थी ग्रहण कर लिया गया और धर्म के आवरण में उसे स्वीकृति प्रदान कर दी गयी। राजकीय और धार्मिक सत्ता के अभाव में रूढ़ियों ने बड़े स्वाभाविक ढंग से धर्माचार्यों का स्थान ग्रहण कर लिया और बनावटी पवित्र ग्रन्थों के माध्यम से अहंकारवश अपने को ईश्वरीय अध्यादेशों के रूप में व्यक्त किया।"[1]

उपर्युक्त परिस्थितियों के कारण हिन्दू समाज में विवाह से सम्बन्धित अनेक समस्याओं ने जन्म लिया। इनमें से प्रमुख हैं, दहेज प्रथा बाल विवाह, विधवा विवाह निषेध, विवाह विच्छेद, अन्तर्जातीय विवाह निषेध आदि। हम यहाँ इन समस्याओं का संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

### दहेज प्रथा
### (DOWRY SYSTEM)

वर्तमान में दहेज एक गम्भीर समस्या बनी हुई है। इसके कारण माता पिता के लिए लड़कियों का विवाह एक अभिशाप बन गया है। सामान्यतः दहेज उस धन या

1 के० एम० पणिक्कर, हिन्दू समाज निर्णय के द्वार पर, पृ० 40-41।

सम्पत्ति को कहते हैं जो विवाह के समय कन्या पक्ष द्वारा वर पक्ष को दिया जाता है। फेयरचाइल्ड के अनुसार, 'दहेज वह धन या सम्पत्ति है जो विवाह के अवसर पर लड़की के माता पिता या अन्य निकट सम्बन्धियों द्वारा दी जाती है।"[1] मैक्स रेडिन (Max Radin) लिखते हैं, "साधारणतः दहेज वह सम्पत्ति है जो एक पुरुष विवाह के समय अपनी पत्नी या उसके परिवार से प्राप्त करता है।'[2] दहेज निरोधक अधिनियम, 1960 के अनुसार, 'दहेज का अर्थ कोई ऐसी सम्पत्ति या मूल्यवान निधि है, जिसे (i) विवाह करने वाले दोनों पक्षों में से एक पक्ष ने दूसरे पक्ष को, अथवा (ii) विवाह में भाग लेने वाले दोनों पक्षों में से किसी एक पक्ष के माता-पिता या किसी अन्य व्यक्ति ने किसी दूसरे पक्ष अथवा उसके किसी व्यक्ति को विवाह के समय, विवाह के पहले या विवाह के बाद विवाह की आवश्यक शर्त के रूप में दी हो अथवा देना स्वीकार किया हो।" दहेज की यह परिभाषा अत्यन्त विस्तृत है जिसमें वर मूल्य एवं कन्या मूल्य दोनों ही आ जाते हैं। साथ ही इसमें उपहार एवं दहेज में अन्तर किया गया है। दहेज विवाह की एक आवश्यक शर्त के रूप में दिया जाता है जबकि उपहार देने वाला अपनी इच्छा से देता है।

कभी कभी वर-मूल्य एवं दहेज में अन्तर किया जाता है। दहेज लड़की के माता पिता स्नेहवश प्रदान करते हैं, यह पूर्व निर्धारित नहीं होता और कन्या पक्ष के सामर्थ्य पर निर्भर होता है जबकि वर-मूल्य वर के व्यक्तिगत गुण, शिक्षा, व्यवसाय, कुलीनता तथा परिवार की स्थिति आदि के आधार पर वर पक्ष की ओर से माँगा जाता है और विवाह से पूर्व ही तय कर लिया जाता है। किन्तु वर्तमान में दहेज एवं वर-मूल्य में विशेष भेद नहीं समझा जाता है क्योंकि अधिकांशतः दहेज का प्रचलन वर मूल्य के रूप में या विवाह की आवश्यक शर्त के रूप में है।

दहेज का प्रचलन प्राचीन काल से ही रहा है। ब्राह्म विवाह में पिता वस्त्र एवं आभूषणों से सुसज्जित कन्या का विवाह योग्य वर के साथ करता था। रामायण एवं महाभारत काल में भी दहेज का प्रचलन था। सीता एवं द्रौपदी आदि को दहेज में आभूषण, घोड़े, हीरे जवाहरात एवं अनेक बहुमूल्य वस्तुएँ देने का उल्लेख मिलता है। उस समय दहेज कन्या के प्रति स्नेह के कारण स्वेच्छा से ही दिया जाता था। दहेज का प्रचलन राजपूत काल में तेरहवीं एवं चौदहवीं सदी से प्रारम्भ हुआ और कुलीन परिवारों ने अपनी सामाजिक स्थिति के अनुसार दहेज की माँग प्रारम्भ कर दी। बाद में अन्य लोगों में भी इसका प्रचलन हुआ। उच्च शिक्षा प्राप्त, धनी, अच्छे व्यवसाय या नौकरी में लगे हुए एवं उच्च कुल के वर को प्राप्त करने के लिए आज कन्या के पिता को अच्छा-खासा दहेज देना होता है। शिक्षा एवं सामाजिक चेतना

1 Fairchild *Dictionary of Sociology* p 99

2 Ordinarily dowry is that property which a man receives when he marriages either from his wife or from her family
—Max Radin *Encyclopaedia of Social Sciences* Vol I p 230

की वृद्धि के साथ साथ दहेज घटने की बजाय बढा ही है और इसने वीभत्स रूप ग्रहण कर लिया है।

**दहेज के कारण (Causes of Dowry)**

दहेज प्रथा को जन्म देने के लिए निम्नांकित कारण उत्तरदायी हैं

(1) **जीवन-साथी चुनने का सीमित क्षेत्र**—जब कन्या का विवाह अपने ही वर्ण, जाति या उपजाति मे करना होता है तो विवाह का दायरा बहुत सीमित हो जाता है और योग्य वर के लिए दहेज देना आवश्यक हो जाता है।

(2) **बाल विवाह**—बाल विवाह के कारण वर एवं वधू का चुनाव उनके माता पिता द्वारा किया जाता है और वे अपने लाभ के लिए दहेज की माँग करते हैं।

(3) **विवाह की अनिवार्यता**—हिन्दुओं मे कन्या का विवाह अनिवार्य माना गया है। इसका लाभ उठाकर वर पक्ष के लोग अधिकाधिक दहेज की माग करते हैं।

(4) **कुलीन विवाह**—कुलीन विवाह के कारण ऊँचे कुलों के लडकों की माँग बढ जाती है और उन्हे प्राप्त करने के लिए कन्या पक्ष को दहेज देना होता है।

(5) **शिक्षा एवं सामाजिक प्रतिष्ठा**—वर्तमान समय मे शिक्षा एवं व्यक्तिगत प्रतिष्ठा का अधिक महत्व होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति अपनी कन्या का विवाह शिक्षित एवं प्रतिष्ठित वर के साथ करना चाहता है जिसके लिए उसे दहेज देना होता है क्योंकि ऐसे वर की समाज मे कमी पायी जाती है।

(6) **धन का महत्व**—वर्तमान मे धन का महत्व बढ गया है और इसके द्वारा व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा निर्धारित होती है। जिस व्यक्ति को अधिक दहेज प्राप्त होता है उसकी प्रतिष्ठा भी बढ जाती है, यही नही अधिक दहेज देने वाले व्यक्ति की भी सामाजिक प्रतिष्ठा बढ जाती है।

(7) **महँगी शिक्षा**—वर्तमान मे उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए काफी धन खर्च करना पडता है जिसे जुटाने के लिए वर पक्ष के लोग दहेज की माँग करते हैं। शिक्षा के लिए लिये गये ऋण का चुकारा भी दहेज द्वारा किया जाता है।

(8) **प्रदर्शन एवं झूठी प्रतिष्ठा**—अपनी प्रतिष्ठा एवं शान का प्रदर्शन करने के लिए भी लोग अधिकाधिक दहेज लेते एवं देते हैं।

(9) **गतिशीलता मे वृद्धि**—वर्तमान समय मे यातायात के साधनो की उन्नति एवं विकास हुआ है, नगरीकरण एवं औद्योगीकरण हुआ है परिणामस्वरूप एक जाति एवं उप जाति की गतिशीलता मे वृद्धि हुई है और वे दूर-दूर तक फैल गये हैं। इस कारण अपनी ही जाति या उप-जाति मे वर ढूढना कठिन हो गया है। फलस्वरूप दहेज प्रथा को बढावा मिला है।

(10) **सामाजिक प्रथा**—दहेज का प्रचलन समाज मे एक सामाजिक प्रथा के रूप मे भी पाया जाता है। जो व्यक्ति अपनी कन्या के लिए दहेज देता है वह अपने पुत्र के लिए भी दहेज प्राप्त करना चाहता है।

**दहेज प्रथा के दुष्परिणाम (Evil Effects of Dowry System)**

दहेज के परिणामस्वरूप समाज मे अनेक समस्याओ ने जन्म लिया है, इनमे से प्रमुख इस प्रकार हैं

(1) **बालिका वध**—दहेज की अधिक माँग होने के कारण कई व्यक्ति कन्या को पैदा होते ही मार डालते है । इसका प्रचलन राजस्थान मे विशेष रूप से रहा है किन्तु वर्तमान मे यह प्रथा प्राय समाप्त हो चुकी है ।

(2) **पारिवारिक विघटन**—कम दहेज देने पर कन्या को ससुराल मे अनेक प्रकार के कष्ट दिये जाते है । दोनो परिवारो मे तनाव एव संघर्ष पैदा होते हैं और पति पत्नी का सुखी वैवाहिक जीवन उजड जाता है ।

(3) **आत्महत्या**—जिन लडकियो को अधिक दहेज नही दिया जाता उनका ससुराल मे अधिक सम्मान नही होता, उन्हे कई प्रकार से तंग किया जाता है । इस स्थिति से मुक्ति पाने के लिए कन्या आत्महत्या तक कर लती है । दहेज के अभाव मे कन्या का देर तक विवाह न होने पर उसे सामाजिक निन्दा का पात्र बनना पडता है, ऐसी स्थिति मे भी लडकी आत्महत्या कर लेती है ।

(4) **ऋणग्रस्तता**—दहेज देने के लिए कन्या के पिता को रकम उधार लेनी होती है या अपनी जमीन एव जेवरात, मकान आदि को गिरवी रखना पडता है या बेचना पडता है और परिवार ऋणग्रस्त हो जाता है । ब्याज की ऊँची दर के कारण रकम चुकाना कठिन हो जाता है । अधिक कन्याएँ होने पर तो आर्थिक दशा और भी बिगड जाती है ।

(5) **निम्न जीवन स्तर**—कन्या के लिए दहेज जुटाने के लिए परिवार को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति मे कटौती करनी पडती है । बचत करने के चक्कर मे परिवार का जीवन स्तर बहुत निम्न हो जाता है ।

(6) **बहुपत्नी विवाह**—दहेज प्राप्त करने के लिए एक व्यक्ति कई विवाह करता है इससे बहुपत्नित्व का प्रचलन बढता है ।

(7) **बेमेल विवाह**—दहेज के अभाव मे कन्या का विवाह अशिक्षित, वृद्ध कुरूप अपंग एव अयोग्य व्यक्ति के साथ भी करना पडता है । ऐसी स्थिति मे कन्या को जीवन भर कष्ट उठाना पडता है ।

(8) **विवाह की समाप्ति**—दहेज के अभाव मे कई लोग अपने वैवाहिक सम्बन्ध कन्या पक्ष से समाप्त कर देते हैं। कई बार तो दहेज के अभाव मे तोरण द्वार से बारात वापस लौटा ले जाते है और कई कन्याओ को कुँआरी ही रहना पडता है ।

(9) **अनैतिकता**—दहेज के अभाव मे कन्या का देर तक विवाह न होने पर वे अपनी यौन इच्छाओ की पूर्ति अनैतिक तरीको से करती है इससे भ्रष्टाचार बढता है ।

(10) **अपराध को प्रोत्साहन**—दहेज जुटाने के लिए कई अपराध भी किये जाते है रिश्वत, चोरी एव गबन के द्वारा धन एकत्र किया जाता है, आत्म-हत्या एव भ्रष्टाचार मे वृद्धि होती है ।

(11) **मानसिक बीमारियाँ**—दहेज एकत्र करने एवं योग्य वर की तलाश मे माता-पिता चिंतित रहते है। माता पिता एवं लडकियो मे चिन्ता के कारण कई मानसिक बीमारिया पैदा हो जाती है।

(12) **स्त्रियो की निम्न स्थिति**—दहेज के कारण स्त्रियो की सामाजिक स्थिति गिर जाती है, उनका जन्म अपशकुन माना जाता है और उन्हे भावी विपत्ति का सूचक माना जाता है।

**दहेज के लाभ** (Merits of Dowry)

कुछ लोग दहेज के पक्ष मे निम्नांकित तर्क देते है

(i) दहेज के कारण कुरूप कन्याओ का भी विवाह हो जाता है।

(ii) दहेज न जुटाने की स्थिति मे कन्याओ का देर तक विवाह न होने से बाल विवाह समाप्त हो जाते हैं।

(iii) दहेज के अभाव मे देर तक विवाह न होने पर माता पिता उन्हे शिक्षा दिलाते रहते हैं इससे स्त्री शिक्षा मे वृद्धि होती है।

**दहेज प्रथा को समाप्त करने हेतु सुझाव** (Suggestions to end the Dowry System)

डा० अल्टेकर ने लिखा है कि हिन्दू समाज के लिए यह उचित समय है कि दहेज की दूषित प्रथा को जिसने अनेक अबाध कन्याओ को आत्महत्या के लिए प्रेरित किया है समाप्त कर दे।[1] इसके लिए निम्नांकित सुझाव दिये जा सकते है

(1) **स्त्री शिक्षा**—स्त्री शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार किया जाय ताकि वे पढ लिखकर स्वयं कमाने लगेंगी, उनकी पुरुष पर आर्थिक निर्भरता समाप्त होगी तथा इसके परिणामस्वरूप विवाह की अनिवार्यता भी न रहेगी।

(2) **जीवन साथी चुनाव की स्वतन्त्रता**—लडके व लडकियो को अपना जीवन-साथी स्वयं चुनने की स्वतन्त्रता प्राप्त होने पर अपने आप दहेज प्रथा समाप्त हो जायेगी।

(3) **प्रेम विवाह**—प्रेम विवाह को स्वीकृति होने पर भी दहेज की समस्या समाप्त हो जायेगी।

(4) **अन्तर्जातीय विवाह**—अन्तर्जातीय विवाह की छूट होने पर विवाह का दायरा विस्तृत होगा फलस्वरूप दहेज समाप्त हो जायेगा।

(5) **लडकों को स्वावलम्बी बनाया जाय**—जब लडके पढ लिखकर स्वयं अर्जन करने लगेंगे तो योग्य वर का अभाव दूर हो जायगा उनके लिए प्रतियोगिता समाप्त हो जायेगी फलस्वरूप दहेज भी घट जायेगा।

(6) **स्वस्थ जनमत**—दहेज विरोधी जनमत तैयार किया जाय। लोगों मे जागृति पैदा की जाय जिससे कि वे दहेज का विरोध करें। इसके लिए अधिकाधिक

1 A S Altekar *op cit* p 71

प्रचार एवं प्रसार के साधनों का उपयोग किया जाय। समाज सुधारकों एवं युवकों द्वारा इस ओर विशेष प्रयत्न किये जाने चाहिए।

(7) दहेज विरोधी कानून—दहेज प्रथा की समाप्ति के लिए कठोर कानूनों का निर्माण किया जाय एवं दहेज माँगने वालों को बड़ी से बड़ी सजा दी जाय।

(8) युवा आन्दोलन—दहेज प्रथा को समाप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि युवक स्वयं संगठित होकर इसका विरोध करें। इसके लिए दृढ़ निश्चय का होना अनिवार्य है।

## बाल-विवाह
## (CHILD MARRIAGE)

बाल विवाह ऐसे विवाह को कहते है जिसमें लड़की का विवाह रजोदर्शन से पूर्व और लड़के का विवाह किशोरावस्था से पूर्व कर दिया जाता है। कानूनी दृष्टि में 18 वर्ष से कम आयु की लड़की और 21 वर्ष से कम आयु के लड़के का विवाह बाल विवाह है। हिन्दू धर्मशास्त्रों में विवाह की आयु को लेकर बड़ा मतभेद पाया जाता है। वैदिक युग में 15 या 16 वर्ष की कन्या और 20 वर्ष के लड़के का विवाह होता था। गृहसूत्र में 'नग्निका' अथवा 'नग्निका' के विवाह का सुझाव दिया गया है। आठ से बारह वर्ष की कन्या को 'नग्निका' कहा गया है। डा० घोष ने लिखा है कि मातृदत्त ने 'नग्निका' का अर्थ बताते हुए लिखा है, 'वह कन्या जो अपने पति द्वारा एकान्त में नग्न की जा सके अर्थात् यौन सम्बन्ध स्थापित करने योग्य हो जाय।' जबकि कुछ विद्वान 'नग्निका' का अर्थ नंगी लड़की से लेते हैं—अर्थात् कम उम्र की लड़की जो नंगी रहती है का विवाह।[1] महाभारत में 16 वर्ष की कन्या को नग्निका कहा गया है। महाभारत में पति-पत्नी की आयु क्रमशः 30 वर्ष व 10 वर्ष या 21 वर्ष व 7 वर्ष बतायी गयी है। मनु संहिता में 30 वर्ष के पुरुष को 12 वर्ष की कन्या व 24 वर्ष के पुरुष को 8 वर्ष की कन्या से विवाह करने की सलाह दी गयी है। वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में यौवन प्राप्त लड़की का ही विवाह की स्वीकृति दी है। प्राचीन समय में प्रत्येक पुरुष वेदों के अध्ययन में 12 वर्ष लगाता था और आठ वर्ष की आयु में यज्ञोपवीत होने के बाद ही वेदों का अध्ययन करने जाता था। इस प्रकार विवाह की आयु 20 वर्ष से कम नहीं थी। स्मृतिकारों ने और विशिष्टतः ईसा के 400 वर्ष पूर्व से बाल-विवाह का समर्थन किया जाने लगा। बौधायन ने धर्मसूत्र में वयस्कता प्राप्त लड़की के विवाह कर देने की बात कही है। पाराशर ने लिखा है कि आठ वर्ष की लड़की 'गौरी', नौ वर्ष की 'रोहिणी' तथा दस वर्ष की 'कन्या' कहलाती है। इसके बाद वह रजस्वला हो जाती है। उस कन्या के माता पिता तथा बड़े भाई नरक में जाते हैं जिसका विवाह रजस्वला होने पर भी नहीं होता। ब्रह्मपुराण में तो चार वर्ष की कन्या का विवाह कर देने की बात कही गयी है। भारत के कई गाँवों में तो

1 P H Prabhu *op cit* p 180

छोटे छोटे बच्चों को थाली में बैठाकर अथवा माता-पिता गोद में लेकर विवाह करा देते हैं। महाराष्ट्र में तो दो गर्भवती स्त्रियाँ परस्पर यह तय कर लेती है कि उनमें से एक के लड़का व दूसरे के लड़की हुई तो उनका विवाह करा दिया जायगा। इस प्रकार भारत में बाल विवाह की गम्भीर समस्या है।

बाल विवाह के कारण (Causes of Child Marriage)

(1) स्त्री की पवित्रता पर बल—हिन्दुओं में स्त्री की यौन पवित्रता पर बल दिया गया है और ऐसे विवाहों को श्रेष्ठ माना गया है जो रजोदर्शन से पूर्व हो जाय

(2) स्त्री स्वतन्त्र होने योग्य नहीं—हिन्दुओं में स्त्री को स्वतन्त्र होने योग्य नहीं माना है। बचपन में माता पिता, विवाह के बाद पति एवं वृद्धावस्था में पुत्र का उस पर अधिकार होता है। विवाह द्वारा पिता अपना आधिपत्य उसके पति को सौंपता है। यह हस्तान्तरण भी उस समय पूर्व हो जाना चाहिए जब वह विरोध कर सके। इसलिए भी बाल विवाह को प्रोत्साहन दिया गया।

(3) आक्रमणकारियों का प्रभाव—समय समय पर भारत में कई आक्रमण कारी जातियाँ आयीं जो भोगवाद एवं तन्त्रवाद में विश्वास करती थीं तथा मैथुन में जाति भेदभाव को नहीं मानते थे। उनसे बचने के लिए भी बाल विवाह किये जाने लगे।

(4) ब्राह्मण साहित्य में विकृतियाँ—ब्राह्मण साहित्य में धीरे धीरे लैंगिक विकृतियाँ आ गयीं, कामोत्तेजक प्रेमकाव्य लिखे गये, साहित्य एवं कला में अश्लीलता आ गयी। इस विकृति को रोकने व नैतिक पतन से मुक्ति के लिए बाल विवाह प्रारम्भ हुए।

(5) अनुलोम विवाह पर रोक—अनुलोम विवाह पर रोक ने भी पिता को अच्छा वर पाने के लिए अपने ही वर्ण में खोज करने को प्रेरित किया, विवाह में देरी करके पिता जोखिम उठाना नहीं चाहता था अतः बाल विवाह को प्रोत्साहन मिला।

(6) धर्मशास्त्रों की स्वीकृति—धर्मशास्त्रकारों एवं स्मृतिकारों ने वयस्कता प्राप्त होने से पूर्व ही विवाह करने को पुनीत कार्य माना और बाद में होने वाले विवाहों को पाप।

(7) कृषि—भारत कृषि प्रधान देश है, खेती में काम करने के लिए अधिक लोगों की आवश्यकता होती है। कम उम्र में विवाह के कारण प्रजनन काल लम्बा होता है अतः अधिक सन्तानें होती हैं जो खेती के काम में सहायता प्रदान करती हैं।

(8) जाति अन्तर्विवाह—अपनी ही जाति में विवाह करने के नियम के कारण प्रत्येक पिता अपनी कन्या के लिए उत्तम वर चाहता है अतः अच्छा वर मिलते ही शीघ्र विवाह कर देता है।

(9) दहेज—दहेज की बढ़ती माँग से बचने के लिए भी कम आयु में विवाह होने लगे।

(10) संयुक्त परिवार—संयुक्त परिवार मे पति पत्नी पर परिवार चलाने का भार न होने के कारण माता पिता छोटे छोटे बच्चो का विवाह करा देते है।

(11) अशिक्षा—अशिक्षित लोग भी बाल विवाह को उचित मानते है।

(12) सामाजिक निन्दा से बचने के लिए भी बाल विवाह प्रारम्भ हुए।

(13) सती प्रथा—सती प्रथा ने भी बाल विवाहो को जन्म दिया। पिता की मृत्यु होने पर माँ पिता के साथ सती हो जाती फिर लडकी की देख रेख कौन करे अत बाल-विवाह द्वारा उसका दायित्व पति को सौप दिया जाता।

(14) स्त्रियो की गिरी हुई दशा—स्त्रियो की सामाजिक प्रतिष्ठा मध्य युग एव स्मृतिकाल मे बहुत गिर गयी और उसका विवाह कम आयु म ही किया जाने लगा।

**बाल विवाह से लाभ (Merits of Child Marriage)**

(1) कम आयु म विवाह होने पर पति पत्नी मे अनुकूलन हो जाता है और उनका वैवाहिक जीवन आनन्दमय व्यतीत होता है। (ii) बाल-विवाह होने पर पुरुष पर परिवार मे भरण पोषण का भार आ जाता है अत वह शीघ्र ही आत्म निर्भर बनने का प्रयत्न करता है। (iii) बाल-विवाह के कारण नैतिक पतन नही हो पाता एव यौन भ्रष्टाचार नही फैलता।

**बाल-विवाह से हानिया (Demerits of Child Marriage)**

(i) कम आयु मे विवाह करा देने मे छोटे बच्चो पर परिवार का भार आ पडता है जिसे पूरा करने मे वे असमर्थ होते हैं। (ii) कम आयु मे यौन सम्बन्ध स्थापित होने से लडके व लडकियो के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पडता है और राष्ट्र का स्वास्थ्य स्तर गिर जाता है। (iii) इसके कारण दुर्बल सन्तानें पैदा होती है। (iv) बच्चो के व्यक्तित्व का समुचित विकास नहीं हो पाता। (v) बाल विवाह के कारण कम उम्र मे सन्तानें होने पर माताओं की मृत्यु-दर मे वृद्धि हो जाती है। (vi) बाल विवाह म प्रजनन काल लम्बा होने से अधिक बच्चे पैदा होने हैं इससे जन सख्या वृद्धि को बढ़ावा मिलता है। (vii) बाल विवाह के कारण बेमेल विवाह होते है आगे चलकर पति पत्नी मे मन मुटाव और सघर्ष बढते है। (viii) ब्लण्ट का मत है कि कम आयु म विवाह के कारण शीघ्र सन्तानें होने से स्त्रियों का स्वास्थ्य गिर जाता है और कम आयु मे ही उनकी मृत्यु हो जाती है। इससे पुरुषो की अधिकता एव स्त्रियों की कमी होने से समाज मे असन्तुलन पैदा होता है।

बाल विवाह के विरुद्ध आन्दोलन (*Movement against Child Marriage*)—19वीं सदी से ही बाल विवाह के विरुद्ध राजा राममोहन राय एव ईश्वर चन्द्र विद्यासागर आदि ने प्रयत्न किय। 1860 म लडकियो के विवाह की आयु 10 वर्ष एव 1891 म 12 वर्ष तय कर दी गयी। 1929 म 'बाल विवाह निरोधक अधिनियम' पास किया गया। इसके अनुसार विवाह के लिए लडकी की 15 एव लडके की 18 वर्ष की आयु तय की गयी। हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 म भी विवाह

की इसी आयु को स्वीकार किया गया किन्तु 1976 मे एक सशोधन द्वारा लडका की विवाह की आयु 21 वर्ष व लडकियो की 18 वर्ष कर दी गयी।

किन्तु कानूनी उपाय भी अधिक सफल नही हुए क्योंकि एक बार विवाह हो जाने पर उसे रद्द घोषित नही किया जा सकता था तथा इसमे पुलिस को हस्तक्षेप की इजाजत नही दी गयी है, दण्ड बहुत कम रखा गया है, विवाह के एक वर्ष बाद कोई कार्यवाही नही की जा सकती तथा ज्ञातव्य अपराध होने के कारण सरकार तब तक कोई कार्यवाही नही करेगी जब तक ऐसे विवाह की कोई शिकायत न करे और कोई भी यह कार्य नहीं करना चाहेगा। इसके अतिरिक्त प्रचार का अभाव होने, अशिक्षा एव धार्मिक विश्वासो के कारण भी बाल विवाह का प्रचलन रहा है।

वर्तमान मे शिक्षा के प्रसार, स्त्रियो म जागरुकता अन्तर्जातीय विवाहो की वृद्धि, पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव, सयुक्त परिवार के विघटन आदि के कारण बाल-विवाह स्वय समाप्त हो रहे हैं।

## विधवा पुनर्विवाह
## (WIDOW REMARRIAGE)

विधवा वह स्त्री है जिसके पति की मृत्यु हो गयी हो और जिसने दूसरा विवाह नही किया हो। ऐसी स्त्री का पुन विवाह करना ही विधवा पुनर्विवाह कहलाता है। हिन्दुओ म पत्नी की मृत्यु होने पर पति को तो दूसरा विवाह करने की छूट दी गयी है क्योंकि पत्नी के बिना वह धार्मिक कार्य सम्पन्न नही कर सकता। किन्तु दूसरी ओर पति की मृत्यु होने पर पत्नी को दूसरा विवाह करने की मनाही है, उसे कई सुविधाओ से वचित कर दिया जाता है वह अच्छा भोजन नही कर सकती, अच्छे वस्त्र तेल, फूल इत्र एव सुगन्धित वस्तुओ का प्रयोग नही कर सकती। इस प्रकार विवाह की यह सुविधा एकपक्षीय है जो पुरुष ने अपने लिए तो रखी पर स्त्री को इससे वचित कर दिया।

वैदिक काल मे विधवा विवाह पर कोई प्रतिबन्ध नही थे। ऋग्वेद म दाह सस्कार सम्बन्धी ऋचा म मृत पति की चिता के पास बैठी उसकी विधवा से यह कहा गया है कि वह उठ खडी हो और जीवितो के ससार मे आ जाय। "वह जिसके पास तुम पडी हो निर्जीव है, आओ इस पति के प्रति तुम्हारा पत्नीत्व, जिसने तुम्हारा हाथ पकडा और प्रेम किया पूर्ण हो चुका है।' अथर्ववेद मे यह जोड दिया गया "उसके निकट जाओ जो तुम्हारा हाथ पकडता है और तुम्हें प्रेम करता है। तुम उससे पति पत्नी के सम्बन्ध मे प्रविष्ट हो चुकी हो।" वृहद्देवता नामक ग्रन्थ मे छोटा भाई बडे भाई की पत्नी को चिता पर चढने मे रोकता है। अश्वलायन के अनुसार पति के प्रतिनिधि के रूप म उसका भाई, शिष्य अथवा कोई प्रौढ सेवक उसे वहाँ से उठाये। ऋग्वेद मे एक स्थान पर एक उपमा इस प्रकार दी गयी है 'जैसे कोई विधवा अपने पति के भाई को अपनी शय्या पर आमन्त्रित करती है।" महाभारत काल मे विधवा विवाह प्रचलित थे। महामुनि व्यास ने विचित्रवीर्य की विधवा से सन्तान पैदा करने

के लिए आमन्त्रित किया गया। रामायण में भी उल्लेख है कि बालि की मृत्यु के बाद उसकी पत्नी से उसके छोटे भाई सुग्रीव ने तथा विभीषण ने अपने भाई की विधवा स्त्री से विवाह किया था। कौटिल्य स्त्री को निर्देश देते हैं कि जब पति बाहर चला जाय और उसको उसके पति या उसके भाई से भरण-पोषण प्राप्त न हो, पति साधु हो जाय या मर जाय तो सात मासिक धर्म तक तथा बालक हो तो एक वर्ष तक प्रतीक्षा के बाद अपने पति के भाई से विवाह कर लेना चाहिए। इसी प्रकार से प्राचीन समय में 'नियोग' की प्रथा थी जिसमें पति की मृत्यु हो जाने पर पुत्र-प्राप्ति के लिए पत्नी को पति के भाई या निकट सम्बन्धी से यौन सम्बन्ध स्थापित करने की छूट दी गयी है। स्मृति एवं काम-सूत्र में ऐसी स्त्री को 'पुनर्भू' और उसकी सन्तान को 'पुनर्भव' कहा गया है। स्मृति में दो परिस्थितियों में पुनर्विवाह की स्वीकृति दी गयी है—(i) जब किसी स्त्री का विवाह जबरन किया गया हो (ii) विवाह की पूर्णता (consuma tion) से पूर्व ही पति की मृत्यु हो गयी हो।

उपर्युक्त सारे प्रमाणों से प्रकट होता है कि प्राचीन काल में विधवा पुनर्विवाह प्रचलित थे। देवर शब्द का अर्थ भी द्वितीय वर से लिया गया है। किन्तु धीरे-धीरे विधवा पुनर्विवाह पर रोक लगी, नियोग को पुरातन नियमों का उल्लंघन माना गया और पुनर्विवाह करने वाली विधवा की स्थिति भी निम्न कर दी गयी। वात्स्यायन 'पुनर्भू' का उल्लेख एक भोगिनी स्त्री के रूप में करते हैं। याज्ञवल्क्य विधवा को फल फूल एवं जड़ों पर जीवन बसर करने एवं पवित्र बन रहने को कहते हैं। ईसा के 600 वर्ष बाद स्मृतिकारों ने विधवा विवाह को निन्दनीय माना और अल्टेकर का मत है कि ग्यारहवीं सदी के बाद तो बाल विधवाओं तक के पुनर्विवाह पर रोक लगा दी गयी। किन्तु यह सब हिन्दू समाज के उच्च वर्गों में ही लागू था, अस्सी प्रतिशत हिन्दू जो निम्न वर्ग में आते हैं उनमें तो विधवा पुनर्विवाह प्रचलित रहे हैं।[1]

जब विधवा पुनर्विवाह निषेध हुए तो सती प्रथा को बल मिला। राजा राम मोहन राय आदि के प्रयत्नों से 1929 में सती प्रथा पर रोक लगा दी गयी। अब विधवाओं का जीवन और भी दयनीय हो गया। अब उन्हें अनेक प्रकार के कष्टों एवं प्रलोभनों का सामना करना पड़ा, उनका जीवन अभिशाप हो गया, वे जीवित रहते हुए भी मृतक की तरह रहने लगीं किसी भी शुभ कार्य में उनकी उपस्थिति अपशकुन समझी जाने लगी, उन्हें श्रृंगार करने की स्वीकृति नहीं दी गयी, उन्हें बाल कटवाने होते, और उन्हें पति की सम्पत्ति से वंचित कर दिया गया। इस कष्टमय स्थिति से मुक्ति दिलाने के लिए ईश्वर चन्द्र विद्यासागर के प्रयत्नों से 1856 में विधवा पुनर्विवाह अधिनियम' बना।

ब्लन्ट ने लिखा है कि पिछली सदी के अन्त में उत्तर प्रदेश में 24% जातियाँ विधवा पुनर्विवाह निषेध का पालन करती थीं। मेन का मत है कि दक्षिणी भारत की

---

1. A S Altekar op cit p 156

काश जातियां तथा गूजर, अहीर, कुरमी और गडरिया आदि मे विधवा पुनर्विवाह लित है। उत्तरी बिहार मे ब्राह्मण, कायस्थ, राजपूत एव बनियो के अतिरिक्त यों म विधवा पुनर्विवाह प्रचलित है। एस० एन० अग्रवाल ने बताया कि ग्रामीण ी मे 62% और पश्चिमी भारत म 41% जातियो मे, जो निम्न जातियाँ हैं, वा पुनर्विवाह पाया जाता है। ग्रामीण रोहतक मे 54% ब्राह्मण विधवाओ मे से न, 12 बनिया विधवाओ मे से एक ने, एक क्षत्रिय अरोड़ा विधवा मे से एक ने विवाह किया तथा ग्रामीण दिल्ली की 19 ब्राह्मण विधवाओ मे से एक ने भी पुन- ह नही किया। 1971 की जनगणना के अनुसार भारत मे विधवाओ की सख्या रोड 30 लाख 25 हजार के लगभग है। स्पष्ट है कि निम्न जातियो मे तो वा पुनर्विवाह का प्रचलन है किन्तु उच्च मे नही और उनके लिए ही यह एक र समस्या बनी हुई है।

विधवा विवाह निषेध के परिणाम (Consequences of Widow remarr- e Prohibition)—विधवा विवाह के निषध के अनेक दुष्परिणाम निकले है— इसके कारण सती प्रथा का जन्म हुआ। (ii) पारिवारिक सघर्ष पैदा हुए और ा पारिवारिक जीवन कष्टमय हो गया, उसे अनेक प्रकार की यातनाएँ दी जाने । (iii) कष्टमय जीवन से मुक्ति पाने के लिए अनेक विधवाओ ने अपना धर्म र्तित कर लिया और वे मुसलमान या ईसाई बन गयी। (iv) सयम-पूर्ण जीवन ीत करने के अभाव म कई विधवा स्त्रियाँ अनैतिक सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं भ्रष्टाचार पनपता है एव अनैतिकता को बढ़ावा मिलता है। (v) भरण पोषण भाव मे एव काम इच्छा की पूर्ति के लिए कई विधवा स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति अपना हैं। (vi) दुखी वैधव्य से मुक्ति पाने के लिए कई बार विधवाएँ आत्महत्या तक लेती हैं। इस प्रकार यह समाज म अपराधो के लिए भी उत्तरदायी है।

विधवा-पुनर्विवाह का औचित्य (Justification of Widow remarriage)— वा पुनर्विवाह के औचित्य को सिद्ध करने के लिए निम्नांकित तर्क दिये जाते है

(1) विधवाओं की हृदयस्पर्शी अवस्था—समाज मे विधवाओ को अनेक धाओ से वचित किया गया है और उस पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लागू किये हैं जैसे वह अच्छे वस्त्र तथा आभूषण नही पहन सकती, शृंगार नही कर सकती, कार्यों मे उसकी उपस्थिति अपशकुन मानी जाती है, उन्हें परिवार म अनेक नाएँ दी जाती हैं। इन सभी परिस्थितियो से मुक्ति दिलाने के लिए नैतिकता का जा है कि विधवाओ को पुनर्विवाह की छूट दी जाय।

(2) यौन सम्बन्धी नैतिकता का दोहरा मापदण्ड—पुरुष को तो स्त्री की ु के बाद दूसरा विवाह करने की समाज ने छूट दी है किन्तु स्त्री को नही। यौन बन्धी इस दोहरे मापदण्ड को समाप्त करने के लिए विधवा पुनर्विवाह होने हिए

के लिए आमन्त्रित किया गया। रामायण में भी उल्लेख है कि वालि की मृत्यु के बाद उसकी पत्नी से उसके छोटे भाई सुग्रीव ने तथा विभीषण ने अपने भाई की विधवा स्त्री से विवाह किया था। कौटिल्य स्त्री को निर्देश देते हैं कि जब पति बाहर चला जाय और उसको उसके पति या उसके भाई से भरण पोषण प्राप्त न हो, पति साधु हो जाय या मर जाय तो सात मासिक धर्म तक तथा बालक हो तो एक वर्ष तक प्रतीक्षा के बाद अपने पति के भाई से विवाह कर लेना चाहिए। इसी प्रकार से प्राचीन समय में 'नियोग' की प्रथा थी जिसमें पति की मृत्यु हो जाने पर पुत्र प्राप्ति के लिए पत्नी को पति के भाई या निकट सम्बन्धी से यौन सम्बन्ध स्थापित करने की छूट दी गयी है। स्मृति एवं काम सूत्र में ऐसी स्त्री को **'पुनर्भू'** और उसकी सन्तान को **'पुनर्भव'** कहा गया है। स्मृति में दो परिस्थितियों में पुनर्विवाह की स्वीकृति दी गयी है—(i) जब किसी स्त्री का विवाह जबरन किया गया हो, (ii) विवाह की पूर्णता (consumation) से पूर्व ही पति की मृत्यु हो गयी हो।

उपर्युक्त सारे प्रमाणों से प्रकट होता है कि प्राचीन काल में विधवा पुनर्विवाह प्रचलित थे। देवर शब्द का अर्थ भी दूसरे वर से लिया गया है। किन्तु धीरे धीरे विधवा पुनर्विवाह पर रोक लगी नियोग को पुरातन नियमों का उल्लंघन माना गया और पुनर्विवाह करने वाली विधवा की स्थिति भी निम्न कर दी गयी। वात्स्यायन 'पुनर्भू' का उल्लेख एक भोगिनी स्त्री के रूप में करते हैं। याज्ञवल्क्य विधवा को फल फूल एवं जड़ों पर जीवन बसर करने एवं पवित्र बन रहने को कहते हैं। इसके 600 वर्ष बाद स्मृतिकारों ने विधवा विवाह को निन्दनीय माना और आल्टेकर का मत है कि ग्यारहवीं सदी के बाद तो बाल विधवाओं तक के पुनर्विवाह पर रोक लगा दी गयी। किन्तु यह सब हिन्दू समाज के उच्च वर्गों में ही लागू था, अस्सी प्रतिशत हिन्दू जो निम्न वर्ग में आते हैं उनमें तो विधवा पुनर्विवाह प्रचलित रहे हैं।[1]

जब विधवा पुनर्विवाह निषेध हुए तो सती-प्रथा को बल मिला। राजा राम मोहन राय आदि के प्रयत्नों से 1929 में सती प्रथा पर रोक लगा दी गयी। अब विधवाओं का जीवन और भी दयनीय हो गया। अब उन्हें अनेक प्रकार के कष्टों एवं प्रलोभनों का सामना करना पड़ा, उनका जीवन अभिशाप हो गया, वे जीवित रहते हुए भी मृतक की तरह रहने लगी, किसी भी शुभ कार्य में उनकी उपस्थिति अपशकुन समझी जाने लगी उन्हें श्रृंगार करने की स्वीकृति नहीं दी गयी, उन्हें बाल कटवाने होते, और उन्हें पति की सम्पत्ति से वंचित कर दिया गया। इस कष्टमय स्थिति से मुक्ति दिलाने के लिए ईश्वर चन्द्र विद्यासागर के प्रयत्नों से 1856 में विधवा पुनर्विवाह अधिनियम' बना।

क्रूक ने लिखा है कि पिछली सदी के अन्त में उत्तर प्रदेश में 24% जातियाँ विधवा पुनर्विवाह निषेध का पालन करती थी। मेन का मत है कि दक्षिणी भारत की

1 — A S Altekar *op cit* p 156

अधिकांश जातियां तथा गूजर, अहीर, कुरमी और गडरिया आदि में विधवा पुनर्विवाह प्रचलित है। उत्तरी बिहार में ब्राह्मण, कायस्थ, राजपूत एवं बनियों के अतिरिक्त जातियां में विधवा पुनर्विवाह प्रचलित है। एस० एन० अग्रवाल ने बताया कि ग्रामीण देहली में 62% और पश्चिमी भारत में 41% जातियों में जो निम्न जातियाँ हैं, विधवा पुनर्विवाह पाया जाता है। ग्रामीण रोहतक में 54% ब्राह्मण विधवाओं में से तीन ने, 12 बनिया विधवाओं में से एक ने, एक क्षत्रिय अरोड़ा विधवा में से एक ने पुनर्विवाह किया तथा ग्रामीण दिल्ली की 19 ब्राह्मण विधवाओं में से एक ने भी पुनर्विवाह नहीं किया। 1971 की जनगणना के अनुसार भारत में विधवाओं की संख्या 2 करोड़ 30 लाख 25 हजार के लगभग है। स्पष्ट है कि निम्न जातियों में तो विधवा पुनर्विवाह का प्रचलन है किन्तु उच्च में नहीं और उनके लिए ही यह एक भयंकर समस्या बनी हुई है।

**विधवा विवाह निषेध के परिणाम (Consequences of Widow remarriage Prohibition)**—विधवा विवाह के निषेध के अनेक दुष्परिणाम निकले हैं—(i) इसके कारण सती प्रथा का जन्म हुआ। (ii) पारिवारिक संघर्ष पैदा हुए और उनका पारिवारिक जीवन कष्टमय हो गया, उन्हें अनेक प्रकार की यातनाएँ दी जाने लगी। (iii) कष्टमय जीवन से मुक्ति पाने के लिए अनेक विधवाओं ने अपना धर्म परिवर्तित कर लिया और वे मुसलमान या ईसाई बन गयीं। (iv) संयम-पूर्ण जीवन व्यतीत करने के अभाव में कई विधवा स्त्रियाँ अनैतिक सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं इससे भ्रष्टाचार पनपता है एवं अनैतिकता को बढ़ावा मिलता है। (v) भरण पोषण के अभाव में एवं काम इच्छा की पूर्ति के लिए कई विधवा स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति अपना लेती हैं। (vi) दुःखी वैधव्य से मुक्ति पाने के लिए कई बार विधवाएँ आत्महत्या तक कर लेती हैं। इस प्रकार यह समाज में अपराधों के लिए भी उत्तरदायी है।

**विधवा-पुनर्विवाह का औचित्य (Justification of Widow remarriage)**—विधवा पुनर्विवाह के औचित्य को सिद्ध करने के लिए निम्नांकित तर्क दिये जाते हैं

(1) **विधवाओं की हृदयस्पर्शी अवस्था**—समाज में विधवाओं को अनेक सुविधाओं से वंचित किया गया है और उन पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लागू किये गये हैं जैसे वह अच्छे वस्त्र तथा आभूषण नहीं पहन सकती, शृंगार नहीं कर सकती, शुभ कार्यों में उसकी उपस्थिति अपशकुन मानी जाती है, उन्हें परिवार में अनेक यातनाएँ दी जाती हैं। इन सभी परिस्थितियों से मुक्ति दिलाने के लिए नैतिकता का तकाजा है कि विधवाओं को पुनर्विवाह की छूट दी जाय।

(2) **यौन-सम्बन्धी नैतिकता का दोहरा मापदण्ड**—पुरुष को तो स्त्री की मृत्यु के बाद दूसरा विवाह करने की समाज ने छूट दी है किन्तु स्त्री को नहीं। यौन सम्बन्धी इस दोहरे मापदण्ड को समाप्त करने के लिए विधवा पुनर्विवाह होने चाहिए

(3) **आत्म-संयम—एक विडम्बना**—हिन्दू धर्मशास्त्रों में स्त्री से संयमित जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा की गयी है जो सम्भव नहीं है। काम पूर्ति एक प्राकृतिक आवश्यकता है, इसके अभाव में कई शारीरिक एवं मानसिक रोग पैदा होते हैं। अतः विधवा पुनर्विवाह अत्यावश्यक है।

(4) **व्यभिचार को रोकने के लिए**—यौन अनाचार को रोकने के लिए आवश्यक है कि विधवाओं को पुनर्विवाह की स्वीकृति दी जाय।

(5) **वेश्यावृत्ति एवं धर्म-परिवर्तन** को रोकने के लिए भी विधवा पुनर्विवाह आवश्यक है। क्योंकि भरण-पोषण एवं यौन इच्छाओं की पूर्ति के अभाव में कई विधवायें वेश्या बन जाती हैं या ईसाई व मुसलमान बन जाती हैं।

(6) **अपराध रोकने हेतु**—विधवा पुनर्विवाह स्वीकृत होने पर यौन अपराध, भ्रूण हत्या एवं आत्म-हत्याओं की संख्या घटेगी।

(7) **व्यक्तित्व के विकास के लिए**—विधवा स्त्रियों एवं उनके बच्चों के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है कि उनका पुनर्विवाह कराया जाय।

(8) **समाज के एक बड़े अंग की समस्या**—यह समस्या समाज की लगभग ढाई करोड़ विधवाओं की समस्या है जिसे हल करना मानवता का तकाजा है।

(9) **धर्मशास्त्रों की स्वीकृति**—प्राचीन धर्मशास्त्रों में भी विधवाओं के पुनर्विवाह की स्वीकृति दी गयी है। वैदिक काल में ऐसे विवाह प्रचलित थे। वशिष्ठ, कौटिल्य तथा नारद आदि ने भी विधवा पुनर्विवाह को स्वीकृति दी है केवल मध्ययुग में इस पर रोक लगादी गयी थी। अतः विधवा पुनर्विवाह धर्मसम्मत है।

(10) **बहुमत की पुकार**—समाज के अधिकांश व्यक्ति विधवा पुनर्विवाह के पक्ष में हैं। कापड़िया ने 513 छात्रों का एक साक्षात्कार लिया उनमें से 345 ने विधवा पुनर्विवाह के पक्ष में अपनी राय प्रकट की।[1] अतः जनमत का आदर किया जाना चाहिए।

(11) **मानवता की माँग**—मानवता की माँग है कि स्त्री व पुरुष को सभी अधिकार समान रूप से दिये जायें। उन्हें भी जीवित रहने का अधिकार प्रदान किया जाना चाहिए। जीने का अधिकार एक सार्वभौमिक मौलिक अधिकार है।

विधवाओं की समस्याओं से द्रवित होकर और इसके औचित्य के कारण ही कई समाज सुधारकों तथा आर्य समाज, ब्रह्म समाज एवं सर जे० पी० ग्राण्ट आदि ने विधवा पुनर्विवाह के लिए अनेक प्रयास किये, परिणामस्वरूप 1856 में विधवा पुनर्विवाह अधिनियम बना। लेकिन मात्र कानून बनने से ही समस्या का समाधान नहीं हो जाता है जब तक कि समाज ऐसे विवाहों को स्वीकृति प्रदान न करे और ऐसे विवाह करने वालों को सम्मान न दे। वर्तमान में स्त्रियों की शिक्षा एवं आर्थिक आत्म निर्भरता में वृद्धि, जाति के नियन्त्रण की शिथिलता, औद्योगीकरण एवं नगरी

1 K M Kapadia *op cit* p 176

करण आदि के साथ-साथ विधवा पुनर्विवाह के पक्ष मे भी जनमत बढ़ रहा है और ऐसे विवाहो की सख्या बढ़ी है, किन्तु इसम युवको को रचनात्मक भूमिका निभानी होगी, उन्हें आगे आना होगा और समाज की रूढ़िवादी मान्यताओ का ताडना होगा। समाज सुधारको, सरकार एव जातीय सगठनो को इस विवाहो को प्रोत्साहन देना होगा तभी यह भीषण समस्या हल हो सकती है।

## अन्तर-जातीय विवाह
## (INTER CASTE MARRIAGE)

वैदिक युग म अन्तर-वर्ण विवाह प्रचलित थे किन्तु ये भी अनुलोम विवाह के नियमो द्वारा बंधे हुए थे। आठवी सदी तक अन्तर-जातीय विवाहो की छूट थी किन्तु बाद म धीरे धीरे इन पर कठोर नियन्त्रण लागू कर दिय गये। घुरिये का मत है कि अन्तर-जातीय विवाह पर प्रतिबन्ध का मुख्य कारण रक्त की पवित्रता बनाये रखने की इच्छा, वैदिक सस्कृति को स्थायित्व प्रदान करने का प्रयास तथा ब्राह्मणो की श्रेष्ठता को स्थिर बनाये रखने की भावना, जन्म पर अधिक जोर देना, बाह्य आक्रमण से रक्षा, मुसलमानो एव अन्य धर्मों स रक्षा आदि ही है।[1] धर्मशास्त्रो म अपनी जाति म विवाह को श्रेष्ठ बताया गया है। एक वर्ण का कई जातियो म एव उप जातियो विभाजन हो जाने स भी अपनी ही जाति मे विवाह को उचित माना गया और अन्तर-जाति विवाह का पाप एव अपराध माना गया, ऐसे व्यक्ति को जाति से बहिष्कृत किया जाने लगा। अन्तर-जाति विवाह स विवाह का दायरा बहुत सीमित हो गया।

अंग्रेजो के राज्य म भारत म अनेक परिवर्तन आये तो विवाह सस्था भी अछूती न रही। विवाह के मूल्य बदले, जातीय नियमो म शिथिलता आयी और अन्तर-जातीय विवाह होने लगे। अन्तर जातीय विवाहो का निम्नांकित कारको ने प्रोत्साहन दिया है।

अन्तर-जातीय विवाह को प्रोत्साहन देने वाले कारक (Factors Promoting Inter-Caste Marriage)

(1) पाश्चात्य शिक्षा—इसके कारण प्राचीन अन्ध विश्वास समाप्त हुए, नवीन सामाजिक मूल्य पनपे, विभिन्न समूहो मे सास्कृतिक समानता पैदा हुई, वे निकट आये एव परस्पर विवाह करने लगे।

(2) सह शिक्षा—सह शिक्षा के कारण विभिन्न जातियो के युवक-युवतियो को निकट आने का अवसर मिला और उन्होने जातीय बन्धन तोडकर विवाह किये।

(3) छापाखाना तथा यातायात के साधन—यातायात के नवीन साधनो ने भौगोलिक एव सामाजिक दूरी समाप्त की और लोगो म गतिशीलता बढी। छापाखाने के आविष्कार स विभिन्न पुस्तकें एव पत्र पत्रिकाएं प्रकाशित हुई जिन्होंने जातीय भेद-भाव को दूर करने मे योग दिया।

1 G S Ghurye *Caste Class and Occupation* pp 174 175

(4) औद्योगीकरण एवं नगरीकरण—औद्योगीकरण ने नगरीकरण को जन्म दिया। शहरों में विभिन्न जातियों के लोग एक ही उद्योग में साथ-साथ काम करने लगे, इससे पारस्परिक समझ बढ़ी और जातीय कठोरता कम हुई।

(5) विज्ञान का प्रभाव—नवीन वैज्ञानिक खोजों ने यह बताया कि शुद्ध रक्त जैसी कोई चीज नहीं है, इससे रक्त की शुद्धता के आधार पर ऊँच-नीच का भेद मिटा, साथ ही विज्ञान ने वर्णसंकर (Hybrid) सन्तान को गुणयुक्त माना, इससे भी अन्तर-जाति विवाहों को प्रोत्साहन मिला।

(6) समानता का सिद्धान्त—प्रजातन्त्र में जाति, संस्कृति, रंग, लिंग, जन्म, धर्म के भेद के स्थान पर समानता को अधिक महत्व दिया जाता है, इससे भी जातीय ऊँच नीच की भावना समाप्त हुई।

(7) राष्ट्रीय आन्दोलन—स्वतन्त्रता संग्राम के दौरान विभिन्न जातियों के लोगों ने सभी प्रकार के भेद-भाव भुलाकर राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लिया, उनमें भाई चारे की भावना पनपी और वे परस्पर निकट आये। इससे भी अन्तर जाति विवाहों को प्रोत्साहन मिला।

(8) स्त्री स्वतन्त्रता—शिक्षा ने स्त्रियों को प्राचीन बन्धनों से मुक्त किया, वे घर की चारदीवारी से बाहर आयीं और अपने जीवन-साथी का चुनाव स्वयं करने लगीं।

(9) सुधार आन्दोलन—ब्रह्म समाज आर्य समाज रामकृष्ण मिशन, प्रार्थना समाज आदि ने जाति भेदभाव एवं छुआछूत को दूर करने के लिए प्रयत्न किये उन्होंने भी अन्तर जाति विवाहों को प्रोत्साहन दिया।

(10) दहेज प्रथा—दहेज की अत्यधिक माँग ने भी लोगों को अपनी जाति से बाहर जीवन साथी खोजने को प्रेरित किया।

(11) प्रेम विवाह—प्रेम विवाह ने जातीय बन्धनों को अस्वीकार किया।

(12) वैधानिक सुविधाएँ—समय-समय पर विवाह से सम्बन्धित बने विभिन्न विधानों ने भी अन्तर जाति विवाह को स्वीकृति दी। इससे भी ऐसे विवाह करने वाले लोगों को कानूनी संरक्षण प्राप्त हुआ। 'विशेष विवाह अधिनियम', 'हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955' आदि ने अन्तर जाति विवाहों को स्वीकृति प्रदान की।

**अन्तर्जातीय विवाह के लाभ या औचित्य (Merits of Justification of Inter Caste Marriage)**

घुरिये लिखते हैं, "विभिन्न सम्बन्धों को दृढ़ करने और राष्ट्रीयताओं के पोषण के लिए अन्तर्जातीय विवाह द्वारा रक्त का एकीभाव एक प्रभावशाली साधन है।"[1]

इसके लाभ अग्रांकित हैं

1 G S Ghurye *op cit* p 323

**(1) जातिवाद की समाप्ति**—घुरिय कहते है कि अन्तर्जातीय विवाह के द्वारा जाति प्रथा उपेक्षित होगी, इससे जातिविहीन वातावरण पनपेगा और एसी पीढी का पोषण होगा जो जाति प्रथा की कट्टर विरोधी होगी।[1]

**(2) सामाजिक व राष्ट्रीय एकता**—भारत एक एसा देश है जिसमे विभिन्न धर्मों, प्रजातियो, सम्प्रदायो, जातियो एव भाषाभाषियो के लोग निवास करते हैं। कई बार इनमे परस्पर सघर्ष हुए और इससे राष्ट्रीय एकता को ठेस पहुची है। सामाजिक एव राष्ट्रीय एकता को प्राप्त करने मे अन्तर्जातीय विवाह सहायक होगे।

**(3) दहेज से मुक्ति**—अपनी जाति में ही विवाह करने के कारण दहेज की माँग बढ जाती है। अन्तर्जातीय विवाह से विवाह का दायरा बढेगा व दहेज प्रथा समाप्त होगी।

**(4) उत्तम वशानुक्रमण**—अपनी ही जाति में विवाह करने से वशानुक्रमण के गुणो मे कमी आ जाती है, अन्तरजातीय विवाह से उत्तम वाहकाणु एव उत्तम सन्तानें प्राप्त होती हैं।

**(5) विधवा विवाह एव बाल विवाह की समस्या का समाधान**—अन्तरजातीय विवाह होने पर विवाह का दायरा विस्तृत हो जायेगा, विधवाओ को भी वर प्राप्त हो सकेंगे एव एसे विवाह लडके लडकियो की स्वय की इच्छा से होने पर बाल-विवाह भी समाप्त हो जायेंगे।

**(6) योग्य जीवन साथी**—अन्तरजातीय विवाह के कारण जीवन साथी की खोज केवल जाति तक ही सीमित नही रहेगी वरन् दूसरी जाति के योग्य व्यक्ति से भी विवाह हो सकेगा।

**(7) जनसख्या की समस्या का हल**—यह भारत की एक ज्वलन्त समस्या है इसका एक कारण बाल विवाह है। अन्तरजातीय विवाह से बाल विवाह कम हो जावेंगे एव अधिक सन्तानोत्पत्ति नहीं हो पायेगी।

उपयुक्त लाभो के कारण ही आज अन्तरजातीय विवाहो को सभी वर्गों के लोगो द्वारा स्वीकृति मिलने लगी है किन्तु विरोधियो का मत है कि ऐसे विवाह से दम्पत्ति अपने समाज व जाति से कट जाते हैं और उन्हे समूह के लोग कोई सहायता नही देते।

अन्तर-जाति विवाह को अधिक प्रोत्साहन न मिलने के कई कारण हैं जसे—(i) रक्त शुद्धता की गलत धारणा (ii) प्रत्यक जाति द्वारा अपने व्यावसायिक ज्ञान की गुप्तता को अपनी जाति तक ही सीमित रखने की भावना (iii) जाति की उत्पत्ति को ईश्वरीय देन मानना, (iv) विभिन्न जातियो मे पायी जाने वाली सांस्कृतिक भिन्नता, (v) जाति पचायत द्वारा कठोर दण्ड दिये जाने का भय, (vi) रुढिवादिता, अशिक्षा एव अज्ञान, (vii) अन्तरजाति विवाह करने पर दहेज न मिलना आदि।

इतना होने पर भी शिक्षा के प्रसार, औद्योगीकरण, नगरीकरण एव नवीन

1 *Ibid* p 236

सामाजिक विधानो के ज्ञान एव वृद्धि के साथ साथ इस प्रकार के विवाहो मे वृद्धि होगी एव इनके पक्ष मे जनमत तैयार होगा ।

## विवाह-विच्छेद की समस्या
## (PROBLEM OF DIVORCE)

सामाजिक एव कानूनी रूप से पति पत्नी के विवाह सम्बन्धो की समाप्ति ही विवाह-विच्छेद कहलाता है । विवाह विच्छेद पति पत्नी के वैवाहिक एव पारिवारिक जीवन मे आसमजस्य एव असफलता का सूचक है । इसका अर्थ है जिन उद्देश्यो को लेकर विवाह किया गया वे सफल नही हुए है । यह एक दुखद घटना है, विश्वास की समाप्ति है, प्रतिज्ञा एव मोह भग की स्थिति है । इसमे एक साथी दूसरे का मूल्याकन कर लेता है और जिसे रद्द कर दिया जाता है वह अपने आपको अपमानित एव कुचला हुआ महसूस करता है, उसके आत्माभिमान को चोट पहुचती है । यह एक वैधानिक, पारिवारिक एव सामाजिक समस्या भी है ।

हिन्दुओ मे स्त्री के लिए पतिव्रत तथा सतीत्व के पालन की बात कही गयी है, अत स्त्री द्वारा पति को त्यागने की कल्पना भी नही की जा सकती और ऐसा करना उसके लिए सामाजिक व धार्मिक दृष्टि से अनुचित माना गया है । यद्यपि वैदिक काल मे विवाह विच्छेद के कुछ उदाहरण है । मनु, नारद, वृहस्पति तथा पाराशर आदि ने भी कुछ परिस्थितियो मे विवाह विच्छेद का स्वीकृति दी है । मनु ने स्त्री के बाँझ होने, उसके बच्चे जीवित न रहने या केवल लडकिया ही होने अथवा झगडालू होने पर दूसरा विवाह करने की बात कही है । कौटिल्य ने भी ऐसी अवस्थाओ मे पति का दूसरा विवाह करने की स्वीकृति दी है ।

पति के जीवित रहते दूसरा विवाह करने वाली स्त्री को 'पुनर्भू' कहा गया है । यदि पति दुश्चरित्र हो, बहुत समय से विदेश मे हो, अपने बन्धु बान्धवो के प्रति कृतघ्न हो, जाति से बहिष्कृत कर दिया गया हो, पुरुषत्वहीन हो या उससे पत्नी के जीवन को सकट उत्पन्न हो सकता हो तो ऐसी स्थिति मे कौटिल्य पति को त्यागने की बात कहते हैं । पारस्परिक शत्रुता के कारण भी विवाह विच्छेद हो सकता था । नारद एव पाराशर ने पति के नपुसक होने, अज्ञात होने, मर जाने, साधु हो जाने, जाति च्युत हो जाने की अवस्था मे स्त्री को दूसरा वर ढूढने की स्वीकृति दी है ।

किन्तु ईसा काल के प्रारम्भ से ही नैतिकता की दुहाई देकर विवाह विच्छेद को अधार्मिक, अपवित्र एव घृणित कार्य समझा जाने लगा और उसके बाद तो विवाह विच्छेद लगभग समाप्त ही हो गये थे । ईसा के 1000 वर्ष बाद तो यह धारणा दृढ हो गयी कि कन्यादान सिर्फ एक ही बार किया जाता है और पति चाहे कितना ही दुश्चरित्र एव अत्याचारी क्यो न हो उसे नही छोडा जा सकता । विवाह-विच्छेद की स्वीकृति भी आठ प्रकार के विवाहो मे से अन्तिम चार मे ही दी गयी थी । प्रथम चार प्रकार के विवाहो को 'धर्म्य' माना गया और उनमे विवाह विच्छेद सम्भव नही था । विवाह विच्छेद की समस्या का सम्बन्ध हिन्दुओ की उच्च जातियो से ही है । निम्न-जातियो मे तो आज भी विवाह विच्छेद होते है । हिन्दुओ मे पुरुषों को तो

विवाह-विच्छेद की स्वीकृति दी गयी है किन्तु स्त्रियों का नहीं। इसका कारण समाज में पुरुषों की प्रधानता एवं स्त्रियों की निम्न सामाजिक स्थिति है।

**विवाह विच्छेद के विपक्ष में तर्क (Arguments against Divorce)**

कई लोग विवाह विच्छेद को उचित नहीं मानते। वे इसके विपक्ष में जो तर्क देते हैं, वे इस प्रकार से हैं—(i) हिन्दू विवाह एक पवित्र धार्मिक संस्कार और जन्म जन्मान्तर का बन्धन है। इसे तोड़ना अक्षम्य अपराध है। (ii) इससे पारिवारिक विघटन में वृद्धि होगी। (iii) विवाह विच्छेद से स्त्रियों के भरण-पोषण की समस्या पैदा हो जायगी क्योंकि वे आर्थिक रूप से पति पर ही निर्भर हैं। (iv) इससे बच्चों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा, उनके लालन पालन की समस्या पैदा हो जायगी और उनके व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पायगा।

**विवाह विच्छेद का औचित्य (Justification of Divorce)**

**(1) समानता का अधिकार**—वर्तमान में स्त्री पुरुषों को सभी क्षेत्रों में समान अधिकार प्रदान किये गये हैं, ऐसी स्थिति में विवाह विच्छेद का अधिकार केवल पुरुषों का ही नहीं वरन् स्त्रियों को भी प्राप्त होना चाहिए।

**(2) पारिवारिक संगठन को सुदृढ़ बनाने के लिए**—सुखी वैवाहिक एवं पारिवारिक जीवन के लिए विवाह विच्छेद का अधिकार दोनों ही पक्षों को समान रूप से प्राप्त होना चाहिए। संयुक्त परिवार में तो स्त्री परिवार के अन्य लोगों पर भी निर्भर थी किन्तु वर्तमान समय में एकाकी परिवारों में पति पत्नी एवं बच्चे ही होते हैं। पति के दुराचारी होने या वैवाहिक दायित्व न निभाने पर पत्नी व बच्चों का कोई अन्य सहारा नहीं होता। ऐसी दशा में स्त्री व बच्चों की रक्षा के लिए एवं परिवार को सुसंगठित बनाने के लिए विशिष्ट परिस्थितियों में विवाह-विच्छेद की स्वीकृति दी जानी चाहिए।

**(3) स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए**—स्त्रियों को विवाह विच्छेद का अधिकार मिलने पर उनकी पारिवारिक एवं सामाजिक प्रतिष्ठा में वृद्धि होगी, पुरुष स्त्री के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन होगा, पति-पत्नी में अविश्वास के भाव समाप्त होंगे, तो परस्पर प्रेम बढ़ेगा। साथ ही पुरुषों की मनमानी पर भी अंकुश लगेगा। फिर प्राचीन काल में भी स्त्रियों को यह अधिकार प्राप्त था तो वर्तमान में क्यों न हो?

**(4) वैवाहिक समस्याओं से मुक्ति पाने के लिए**—वर्तमान में हिंदू विवाह में सम्बन्धित अनेक समस्याएँ पायी जाती हैं जैसे—बाल विवाह, अनमेल विवाह, दहेज, विधवा विवाह निषेध आदि। इन समस्याओं से मुक्ति के लिए विवाह-विच्छेद का अधिकार दिया जाना चाहिए।

**(5) सामाजिक जीवन को सन्तुलित बनाने के लिए**—वर्तमान समय में हमारे सामाजिक जीवन में अनेक परिवर्तन आये हैं। स्त्रियों ने शिक्षा ग्रहण की है, वे आर्थिक, राजनैतिक सांस्कृतिक एवं सामाजिक क्षेत्र में पुरुषों के समकक्ष कार्य कर रही हैं। ऐसी दशा में उन्हें विवाह के क्षेत्र में पुरुषों के समान अधिकार न देने से समाज

व्यवस्था म असतुलन पैदा होगा। इम स्थिति से वचने के लिए एव मानवीय दृष्टि काण से भी स्त्रिया को विवाह-विच्छेद का अधिकार प्राप्त होना चाहिए।

स्त्रिया को विवाह विच्छेद का अधिकार प्राप्त नही होने से अनेक पारिवारिक एव सामाजिक समस्याओ का जन्म हुआ है। किन्तु मात्र कानून बना देने से ही विवाह-विच्छेद प्रारम्भ नही होगे जब तक कि स्त्रिया की रूढिवादी मनोवृत्ति, पतिव्रत एव सतीत्व के आदर्शों मे समयानुकूल परिवर्तन नही आयें और वे स्वय अधिकार का उपयोग करने को तैयार न हो।

इस प्रकार हम देखते है कि हिन्दू विवाह से सम्बन्धित आज अनेक समस्याए पायी जाती हैं। शिक्षा-प्रसार सुधार आन्दोलना के प्रभाव, औद्योगीकरण एव नगरीकरण के कारण इन समस्याओ के विरोध म जनमत बनने लगा है और धीरे धीरे इनमे कमी भी आयी है। इधर सरकार ने भी विवाह से सम्बन्धित कई कानून पारित किय है ताकि इन समस्याओ से मुक्ति पायी जा सके। विवाह से सम्बन्धित विभिन्न विधानो और उनके प्रभावो का उल्लेख हमने पृथक अध्याय मे किया है।

## प्रश्न
### (उत्तर सकेत सहित)

1 भारत की प्रमुख वैवाहिक समस्याओ का विवेचन कीजिए। (गोरखपुर, 1961, लखनऊ, 1973)

[सकेत—इस प्रश्न के उत्तर के लिए विवाह की प्रमुख समस्याओ जैसे बाल विवाह दहेज प्रथा, विधवा विवाह निषेध, अन्तर्जातीय विवाह, तलाक आदि का सक्षेप मे उल्लेख करना होगा।]

2 बाल विवाह प्रथा के दोष गुण क्या है? भारतवर्ष मे बाल विवाह प्रथा के उन्मूलन के लिए समय समय पर कौन से कानून बनाय गये है? (आगरा, 1967, 1978)

[सकेत—इसमे बाल विवाह का अर्थ, उसके दोष एव गुण तथा बाल विवाह से सम्बन्धित अधिनियमो का उल्लेख किया जायगा। बाल विवाह अधिनियम का उल्लेख करने के लिए 'भारत मे सामाजिक विधान' वाले अध्याय को देखें।]

3 बाल-विवाह के कारणो व प्रभावो की विवेचना कीजिए तथा उसे रोकने के प्रयत्नो के प्रभावो का मूल्याकन कीजिए। (राजस्थान, 1976)

[सकेत—इसमे बाल विवाह का अर्थ, कारण, लाभ हानि एव 'बाल विवाह के विरुद्ध आन्दोलन' नामक शीर्षक मे दिये गये विवरण को प्रस्तुत करना होगा।]

4 आपके मत मे दहेज प्रथा का किन किन परिस्थितियो म जन्म दिया है? इसके क्या लाभ-हानि रहे हैं? (आगरा, 1967)

[सकेत—इसम दहेज का अर्थ, दहेज के कारण, दहेज के दुष्परिणाम एव लाभो का उल्लेख करना होगा।]

5 भारत में दहेज एक बुराई क्यों है ? इसे समाप्त करने के लिए किये गये प्रयत्नों का मूल्यांकन कीजिए। (राजस्थान, 1977)

[संकेत—इसमें दहेज का अर्थ बताकर इसकी बुराई को बताने के लिए दहेज के दुष्परिणाम लिखकर दहेज विरोधी कानून का उल्लेख करना होगा। दहेज विरोधी कानून के लिए "भारत में सामाजिक विधान" वाले अध्याय का सहारा लिया जायेगा।]

6 विधवा विवाह का नैतिक औचित्य क्या है ? इसके कानूनी और सामाजिक पहलू क्या है ? (आगरा, 1968, रुहेलखण्ड, 1979)

[संकेत—इसमें विधवा पुनर्विवाह में दी गयी भूमिका, 'विधवा पुनर्विवाह का औचित्य' शीर्षक में दिया गया विवरण देकर विधवा पुनर्विवाह अधिनियम का उल्लेख करना होगा, इसके लिए 'भारत में सामाजिक विधान' अध्याय की भी सहायता लेनी होगी।]

7 क्या अन्तर्जातीय विवाह जातिवाद एवं जाति-संघर्ष की समस्याओं को सुलझा सकता है ? कारण बताइए। (राजस्थान, 1975)

[संकेत—इसमें अन्तर्जातीय विवाह का अर्थ एवं उसके लाभों का उल्लेख करना होगा।]

8 हिन्दू विवाह में विवाह विच्छेद के पक्ष और विपक्ष में तर्क प्रस्तुत कीजिए। (राजस्थान, 1978)

[संकेत—इसमें विवाह विच्छेद की भूमिका, विपक्ष में तर्क और औचित्य का उल्लेख करना होगा।]

9 पृथक्करण और विवाह विच्छेद में अन्तर बताइए। हिन्दू विवाह अधिनियम में न्यायिक पृथक्करण और विवाह विच्छेद की व्यवस्थाओं का वर्णन कीजिए। (रुहेलखण्ड 1979, आगरा, 1970)

[संकेत—इस प्रश्न के उत्तर के लिए 'भारत में सामाजिक विधान' वाले अध्याय में दिये गये 'हिन्दू विवाह अधिनियम 1955' के अन्तर्गत विवाह-विच्छेद, पृथक्करण आदि शीर्षकों में दिये गये विवरण का उल्लेख करना होगा।]

# 14

## मुस्लिम विवाह, विवाह-विच्छेद, परिवार एवं धर्म
## (MUSLIM MARRIAGE DIVORCE FAMILY AND RELIGION)

इस्लाम का मूल आरम्भ अरब में हुआ था। प्राचीन अरबी धर्म ही परिवर्तित होकर इस्लाम धर्म बन गया। यही कारण है कि इस्लाम धर्म और मुसलमानों के सामाजिक जीवन पर प्राचीन अरबी धर्म और सामाजिक जीवन का प्रभाव देखने को मिलता है। मुस्लिम सामाजिक जीवन एवं संगठन की प्रामाणिक जानकारी हमें कुरान से मिलती है। कुरान मुस्लिम रीति रिवाज का मुख्य स्रोत तथा मुस्लिम जीवन पद्धति के लिए सर्वोपरि प्रमाण है। इस्लाम में गति का सिद्धान्त विद्यमान है इसलिए मुस्लिम सामाजिक संगठन और जीवन पद्धति देश और काल के अनुसार परिवर्तित होती है। जो मुसलमान सदियों से भारत में रह रहे हैं और जो हिन्दू अपना धर्म परिवर्तन कर मुसलमान बन गये उनके सामाजिक संगठन एवं जीवन पर हिन्दुओं की स्पष्ट छाप अंकित है। मुसलमानों के सामाजिक संगठन और जीवन को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उनके धर्म, परिवार, विवाह एवं स्त्रियों की सामाजिक प्रस्थिति आदि की जानकारी प्राप्त करें। साथ ही आधुनिक समय में उनके समाज में होने वाले नवीन परिवर्तनों, परसंस्कृति ग्रहण आदि का भी उल्लेख करें।

### मुस्लिम विवाह
### (MUSLIM MARRIAGE)

मुसलमानों में सामाजिक जीवन के सभी कार्य और सम्बन्ध उनके धार्मिक ग्रन्थ कुरान के आदेशानुसार निर्धारित होते हैं। कुरान मुस्लिम रीति रिवाज का मुख्य स्रोत तथा मुस्लिम जीवन पद्धति के लिए सर्वोपरि प्रमाण है। किन्तु मुस्लिम रीति रिवाज और जीवन पद्धति सर्वत्र एक जैसी नहीं रही है, देश और काल के अनुसार इसमें परिवर्तन होता रहा है। मुस्लिम धर्म सनातनी अरब धर्म का परिवर्तित रूप है, इसलिए मुस्लिम सामाजिक व्यवस्थाओं पर सनातनी अरबी व्यवस्थाओं का भी प्रभाव पड़ा है। प्राचीन अरब समाज में प्रचलित विवाह की विशेषताओं का उल्लेख **रॉबर्टसन स्मिथ** ने इस प्रकार किया है (i) स्त्री अपने पति का चुनाव करने में स्वतन्त्र थी। (ii) वह अपने पति को अपने डेरे या तम्बू में बुलाती उसके साथ सम्बन्ध रखती और जब चाहे अपनी इच्छानुसार उसे बाहर निकाल देती। (iii) ऐसे

विवाह से उत्पन्न स तानो के भरण पोषण और सरक्षण का भार स्त्री के नात रिश्तेदारो पर था।

इस प्रकार के विवाह को 'बीना विवाह' कहा जाता था। समय के साथ इस विवाह मे परिवतन हुआ और इसका स्थान 'बाल-विवाह' अथवा 'आधिपत्य विवाह' ने ले लिया। इसमे स्त्री की स्वतन्त्रता समाप्त हुई और अब वह पति के घर रहने लगी और सताने पति के गोत्र से सम्बधित हुई। अब परिवार म पुरुष का आधिपत्य एव स्वच्छाचारिता कायम हुई स्त्री का विवाह विच्छेद का अधिकार समाप्त हो गया। फिर भी विवाह का नया रूप पुरानी पद्धति से पूण स्वतन्त्र नही हुआ और 'मुताह' विवाह के रूप मे वह मुहम्मद साहब के समय तक चलती रही। एक लम्बे समय तक हिन्दुओ के सम्पर्क मे रहने के कारण मुस्लिम विवाह पद्धति मे हिन्दू विवाह पद्धति के कई तत्व प्रवेश कर गये है। दोनो की विवाह पद्धति मे कुछ साम्यताओ का एक कारण यह भी है कि भारत के अधिकतर मुसलमान मूलत हिन्दू ही ह और व धर्म परिवतन करके मुसलमान बने हैं। इस सन्दभ मे डा० कापडिया ने लिखा है "भारतीय मुसलमानो का बहुसख्यक भाग अरब देश में अथवा ससार के किसी अन्य भाग के इस्लामी बन्धुओ की अपेक्षा हिन्दुओ स अधिक सादश्य या समानता रखता है। उन हिन्दुओ ने, जिन्हाने इस्लाम धर्म को स्वीकार किया, इस्लाम को मानते हुए भी अपने प्राचीन धार्मिक विश्वासो तथा सामाजिक व्यवहारो का परित्याग नही किया।"[1] इस प्रकार भारतीय मुसलमानो की विवाह-पद्धति पर हिन्दू एव इस्लाम दोनो ही धर्मों का प्रभाव पडा है। फिर भी यह हिन्दुओ की विवाह प्रणाली मे मौलिक अतर रखती है।

## मुस्लिम विवाह का अथ
### (MEANING OF MUSLIM MARRIAGE)

मुसलमानो म विवाह को 'निकाह' कहते हैं जिसका शाब्दिक अथ है नर नारी का विपयी समागम। मुस्लिम विवाह एक धार्मिक सस्कार नही वरन एक दीवानी समझौता ह जिसका उद्देश्य घर बसाना सन्तानोत्पत्ति करना एव उन्हे वध घोषित करना है। इसे परिभाषित करते हुए 'मुल्ला' ने लिखा है 'निकाह (विवाह) एक विशिष्ट समझौता है जिसका उद्देश्य बच्चे उत्पन्न करना और उनको वैध घोषित करना है।"[2] अमीर अली के अनुसार मुस्लिम विवाह एक कानूनी सविदा है जिसके लिए न ता किसी पुरोहित (मुल्ला) की आवश्यकता है और न किसी धार्मिक कर्मकाण्ड की।[3]

हेदया ने लिखा है मुस्लिम विवाह एक समझौता है जिसका उद्देश्य यौनिक सम्बन्धो और बच्चो के जन्म को कानूनी रूप देना है तथा समाज के हित म पति-

1 K M Kapadia *Marriage and Family in India* Hindi Translation p 48
2 D F Mulla *Principles of Mohommedan Law*, p 223
3 Amir Ali *The Spirit of Islam* p 257

पत्नी और उनसे उत्पन्न सन्तानों के अधिकारों एवं कर्तव्यों को निर्धारित करके सामाजिक जीवन का नियमन करना है।"

मुस्लिम विवाह कानून के अनुसार, "स्त्री-पुरुष के बीच किया गया गया वह बिना शर्त का संविदा (Unconditional Contract) है जिसका उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति कर बच्चों को वैध रूप प्रदान करना है।"

कापडिया लिखते हैं, "इस्लाम में विवाह एक अनुबन्ध (Contract) है जिसमें दो साक्षियों के हस्ताक्षर होते हैं। इस अनुबंध का प्रतिफल 'महर' अर्थात् वधू को भेंट दी जाती है।"[1] इस प्रकार मुसलमानों में विवाह को दो विषम लिंगियों के बीच एक समझौते के रूप में स्वीकार किया गया है। अतः इसमें भारतीय समझौता अधिनियम की सभी आवश्यक बातें मौजूद हैं, जैसे (i) समझौते के लिए किसी भी पक्ष से एक प्रस्ताव रखा जाय, (ii) इस प्रस्ताव को दोनों पक्षों की ओर से स्वतन्त्र स्वीकृति प्राप्त हो, (iii) समझौता करने के लिए दोनों पक्ष सक्षम हों अर्थात् वे अल्पवयस्क या पागल न हों, अल्पवयस्क होने की स्थिति में उनको संरक्षकों द्वारा इसकी स्वीकृति प्रदान की जाय, (iv) समझौते के प्रतिफल के रूप में कुछ धन हो।

मुस्लिम विवाह भी एक समझौता है जिसमें उपर्युक्त सारी शर्तें लागू होती हैं। मुस्लिम विवाह को समझौता बनाने में दो बातों का प्रभाव पड़ा है—एक प्राचीन अरबी व्यवस्था में स्त्री को अधिक स्वतन्त्रता दी गयी और दूसरी मुसलमानों की सुख सम्बन्धी विचारधारा का प्रभाव।

## मुस्लिम विवाह के उद्देश्य
### (AIMS OF MUSLIM MARRIAGE)

*(i) स्त्री पुरुषों को यौन सम्बन्ध स्थापित करने की वैध स्वीकृति प्रदान करना।*

(ii) बच्चों को जन्म देना तथा उनका पालन पोषण करना।

(iii) पति पत्नी के पारस्परिक अधिकारों को 'महर' के द्वारा स्थायी रूप प्रदान करना।

*(iv) एक संविदा के रूप में पति पत्नी को यह अधिकार देना कि एक पक्ष द्वारा संविदा का पालन न करने पर दूसरा पक्ष उसे छोड़ सकता है।*

## मुस्लिम विवाह की शर्तें
### (CONDITIONS OF MUSLIM MARRIAGE)

(1) प्रत्येक मुसलमान जो बालिग (15 वर्ष की आयु का) हो, पागल न हो और सही मस्तिष्क का हो निकाह कर सकता है।

(2) नाबालिग बच्चों का विवाह उनके संरक्षकों की स्वीकृति द्वारा किया जा सकता है। किन्तु ऐसे विवाह को वर वधू को बालिग होने पर समाप्त करने का

1 K M Kapadia *op cit* p 201

अधिकार है। इस अधिकार को 'खयार-उल बुलूग' या बालिग होन का विकल्प (option of puberty) कहते हैं। किन्तु साधारणत पिता या दादा द्वारा तय किये गये विवाह समाप्त नहीं किये जात।

(3) विवाह की स्वीकृति दोनो पक्षो की स्वतन्त्र इच्छा से होनी चाहिए न कि धोखे या जबरदस्ती से।

(4) विवाह की स्वीकृति के अवसर पर गवाह के रूप मे दो पुरुष अथवा एक पुरुष और दो स्त्रिया का होना आवश्यक है।

(5) एक मुसलमान पुरुष एक समय मे चार स्त्रियो तक विवाह कर सकता है किन्तु मुस्लिम स्त्री एक समय मे केवल एक ही पुरुष स विवाह कर सकती है।

(6) तीर्थ यात्रा के समय वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नही किय जा सकते।

(7) विवाह की स्वीकृति काजी के सम्मुख होनी चाहिए।

(8) जो स्त्री 'इद्दत की अवधि' (चार मासिक धर्मों के बीच की तीन माह की अवधि) मे हो, उसके साथ विवाह अनियमित है।

(9) विवाह की एक आवश्यक शर्त 'मेहर' अर्थात स्त्री धन है जो विवाह के समय पुरुष द्वारा स्त्री को चुका दिया जाना चाहिए या तय कर लिया जाना चाहिए।

(10) विवाह मे किसी प्रकार की बाधाएँ नही होनी चाहिए। य बाधाएँ दो प्रकार की हैं एक वे जिनसे विवाह शून्य या बातिल (Void) हो जाता है अर्थात ऐसे विवाह को माना नहीं जाता है और दूसरी व बाधाएँ जिनस विवाह अनियमित या फासिद (Irregular) माना जाता है और इन बाधाओ को दूर करने पर विवाह पुन मान्य हो जाता है। निम्नांकित अवस्थाओ म विवाह समाप्त हो जाता है

(क) कोई स्त्री एक समय मे एकाधिक पति से विवाह करने अर्थात बहुपति विवाह होने पर दूसरा विवाह शून्य हो जाता है किन्तु प्रथम विवाह मान्य बना रहता है।

(ख) निकट सम्बन्धियो जैस माता, दादी, नानी, सास, पुत्री, सगी बहन, चाची भाभी दोहती आदि स विवाह करने पर वह विवाह शून्य हो जाता है किन्तु एक व्यक्ति चचेरी बहिन से विवाह कर सकता है।

(ग) मूर्ति पूजको से विवाह भी शून्य माना जाता है।

(घ) पागल या अल्पवयस्क द्वारा, बिना सरक्षको की स्वीकृति के विवाह शून्य माना जाता है।

वे अवस्थाएँ जिनसे विवाह अनियमित हो जाता है

(क) **पाँचवीं पत्नी से विवाह**—एक समय मे एक पुरुष चार स्त्रिया तक से विवाह कर सकता है। यदि कोई पाँचवी स्त्री से विवाह करता है तो वह अनियमित है परन्तु किसी एक स्त्री को तलाक देकर वह विवाह नियमित किया जा सकता है। जान गन्थर (John Gunther) ने लिखा है कि सौदी अरब के सस्थापक इब्न

सौदी ने 120 स्त्रियो स विवाह किया था। यात्रा पर चलने से पूव वह किसी एक स्त्री को तलाक द देता था।

(ख) साक्षियों का अभाव—दो पुरुष या एक पुरुष और दो स्त्रियो का विवाह के समय गवाह के रूप मे उपस्थित होना आवश्यक है, इनके अभाव मे विवाह अनियमित हो जाता है।

(ग) विधर्मियों से विवाह—शिया कानून क अनुसार वर एव वधू दानो मुसलमान होने चाहिए। विधर्मी होन पर विवाह अनियमित हो जाता है। किन्तु अस्थायी विवाह जिसे 'मुताह' कहते है, एक किताबिया अर्थात जो धम किसी किताब पर आधारित हो जैसे इश्वरीय ग्रन्थ तौरेत और इन्जील को मानने वाले यहूदी एव ईसाई तथा अग्नि पूजक पारसियो के साथ भी हो सकता है।

## मुस्लिम विवाह में मेहर
### (DOWER IN MUSLIM MARRIAGE)

विवाह के परिणामस्वरूप मुस्लिम स्त्री को 'मेहर' का अधिकार प्राप्त होता है क्योकि यह एक दीवानी समझौता है और मेहर उसका एक आवश्यक परिणाम है। मेहर वह धन या सम्पत्ति है जो पति पत्नी के सम्मान मे देता है। इसे कन्या मूल्य नहीं कह सकते क्योकि इस सम्पत्ति पर कन्या के पिता का नहीं वरन् कन्या का ही अधिकार होता है। मेहर के कारण ही पुरुष को स्त्री से सहवास करने का अधिकार प्राप्त होता है। मेहर की रकम विवाह के समय, विवाह से पूव या बाद मे भी तय की जा सकती है। यह एक ऐसा अधिकार है जिससे पुरुषो की स्वेच्छाचारिता तथा तलाक देने के अधिकार पर कुछ नियन्त्रण रहता है। मेहर चार प्रकार का होता है

(1) **निश्चित मेहर (Specified Dower)**—यह वह मेहर है जो विवाह के समय या विवाह के पूव पति द्वारा पत्नी को दिया जाता है। यह रकम पाँच रुपये से लेकर हजारो रुपये तक हो सकती है।

(2) **उचित मेहर (Proper Dower)**—यदि विवाह के समय मेहर तय न हुआ हो तो अदालत बाद मे भी लड़के के पिता की आर्थिक स्थिति को देख कर मेहर तय करती है। उस समय अदालत यह भी ध्यान रखती है कि पत्नी की अन्य बहनों को क्या मेहर मिला है। यह स्थिति तलाक के समय या पत्नी द्वारा मेहर की माँग की जाने पर उत्पन्न होती है।

(3) **सत्वर मेहर (Prompt Dower)**—यह वह मेहर है जो विवाह से पूर्व या सहवास से पूव पति को चुकाना पड़ता है।

(4) **स्थगित मेहर (Defferred Dower)**—यह मेहर विवाह के समय तय तो हो जाती है किन्तु तलाक होने अथवा किसी पक्ष के मरने के अवसर पर दिया जाता है। दोनो पक्ष मिल कर यह भी तय कर सकते है कि कितना मेहर सत्वर है और कितना स्थगित रखना है।

वतमान मे मुसलमानो मे दहेज की भाँति ही मेहर की राशि बढ़ती जा रही

है। मेहर का एक लाभ यह है कि इससे पुरुष पर एकाधिक पत्नियाँ रखने एव तलाक देने पर कुछ नियन्त्रण हो जाता है क्योंकि कई पुरुष एकाधिक स्त्रियो के लिए मेहर जुटाने की आर्थिक स्थिति म नहीं होते हैं। इससे परिवार मे स्त्री का सम्मान बना रहता है।

## मुस्लिम विवाह के भेद
## (FORMS OF MUSLIM MARRIAGE)

मुसलमानो म तीन प्रकार के विवाह पाये जाते है—सही या वैध, मुताह और अनियमित।

(1) सही या वैध—यह वह विवाह है जिसमे विवाह की सभी शर्तों का पालन किया जाता है जो स्थायी प्रकृति का होता है और जो मुस्लिम रीति रिवाजो के अनुसार सम्पन्न होता है। इसे निकाह कहते है।

(2) मुताह विवाह—सुन्नियो म केवल स्थायी विवाह ही हो सकता है किन्तु शिया मुसलमानो म अस्थायी विवाह जिसे मुताह (*Mutah*) कहते हैं, भी हो सकता है। इस विवाह की दो आवश्यक शर्तें हैं—सहवास का काल एव मेहर। इसम पति पत्नी सहवास का समय निश्चित करते है कि वे अमुक समय तक पति पत्नी रहेगे। यह समय एक दिन, एक माह, एक वर्ष या कुछ वर्ष भी हो सकते है। अवधि समाप्त होने पर ऐसा विवाह स्वत ही समाप्त हो जाता है। यदि पति-पत्नी चाहें तो इस स्थायी विवाह म भी बदल सकते हैं। इस विवाह की दूसरी आवश्यक शर्त मेहर का निश्चित उल्लेख होना है। यदि मेहर निश्चित है और सहवास की अवधि अनिश्चित है तो ऐसा विवाह अवैध माना जायेगा किन्तु मेहर निश्चित न होने पर विवाह को अवैध नहीं ठहरा सकते। ऐसे विवाह से उत्पन्न बच्चे वैध माने जाते हैं और उन्हें माता पिता की सम्पत्ति पर अधिकार होता है। किन्तु पत्नी को पति की सम्पत्ति मे अधिकार प्राप्त नहीं होता है और न ही उसे पति से भरण-पोषण का अधिकार मिलता है। इस प्रकार के विवाहो का प्रचलन भारत म नही है।

(3) अनियमित—इस प्रकार के विवाह मे कुछ बाधाएँ होती हैं जिन्हे दूर करने पर विवाह पुन नियमित हो जाता है। उदाहरण के लिए, पाँचवीं पत्नी व मूर्ति पूजक स्त्री से विवाह करने या विवाह मे गवाहो की उपस्थिति न हो तो वह विवाह अनियमित हो जाता है। इसे नियमित बनाने के लिए पाँच मे से किसी एक स्त्री को तलाक दे दिया जाय, धर्म परिवर्तन कर अमुस्लिम स्त्री को मुसलमान बनाया जाय, और विवाह के लिए गवाहो को जुटाया जाय।

## मुसलमानो मे विवाह विच्छेद
## (DIVORCE AMONG MUSLISM)

मुस्लिम विवाह एक समझौता है दोनो पक्षो मे से कोई भी पक्ष जब इस समझौते का पालन नही करता है तो तलाक द्वारा विवाह विच्छेद किया जा सकता है। प्राचीन अरब मे 'खोल' की प्रथा थी। इस प्रथा के अनुसार पिता अपनी पुत्री

को कभी भी अपने पति के बन्धन से मुक्त करा सकता था। ऐसा करने के लिए उस वर द्वारा दिया गया 'सदक' अर्थात् वधू-मूल्य लौटाना पडता था। आगे चलकर 'सदक' ने ही 'महर' का रूप ले लिया। पति की अनुमति मिलने पर स्त्री पति द्वारा दिया गया महर लौटा कर विवाह विच्छेद कर सकती है। तलाक के क्षेत्र मे मुस्लिम कानून पुरुषो के पक्ष म झुका हुआ है।

मुस्लिम तलाक कानून के अनुसार पति अपनी पत्नी को जब चाहे छोड सकता है। उसके लिए इतना ही पर्याप्त है कि वह पत्नी से चार माह तक सहवास न करे। मुसलमानो म तलाक अदालत एव बिना अदालत की सहायता से तथा लिखित और मौखिक दोनो तरीको से हो सकता है। लिखित मे तलाक देने को तलाकनामा कहा जाता है। स्त्री की तुलना मे पुरुष को ही तलाक देने की अधिक स्वतन्त्रता है।

**तलाक के प्रकार निम्नांकित हैं**

**(1) तलाक**—मुस्लिम कानून के अनुसार कोई भी पुरुष जो बालिग और स्वस्थ मस्तिष्क वाला है, बिना कारण बताये अपनी स्त्री को तलाक दे सकता है। नशे की हालत, पत्नी की अनुपस्थिति मे तलाक शब्द के उच्चारण मात्र से ही तलाक हो जाता है। मौखिक तलाक के तीन प्रकार है

**(क) तलाके अहसन** (*Talak e Ahasan*)—इसमे पति पत्नी के तुहर (मासिक धर्म) के समय एक बार तलाक की घोषणा करता है और उसके बाद 'इद्दत' की अवधि म पत्नी से यौन सम्बन्ध स्थापित नही करता है। 'इद्दत' चार मासिक धर्मो के बीच तीन महीने की अवधि को कहते है। इस अवधि तक यदि पति पत्नी के साथ सहवास नही करता है तो अवधि समाप्ति पर तलाक हो जाता है। 'इद्दत' की अवधि के पालन का मुख्य लक्ष्य यह ज्ञात करना है कि स्त्री गर्भवती तो नही है। इसके अतिरिक्त इस अवधि मे पति को तलाक के निर्णय पर पुन सोचने का अवसर मिल जाता है और वह चाहे तो अपना निर्णय बदल सकता है।

**(ख) तलाके हसन** (*Talak e Hasan*)—इसमे पति तीन तुहरो अर्थात मासिक धर्मो के बीच के समय मे तीन बार तलाक शब्द कहता है और इस बीच वह पत्नी से सहवास नही करता है। इस अवधि की समाप्ति के बाद तलाक मान लिया जाता है।

**(ग) तलाक-उल बिद्दत** (*Talak ul Bidd'at*)—इसमे पति किसी भी मासिक धर्म के अवसर पर थोडे थोडे समय के बाद तलाक की तीन बार घोषणा करता है और इसके बाद इद्दत की अवधि समाप्त होने पर तलाक मान लिया जाता है।

**(2) इला** (*Illa* or **Vow of Continence**)—इसमे पति खुदा की कसम खाकर यह घोषणा करता है कि वह चार माह या अधिक समय तक पत्नी के साथ सहवास नही करेगा। इस अवधि तक यदि वह सहवास नही करता है तो विवाह विच्छेद हो जाता है।

(3) जिहर (*Zihar*)—जब पति अपनी पत्नी की तुलना किसी ऐसे सम्बन्धी से करे जिनसे विवाह निषेध है जैसे वह यह कहे तुम तो मेरी माँ के समान हो, तो पत्नी पति को प्रायश्चित करने के लिए कहती है। यदि पति एसा नही करता है तो पत्नी अदालत से तलाक की मांग कर सकती है और अदालत ऐसी स्थिति मे तलाक स्वीकार कर देती है।

(4) खुला (*Khula*)—इसमे पत्नी पति से कहती है कि यदि वह उस विवाह से मुक्त कर दे तो वह उसे मेहर वापस लौटाकर उसकी क्षतिपूर्ति कर देगी। यदि दोनो मे सहमति हो जाती है तो तलाक हो जाता है।

(5) मुबारत (*Mubarat*)—यह विवाह विच्छेद दोनो की पारस्परिक सहमति से होता है। किन्तु इसमे खुला की तरह पत्नी पति को कोई धन नही देती है। इस प्रकार के तलाक मे पत्नी इद्दत की अवधि के दौरान पति के पास ही रहती है।

(6) लियान (*Lian*)—इसमे पति पत्नी पर व्यभिचार का आरोप लगाता है और पत्नी इसका खण्डन करती है और अदालत से प्रार्थना करती है कि या तो पति अपने आरोप को वापस ले या खुदा को हाजिर नाजिर समझ कर घोषणा करे कि यह आरोप सत्य है। यदि पति का आरोप झूठा सिद्ध होता है तो पत्नी को विवाह विच्छेद का अधिकार मिल जाता है। यदि पति अपना आरोप वापस ले लेता है तो मुकदमा समाप्त हो जाता है।

(7) तलाके तफबीज (*Talak Thafabeej*)—इसमे पत्नी तलाक की मांग करती है जो उस विवाह के समय पति द्वारा दिय गये अधिकारो के आधार पर प्राप्त होती है।

न्यायिक तलाक (Judicial Divorce)

शरीयत अधिनियम, 1937 (Shariat Act, 1937) ने मुस्लिम स्त्री को पति के नपुसक होने और उसके द्वारा पत्नी पर झूठा व्यभिचार का दोषारोपण करने की स्थिति मे तलाक का अधिकार प्रदान किया है। इसके अतिरिक्त इला एव जिहर के आधार पर भी तलाक लिया जा सकता है।

सन् 1939 मे मुस्लिम विवाह विच्छेद अधिनियम (Dissolution of Muslim Marriage Act, 1939) बना। इस अधिनियम ने मुस्लिम स्त्री को निम्नांकित आधारो पर तलाक देने का अधिकार प्रदान किया है

(1) यदि चार वर्ष से पति का कोई पता न हो।

(2) यदि पति दो वर्ष से पत्नी का भरण पोषण करने मे असमर्थ हो।

(3) यदि पति को सात या अधिक वर्षों के लिए जेल की सजा हुई हो।

(4) यदि पति तीन वर्ष से बिना किसी कारण के अपने वैवाहिक कर्तव्यों को निभाने में असमर्थ रहा हो।

(5) यदि पति नपुसक हो।

(6) यदि पति पागल हो।

(7) यदि पति सक्रामक यौन रोग एव कोढ स ग्रस्त हो।

(8) यदि उसका विवाह 15 वर्ष स कम की आयु मे उसके पिता या अन्य सरक्षक द्वारा कर दिया गया हो और इस अवधि मे पति-पत्नी मे यौन-सम्बन्ध स्थापित नही हुए हो और लडके को 18 वर्ष की आयु पूर्ण होने के पहले ही ऐसे विवाह के विरुद्ध प्रतिवेदन कर दिया गया हो।

(9) यदि पति पत्नी के साथ क्रूरतापूर्ण व्यवहार करता हो।

(10) यदि पति चरित्रहीन स्त्रियों स सम्पर्क रखता हो।

(11) यदि पत्नी को व्यभिचारपूर्ण जीवन व्यतीत करने को बाध्य करता हो।

(12) यदि पति पत्नी की सम्पति को बेचता हो, उसके सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारो मे बाधा डालता हो।

(13) यदि पति पत्नी के धार्मिक कार्यों मे बाधा डालता हो।

(14) एक से अधिक पत्नियाँ होने पर पति समान व्यवहार नही करता हो।

(15) किसी अन्य आधार पर जो मुस्लिम कानून के अनुसार तलाक के लिए मान्य हो।

## हिन्दू और मुस्लिम विवाह मे तुलना
## (COMPARISON BETWEEN HINDU AND MUSLIM MARRIAGE)

हिन्दू एव मुस्लिम विवाह मे कुछ मौलिक भेद है यद्यपि एक लम्बे सम्पर्क के कारण दोनो मे कुछ समानताएँ भी आ गयी है।

**समानताएँ**—(1) दोनो मे बहुपत्नी प्रथा का प्रचलन है। मुसलमानो मे एक समय मे चार तक पत्नियाँ रखने की छूट है। किन्तु हिन्दुओ मे स्त्रियो की सख्या निर्धारित नही की गयी है। हिन्दू धर्म शास्त्रो मे प्रथम स्त्री से सन्तान न होने पर दूसरी स्त्री स विवाह करने की छूट दी गयी है। हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 ने हिन्दुओ मे बहुपत्नीत्व पर रोक लगादी है।

(2) हिन्दू एव मुसलमानो मे बाल विवाह पाये जाते है। किन्तु मुसलमानो मे 15 वर्ष से कम की आयु मे सरक्षको द्वारा किये गये विवाह को 'खार-उल बुलूग' के अधिकार के आधार पर बालिग होने पर वर वधू अपने विवाह को समाप्त कर सकते है। किन्तु हिन्दुओ मे ऐसा कोई प्रावधान नही है।

**अन्तर**

**(1) विवाह के उद्देश्य के आधार पर**—हिन्दुओ मे विवाह एक धार्मिक सस्कार है जो पुत्र प्राप्ति, पुरुषार्थों की पूर्ति एव ऋणो से मुक्ति के लिए किया जाता है जबकि मुस्लिम विवाह का उद्देश्य यौन सतुष्टि एव सन्तानोत्पत्ति है। यह एक सस्कार न होकर समझौता है।

(2) वैवाहिक प्रक्रियाओं के आधार पर—दोनो की वैवाहिक प्रक्रियाओ मे भी पर्याप्त अन्तर है। मुसलमानो मे विवाह का प्रस्ताव वधू-पक्ष की तरफ रखा जाता है जिसकी स्वीकृति एक ही बैठक मे गवाहो के समक्ष होना जरूरी है। हिन्दुओ मे विवाह का प्रस्ताव लडकी वालो की ओर से रखा जाता है, उसमे गवाह एक आवश्यक पक्ष नही है।

(3) विवाह के स्वरूपों के आधार पर—हिन्दुओ मे आठ प्रकार के विवाह पाये जाते है जबकि मुसलमानो मे तीन प्रकार के विवाह (निकाह, मुताह एव फासिद) ही पाये जाते हैं।

(4) दहेज एव मेहर के आधार पर—हिन्दुओ मे पत्नी अपने पिता के घर से दहेज लाती है जबकि मुसलमानो मे पति पत्नी को मेहर प्रदान करता है। मेहर विवाह की एक आवश्यक शर्त है।

(5) विवाह के क्षेत्र मे—हिन्दुओ मे सपिण्ड और सगोत्र विवाह नही होते। पिता की ओर से पाँच एव माता की ओर से तीन पीढियो के बीच विवाह सम्बन्ध वर्जित है। मुसलमानो मे सगी माँ के बच्चो एव अति निकट सम्बन्धियो को छोड कर विवाह हो सकता है। इस प्रकार हिन्दुओ मे मुसलमानो की तुलना मे विवाह का क्षेत्र बहुत सीमित है।

(6) विवाह विच्छेद के आधार पर—हिन्दुओ के विवाह जन्म जन्मान्तर का एक अटूट बन्धन है। अत उनमे विवाह विच्छेद की स्वीकृति नही दी गयी है, यद्यपि 1955 का हिन्दू विवाह अधिनियम इसे स्वीकार करता है। मुसलमानो मे पुरुष को तलाक देने के स्वच्छन्द अधिकार प्राप्त हैं तथा मुस्लिम विवाह विच्छेद अधिनियम 1939 मुस्लिम स्त्रियों को भी विवाह-विच्छेद का अधिकार प्रदान करता है।

(7) विधवा विवाह—हिन्दुओ मे विवाह के जन्म जन्मान्तर का सम्बन्ध होने के कारण विधवाओ को पुनर्विवाह की छूट नही दी गयी है। उनमे यह धारणा प्रचलित है कि जिस लडकी का एक बार कन्यादान कर दिया गया है पुन उसका दान नहीं किया जा सकता। मुसलमानो मे विवाह एक समझौता है जो एक पक्ष के मरने पर टूट जाता है अत पत्नी का पति की मृत्यु होने पर दूसरा विवाह करने की छूट है।

(8) स्थायित्व के आधार पर—हिन्दुओ मे विवाह एक स्थायी सम्बन्ध है, अस्थायी विवाह का उनमे कोई प्रावधान नही है जबकि शिया मुसलमानो मे मुताह' विवाह के रूप मे अस्थायी विवाह पाया जाता है।

(9) इद्दत का अन्तर—मुसलमानो में तलाक के लिए स्त्री को इद्दत की अवधि का पालन करना होता है अर्थात् तलाक के बाद तीन मासिक धर्म की अवधि तक वह किसी से पुनर्विवाह नहीं कर सकती। हिन्दुओ में इद्दत की अवधि जैसी कोई बात प्रचलित नही है।

## मुस्लिम स्त्रियों की सामाजिक स्थिति
## (SOCIAL STATUS OF MUSLIM WOMEN)

मुस्लिम स्त्रियो की सामाजिक स्थिति को जानने के लिए हमे उनकी प्राचीन अरबी समाज और आधुनिक समाज म प्राप्त स्थिति का उल्लेख करना होगा। समय समय पर मुस्लिम स्त्रियो की सामाजिक स्थिति मे परिवतन होता रहा है। साथ ही सिद्धात और व्यवहार म भी उनकी स्थिति म बहुत अतर पाया जाता है।

**प्राचीन अरबी समाज मे मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति**

प्राचीन अरबी समाज मे मुस्लिम स्त्रियो को वैवाहिक, पारिवारिक एव सम्पत्ति की दृष्टि से अनेक अधिकार प्राप्त थे। सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक दोनो ही दृष्टि स उसकी सामाजिक स्थिति श्रेष्ठ थी। अरबी समाज मे स्त्री अपन पति का चुनाव करने मे पूण स्वतन्त्र थी। वह मन चाहे तब पति को अपने डेरे मे बुलाती थी, उससे सम्भोग करती और जब अपनी इच्छा होती उसे बाहर निकाल देती थी। वह जब भी चाहती पति से सम्ब ध विच्छेद कर लेती थी। विवाह सम्बध अस्थायी थे। स्त्री की सतानो की देख भाल एव भरण पोषण का भार पिता अथवा नाते रिश्तेदारो का उठाना पडता था। अरबी समाज मे विवाह का अस्थायी रूप प्रचलित था जिसे 'बीना' विवाह के नाम से जाना जाता है। इस प्रकार के विवाह म स्त्रियो को तो बहुत स्वत त्रता प्राप्त थी किन्तु इसके कारण पारिवारिक जीवन सवथा अस्थिर और अनिश्चित था। इस कारण धीरे धीरे इस प्रकार के विवाह की समाप्ति हुई और उसका स्थान 'आधिपत्य विवाह' ने ले लिया जिससे स्त्रियो के वैवाहिक अधिकार समाप्त हुए एव पुरुषो का आधिपत्य स्थापित हुआ। स्त्रियो द्वारा विवाह विच्छेद कम हुआ और पुरुष एकाधिक पत्नियाँ रखने लगा, स्त्रियो को युद्ध मे लूट कर बेचा जाने लगा, बाल विवाह प्रारम्भ हुए और परिवार पर पूरी तरह स पुरुष का एकाधिकार कायम हो गया। धीरे धीरे स्त्रियो की सामाजिक दशा दीन हीन हो गयी, विवाह के लिए स्त्री के पिता को 'महर' दिया जाने लगा जिसका अथ था कि स्त्री को वधू मूल्य देकर लाया गया है। अरब लोग अपने अतिथि का स्वागत करने के लिए उसे अपनी पत्नी तक साप देते थे। एक व्यक्ति जब विदेश जाता तो अपनी पत्नी को अपन किसी मित्र को सौंप जाता था। उत्तम सन्तान प्राप्त करने के लिए एक पुरुष अपनी पत्नी को किसी महान पुरुष के साथ रहने और सहवास करन तक की आज्ञा भी देता था। अरबी समाज मे पत्नी को सम्पत्ति के समान माना गया था जिसका उपयोग एव उपभोग करने मे व्यक्ति पूण स्वत त्र था। पति बिना किसी पूव सूचना के पत्नी को त्याग सकता था और विवाह विच्छेद के लिए स्त्री की सहमति आवश्यक नहीं थी। स्त्री पुरुष के हाथ एक खिलौना मात्र रह गयी थी जिसे पुरुष जब चाहे तोड मरोड कर कुचल सकता था।

समय के साथ मुस्लिम स्त्री की सामाजिक स्थिति म परिवतन आया। मुहम्मद साहब स्त्रियो की स्थिति को सुधारने के पक्ष म थ। वे बहुपत्नी प्रथा एव

बालिका वध के विरोधी थे। उन्होंने स्त्रियों की स्थिति को सुधारने का प्रयत्न तो किया फिर भी स्त्रियों को सीमित मात्रा में ही स्वतन्त्रता देना चाहते थे। उनके प्रयत्नों से स्त्रियों को कई धार्मिक एवं सामाजिक अधिकार प्राप्त हुए। मुस्लिम स्त्रियाँ अपने पतियों की आज्ञा से सार्वजनिक स्थानों में नमाज पढ़ सकती थीं और मस्जिद जा सकती थीं। कुरान में कहा गया है कि पुरुष के समान स्त्री भी बहिश्त (स्वर्ग) में जा सकती है। मुस्लिम विधवा को पुनर्विवाह का तथा स्त्रियों को तलाक का अधिकार भी प्रदान किया गया। इससे इनकी स्थिति में सुधार हुआ। कापड़िया ने लिखा है, "इस्लाम ने पत्नियों की संख्या चार तक सीमित करके, बालिका हत्या की निन्दा करके, स्त्रियों को उत्तराधिकार का भाग प्रदान करके, महर को वधू को दी गयी भेंट घोषित करके तथा विवाह एवं विवाह विच्छेद सम्बन्धी अरबी कानून को स्त्रियों के अनुकूल बना कर स्त्री की स्थिति में सुधार किया है।"[1]

फिर भी पर्दा प्रथा के प्रचलन एवं शिक्षा के अभाव के कारण स्त्रियाँ राजनैतिक एवं सार्वजनिक जीवन में बहुत कम आ पायी हैं। बहुपत्नित्व एवं आर्थिक पराश्रितता के कारण भी व्यवहार में उनकी स्थिति अच्छी नहीं है, यद्यपि कानूनी दृष्टि से उन्हें अनेक अधिकार दिये गये हैं। मुस्लिम स्त्रियों की सामाजिक स्थिति का मूल्यांकन हम उन्हें परिवार, विवाह एवं सम्पत्ति से सम्बन्धित प्राप्त अधिकारों की दृष्टि से करेंगे।

**मुस्लिम स्त्रियों के अधिकार**

(अ) विवाह सम्बन्धी अधिकार—विवाह से सम्बन्धित मुस्लिम स्त्रियों को निम्नांकित अधिकार प्राप्त हैं

(1) विधवा पुनर्विवाह का अधिकार—मुस्लिम विधवा को इस्लाम कानून के अनुसार पुनर्विवाह का अधिकार प्राप्त है। पति की मृत्यु होने पर 'इद्दत' की अवधि (तीन मासिक धर्म) के बाद मुस्लिम स्त्री को पुनर्विवाह करने की आज्ञा दी गयी है।

(2) तलाक का अधिकार—मुस्लिम स्त्रियों को शरीयत अधिनियम के अन्तर्गत 'इला' तथा 'जिहर' तलाक देने का अधिकार है, मुस्लिम विवाह विच्छेद अधिनियम 1939 के अनुसार भी मुस्लिम स्त्रियों को तलाक देने का अधिकार दिया गया है।

(3) बाल विवाह का अभाव—मुसलमानों में बाल-विवाह का अभाव पाया जाता है। 15 वर्ष से कम आयु की लड़की का विवाह बिना उसके संरक्षकों की स्वीकृति के नहीं हो सकता। यदि ऐसा विवाह होता है तो बालिग होने पर वर-वधू उसे विवाह को रद्द घोषित कर सकते हैं। इस अधिकार को 'ख्याल उल बुलूग' कहा जाता है। इस अधिकार से भी मुस्लिम स्त्रियों की सामाजिक स्थिति ऊँची बनी रही है।

1 K. M Kapadia *Ibid* p 199

(4) विवाह से पूर्व स्वीकृति—मुसलमानो मे विवाह से पूर्व वधू से विवाह की स्वीकृति ली जाती है। इससे भी उसकी सामाजिक स्थिति ऊँची उठ पाती है। इस अधिकार के कारण किसी भी स्त्री के साथ विवाह मे दबाव व जोर-जबरदस्ती नही बरती जा सकती और विवाह स्त्री पुरुष के बीच एक सम्माननीय समझौता माना जाता है जो दोनो ही व्यक्तियो की स्वेच्छा पर निर्भर होता है।

(ब) परिवार सम्बन्धी अधिकार

मुस्लिम परिवार पितृसत्तात्मक एव पुरुष प्रधान हैं। परिवार मे एकाधिक स्त्रियाँ होने पर सभी स्त्रियो को पति से समान प्रेम एव व्यवहार पाने का अधिकार दिया गया है। किन्तु बहु पत्नित्व के कारण स्त्रियो को अनेक अधिकारो से वंचित रहना पडता है। पर्दा प्रथा के प्रचलन के कारण स्त्रियो को घर की चाहरदीवारी तक सीमित कर दिया गया है। घर मे भी 'मर्दानखाना' एव 'जनानखाना' अलग अलग होता है। पर्दा प्रथा के कारण मुस्लिम स्त्रियाँ बाहरी दुनिया से अनभिज्ञ ही रही हैं और सार्वजनिक जीवन मे प्रवेश नही कर सकी हैं। पितृ प्रधान परिवार होने के कारण स्त्रियो की तुलना मे पुरुषो को अधिक अधिकार प्राप्त हैं। पुरुष ही परिवार का मुखिया होता है, परिवार के लोगो का भरण पोषण करता है और अन्य सदस्यो को आदेश देता है। विवाह के बाद स्त्री अपने पति के घर जाकर निवास करती है। इससे नये परिवार मे उसके अधिकार सीमित हो जाते है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पारिवारिक दृष्टि से मुस्लिम स्त्री की स्थिति व्यवहार मे पुरुषो से निम्न है।

(स) सम्पत्ति मे अधिकार

सैद्धान्तिक दृष्टि से मुस्लिम स्त्री को सम्पत्ति मे कई अधिकार दिये गये है। पति से अपेक्षा की जाती है कि वह उसे 'खर्च ए पान दान' (पान खाने के लिए खर्च) दे। विवाह के उपलक्ष मे दिये जाने वाले 'मेहर' पर भी स्त्री का ही स्वामित्व होता है। मुस्लिम स्त्री को अपने पिता एव पति की सम्पत्ति मे भी अधिकार प्रदान किया गया है। एक मुस्लिम स्त्री माँ, पत्नी एव पुत्री के रूप मे पारिवारिक सम्पत्ति मे हिस्सा प्राप्त करती है। एक स्त्री को अपने मृत पुत्र की सम्पत्ति मे $\frac{1}{3}$ से $\frac{1}{6}$ के बीच और मृत पति की सम्पत्ति मे $\frac{1}{4}$ से $\frac{1}{8}$ के बीच सम्पत्ति मिलती है। पुत्री होने के नाते उसे अपने पिता की सम्पत्ति मे अन्य भाइयो के समान ही सम्पत्ति पाने का अधिकार है। स्त्री अपनी सम्पत्ति को बेचने एव गिरवी रखने मे पूर्ण स्वतन्त्र है। इस प्रकार सम्पत्ति की दृष्टि से मुस्लिम स्त्री को कई अधिकार प्राप्त हैं और उसकी स्थिति अच्छी है।

## मुस्लिम स्त्रियो की समस्याएँ

सैद्धान्तिक रूप से मुस्लिम स्त्रियो को अनेक अधिकार प्रदान किये गये है किन्तु तस्वीर का दूसरा पहलू भी है व्यावहारिक दृष्टि से वे आज अनेक समस्याओ से ग्रस्त हैं जिसके कारण उनकी सामाजिक स्थिति काफी गिरी है। वे समस्याएं अग्र प्रकार हैं

(1) बहुपत्नीत्व की समस्या—मुस्लिम समाज मे एक पुरुष को चार तक पत्नियाँ रखने की सामाजिक एवं वैधानिक स्वीकृति प्राप्त है। अधिक स्त्रियाँ होने पर पुरुष से समान व्यवहार की अपेक्षा नही की जा सकती, उनके प्रति भेद भाव बरता जाता है और उन्हें पत्नीत्व का वास्तविक सुख नहीं मिल पाता। स्त्री की पुरुष पर निर्भरता के कारण भी उसकी स्थिति ऊँची नही उठ पाती। सभी स्त्रियो के बच्चो को भी परिवार म समान स्थिति नही मिल पाती, ऐसी दशा मे उसे कभी कभी संघर्ष भी करना पडता है।

(2) तलाक की समस्या—सैद्धान्तिक रूप से तो मुस्लिम स्त्रियो को भी पुरुषो के समान ही तलाक के अधिकार प्राप्त हैं किन्तु पुरुष पर आर्थिक निर्भरता, अशिक्षा, एवं समाज मे पुरुषो की प्रधानता के कारण वह वास्तव मे इस अधिकार का प्रयोग मनमाने ढंग से करता है किन्तु स्त्रियाँ इस अधिकार का प्रयोग करने पर अपने को असहाय पाती है।

(3) पर्दा प्रथा—मुस्लिम समाज म स्त्रियो को कुदृष्टि से बचने के लिए पर्दा रखने का आदेश दिया गया है। पर्दा प्रथा के कारण मुस्लिम स्त्रियों की शिक्षा दीक्षा नहीं हो पायी है। शिक्षा के अभाव मे उनमे अज्ञानता एवं रूढ़िवादिता का साम्राज्य व्याप्त है, वे स्वतन्त्र रूप स अर्थोपार्जन नही कर पाती है और राजनैतिक एवं सार्वजनिक जीवन मे भाग लेने से वंचित रही हैं।" देश की शिक्षित स्त्रियो म उनका प्रतिशत बहुत ही कम है। यही कारण है कि समाज निर्माण एवं सुधार म भी उनका योगदान नगण्य है।

(4) धार्मिक कट्टरता—मुस्लिम धर्म कठोर अनुशासन एवं नियन्त्रण की माँग करता है। अत इसमे कट्टरता पायी जाती है। यह नवीनता एवं परिवर्तन को स्वीकार नहीं करता, यही कारण है कि आज युग म भी अरबी समाज एवं मोहम्मद साहब के युग के नियमो का पालन किया जाता है। हिन्दुओं मे धर्म सुधार के आन्दोलनो ने धार्मिक कठोरता को कम किया है। उसी प्रकार से टर्की में कमाल पाशा के नेतृत्व मे स्त्रियों की स्थिति के सुधार के प्रयत्न हुए हैं। किन्तु आज पुन ईरान मे शाह की सरकार के पतन के बाद आयतुल्ला खुमैनी एवं पाकिस्तान मे जिया के नेतृत्व मे प्राचीन इस्लाम के नियमो को कठोरता से लागू करने की बात कही जा रही है। इसका प्रभाव यह हुआ है कि मुस्लिम देशो मे स्त्रियो का सार्वजनिक जीवन म प्राप्त उन अधिकारो से पुन वंचित किया जा रहा है जिन्हें प्राप्त करने के लिए उन्होने एक लम्बा संघर्ष किया है।

(5) अधिकारों की अव्यावहारिकता—मुस्लिम स्त्रियो को विवाह, परिवार एवं सम्पत्ति से सम्बन्धित अनेक अधिकार प्रदान किये गये हैं किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इनका उपयोग करना कठिन है। विधवा स्त्री को पुनर्विवाह का अधिकार है किन्तु ऐसी स्त्री को समाज में हीन दृष्टि स देखा जाता है। इसी प्रकार से विवाह के पूर्व स्त्री म स्वीकृति ली जाती है किन्तु वह एक औपचारिकता ही है, उसे माना

पिता की इच्छा के अनुसार स्वीकृति देनी ही पड़ती है। महर की राशि पर भी स्त्री का नही वरन् पुरुष का या परिवार का ही अधिकार होता है। सम्पत्ति म भी उसे कोई हिस्सा नहीं दिया जाता है और ऐसा करने के लिए उस न्यायालय की शरण में ही जाना पड़ता है। वह व्यवहार मे अपने तलाक के अधिकार का भी कम ही प्रयोग कर पाती है।

इस सम्पूर्ण विवरण स स्पष्ट है कि आज भी मुस्लिम स्त्री की सामाजिक स्थिति अच्छी नही है यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से उसे कई अधिकार प्रदान किये गये हैं।

## हिन्दू एव मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति की तुलना

यदि हम हिन्दू एव मुस्लिम समाज मे स्त्रियो को दी गयी स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन करें तो पायेंगे कि कुछ अर्थों मे हिन्दू स्त्री की स्थिति अच्छी है ता कुछ में मुस्लिम स्त्री की। हिन्दू एव मुस्लिम दोनो ही स्त्रियाँ पर्दा प्रथा का पालन करती हैं किन्तु मुसलमानों मे इसका कठोर रूप पाया जाता है। हिन्दू स्त्रियों मे मुस्लिम स्त्रियो की तुलना म अधिक शिक्षा पायी जाती है। व धार्मिक, राजनैतिक एव सार्वजनिक क्षेत्र मे मुस्लिम स्त्रियो की अपेक्षा अधिक क्रियाशील हैं। किन्तु विधवा पुनर्विवाह मे एव तलाक की दृष्टि से मुस्लिम स्त्रियो की स्थिति ऊँचा है, उन्हें पुनर्विवाह एव तलाक दने की छूट दी गयी है। हिन्दुओ मे भी अब विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1856 एव हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के द्वारा विधवा स्त्रियो को पुनर्विवाह की एव स्त्रियो का तलाक देने की वैधानिक छूट दी गयी है। किन्तु व्यवहार मे इन अधिकारो का प्रयोग कम ही हुआ है क्योंकि हिन्दुओ म विवाह को जन्म-जन्मान्तर का अटूट बन्धन माना गया है। सम्पत्ति की दृष्टि से मुस्लिम स्त्री को माँ पुत्री एव पत्नी के रूप मे हिस्सेदार एव उत्तराधिकारी बनाया गया है और वह अपनी सम्पत्ति का मनमाना उपयोग कर सकती है, किन्तु हिन्दू स्त्री को सम्पत्ति के अधिकारो से वचित किया गया है, यद्यपि 'हिन्दू स्त्री सम्पत्ति अधिकार अधिनियम 1937 एव हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के द्वारा हिन्दू स्त्री को भी अब माता, पत्नी एव पुत्री के रूप मे सम्पत्ति मे अधिकार प्रदान किये गय है, यद्यपि व्यवहार मे इसका प्रयोग नगण्य है। हिन्दुओ मे बाल विवाह का प्रचलन है। मुसलमानो मे भी बाल विवाह होते हैं किन्तु 'ख्याल उल बुलूग' के अधिकार द्वारा मुस्लिम स्त्री बालिग होने पर ऐसे विवाह का रद्द घोषित कर सकती है किन्तु हिन्दू स्त्री ऐसा नही कर सकती। मुसलमानो मे विवाह के उपलक्ष मे वर वधू को 'महर' देता है, इससे स्त्री की सामाजिक प्रतिष्ठा बढती है तथा उसे परिवार पर बोझ नही माना जाता। हिन्दुओ मे दहेज के कारण स्त्रियो की स्थिति निम्न हो जाती है, उनके जन्म को अपशकुन माना जाता है तथा वे परिवार पर बोझ मानी जाती हैं। मुसलमानो मे बहुपत्नीत्व की प्रथा के प्रचलन के कारण मुस्लिम स्त्री की स्थिति हिन्दू स्त्री की तुलना में निम्न है। यद्यपि हिन्दुओ में भी बहुपत्नीत्व प्रचलित

है किन्तु व्यवहार में इसका प्रयोग सम्पन्न व्यक्तियों के अलावा अन्य लोगो द्वारा नही किया जाता है। मुसलमानो में विवाह से पूर्व लडकी से स्वीकृति ली जाती है किन्तु हिन्दुओ में ऐसा नही होता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिद्धान्तत मुस्लिम स्त्रियो को हिन्दू स्त्रियो की अपेक्षा अधिक अधिकार प्रदान किये गये है किन्तु पर्दा प्रथा के प्रचलन एव अशिक्षा के कारण वे अपने अधिकारो का प्रयोग करने मे असफल रही है और आज उनकी दशा बडी दयनीय है। वर्तमान समय मे शिक्षित युवक सुधार के पक्ष मे हैं, व इस्लाम धर्म एव सामाजिक सस्थाओ का नवीन पर्यावरण के अनुकूल बनाना चाहते हैं। किन्तु युवा पीढी तनाव और बचैनी के मध्य मे गुजर रही है क्योकि एक तरफ ये कुरान मे विश्वास करते है जो उन्हे पीछे खींच रहा है और दूसरी तरफ ये नवीन वातावरण स प्रभावित हैं जो उन्हें परम्पराओ से मुक्त होने एव स्वच्छन्द हवा मे श्वास लेने को प्रेरित कर रहा है। देखना यह है कि यह तनाव कब और कैसे दूर होगा।

## मुस्लिम परिवार
### (MUSLIM FAMILY)

मुस्लिम सामाजिक सगठन एव जीवन का एक मुख्य आधार परिवार है जिसकी स्थापना 'निकाह' द्वारा होती है। मुस्लिम परिवार पितृसत्तात्मक और पितृवशीय है जिसमें स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषो को अधिक महत्त्व दिया गया है। मुस्लिम परिवार म मुखिया की सत्ता ही सर्वोपरि होती है। पुरुष सन्तान के न होने पर इनमे गोद लने की प्रथा भी पायी जाती है। विवाह की भांति मुस्लिम परिवार का आधार भी कुरान ही है। अत इस पर धर्म का प्रभाव भी है। पारिवारिक सगठन, सदस्यो के पारस्परिक कर्तव्य एव सम्बन्ध सम्पत्ति के उत्तराधिकार के नियम आदि सभी को धार्मिक आधार पर स्पष्ट किया गया है। लम्बे समय तक हिन्दू और मुसलमानो का भारत मे सह निवास होने से मुस्लिम समाज, परिवार एव विवाह पर हिन्दुओ का प्रभाव भी पडा है। हिन्दुओ की भाँति मुसलमानो म भी इकलौती पुत्री होने पर उसके पति को 'घर जमाई' रख लिया जाता है।

मुसलमानो पर हिन्दुओ के प्रभाव का उल्लेख करते हुए डॉ० कापडिया लिखते हैं, "भारतीय मुसलमानों का अधिकाश भाग अरब देश अथवा ससार के अन्य किसी भाग के इस्लामी बन्धुओ की अपेक्षा हिन्दुओ से अधिक समानता रखता है। जिन हिन्दुओ ने इस्लाम को स्वीकार किया उन्होने इस्लाम को मानते हुए भी अपने मूल धार्मिक विश्वासो और सामाजिक प्रथाओ को नही छोडा। इसका परिणाम यह हुआ कि उनका धार्मिक जीवन हिन्दू प्रथाओ और विश्वासो स भरा पडा है।"[1] मुसलमानो मे पाया जाने वाला सयुक्त परिवार हिन्दुओ के प्रभाव का ही प्रतिफल है।

1 K M Kapadia *Marriage and Family in India* p 47

## मुस्लिम परिवार की विशेषताएँ
(CHARACTERISTICS OF MUSLIM FAMILY)

मुस्लिम परिवार को स्पष्ट समझने के लिए हम यहाँ उसकी विशेषताओं का उल्लेख करेंगे

(1) **संयुक्त परिवार** (Joint Family)—हिन्दुओं की भाँति मुसलमानों में भी संयुक्त परिवार प्रथा का प्रचलन है। कुरान ऐसे परिवार को श्रेष्ठ मानता है। इस्लाम में वयोवृद्ध पुरुष को सम्माननीय माना गया है। अत संयुक्त परिवार के सभी सदस्य 'कर्ता' अथवा मुखिया के आदेशों का पालन करते हैं। इस्लाम में एक पुरुष को चार तक पत्नियाँ रखने की छूट दी गयी है। अत स्वाभाविक रूप से परिवार के सदस्यों की संख्या बढ़ जाती है। मुस्लिम परिवार में पति पत्नी, उनके बच्चे तथा बच्चों की पत्नियों के अतिरिक्त स्त्री पक्ष के सम्बन्धी और अन्य रिश्तेदार भी होते हैं, इस कारण से परिवार के आकार में वृद्धि हो जाती है। मुस्लिम संयुक्त परिवार के सदस्यों का निवास, सम्पत्ति, आय और रसोई सामूहिक होती है। किन्तु ऋणों का भुगतान व्यक्तिगत रूप से किया जाता है। शहरों की अपेक्षा ग्रामीण मुसलमानों में संयुक्त परिवारों की बहुलता है। संयुक्त के साथ-साथ मुसलमानों में एकाकी परिवार भी पाये जाते हैं। औद्योगीकरण, नगरीकरण एवं आधुनिक प्रभावों के कारण मुसलमानों में एकाकी परिवारों की संख्या में विशेषकर शहरों में वृद्धि हो रही है।

(2) **पुरुष प्रधान परिवार** (Dominance of Male in the Family)—मुस्लिम परिवार पुरुष प्रधान है इसकी पुष्टि कई आधारों पर होती है। उदाहरणार्थ मुस्लिम परिवार पितृसत्तात्मक और पितृवंशीय है। पुत्र वंशनाम पिता से ही ग्रहण करता है और विवाह के बाद स्त्री पति के पिता के निवास स्थान पर ही रहती है। सम्पत्ति में भी स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों को अधिक अधिकार है। पुरुष ही परिवार का मुखिया होता है और पारिवारिक अधिकारों का अधिक हकदार है। वही परिवार के अनाथ, अपंग, परित्यक्त एवं विधवा स्त्रियों आदि के भरण पोषण की व्यवस्था करता है। बच्चों की शिक्षा दीक्षा का भी वही प्रबन्ध करता है। विवाह विच्छेद में भी स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों को अधिक अधिकार प्राप्त हैं।

(3) **सदस्यों की पारिवारिक स्थिति में असमानता** (Disparity in Family Status of the Members)—मुस्लिम परिवार में सभी सदस्यों को समान नहीं माना गया है यद्यपि धर्म समानता का पक्षपाती है। इस समानता को आयु लिंग एवं अधिकारों के आधार पर देखा जा सकता है। परिवार में छोटी आयु के सदस्यों की तुलना में बड़ी आयु के सदस्यों को अधिक आदर एवं अधिकार प्राप्त है। इसी प्रकार से स्त्रियों की तुलना में पुरुषों को अधिक आदर एवं अधिकार प्राप्त है। पुरुष ही सम्पत्ति के उत्तराधिकारी होते हैं विवाह विच्छेद में भी उन्हें विशेषाधिकार प्राप्त हैं और वे ही परिवार के मुखिया का पद धारण करते हैं।

परिवार के महत्वपूर्ण मामलों में लड़कियों की अपेक्षा लड़कों की राय ही महत्वपूर्ण मानी जाती है। परिवार में पिता के बाद माँ का और पति के बाद पत्नी का स्थान माना गया है। लड़कों में भी सबसे बड़े लड़के का ऊँचा स्थान माना गया है।

(4) बहु पत्नी प्रथा (Polygynious System)—इस्लाम में बहु पत्नीत्व को स्वीकार किया गया है और एक पुरुष को चार तक पत्नियाँ रखने की छूट दी गयी है। एकाधिक पत्नियाँ रखना समाज में सम्मान और प्रतिष्ठा का सूचक माना गया है। अत सम्पन्न घरानों में बहुपत्नीत्व अधिक पाया जाता है। परिवार में एकाधिक स्त्रियाँ होने पर पुरुष से यह अपेक्षा की जाती है कि वह सभी पत्नियों के साथ समान व्यवहार करे। मुस्लिम परिवार में एकाधिक पत्नियाँ होने पर भी द्वेष एवं कलह की बहुत कम ही स्थिति दिखायी देती है। इसका कारण सम्भवत यह है कि बचपन से ही स्त्री मानसिक रूप से इस बात के लिए तैयार हो जाती है और उसका समाजीकरण भी इस प्रकार से होता है कि वह अन्य स्त्रियों के साथ अपना अनुकूलन कर लेती है। यही कारण है कि तलाक का प्रावधान होने के बावजूद भी व्यवहार में इसका उपयोग बहुत कम होता है। शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ अब मुसलमानों में बहुपत्नीत्व को अनुचित माना जाने लगा है और उनका झुकाव एक विवाही परिवार की स्थापना की ओर बढ़ता जा रहा है।

(5) पर्दा प्रथा (Purdah System)—मुसलमानों में स्त्रियों को पुरुषों से पृथक रखने के लिए पर्दा प्रथा का प्रचलन है। घर में दरवाजों एवं खिड़कियों में पर्दे और चिक लगे होते हैं। स्त्रियाँ पुरुषों से खुले मुह बात नहीं करती हैं। वे घर से बाहर आने जाने पर घूघट और बुर्के का प्रयोग करती हैं। घर में भी स्त्री व पुरुषों के निवास के लिए 'जनानखाना' व 'मर्दानखाना' अलग अलग होते हैं। मोहम्मद साहब स्त्रियों को सार्वजनिक स्थानों पर आने जाने तथा सामाजिक व्यवहार में स्वतन्त्रता देने के पक्षपाती नहीं थे। उन्होंने अपने अनुयायियों से कहा, 'धर्म में विश्वास करने वाली स्त्रियों से कहो कि वे इधर उधर दृष्टिपात करने से रुकें और सयम से काम लें तथा वे अपने भूषणों का आवश्यकता से अधिक प्रदर्शन नहीं करें। वे अपनी छाती तक घूघट रखें।' अमीर अली कहते हैं कि 'स्त्रियों को एकान्त में रखने की पैगम्बर की सलाह ने उनके अनुयायियों में निश्चय ही अनैतिकता की बाढ को तथा बहु-पत्नीत्व की छिपी हुई प्रथा को रोकने में बहुत कार्य किया।' अल्टेकर का मत है कि पर्दा सुन्दर स्त्रियों को अतिरिक्त सुरक्षा प्रदान करता है। यात्रा के दौरान दुष्टों तथा अत्याचारियों से रक्षा करता है।[1] मैकडानल्ड का मत है कि "मुस्लिम स्त्रियों को अलग रखने की प्रथा तब से है जबकि आयशा ने अपने गले का हार सन्देहपूर्ण परिस्थितियों में खो दिया।" पर्दे की छूट केवल उसी परिस्थिति में दी गयी है जब स्त्री की चिकित्सा हो रही हो अथवा वह साक्षी दे रही हो।

1 A S Altekar *The Position of Women in Hindu Civilization* p 175

(6) परिवार का धार्मिक आधार (Religious Basis of Famil
मुस्लिम परिवार कुरान म बताये गये नियमों पर आधारित है और
मुसलमानो का धार्मिक ग्रन्थ है। कुरान के आदेशो का पालन करने वाला
का प्यारा होता है क्योकि वह अल्लाह की इच्छा का पालन करता है। ऐसे
को ही परमानन्द प्राप्त होता है। उन लोगो को जो खुदा के सन्देश मे विश्वा
करते और उसकी इच्छा को भुला देते हैं, दण्ड प्राप्त होता है। कुरान म प्रक
गये इस प्रकार के विचार परिवार के सदस्यो को पारस्परिक कतव्या एव दा
के निर्वाह की प्रेरणा देते हैं, उनके सम्बन्धो को निर्धारित एव नियन्त्रित क
तथा पारिवारिक दृढता को बनाये रखने मे योग देते हैं। कुरान परिवार के
को नमाज पढने, रोजा रखने, हज करने एव दान देने का आदेश भी देता है
प्रकार मुस्लिम परिवार मे धम की प्रधानता पायी जाती है।

(7) परिवार मे स्त्रियों की निम्न स्थिति (Low Status of Wome
the Family)—यदि हम सैद्धान्तिक दृष्टि से देखें तो मुस्लिम स्त्री को हिन्दू स्त्र
तुलना मे अधिक अधिकार प्राप्त हैं। पारिवारिक सम्पत्ति मे भी मुस्लिम स्त्रिय
हिस्सा दिया गया है और वे अपने हिस्से का चाहे जिस प्रकार से उपयोग
सकती हैं। मेहर एव दहेज पर भी स्त्री का ही अधिकार है। मुस्लिम स्त्रियं
धार्मिक अधिकार भी प्रदान किये गये हैं, वह कुरान पढ सकती है। विवाह
स्त्री की स्वीकृति ली जाती है। किन्तु व्यवहार मे मुस्लिम स्त्रियो की स्थिति द
है। पर्दा-प्रथा, अशिक्षा एव सयुक्त परिवार के कारण वे प्रगति नही कर सकी
उनका जीवन 'जनानखाने' तक ही सीमित है। परिवार मे स्त्रियो की अपेक्षा
को ही अधिक अधिकार प्राप्त हैं। वतमान समय मे शिक्षा की वृद्धि के साथ
उनकी स्थिति मे भी सुधार हो रहा है।

(8) परम्पराओं की प्रधानता (Prominence of Traditions
मुसलमान परम्परावादी हैं। पिता द्वारा पुत्र को अपनी पारिवारिक, धका
एव सांस्कृतिक परम्पराएँ हस्तान्तरित की जाती हैं। इससे सांस्कृतिक निरन्त
भी बनी रहती है। अपनी भाषा, रीति रिवाज, खान पान जीवन पद्धति आदि
उन्हे अपने पूवजो से प्राप्त हुए हैं को मानने एव बनाये रखने मे वे अपना ग
महसूस करते है।

(9) सस्कारो की प्रधानता (Prominence of Rites)—मुस्लिम परि
मे सस्कारो की भी प्रधानता है। मुसलमान अनेक धार्मिक सस्कार सम्पन्न करते
जैसे सतवा, अकीका, चिल्ला, बिसमिल्ला, खतना, निकाह और मैयत आदि।
समझे बिना मुस्लिम परिवार के बारे मे हमारा ज्ञान अधूरा ही रहेगा।

सतवा—स्त्री के गभ धारण करने के सातवें महीने मे 'सतवा' नामक सस्क
किया जाता है। इस अवसर पर अपने इष्ट मित्रो एव नातेदारो को आमन्त्रित
दावत दी जाती है और नाच गान के कायक्रम होते हैं।

अकीका—यह सस्कार पुत्र के पैदा होने के बाद सातवी रात को मनाया जाता है। मुल्ला इसी दिन बच्चे का नामकरण सस्कार करता है। इस अवसर पर नमाज पढ़ी जाती है और फकीरों को दान दिया जाता है।

चिल्ला—यह सस्कार सतान पैदा होने के चालीसवें दिन सम्पन्न किया जाता है। इस दिन बच्चे की माँ को स्नान कराकर उसे नये वस्त्र धारण कराये जाते हैं। रिश्तेदारो द्वारा इस अवसर पर उपहार भी दिये जाते हैं। नमाज पढी जाती है और अल्लाह से दुआ माँगी जाती है तथा खैरात बाँटी जाती है।

बिसमिल्ला—इस सस्कार का सम्बन्ध विद्यारम्भ से है। इस दिन मुल्ला बच्चे को बिसमिल्ला शब्द का उच्चारण करवाता है और पाटी पर लिखवाता है।

खतना—यह सस्कार बच्चे की पाँच से सात वर्ष की आयु मे सम्पन्न किया जाता है। इस सस्कार के बाद ही बच्चा धार्मिक कार्यों म भाग लेना प्रारम्भ करता है। खतना मे नाई लडके की लिंग की आगे की चमडी काट देता है। इस अवसर पर बच्चा कुछ शपथें लेता है, कुरान की कुछ आयतें पढता है। बच्चे को इस अवसर पर उपहार दिये जाते हैं और भोज का आयोजन किया जाता है। यह सस्कार सम्पन्न होने के बाद लडका नमाज पढना और रोजा रखना प्रारम्भ कर देता है।

निकाह—निकाह का अर्थ है विवाह। मुसलमानो म गवाहो की उपस्थिति मे वर एव वधू की स्वीकृति से विवाह सम्पन्न होता है। मुस्लिम विवाह का हम पृथक से अन्यत्र उल्लेख कर चुके है।

मैयत—मृत व्यक्ति का मैयत सस्कार किया जाता है। मरने पर नाई व्यक्ति की हजामत बनाता है, उसे स्नान कराता है और उसे नये वस्त्र पहनाये जाते हैं। चादर ओढा कर मुर्दे को मस्जिद मे ले जाया जाता है जहाँ मृतात्मा की शान्ति के लिए जनाजा पढा जाता है। फिर मुर्दे को लोग शान्तिपूर्वक ले जाकर कब्र म दफना देते हैं। कब्र पर फातिहा पढा जाता है। इसके बाद व्यक्ति का तीजा, दसवाँ, चालीसवाँ एव बरसी आदि मृत्यु से सम्बन्धित सस्कार किये जाते हैं। इन अवसरो पर फकीरो एव गरीबो को भोजन कराया जाता है एव दान दिया जाता है। ये सभी सस्कार सभी मुसलमान परिवारो द्वारा सम्पन्न किये जाते है।

## इस्लाम धर्म
### (ISLAM RELIGION)

इस्लाम धर्म के प्रवर्तक हजरत मोहम्मद साहब थे। इनका जन्म अरब के मक्का शहर मे सन् 570 ईसवी मे हुआ था। इस्लाम का अर्थ होता है समर्पण अथवा उत्सर्ग, जिसका अभिप्राय है अल्लाह की इच्छा के सामने झुकना। इस्लाम केवल एक ही ईश्वर मे विश्वास करता है। पथ भ्रष्ट मानवता को वह समय समय पर अपने पैगम्बर के द्वारा सही मार्ग बतलाता है। इन पैगम्बरो मे मोहम्मद अन्तिम पैगम्बर थे। उनका ध्येय पथ भ्रष्ट मानवता को अल्लाह का सन्देश समझाना था जो उनको 'जबरील' नामक देवदूत से प्राप्त हुआ। पैगम्बर का अर्थ है पैगाम या सन्देश

लाने वाला। मोहम्मद साहब अल्लाह का पैगाम पृथ्वी पर लाये थे इसलिए ही उन्हें पैगम्बर कहा जाता है। मोहम्मद साहब को रसूल भी कहते हैं क्योंकि उन्होंने परमात्मा और मनुष्यों के बीच धर्मदूत (रसूल) का काम किया था। इस्लाम का मूल मन्त्र है, "ला इलाह इल्लिलाह महम्मदुरसूलिल्लाह"—जिसका अर्थ है, अल्लाह के सिवा और कोई पूजनीय नहीं है तथा मोहम्मद उसके रसूल (दूत) हैं। इस्लाम धर्म के दो प्रमुख ग्रन्थ हैं—कुरान तथा हदीसा। कुरान में वह ज्ञान संग्रहित है जो ईश्वर ने अपने दूत मोहम्मद साहब को दिया और हदीसा में स्वयं मोहम्मद साहब के द्वारा दिये गये उपदेशों का संग्रह है।

कुरान हर मुसलमान के लिए पाँच धार्मिक कृत्य करने का आदेश देता है—(1) **कलमा पढ़ना**—'ईश्वर एक है और मोहम्मद उनके दूत हैं' इस अर्थ वाले (ला इलाह मुहम्मदुरसूलिल्लाह) मन्त्र का प्रतिदिन जाप करना चाहिए। (2) **नमाज**—प्रतिदिन पाँच बार नमाज पढ़ना चाहिए। (3) **रोजा रखना**—रमजान के महीने में पूरे महीने केवल सूर्यास्त के बाद भोजन करना। (4) **जकात**—प्रत्येक मुसलमान को अपनी वार्षिक आय का चालीसवाँ भाग दान में देना चाहिए। (5) **हज**—प्रत्येक मुसलमान को अपने जीवनकाल में मक्का और मदीना की हज (तीर्थ यात्रा) करनी चाहिए।

कुरान में 'ऐकेश्वरवाद' अर्थात् ईश्वर एक है पर जोर दिया गया है। इस्लाम धर्म मूर्तिपूजा और पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करता है। इस्लाम धर्म में यह माना गया है कि कयामत के दिन सब आत्माएँ उठ कर परमात्मा के सामने जाती हैं, उनका न्याय होता है और उनके कर्मों के अनुसार उन्हें जन्नत (स्वर्ग) या जहन्नुम (नरक) मिलता है। पर यह क्यामत का दिन कब आयेगा कोई नहीं जानता।

इस्लाम केवल कुरान में विश्वास करने का आदेश ही नहीं देता, वह **ईश्वर इच्छा के प्रति समर्पण** के भाव भी माँगता है। अल्लाह की इच्छा का पालन करने से ही परमानन्द प्राप्त होता है। जो लोग अल्लाह के सन्देश में विश्वास नहीं करते और उसकी इच्छा को भुला देते है, उन्हें दण्ड मिलता है। कुरान से स्पष्ट एवं निश्चित उत्तर प्राप्त नहीं होने की स्थिति में पैगम्बर के निर्णय, उनके उपदेश, आचरण तथा व्यवहार को निर्णायक मानने की बात भी इस्लाम में कही गयी है। मोहम्मद साहब ने अरबों को अपनी प्राचीन कबायली व्यवस्था एवं अकड़ भूल जाने का उपदेश दिया, उनकी नैतिकता में सुधार किया और उनके सामने जीवन के नवीन मूल्य प्रस्तुत किये। उन्होंने अरब कबीलों की सहानुभूति को विस्तृत करने का प्रयत्न किया और उन्हें एक धार्मिक संगठन में बँध जाने तथा अपने धर्म भाइयों की सहायता करने का उपदेश दिया।

मोहम्मद साहब की मृत्यु के बाद इस्लाम का नेतृत्व खलीफाओं के हाथ में आया, उनमें अबूबक्र, उमर, उस्मान आदि प्रमुख खलीफा थे। इनकी सेनाओं ने एशिया, अफ्रीका तथा यूरोप के अनेक देशों में इस्लाम धर्म का प्रसार किया।

उपर्युक्त उल्लेख से इस्लाम धम की निम्नांकित विशेषताएँ प्रकट होती हैं

(1) इस्लाम एकेश्वरवाद मे विश्वास करता है, हिन्दुओ की तरह वह अनक देवताओ मे विश्वास नही करता। (2) इस्लाम में पैगम्बर की परम्परा स्वीकार की गयी है। ये पैगम्बर ईश्वरीय उपदेशो को मनुष्यो तक पहुचाते हैं। (3) इस्लाम समानता के सिद्धान्त पर आधारित है, लिंग, जाति, व्यवसाय तथा अन्य आधारो पर इस्लाम मे भेद भाव नही किया जाता। ईश्वर के सम्मुख सभी समान है। (4) इस्लाम म मूर्ति-पूजा को स्वीकार नही किया गया है, यह निराकार ईश्वर मे विश्वास करता है। (5) इस्लाम पुनर्जन्म मे भी विश्वास नहीं करता। (6) इस्लाम ईश्वर के प्रति समर्पण एव उसी मे विश्वास करने पर जोर देता है। (7) इस्लाम मे प्रत्यक व्यक्ति का पाँच धार्मिक कृत्य कलमा पढना, नमाज पढना, रोजा रखना, जकात तथा हज करने के निर्देश दिये गये हैं। (8) इस्लाम मानवीय स्वतन्त्रता मे विश्वास नही करता, वह यह मानता है कि मनुष्य पूरी तरह से ईश्वर इच्छा के अधीन है। इस्लाम की इन विशेषताओ ने उनके विवाह, परिवार एव स्त्रियो की स्थिति को प्रभावित किया है।

## प्रश्न
### (उत्तर सकेत सहित)

1 भारत मे मुस्लिम विवाह पर एक सक्षिप्त निबन्ध लिखिए। (आगरा, 1968)
[सकेत—इसमे 'मुस्लिम विवाह' शीर्षक के अन्तगत दिये गये सम्पूर्ण विवरण को सक्षेप म लिखना है।]

2 'मुस्लिम विवाह एक समझौता है', स्पष्ट कीजिए।
(आगरा, 1971, गोरखपुर, 1971, 74, 77, लखनऊ 1969)
[सकेत—इसमे मुस्लिम विवाह की परिभाषा, उद्देश्य, शर्तें आदि को बता कर विवाह विच्छेद का उल्लेख किया जायेगा। साराश मे यह लिखना होगा कि उपयुक्त सभी तथ्य मुस्लिम विवाह को एक समझौता घोषित करते हैं।]

3 हिन्दू एव मुसलमानो मे विवाह सस्था का तुलनात्मक वणन कीजिए।
(आगरा, 1972, 75 77, रुहेलखण्ड, 1979, गोरखपुर, 1970, लखनऊ, 1968, 73)
[सकेत—इसमे मुस्लिम विवाह का सक्षेप म उल्लेख करने के बाद इस अध्याय मे 'हिन्दू एव मुस्लिम विवाह मे तुलना' शीर्षक मे दिये गये विवरण को लिखना है।]

4 भारत म मुसलमानो मे विवाह एव तलाक का वणन कीजिए।
(राज०, 1979)
[सकेत—इसमे मुस्लिम विवाह का अर्थ, उद्देश्य, शर्तें, प्रकार एव विवाह विच्छेद आदि का उल्लेख करना होगा।]

5 भारत म मुस्लिम परिवार के मुख्य लक्षणो का वणन कीजिए। (गोरखपुर, 1969, 73)
[सकेत—इसमे मुस्लिम परिवार के बारे मे दिये गय विवरण को लिखना है।]
6 मुस्लिम धम की प्रमुख विशेषताओ की विवचना कीजिए। (लखनऊ, 1977)
[सकेत—इसमे 'इस्लाम धम' शीषक मे दिये गये विवरण को लिखना है।]
7 सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए
(क) निकाह (गोरखपुर, 1972)
[सकेत—इसम मुस्लिम विवाह को सक्षेप मे लिखना है।]
(ख) 'मुता विवाह' (गोरखपुर 1973, 77, लखनऊ, 1971, 73, 75)
[सकेत—इस प्रश्न के उत्तर के लिए 'मुता-विवाह' शीषक देखें।]
(ग) महर (गोरखपुर, 1969, 75)
[सकेत—इस प्रश्न के उत्तर के लिए 'मुस्लिम विवाह मे मेहर' शीषक देखें।]
8 मुसलमानो म स्त्रियो की स्थिति का वणन कीजिए। (लखनऊ, 1971)
[सकेत—इस प्रश्न के उत्तर के लिए 'मुस्लिम समाज मे स्त्रियो की स्थिति' नामक शीषक देखें।]
9 मुसलमानो के सामाजिक सगठन का उल्लेख कीजिए।
[सकेत—इसमे भूमिका, मुस्लिम विवाह, परिवार, धर्म एव स्त्रियो की स्थिति को सक्षेप मे लिखना है।]

# 15

# ईसाई विवाह, विवाह-विच्छेद, परिवार एवं धर्म
## (CHRISTIAN MARRIAGE DIVORCE FAMILY AND RELIGION)

ईसाइयों ने अपने व्यावहारिक सिद्धान्तों, विशेषत मानवतावादी दृष्टिकोण तथा समानता एव बन्धुत्व के विचारों के कारण भारतीय समाज में एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। यद्यपि 1971 की जनगणना के अनुसार देश की कुल जनसंख्या में इनका प्रतिशत केवल 2 60 था, परन्तु फिर भी इन्होंने अपने उदारवादी विचारों से भारतीय जन-जीवन को प्रभावित किया है। ईसाई धर्म बुद्धिवाद के काफी निकट है। ईसाइयों के जीवन में धर्म एक महत्वपूर्ण विशेषता रही है। यही कारण है कि ईसाई धर्म का उनकी विवाह संस्था और परिवार पर प्रभाव स्पष्टत दिखायी पड़ता है। ईसाई धर्म के अनुयायी प्रमुखत दो सम्प्रदायों मे बँटे हुए हैं—(I) कैथोलिक, और (II) प्रोटेस्टेण्ट।

### ईसाई विवाह
### (CHRISTIAN MARRIAGE)

ईसाइयों मे ब्रह्मचर्य एवं नैतिकता पर विशेष जोर दिया गया है। भारत के ईसाइयों में विवाह धार्मिक आदर्शों के अनुरूप है। ईसाई धर्म मे विवाह के सम्बन्ध म दो प्रकार की विचारधाराएँ पायी जाती हैं। प्रथम विचारधारा स्त्री को दूर रखने के आदर्श से सम्बन्धित है। सेण्टपाल ने बताया है कि मनुष्य के लिए यह बेहतर है कि वह स्त्री का स्पर्श न करे। आगे आपने कहा है कि मैं अविवाहितों और विधवाओं स कहता हू कि यह उनके लिए अच्छा है कि वे मेरे समान अविवाहित जीवन व्यतीत करें। सेण्टपाल ने स्त्री को धर्म कार्य और मोक्ष के मार्ग मे बाधक माना है। अत व्यक्ति को ब्रह्मचर्यमय जीवन बिताना चाहिए और विवाह नहीं करना चाहिए। दूसरी विचारधारा के अनुसार विवाह को ईश्वर की इच्छा और आज्ञा माना जाता है। सेण्टपाल ने कहा है कि मनुष्य को स्त्री के स्पर्श से बचना चाहिए परन्तु फिर भी अनुचित यौन सम्बन्ध को रोकने के लिए प्रत्येक पुरुष की अपनी पत्नी और प्रत्येक स्त्री का अपना पति होना चाहिए। आगे आपने बताया है कि यदि अविवाहित और विधवाएँ संयम नहीं रख सकते हो तो पाप करके

भी अपना विवाह करना उपयुक्त है। डा० कैलाशनाथ शर्मा के अनुसार ईसाई धर्म मे नैतिकता पर प्रारम्भ से ही इतना जोर दिया गया कि यौन-सम्बन्धो को किसी रूप म भी स्थापित करना उत्तम जीवन के लिए गलत समझा गया। विवाह केवल उसी स्थिति म ही करना उचित समझा गया, जब कोई व्यक्ति अपनी यौन प्रवृत्तियों को नियन्त्रित नही कर सकता हो। ये विचार धीरे धीरे इतना दृढ होते गये कि मनुष्य जीवन की पूर्णता के लिए अविवाहित रहना ही आदर्श बन गया और विवाह को मनुष्य की निर्बलताओ का केवल सबसे अच्छा हल मान लिया गया।[1] अब यह धारणा बदल चुकी है और आजकल ईसाइयो मे विवाह को आवश्यक माना जाता है।

प्रोटस्टेण्ट सम्प्रदाय के विकास के फलस्वरूप ईसाइयो मे विवाह सम्बन्धी धारणा म परिवतन आया। इस सम्प्रदाय के अनुसार परिवार की स्थापना ईश्वर इच्छा के अनुरूप ही है तथा विवाह परिवार की स्थापना के लिए आवश्यक है। विवाह किसी भी रूप म पाप या अधार्मिक नही है। ईसाइयो म विवाह को केवल यौन-इच्छाओ की पूर्ति एव सन्तानोत्पत्ति का साधन मात्र नही माना गया है। विवाह एक ऐसी सामाजिक सस्था है जिसके माध्यम से पति पत्नी म शारीरिक, मानसिक एव आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित होते हैं। विवाह सम्बन्धी इन्हीं विचारो से प्रभावित होकर अनेक पादरी विवाह करने लगे हैं। आजकल ईसाइयो मे विवाह को जीवन के विभिन्न दायित्वो को निभाने की दृष्टि से आवश्यक माना जाता है। जहाँ मुस्लिम विवाह को यौन सन्तुष्टि का ही प्रधान साधन माना जाता है, वहाँ ईसाई विवाह मे इसके अतिरिक्त पवित्र दायित्वो की पूर्ति पर विशेष जोर दिया जाता है।

ईसाई विवाह को इस प्रकार परिभाषित किया गया है "विवाह समाज मे एक पुरुष तथा स्त्री के बीच एक ऐसा समझौता है, जो साधारणत सम्पूर्ण जीवन भर के लिए होता है और इसका उद्देश्य यौन-सम्बन्ध, पारस्परिक सहयोग और परिवार की स्थापना करना है।"[2] इस परिभाषा के अनुसार विवाह एक समझौता है परन्तु साथ ही इसे एक ऐसा समझौता माना गया है जो आजीवन चलता रहता है। पादरी के अनुसार ईसाई विवाह एक समझौता है। यह तथ्य विवाह के अवसर पर पादरी द्वारा उच्चारित इन शब्दो से स्पष्ट होता है—'तुम अब पति पत्नी केवल औपचारिक सविदा (Formal Contract) से सयुक्त नही हुए हो अपितु विवाह सस्कार से पवित्र बन्धन मे बँधे हो।' ईसाई बुलेटिन मे अन्यत्र यह भी कहा गया है कि "ईसाई चर्च मे सदैव *यह विचार रहा है कि सार्वभौमिक विवाह की सस्था का मानव जीवन* के लिए ईश्वरीय उद्देश्य मे केन्द्रीय स्थान है।' स्पष्ट है कि ईसाई विवाह मे कुछ

1 डॉ० कैलाशनाथ शर्मा, भारतीय समाज और सस्कृति, पृ० 468।

2 *Bulletin of the Christian Institute for the Study of Society* Vol 4 No 2 (Sept 1975) p 37

मात्रा मे धार्मिक संस्कार के गुण भी मौजूद हैं। यद्यपि ईसाइयो मे वैवाहिक समझौता जीवन भर के लिए होता है परन्तु यदि कोई पक्ष इससे असन्तुष्ट हो, तो विशेष परिस्थितियो मे इस समाप्त भी किया जा सकता है।

**ईसाई विवाह के उद्देश्य** *(Objectives of Christian Marriage)*

**(1) यौन सम्बन्ध**—व्यक्ति के पवित्र जीवन व्यतीत करने के लिए विवाह द्वारा यौन इच्छाओ की पूर्ति आवश्यक है। इससे समाज मे व्यभिचार नही फैल पाता है और समाज की निरन्तरता भी बनी रहती है।

**(2) पारस्परिक सहयोग**—विवाह पति पत्नी मे न केवल सहयोगी सम्बन्धो को जन्म देता है बल्कि उन्हें एक-दूसरे के प्रति प्रेम, त्याग, सहयोग और सहानुभूति व्यक्त करने के अवसर भी प्रदान करता है। विवाह एक ऐसा बन्धन है जो प्रत्येक परिस्थिति मे उन्हें एक दूसरे का साथ देने के लिए प्रेरित करता है।

**(3) परिवार की स्थापना**—सन्तानोत्पत्ति के द्वारा ईसाई लोग ईश्वर की रचनात्मक क्रिया मे भाग लेते हैं और बच्चों के पालन पोषण द्वारा वे ईश्वर की पालन शक्ति को प्रतिबिम्बित करते हैं।[1] स्पष्ट है कि समाज द्वारा सवस्वीकृत साधन-विवाह द्वारा ही सन्तानोत्पत्ति, परिवार की स्थापना और बच्चो का उत्तमता से पालन-पोषण किया जा सकता है।

**(4) पवित्र जीवन का विकास**—इसे विवाह के एक उद्देश्य के रूप मे माना गया है। विवाह पति पत्नी को पवित्र जीवन व्यतीत करने हेतु सुअवसर प्रदान करता है। उत्तर भारत सयुक्त चर्च के सविधान मे बतलाया गया है कि विवाह एक पवित्र व्यवस्था है जो ईश्वर द्वारा स्थापित है और इसलिए यह अपने प्राकृतिक क्रम मे पाया जाता है। विवाह सम्बन्ध को ईसा एव चर्च के अलौकिक सम्बन्धो का प्रतीक माना गया है।[2]

## ईसाइयो में विवाह के प्रकार या स्वरूप
## (FORMS OF MARRIAGE AMONG CHRISTIANS)

ईसाइयो मे विवाह पति-पत्नी के बीच एक स्थायी समझौता है जिसे इच्छानुसार भग नही किया जा सकता। ईसाइयो की धार्मिक मान्यताएँ उन्हे बहु विवाह की आज्ञा नहीं देतीं। उनमे एक विवाह का ही सर्वमान्य सामाजिक नियम पाया जाता है। एक पुरुष और एक स्त्री को ही वैवाहिक जीवन के सच्चे साथी के रूप मे स्वीकार किया गया है। मुसलमानो के 'मुताह विवाह' जैसे किसी अस्थायी विवाह का प्रचलन ईसाइयो मे नही पाया जाता। ये लोग विवाह को स्थिरता प्रदान करने के पक्ष मे रहे है इसे जीवन-पर्यन्त का सम्बन्ध मानते रहे हैं।

1 Through procreation they share in the creative activity of God while in the nurture of children they refect his sustaining power —*Ibid* p 38

2 Constitution of United Church of Northern India (1954) p 70

विवाह करने की विधि की दृष्टि से ईसाइयो मे विवाह के दो प्रकार प्रचलित हैं

(1) धार्मिक विवाह—ऐसे विवाह का निर्धारण साधारणत लडके लडकी के माता पिता या परिजनो द्वारा होता है। ये विवाह गिरजाघर मे सम्पन्न किये जाते हैं।

(2) सिविल मैरिज—ऐसे विवाह के लिए लडके लडकी को मैरिज रजिस्ट्रार के कार्यालय म उपस्थित होकर आवश्यक कानूनी कार्यवाही करनी पडती है। इसाइयो मे सिविल मैरिज की अपेक्षा आज भी धार्मिक विवाह अधिक होते हैं।

## विवाह की आयु, वैवाहिक निषेध और जीवन साथी का चुनाव
## (AGE PROHIBITIONS AND MATE SELECTION)

ईसाइयो मे धार्मिक रूप से 13 वर्ष की लडकी और 16 वर्ष के लडके का विवाह की आज्ञा प्राप्त है। लेकिन इनमे साधारणत विलम्ब विवाह ही होते हैं। श्री एम० के० गुप्ता ने एक सर्वेक्षण के आधार पर कहा है कि 52 5 प्रतिशत ईसाई विवाह 21 से 25 वर्ष की आयु के बीच और 17 5 प्रतिशत 30 वर्ष से अधिक आयु के बीच सम्पन्न किये गये, किन्तु 20 वर्ष से कम की आयु मे कोई भी विवाह सम्पन्न नही पाये गये।[1] इतना स्पष्ट है कि ईसाइयो म प्राय 20 वर्ष से अधिक आयु के लडके-लडकियो के ही विवाह सम्पन्न होते है, उनम बाल विवाह का प्रचलन बिलकुल नही पाया जाता है।

ईसाइयो म रक्त सम्बन्धियो का छोड कर शेष सबमे परस्पर विवाह किय जा सकते हैं। ईसाई पुरुष अपनी मृत पत्नी की बहन, भाई की विधवा स्त्री, मृत पत्नी के भाई या बहन की लडकी से भी विवाह कर सकता है। इनमे विधवा विवाह का निषेध नही है, विधवाओ का विवाह करने की आज्ञा प्राप्त है। ईसाइयो मे हिन्दुओ के समान 'दहेज' या 'कन्या मूल्य' और मुसलमानो के समान 'महर' के लेन-देन का कोई प्रचलन नही है।

ईसाइयो मे जीवन-साथी का चुनाव अधिक स्वतन्त्र वातावरण मे होता है। यह चुनाव माता-पिता द्वारा भी किया जाता है और स्वय लडके लडकियो द्वारा भी। परम्परागत इसाई विवाह म यह चुनाव मुख्यत माता पिता के द्वारा ही किया जाता है। 'मसीही आवाज' मे कहा गया है कि हमारे युवक युवतियो को अपने मा। पिता की सहायता लेनी चाहिए। युवावस्था म स्वाभिमान और बलिदान का भाव बहुत होता है। युवक प्रेम को अपना ध्येय बना लेते है, जिसके सामन वे गृहस्थी, समाज, धर्म और जाति के सम्बन्धो को भी कुछ भी नही समझते। कोई ऐसा विशेष कारण भी नही है कि विवाह के सम्बन्ध मे युवक अपने माता पिता की सम्मति न लें या उन पर विश्वास न करें।[2] ईसाइयो मे जीवन साथी के चुनाव मे माता पिता की स्वीकृति

1 S K Gupta *Marriage among the Anglo Indians* p 35

2 मसीही आवाज, वर्ष 30, अक 4 (अप्रैल, 1957), डा० जान राधाकृष्ण का लेख पृष्ठ सख्या 24।

साधारणत ली जाती है। वर्तमान समय मे नगरीय क्षेत्रो मे जीवन साथी के चुनाव मे लडके लडकी स्वय महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं और माता पिता का हस्तक्षेप कम होता है। आजकल माता पिता भी प्राय अपने लडके लडकियो द्वारा किये गये जीवन-साथी के चुनाव का समर्थन कर देते हैं।

## ईसाइयो में विवाह पद्धति
## (MARRIAGE RITUAL AMONG CHRISTIANS)

ईसाइयो मे विवाह को जीवन भर का एक पवित्र बधन माना जाता है, जिसमे विवाह विच्छेद को कोई स्थान नही दिया गया है। यह विवाह एक पुरुष और एक स्त्री का ही पवित्र मिलन है। इन लोगो मे एक से अधिक पति या पत्नियो का प्रचलन नही है। विवाह के लिए जब जीवन-साथी का चुनाव अतिम रूप से कर लिया जाता है और वधू-पक्ष, वर-पक्ष द्वारा रखे गये विवाह प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है, तो सगाई या मगनी का सस्कार सम्पन्न होता है। किसी निश्चित दिन वर-पक्ष और वधू-पक्ष वाले अपने परिजनो एव मित्रो सहित गिरजाघर मे पहुच जाते हैं। वर पक्ष वाले अपने साथ मिठाई, नारियल, वस्त्र, अगूठी तथा रुपये आदि ले जाते है। इस अवसर पर होने वाले वर-वधू पास पास बैठाये जाते है और पादरी बाइबिल के कुछ अश पढता है। यहाँ औपचारिक रूप से वैवाहिक सम्बधो की वर वधू द्वारा स्वीकृति प्राप्त की जाती है। दोनो ही एक दूसरे को अगूठियाँ पहनाते है और इस अवसर पर मगनी की घोषणा कर दी जाती है। इसके बाद मिठाई वितरण जलपान आदि होता है।

विवाह सस्कार के लिए लडके और लडकी अथवा दोनो मे से किसी एक को चर्च के अधिकारी को विवाह हेतु प्रार्थना पत्र देना पडता है, जिसमे दोनो के परिवारो का सक्षिप्त परिचय होता है। इस प्रार्थना पत्र के प्राप्त होने पर चर्च का अधिकारी इस आशय की सूचना प्रकाशित करता है ताकि यदि इस विवाह से सम्बन्धित किसी को भी कोई आपत्ति हो, तो वह प्रस्तुत की जा सके। इस सूचना के प्रकाशित होने के 96 घण्टे के पश्चात् विवाह सम्पन्न किया जा सकता है। इस विवाह के सम्बन्ध मे किसी प्रकार की कोई आपत्ति नही आने पर, विवाह की तिथि निश्चित कर ली जाती है। विवाह कार्य साधारणत उस गिरजाघर मे सम्पन्न होता है, जिसकी लडकी सदस्या है। यदि लडके-लडकी मे से एक प्रोटेस्टेण्ट चर्च का सदस्य है और दूसरा कैथोलिक चर्च का, तो ऐसी स्थिति मे विवाह कैथोलिक चर्च मे ही सम्पन्न होता है। विवाह के प्रार्थना पत्र देने के तीन महीने की अवधि मे विवाह सम्पन्न करना पडता है, वरना पुन चर्च के अधिकारी को प्रार्थना पत्र देना होता है।

विवाह के लिए निश्चित की गयी तिथि को वर पक्ष और वधू पक्ष वाले गिरजाघर मे पहुच जाते हैं। वर पक्ष वाले दायी ओर और वधू पक्ष वाले बायी ओर बैठ जाते हैं। वधू के गिरजाघर मे पहुचने पर उसके स्वागत मे चर्च का घण्टा बजता है, सब उपस्थित लोग खडे हो जाते हैं और फिर गीत गाये जाते है। तत्पश्चात पादरी लडके लडकी को यह घोषित करने को कहता है कि उनके विवाह

मे किसी प्रकार की बाधा नहीं है। फिर दोनो के द्वारा यह प्रतिज्ञा की जाती है कि वे आजीवन एक दूसरे के साथ पवित्र बन्धन म बँधे रहेंगे, सुख दुख म एक दूसरे का सदैव साथ देंगे। पादरी पहले लडके मे पूछता है कि क्या तुम्हें यह लडकी पत्नी के रूप मे स्वीकार है ? जब लडका इसकी स्वीकृति दे देता है, तो पादरी फिर उसे कहता है कि क्या तुम पवित्र वैवाहिक जीवन बिताने का, प्रत्येक परिस्थिति मे पत्नी का साथ देने का, उसके प्रति वफादारी से रहने का, मृत्युपर्यन्त उसका साथ नही छोडने का वायदा करते हो ? इस सम्बन्ध म वर की स्वीकृति प्राप्त हो जाने पर पादरी लडकी से भी य सब प्रश्न करता है और उसकी भी स्वीकृति प्राप्त करता है। फिर वर और वधू अपनी अगूठियाँ बदल लेते हैं। इसके पश्चात् पादरी घोषित करता है कि य दोनो पति पत्नी हो गये है। वह तीन बार 'अमीन' कहता है और इसके साथ ही विवाह सम्पन्न मान लिया जाता है। इस अवसर पर पादरी वर वधू को आशीर्वाद देता है।

कुछ परिवारो मे लोग गिरजाघरो मे इस प्रकार का धार्मिक विवाह न करके **सिविल मैरिज** करते है। सिविल मैरिज अदालत की सहायता से किया गया एक मामूली समझौता मात्र होता है। इसके लिए विवाह के इच्छुक लडके लडकी को रजिस्ट्रार को प्रार्थना-पत्र देना होता है और कानूनी कार्यवाही करनी पडती है। 1872 के 'भारतीय ईसाई विवाह अधिनियम के अनुसार विवाह के लिए लडके लडकियो की न्यूनतम आयु क्रमश 16 वर्ष और 13 वर्ष होनी चाहिए और विवाह के समय किसी का भी दूसरा पक्ष जीवित नही होना चाहिए। विवाह के समय लडके लडकी की आयु निर्धारित आयु से कम होने पर उनके अभिभावको को स्वीकृति प्राप्त करनी पडती है। सिविल मैरिज करने वाले पति पत्नी आशीर्वाद प्राप्त करने हेतु गिरजाघर म भी जाते है। ईसाइयो मे अधिकाश विवाह धार्मिक विवाह ही होते है, जो गिरजाघर मे सम्पन्न किये जाते ह।

## ईसाइयो में विवाह-विच्छेद
## (DIVORCE AMONG CHRISTIANS)

ईसाई धर्म विवाह विच्छेद की स्वीकृति नही देता। उनके किसी भी गिरजाघर म विवाह विच्छेद की घोषणा नही की जा सकती है। रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय विवाह विच्छेद के पूर्णत विरुद्ध है जबकि प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदाय विशेष परिस्थितियो मे इसका समर्थन करता है। किसी भी चर्च मे न तो विवाह विच्छेद किया जा सकता है और न ही विवाह विच्छेद करने वाले स्त्री पुरुष वहाँ पुन विवाह कर सकते हैं। पहले जीवन साथी की मृत्यु के एक वर्ष के पश्चात ही चर्च उसे पुनर्विवाह की आज्ञा प्रदान करता है। यदि कोई पक्ष निषेधात्मक सम्बन्धो के अन्तर्गत आता हो, पागल हो गया हो या दूसरे पक्ष के साथ क्रूरता का व्यवहार करता हो, तो ऐसी परिस्थिति मे चर्च उन्हे वैवाहिक पृथक्करण की आज्ञा दे देता है। ईसाइयो मे

सन्तानोत्पत्ति के बजाय पारस्परिक प्रेम को अधिक महत्व दिया जाता है, इसलिए इनमे बाँझपन को वैवाहिक पृथक्करण का आधार नही माना गया है।

विवाह विच्छेद के सम्बन्ध मे ईसा मसीह ने कहा है—"वे दोनो एक जिस्म (शरीर) होगे, बस वे दो नही बल्कि एक जिस्म हैं। इसलिए जिसे खुदा ने जोडा है, उसे आदमी जुदा न करे।"[1] इसी सम्बन्ध मे आगे कहा गया है कि जो व्यक्ति अपनी पत्नी को व्यभिचारिणी होने के अतिरिक्त अन्य किसी कारण से छोडेगा, और दूसरी स्त्री से विवाह करेगा, वह व्यभिचार करता है, और वह जो छोडी हुई स्त्री से विवाह करता है व्यभिचार करता है।[2] स्पष्ट है कि ईसाइयो मे विवाह विच्छेद को धार्मिक दृष्टि से मान्यता प्रदान नही की जाती। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि ईसाइयो मे विवाह विच्छेद नहीं पाये जाते हैं, उनमें अन्य धर्मानुयायियो के बजाय विवाह-विच्छेद अधिक ही होते हैं। व्यवहार रूप मे पारस्परिक प्रेम मे किसी प्रकार की बाधा उपस्थित होने पर, ये लोग विवाह-विच्छेद को अनुचित नही मानते। परन्तु क्योकि अनेक भारतीय ईसाई हिन्दू धर्म को छोडकर ईसाई बने हैं, इस कारण हिन्दू मनोवृत्तियो का प्रभाव आज भी उन पर है और उनमे विवाह विच्छेद की दर पाश्चात्य देशों के ईसाइयो की तुलना में कम ही है।

## भारतीय विवाह विच्छेद अधिनियम, 1869
### (THE INDIAN DIVORCE ACT 1869)

इस अधिनियम के अनुसार ईसाइयो को वैधानिक रूप से विवाह विच्छेद का अधिकार दिया गया है। इस अधिनियम के अन्तर्गत धारा 10 मे पत्नी के व्यभिचारिणी होने पर पति विवाह विच्छेद के लिए अदालत मे प्रार्थना पत्र दे सकता है और पत्नी निम्नलिखित आधारो मे से किसी भी एक आधार पर विवाह-विच्छेद की माँग कर सकती है

(1) पति ने ईसाई धर्म को छोडकर कोई अन्य धर्म स्वीकार कर लिया हो और किसी अन्य स्त्री के साथ विवाह कर लिया हो।

(2) पति ने निषिद्ध सम्बन्धो के अन्तर्गत आने वाली किसी स्त्री के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित कर लिया हो।

(3) पति ने किसी अन्य स्त्री के साथ विवाह कर लिया हो और उसके साथ यौन सम्बन्ध स्थापित कर लिया हो।

(4) पति बलात्कार, अप्राकृतिक व्यभिचार या पशुता का अपराधी हो।

(5) पति के द्वारा किसी दूसरी स्त्री के साथ अनुचित मैथुन किया गया हो और पत्नी का कम से कम दो वर्ष से परित्याग कर दिया गया हो।

(6) पति बहु विवाह व्यभिचार का अपराधी हो।

1 Wherefore they are no more twain but one flesh What therefore God hath joined together let not man put as under —St Matthew Chap XIX p 5

2 St Matthew *Ibid* p 9

(7) पति पत्नी के साथ निर्दयतापूर्ण व्यवहार करता हो।

इस अधिनियम की धारा 19 के अनुसार, निम्नलिखित दशाओं में ईसाई विवाह अमान्य घोषित किया जा सकता है

(1) विवाह के समय कोई पक्ष नपुंसक हो।

(2) पति पत्नी एक-दूसरे के निषेधात्मक रक्त-सम्बन्धी या विवाह-सम्बन्धी हों।

(3) कोई भी एक पक्ष विवाह के समय पागल हो।

(4) दोनों में से किसी का भी पहला पति या पत्नी जीवित हो।

विवाह को अवैध घोषित करने के लिए हाईकोर्ट द्वारा प्रमाणित राजाज्ञा होनी चाहिए। यदि विवाह के लिए किसी पक्ष की स्वीकृति छल या कपट द्वारा ली गयी है, तो हाईकोर्ट ऐसे विवाह को अवैध घोषित कर सकता है।

धारा 22 के अनुसार, व्यभिचार, क्रूरता अथवा परित्याग के कारण न्यायिक पृथक्करण की आज्ञा प्राप्त की जा सकती है। धारा 23 के अन्तर्गत धारा 19 में वर्णित आधारों पर भी न्यायिक पृथक्करण प्राप्त किया जा सकता है। धारा 32 के अनुसार, पति पत्नी में से किसी के द्वारा भी वैवाहिक अधिकारों के पुनःस्थापन (Restitution of Conjugal Rights) के लिए प्रार्थना पत्र दिया जा सकता है। धारा 34 के अन्तर्गत कोई भी पति अपनी पत्नी के साथ व्यभिचार करने वाले व्यक्ति से क्षतिपूर्ति की माँग कर सकता है। धारा 36 में पत्नी को अपने पति से भरण पोषण की माँग करने की व्यवस्था की गयी है। इस अधिनियम की धारा 50 के अनुसार, विवाह विच्छेद की राजाज्ञा प्राप्त होने के छः महीने पश्चात कोई भी पक्ष दूसरा विवाह कर सकता है बशर्ते कि इस अवधि के बीच किसी प्रकार की कोई अपील नहीं की गयी हो।

## ईसाई विवाह में आधुनिक परिवर्तन
## (CHANGES IN CHRISTIAN MARRIAGE)

वर्तमान समय में औद्योगीकरण, नगरीकरण, पाश्चात्य शिक्षा, भौतिकवादी दृष्टिकोण, व्यक्तिवादी आदर्श तथा रोमांस आदि के कारण ईसाई विवाह से सम्बन्धित आदर्शों में परिवर्तन हो रहे हैं। इन लोगों में स्त्रियों के आर्थिक क्षेत्र में काम करने और अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्र होने के कारण, विवाह की परम्परागत मान्यताओं एवं रूप में परिवर्तन दिखलायी पड़ने लगे हैं। पाश्चात्य समाजों के अनुकरण की प्रवृत्ति ईसाइयों में अन्य धर्मावलम्बियों की तुलना में अधिक पायी जाती है, इन पर पाश्चात्य संस्कृति का अधिक प्रभाव मालूम पड़ता है। ऐसी दशा में इनके परम्परागत वैवाहिक आदर्श बदलते जा रहे हैं। भारतीय ईसाई विवाह संस्था में वर्तमान समय में ये परिवर्तन हो रहे हैं

(1) विवाह का धार्मिक पक्ष कमजोर पड़ता जा रहा है। गिरजाघर में धार्मिक रीति से विवाह करने के बजाय, सिविल मैरिज की ओर लोगों का झुकाव बढ़ता जा रहा है। विवाह के पश्चात वर वधू चर्च में औपचारिकता निभाने के नाते आशीर्वाद

प्राप्त करने अवश्य चले जाते हैं। इस प्रकार, विवाह का धार्मिक आधार शिथिल होता जा रहा है और इसका एक समझौते के रूप मे महत्ता प्राप्त होती जा रही है।

(2) ईसाई विवाह मे रोमास का महत्व बढता जा रहा है। ईसाई समाज मे अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छन्द वातावरण पाये जाने से स्त्री-पुरुषो को एक दूसरे के निकट सम्पर्क मे आने के अधिक अवसर मिलते हैं, फलत उनम रोमास अधिक पनपता है। परिणामस्वरूप ईसाइयो मे रोमास पर आधारित प्रेम विवाह अधिक होते हैं। एक सर्वेक्षण के आधार पर पाया गया कि इन लोगो म 42 प्रतिशत विवाह मित्रतापूर्ण सम्बन्धो के आधार पर, 28 प्रतिशत सामाजिक उत्सवो मे परिचय के आधार पर और 20 प्रतिशत विवाह सम्बन्धियो की सहायता से निश्चित होते हैं।[1]

(3) ईसाइयो मे रक्त सम्बन्धियो के बीच विवाह सम्बन्ध वर्जित है, परन्तु वर्तमान मे निकट के रक्त सम्बन्धियो को छोडकर, शेष सब मे ऐसे सम्बन्ध होने लगे है। ममेरे फुफेरे भाई-बहिनो के बीच भी यदाकदा सिविल मैरिज हो जाती है।

(4) ईसाइयो मे यद्यपि धार्मिक दृष्टि से विवाह विच्छेद मान्य नही है तथापि आजकल उनमे विवाह विच्छेद की प्रवृत्ति और दर बढती जा रही है। अधिकाश शिक्षित स्त्रियाँ आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर हैं, अधिक स्वतन्त्र हैं और पारिवारिक क्षेत्र मे अपने अधिकारो के प्रति सचेत हैं। वैवाहिक जीवन की सफलता के लिए पारस्परिक विश्वास, निष्ठा, प्रेम, त्याग, सहानुभूति, हर परिस्थिति मे एक-दूसरे का साथ देने की बलवती इच्छा तथा एक दूसरे की कमजोरियो को बढा चढा कर नही देखने की प्रवृत्ति आदि अत्यन्त आवश्यक है। इनके अभाव मे मानसिक तनाव मे वृद्धि होती है और विवाह विच्छेद की सख्या बढती है। आज अनेक ईसाई परिवारो मे पति-पत्नी मे सामजस्य की कमी के कारण विवाह विच्छेद होते पाये जाते हैं। बढते हुए विवाह विच्छेद पारिवारिक जीवन की स्थिरता मे बाधक बनते जा रहे है।

(5) धार्मिक दृष्टि से ईसाइयो मे विधवा विवाह उचित नही माना गया है। जो विधवा अपनी यौन इच्छाओ का नियन्त्रित नही कर पाये, उसे पति की मृत्यु के एक वर्ष पश्चात् विवाह करने की आज्ञा दी गयी है। वर्तमान समय मे कोई भी विधवा पति की मृत्यु के कुछ दिन पश्चात ही पुनर्विवाह कर सकती है। ईसाइयो मे आजकल विधवा पुनर्विवाह को प्रोत्साहित किया जा रहा है।

इन सब परिवर्तनो के कारण, ईसाइयो मे विवाह एक साधारण-सा समझौता मात्र रह गया है जिसे कभी भी समाप्त किया जा सकता है तथा कभी भी किसी भी स्त्री अथवा पुरुष से पुनर्विवाह किया जा सकता है। इनमे पारिवारिक अस्थिरता आज एक समस्या का रूप ग्रहण करती जा रही है। ईसाइयो मे दहेज अथवा कन्या मूल्य की समस्या नही पायी जाती। इनमे बाल विवाह भी नहीं होते। इस सम्बन्ध मे

1 S K Gupta *op cit* p 49

डॉ० जान राधाकृष्ण ने लिखा है कि जब तक एक युवक स्थायी रूप से काम पर लग कर, अपना और अन्य लोगों का भी, निर्वाह नहीं कर सके, उसे विवाह नहीं करना चाहिए क्योंकि कोई भी प्राणी केवल स्नेह पर ही निर्भर नहीं रह सकता। हमारा जीवन साथी ऐसा होना चाहिए जो हमारे लिए एक आदर्श मसीही घराना बना सके, जो न केवल हमें दैहिक सुख और आनन्द ही दे अपितु खेल मे, पढ़ने लिखने मे, घर के सब धन्धो मे सन्तान के पालन पोषण मे, जीवन की आशा और निराशा मे हमारा सगी हो।[1] स्पष्ट है कि ईसाइयो मे बाल विवाह की समस्या नहीं पायी जाती। यही नहीं, विवाह से सम्बन्धित कोई भी गम्भीर समस्या इन लोगो मे नहीं पायी जाती है। पारिवारिक स्थिरता की दृष्टि से यह आवश्यक है कि भारतीय ईसाई बन्धु प्रगतिशीलता के नाम पर पाश्चात्य देशो का अन्धानुकरण करने के बजाय अपने ही देश के अन्य धर्मावलम्बी पड़ोसियो के अधिक निकट आयें, भारतीय संस्कृति से कुछ सीखें और ग्रहण करें।

## ईसाई परिवार
### (CHRISTIAN FAMILY)

मानव की विभिन्न आवश्यकताओ ने विवाह और परिवार के विकास मे योग दिया है। परिवार मे व्यक्ति का जन्म, समाजीकरण और उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। परिवार समाज को निरन्तरता को बनाये रखने और संस्कृति की रक्षा मे अपूर्व योग देता है। ईसाई परिवार भी ईसाई समाज मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। भारत मे साधारणत चार प्रकार के ईसाई परिवार पाये जाते हैं (1) वे जो यूरोप निवासियो की भारत मे बसी हुई सन्तानो से बने हैं। (2) वे जो हिन्दुओ तथा मुसलमानो से धर्म परिवर्तन द्वारा बने ईसाइयो अथवा उनकी सन्तानो से बने है। (3) वे जो प्रथम और द्वितीय प्रकार के ईसाइयो की मिश्रित सन्तानो से बने हैं। (4) वे जो शेष आदिवासियो से बने हैं जिन्होने अपना धर्म परिवर्तित कर लिया है और ईसाई बन गये हैं।

उपर्युक्त चार प्रकार के परिवार एक दूसरे से कुछ भिन्न है। पहली श्रेणी के परिवार यूरोपीय परिवार की विशेषताएँ लिये हुए है। तीसरी श्रेणी के परिवार (एंग्लो इण्डियन) अपने आपको दूसरी और चौथी श्रेणी के परिवारो से उच्च मानते है। दूसरी श्रेणी के धर्म परिवर्तन के आधार पर बने ईसाई परिवार अपनी भारतीय परम्पराओ का पूरी तरह नहीं छोड़ पाये है, यद्यपि इनके द्वारा पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति को अपनाये जाने का प्रयास किया जाता रहा है। चौथी श्रेणी के जन जातियो से बने ईसाई परिवार अपनी स्वयं की पारिवारिक विशेषताओं को बनाये रख सके हैं, इनकी जीवन पद्धति अन्य तीनो श्रेणियो के परिवारो से भिन्न प्रकार की है।

1 मसीही आवाज, वर्ष 30, अंक 4 (अप्रैल 1957), पृ० 24।

## ईसाई परिवार की विशेषताएँ
## (CHARACTERISTICS OF CHRISTIAN FAMILY)

अन्य परिवारों के समान ही ईसाई परिवार में भी विवाह सम्बन्ध (Mating relationship) पाया जाता है और विवाह द्वारा ही परिवार का जन्म होता है। परिवार में वंश नाम प्राप्त करने की एक व्यवस्था भी होती है। इनमें वंश नाम की पितृवंशीय व्यवस्था पायी जाती है, परन्तु मालाबार के कुछ ईसाई परिवारों में मातृवंशीय वंश नाम की परम्परा है, अर्थात् बच्चे माता से वंश नाम प्राप्त करते हैं। प्रत्येक परिवार के लिए कोई न कोई आर्थिक व्यवस्था (Economic provision) भी होती है जिसके माध्यम से सदस्य अपनी आवश्यकता पूर्ति और बच्चों का पालन पोषण करते हैं। प्रत्येक ईसाई परिवार के लिए एक घर या सामान्य निवास स्थान (A common habitation) की व्यवस्था भी होती है। इनमें पितृ स्थानिक (Patrilocal) व्यवस्था पायी जाती है, अर्थात् विवाह के पश्चात वधू अपने पति के परिवार में निवास करती है। ईसाई परिवार में मुख्यतः निम्नलिखित विशेषताएँ पायी जाती हैं :

(1) **पितृसत्तात्मक व्यवस्था**—ईसाइयों में पितृसत्तात्मक परिवार पाये जाते हैं। परिवार में कर्ता के रूप में पुरुष की महत्त्वपूर्ण स्थिति होती है, परिवार की सम्पत्ति पर उसी का नियन्त्रण पाया जाता है। ऐसे परिवार में वंश परम्परा भी पिता के नाम पर ही चलती है। प्रत्येक व्यक्ति के नाम में पिता के नाम का प्रथमांश जुड़ा रहता है।

(2) **सम्मिलित आय का अभाव**—हिन्दू संयुक्त परिवारों के समान ईसाई परिवार का एक सामान्य कोष नहीं होता है, अर्थात सभी सदस्य अपनी आय परिवार के मुखिया के पास जमा नहीं करते हैं। ईसाइयों में अधिकांशतः एकाकी परिवार होने के कारण सम्मिलित आय का प्रश्न ही नहीं उठता। जहाँ अनेक भाई अपने माता-पिता के साथ ही रहते हैं, वे अलग अलग व्यवसाय में लगे होते हैं, व्यक्तिगत रूप से कमाई करते हैं और उसे अपनी पत्नी तथा बच्चों पर अपनी इच्छानुसार खर्च करते हैं। ऐसे परिवार में सामान्य खर्च चलाने हेतु प्रत्येक अपनी आय का कुछ निश्चित भाग पिता को दे देता है। आय पर व्यक्तिगत अधिकार होने के कारण इन लोगों में अचल सम्पत्ति कम ही होती है।

(3) **सम्मिलित सम्पत्ति का अभाव**—ईसाइयों में एकाकी परिवार पाये जाने के कारण सम्मिलित सम्पत्ति का साधारणतः अभाव पाया जाता है। जहाँ बहुत से भाई अपने माता पिता के साथ इकट्ठे रहते भी हैं, वहाँ वे उनकी मृत्यु के पश्चात शीघ्र ही सम्पत्ति के विभाजन की माँग करते हैं। माता पिता की सम्पत्ति पर सब बच्चों का समान रूप से अधिकार होता है।

(4) **परिवार का छोटा आकार**—ईसाई परिवारों का आकार प्रायः छोटा होता है। इन लोगों पर आधुनिक शिक्षा, पाश्चात्य विचारों और आदर्शों का

गहरा प्रभाव पाया जाता है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को ये लोग अधिक महत्व देते हैं। विवाह के पश्चात पति अपने पिता के परिवार में रहने के बजाय अपना स्वयं का नया घर बनाकर रहना अधिक पसन्द करता है। पति पत्नी स्वयं नया परिवार बसा लेते हैं जिसे नवस्थानिक परिवार कहा जाता है। ये लोग अपने रहन-सहन के स्तर को ऊँचा बनाये रखने के दृष्टिकोण से कम सन्तानोत्पत्ति करना ही अधिक उपयुक्त समझते हैं। इस दृष्टि से ये लोग "परिवार-नियोजन" विषयक उपकरणों का प्रयोग भी करते हैं। पहले कैथोलिक सम्प्रदाय वाले ईसाई, परिवार नियोजन हेतु उपकरणों के प्रयोग को अधार्मिक मानते थे, लेकिन आजकल उनकी इस प्रवृत्ति में अन्तर आया है और वे भी सन्तानोत्पत्ति को नियन्त्रित करने का प्रयत्न करने लगे हैं।

(5) व्यक्तिवादी आधार—ईसाई परिवार समष्टिवाद के सिद्धान्त पर आधारित न होकर व्यक्तिवाद पर आधारित है। व्यक्ति सम्पूर्ण परिवार के हितों को महत्व न देकर व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं की प्राप्ति में लगा रहता है। व्यक्तिवादी विचारधारा के कारण विभिन्न सदस्यों के विचारों और उद्देश्यों में समानता का अभाव पाया जाता है। व्यक्तिवादी भावना सामूहिकता के ह्रास के लिए उत्तरदायी है। व्यक्तिवादी विचारों से ओत प्रोत सदस्य व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं के सम्बन्ध में अधिक सोचते हैं, उनकी दृष्टि से परिवार अधिक महत्वपूर्ण नहीं होता। ऐसे परिवार में व्यक्ति का स्थिति का निर्धारण उसकी धन कमाने की क्षमता के आधार पर होता है। व्यक्तिवादी भावना के कारण ही ईसाई परिवार में सम्मिलित आय और सम्मिलित सम्पत्ति का अभाव पाया जाता है।

(6) समानता के सिद्धान्त पर आधारित—ईसाई परिवार में पारिवारिक सम्बन्ध समानता पर आधारित होते हैं। ऐसे परिवार का मुखिया कोई पुरुष सदस्य अवश्य होता है, परन्तु वह निरंकुश शासक के रूप में नहीं होता। पारिवारिक मामलों में स्त्री और बच्चों को भी महत्व दिया जाता है। परिवार के विभिन्न सदस्यों के बीच मित्रतापूर्ण दृष्टिकोण तथा एक-दूसरे को समझने की प्रवृत्ति पायी जाती है। ईसाई परिवार में अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविक सम्बन्ध पाये जाते हैं। सदस्यों में विचारों का आदान प्रदान, एक साथ उठना बैठना और खाना पीना होता है। ऐसे परिवारों में सदस्यों को अधिक स्वच्छन्द पर्यावरण मिलता है वे अपनी स्वाभाविक क्षमताओं का अधिक सफलतापूर्वक विकास कर पाते हैं।

(7) स्त्रियों की स्थिति—ईसाई परिवार में स्त्रियों की स्थिति पुरुषों के समान ही है। आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक क्रियाओं में पुरुषों के समान ही स्त्रियाँ भी भाग ले सकती हैं और लेती हैं। लड़कियों को भी लड़कों के समान ही शिक्षा प्राप्ति और व्यक्तित्व विकास का अवसर दिया जाता है। स्त्रियाँ भी पुरुषों के समान ही आर्थिक दृष्टि से कोई न कोई कार्य करती हैं किसी न किसी व्यवसाय में लगी होती हैं। वे आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होती हैं। इन लोगों में

स्त्रियों का नौकरी करना किसी भी प्रकार से बुरा नहीं समझा जाता। बालकों का पालन पोषण, उनकी शिक्षा का प्रबन्ध एवं विविध पारिवारिक दायित्वों का निर्वाह केवल पुरुष का ही दायित्व न होकर, समान रूप से स्त्री पुरुष दोनों का संयुक्त दायित्व होता है और दोनों ही इस दिशा में प्रयत्नशील रहते हैं।

ईसाई लोगों में बाल विवाहों का प्रचलन तथा पर्दा प्रथा नहीं पायी जाती। इनमें विधवा विवाह मान्य है। तुलनात्मक दृष्टि से स्त्री को अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त है, इन्हें पुरुषों के समान साम्पत्तिक अधिकार भी मिले हुए है। इनमें विलम्ब विवाह को बुरा नहीं समझा जाता। ये लोग विविध कर्मकाण्डों में विश्वास नहीं करते। इनके यहाँ बपतिस्मा (Baptisma) संस्कार का अवश्य महत्व है। बाल्यावस्था में यह संस्कार सम्पन्न किया जाता है और इसके पश्चात् बालक को गिरजाघर की सदस्यता प्राप्त हो जाती है जहाँ उसे प्रति रविवार जाना होता है। इन लोगों में दहेज की प्रथा नहीं पायी जाती और विशेष परिस्थितियों में ये विवाह विच्छेद का सहारा भी ले सकते हैं। ईसाई स्त्रियाँ विविध क्षेत्रों में कार्य करती हुई पायी जाती है। धार्मिक क्षेत्र में भी इन्हें पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त हैं। ये चर्च में जाती है, प्रार्थनाओं में सम्मिलित होती हैं, पादरी के पद पर भी कार्य करती हैं और स्वच्छन्दतापूर्वक सार्वजनिक कार्यक्रमों में भाग लेती है। ईसाई धर्म, समाज और परिवार में स्त्रियों पर किसी प्रकार की कोई निर्योग्यता नहीं लाद रखी है।[1]

इन सब विशेषताओं से ज्ञात होता है कि ईसाई परिवारों में अधिक स्वतन्त्र वातावरण पाया जाता है। इन पर पश्चिमीकरण का बढ़ता हुआ प्रभाव दिखलायी पड़ता है परन्तु अभी ईसाई परिवार हिन्दू परम्पराओं के निकट है हिन्दू आदर्शों का आज तक इन पर प्रभाव है।

## ईसाई परिवार के उद्देश्य
## (AIMS OF CHRISTIAN FAMILY)

धार्मिक दृष्टि से ईसाई परिवार के तीन उद्देश्य माने गये हैं—प्रथम, ईश्वरीय इच्छा समझ कर सन्तानोत्पत्ति और उनका पालन पोषण, द्वितीय, व्यभिचार रोकने तथा पाप से बचने के लिए यौन सम्बन्धों का नियन्त्रण ईश्वर ने इस हेतु परिवार के निर्माण की आज्ञा दी है, तृतीय, सदस्यों का आपस में सहयोगपूर्ण सम्बन्ध, सुख-दुख में एक दूसरे का साथ और आवश्यकता पड़ने पर एक-दूसरे की सहायता करना।

श्री एम० पी० जॉन ने उपर वर्णित लक्ष्यों को ध्यान में रखकर ही ईसाई परिवार के चार उद्देश्य बतलाये हैं, जो निम्नलिखित हैं

(1) सन्तानोत्पत्ति—सभी समाजों में सन्तानोत्पत्ति परिवार का महत्वपूर्ण कार्य है। परिवार और समाज की निरन्तरता इसी पर आधारित है। व्यक्ति मरणशील है, परन्तु उसका स्थान नवीन सन्तानें लेती रहती हैं। ईसाई परिवार भी यह महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। वे ईश्वर की इच्छा समझकर ही सन्तानोत्पत्ति में योग देते

1 M P John *The Family—A Theological Approach*, p 4

हैं। यद्यपि परिवार के बाहर भी सन्तानोत्पत्ति का कार्य किया जा सकता है तथापि समाज ऐसी सन्तानो को मान्यता नही देता, उन्हें अवैध समझता है।

(2) **व्यभिचार से बचाव**—साधारणत प्रत्येक प्राणी यौन इच्छाओ की सन्तुष्टि चाहता है। परिवार वह माध्यम है, जिसके द्वारा व्यक्ति समाज स्वीकृत तरीके से अपनी इन इच्छाओ की पूर्ति करता है। यदि विवाह और परिवार के दायरे से बाहर लोगो को अपनी यौन इच्छाओ को सन्तुष्ट करने की आज्ञा दी जाये, तो समाज मे व्यभिचार पनपने लगेगा। इस व्यभिचार को रोकना और सहज रूप मे व्यक्तियो को अपनी काम इच्छाओ की सन्तुष्टि का अवसर देना परिवार का मुख्य उद्देश्य है। परिवार व्यक्तियो को एक ओर अनैतिक यौन सम्बन्ध स्थापित करने से बचाता है और दूसरी ओर एकाकी जीवन के कष्टो से उनको छुटकारा दिलाता है।

(3) **पारस्परिक सहयोग**—परिवार सदस्यो को पारस्परिक सहयोग करने का उचित अवसर देता है, उनमे से एक दूसरे के प्रति प्रेम और सहानुभूति जाग्रत करता है। सोरोकिन और हैनसम ने परिवार के इस कार्य के सम्बन्ध मे लिखा है, "प्रेम न केवल व्यक्ति के मस्तिष्क और सावयव (Organism) का उपचार करता और उनको पुनर्जीवन देता है, बल्कि वह व्यक्ति के मानसिक और सामाजिक कल्याण मे और उसके विकास मे एक निर्णायक कारक सिद्ध होता है। प्रेम करना और प्रेम किया जाना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण "विटामिन" बन जाता है, जो व्यक्ति के सन्तुलित विकास और मानव जीवन के सुखमय सचालन के लिए अपरिहार्य हो जाता।"[1] परिवार सहयोगपूर्ण सम्बन्धो के बीच सदस्यो मे इसी प्रेम का विकसित करने मे योग देता है।

(4) **सुख सुविधा मे वृद्धि**—परिवार मे विभिन्न सदस्य अपनी प्रस्थिति के अनुसार आवश्यक कर्तव्यो का पालन करते है। प्रत्येक सदस्य का कर्तव्य पालन अन्य सदस्यो के लिए सुखप्रद और हितकारी सिद्ध होता है। परिवार का एक मुख्य उद्देश्य अपने सदस्यो की सुख सुविधाओ का ध्यान रखना, उनमे वृद्धि करना और प्रत्येक को आरामदायक जीवन व्यतीत करने का अवसर प्रदान करना है।

सार रूप मे परिवार के महत्त्व के सम्बन्ध मे एम० पी० जॉन ने लिखा है, 'समाज का सार तत्व व्यक्तियो के अन्तसम्बन्धो मे ही निहित है और इनकी सूक्ष्म रूप म सर्वोत्तम अभिव्यक्ति परिवार म ही हुइ है। परिवार अति समीप का समाज है, जहाँ व्यक्तिगत मूल्य, जो समग्र समाज के ही आदर्श होते हैं कम या अधिक मात्रा मे स्वत ही प्राप्त किय जाते हैं।'[2] कहने का तात्पर्य यह है कि परिवार समाज की एक मौलिक और सार्वभौमिक इकाइ है। यह समाज का लघु रूप है समाज के सभी आदर्श इसमे प्रतिबिम्बित होते हैं। ईसाइ परिवार भी ईसाइ समाज के आदर्शों को

1 P Sorokin and R Hansom The Power of creative Love in A Montague (ed) *The Meaning of Love* p 125
2 M P John *op cit* p 10

व्यक्त करता है। यह व्यक्तित्व के निर्माण में योग देता है, व्यक्तियों की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति और यौन सम्बन्धों को नियमित करता है, सन्तानोत्पत्ति और उनका पालन-पोषण करना तथा समाज के अस्तित्व और नैरन्तर्य को बनाये रखता है।

## ईसाई धर्म
## (CHRISTIANITY)

ईसाई धर्म का जन्म लगभग दो हजार वर्ष पूर्व पैलेस्टाइन में हुआ था। इस धर्म के संस्थापक ईसा मसीह थे। ऐसा माना जाता है कि ईसाई धर्म यहूदी धर्म एवं बुद्धवाद का मिश्रित एवं रूपान्तरित रूप है। ईसाई धर्म का सम्पूर्ण उल्लेख हम बाइबिल में मिलता है। बाइबिल में भी दो भाग हैं—पुरानी बाइबिल (ओल्ड टेस्टामेण्ट) तथा नयी बाइबिल (न्यू टस्टमेण्ट)। पुरानी बाइबिल यहूदी धर्म के पैगम्बर हजरत दाऊद तथा हजरत मूसा द्वारा लिखी गयी है और नयी बाइबिल में ईसा के उपदेश हैं। यहूदी लोग पुरानी बाइबिल में विश्वास करते हैं जबकि ईसाई नयी बाइबिल में। ईसाई धर्म यहूदी धर्म का परिष्कृत रूप माना जाता है। ईसाई धर्म पर प्राचीन यूनानी दर्शन एवं विचारधारा का भी प्रभाव है और उसके अनेक तत्व जैसे व्यक्ति की स्वतन्त्रता, मानवतावाद, समानता एवं भाईचारे की भावना, तार्किकता एवं वैचारिक स्वतन्त्रता आदि को ईसाई धर्म ने भी स्वीकार किया है। ईसाई धर्म पर बुद्धवाद का भी प्रभाव है। इसका कारण यह है कि ईसाई धर्म का जहाँ जन्म हुआ वहाँ बौद्ध साधुओं का ईसा से पहले ही आना जाना रहा था। प्रारम्भिक ईसाई धर्म में त्याग, सन्यास एवं साधना को महत्व दिया गया है जो बुद्धवाद के प्रभाव को स्पष्ट करता है। ईसाइयों ने दीक्षा देने की प्रथा भी बौद्ध धर्म से ही ग्रहण की। ईसाई धर्म इस्लाम धर्म के भी बहुत नजदीक है और दोनों में बहुत समानताएँ हैं। दोनों ही एकेश्वरवाद में विश्वास करते हैं और मूर्ति-पूजा के विरोधी हैं। फिर भी इन दोनों में धर्म-प्रचार को लेकर संघर्ष होते रहे हैं और आज भी अरब राष्ट्रों एवं इजरायल का युद्ध मूलतः दोनों धर्मों के संघर्ष का ही परिणाम है।

वर्तमान में ईसाई धर्म प्रमुखतः दो भागों में बँटा हुआ है—कैथोलिक एवं प्रोटेस्टेण्ट। फिर भी दोनों की आत्मा एक ही है। ईसाई धर्म अपने अनुयायियों को दस आदेशों (Ten Commandments) का पालन करने का निर्देश देता है। ईसाई धर्म हिंसात्मक यज्ञों का विरोधी है। वह दया, प्रेम, समानता एवं भाईचारे के सिद्धान्तों में विश्वास करता है। ईसा ईश्वर की दिव्य शक्ति में विश्वास करने, एकनिष्ठ बने रहने सबके प्रति दया करने, कष्ट में सहयोग देने एवं मुस्कराते रहने तथा नेक व ईमानदार बनने का उपदेश देते हैं। ईसाई धर्म संन्यास में विश्वास करता है। ईसा कहते हैं, "जिसे अमृत्व की प्राप्ति करनी हो, बाल बच्चे छोड़कर मेरा भक्त होना चाहिए।" ईसाई धर्म यह मानता है कि ईश्वर मानव कल्याण के लिए समय समय पर पृथ्वी पर आता रहता है। ईसाई धर्म ईसा के उपदेश बाइबिल तथा ईश्वर एवं

उसकी दिव्य शक्ति म आस्था रखने पर जोर देता है। ईसाई धर्म की प्रमुख विशेषताए इस प्रकार है।

## ईसाई धर्म की विशेषताएँ
## (CHARACTERISTICS OF CHRISTANITY)

ईसाई धम की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार है

(1) **ऐकेश्वरवाद**—इस्लाम की तरह ईसाई धम एकेश्वरवाद मे विश्वास करता है। ईश्वर मनुष्यो के कष्टो को दूर करने के लिए अपने पैगम्बर भेजता है या वह स्वय अपन पुत्रो के माध्यम से इस जगत मे आता है। ईश्वर दिव्य शक्ति से परिपूण एव अलौकिक शक्ति है। वह पिता के समान सभी मनुष्यो का पालन पोषण करता है, उन पर दया करता है और उनके हृदयो का शुद्ध करता है।

(2) **ईसा मसीह मे विश्वास**—ईसाई धर्म ईसा मसीह मे विश्वास करने पर जोर देता है। ईसा को ईश्वर की क्रियात्मक शक्ति माना जाता है। ईसा ईश्वर के पुत्र एव दूत है जो मानव कल्याण के लिए ईश्वर द्वारा पृथ्वी पर भेजे गय। ईसा की शरण मे जान पर ही मनुष्य का कल्याण सम्भव है। ईसाई धम ईसा के उपदेशो मे विश्वास करन पर जोर देता है। इस प्रकार ईसाइ धम हिदुओ के अवतारवाद एव इस्लाम की पैगम्बरी परम्परा के अनुरूप है।

(3) **आत्मा की पवित्रता**—ईसाई धम आत्मा मे विश्वास करता है। यह आत्मा ईश्वर का ही रूप एव शक्ति है। बपतिस्मा नामक सस्कार द्वारा व्यक्ति को पवित्र किया जाता है, उसे पवित्र आत्मा के निकट लाया जाता है। ईसाई धम 'त्रियकवाद' (Trinity) मे विश्वास करता है जिसका अथ है ईश्वर, ईसा तथा पवित्र आत्मा पृथक-पथक न होकर एक ही हैं, केवल उनके रूप भिन्न है।

(4) **चच की सत्ता**—ईसाई धम मे चच महत्वपूण पक्ष है। चच के माध्यम से ही इश्वर तक पहुचा जा सकता है। चच ईसा का शरीर है जिसमे पवित्र आत्मा निवास करती है। चच मे ही ईसाइयो के धार्मिक अनुष्ठान सम्पन्न होते है। प्रत्येक ईसाई के लिए चच की सदस्यता अनिवाय है।

(5) **धार्मिक अनुष्ठान**—ईसाई धम मे प्रमुख पाच अनुष्ठान बपतिस्मा (Baptism), पुष्टिकरण (Confirmation), आत्म निवदन (Confession), पवित्र सचार (Holy Communication) एव विवाह (Matrimony) आदि माने गये है। **बपतिस्मा** द्वारा एक व्यक्ति को ईसाई धम स्वीकार कराया जाता है और उसे पवित्र आत्मा (ईश्वर) के नजदीक लाया जाता है। यह हिदुओ के माध्यम से उपनयन सस्कार की भाँति ही है। पुष्टिकरण एव आत्म निवेदन के द्वारा व्यक्ति ईश्वर की शरण मे जाता है अपना समपण करता है और अपन द्वारा किय गये पापो को स्वीकार कर पश्चात्ताप करता है तथा ईश्वर से क्षमायाचना करता है। पवित्र सचार सामूहिक पूजा एव भोज के रूप मे मनाया जाता है। इसके द्वारा ईश्वर की उपस्थिति एव विशेषताओ को स्वीकार किया जाता है। इस अनुष्ठान का उद्देश्य चच

एव सामूहिक जीवन के महत्व को स्वीकार करना भी है। विवाह भी पवित्र जीवन व्यतीत करने, यौन इच्छाओं की पूर्ति करने, परिवार की स्थापना करने एवं सहयोग पैदा करने के लिए आवश्यक माना गया है। इन सभी अनुष्ठानों द्वारा व्यक्ति अपने जीवन को परिष्कृत एवं परिमार्जित करता है।

(6) मूर्ति-पूजा का विरोधी—ईसाई धर्म मूर्ति पूजा में विश्वास नहीं करता। वह अलौकिक एवं निराकार ईश्वर में विश्वास करता है। इसीलिए ईसाइयों में हिन्दुओं की तरह मूर्ति-पूजा नहीं पायी जाती। इस अर्थ में वह इस्लाम धर्म के नजदीक है।

(7) समानता का भ्रातृत्व—ईसाई धर्म भी इस्लाम की तरह समानता एवं भाईचारे के सिद्धान्त पर आधारित है। ईसाई धर्म को मानने वाले सभी समान एवं परस्पर भाई हैं, उनमें किसी प्रकार का ऊँच-नीच का भेद नहीं है। यह मानवतावाद में विश्वास करता है और मानव मात्र की भलाई, कल्याण एवं सेवा पर जोर देता है। ईसा कहते हैं सभी मनुष्य एक ही परम पिता परमेश्वर की सन्तान हैं सभी आपस में भाई भाई हैं तथा समान हैं। दीन दुखियों की सेवा ही ईश्वर की सच्ची सेवा है।

## ईसाइयत का भारतीय सामाजिक व्यवस्था पर प्रभाव
## (IMPACT OF CHRISTIANITY ON INDIAN SOCIAL SYSTEM)

ईसाइयत ने भारतीय सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न पक्षों को कई रूपों में प्रभावित किया है। ईसाइयत में वैयक्तिक स्वतन्त्रता, बन्धुत्व एवं समतावादी विचार, धन के संचय की महत्ता, तार्किक ज्ञान एवं मानवीय मूल्यों के प्रति गहरी आस्था आदि कुछ महत्वपूर्ण विशेषताएँ हैं जिन्होंने भारतीय सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न पक्षों को प्रभावित किया है। ईसाइयत के प्रभाव के फलस्वरूप हिन्दुओं को अपनी सामाजिक व्यवस्था तथा धर्म के पुनर्परीक्षण का अवसर मिला। ईसाइयत का भारतीय सामाजिक व्यवस्था पर निम्नलिखित रूपों में प्रभाव पड़ा

(1) ईसाइयत के प्रभाव से भारत में छुआछूत की भावना में कमी आयी। ईसाइयों की समतावादी विचारधारा ने जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत पायी जाने वाली ऊँच नीच की धारणा को भी प्रभावित किया। लोग यह अनुभव करने लगे कि जाति व्यवस्था कोई ईश्वरीय रचना नहीं होकर कुछ स्वार्थों का पोषण करने वाली एक सामाजिक व्यवस्था है। ईसाई मिशनरियों के द्वारा जब निम्न जनजातियों के बीच सुधार कार्य किये गये, उनके लिए स्कूल और अस्पताल खोले गये, उनके जीवन को उन्नत बनाने का प्रयत्न किया गया, तो भारतीय समाज सुधारकों का ध्यान भी उस ओर गया। महात्मा गाँधी तथा अन्य नेताओं ने हरिजनों के उद्धार की दृष्टि से विशेष कार्यक्रम प्रारम्भ किये। यह कहा जा सकता है कि ईसाइयत ने विशेषतः निम्न जातियों को अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाने की प्रेरणा और जीवन के प्रति नवीन दृष्टिकोण प्रदान किया।

(2) ईसाइयत ने विभिन्न कुरीतियों एवं अन्य विश्वासों के प्रति जागरूकता

उत्पन्न की। मध्यकाल तक भारतीय समाज अनेक कुरीतियो एव अधविश्वासा का घर बन गया था। धम के नाम पर पाखण्ड एव अधविश्वासो को सरक्षण प्रदान किया जा रहा था। इस समय सती प्रथा, मानव बलि, शिशु हत्या, देवदासी प्रथा, अस्पृश्यता, बहुपत्नी विवाह, कुलीन विवाह, विधवा पुर्नविवाह पर प्रतिबध, मृत्यु भोज एव विभिन्न कमकाण्डो आदि का बोलबाला था। लोग इन कुरीतियो, अधविश्वासो एव पाखण्डो के विरुद्ध कुछ बोलने का साहस नही कर पाते थे। इसाई धम प्रचारको ने लागो का ध्यान इन बुराइयो की ओर आकृष्ट किया, हिदू धम और जाति व्यवस्था से सम्बधित कमियो से लागो को परिचित कराया। इन आलोचनाओ के फलस्वरूप बहुत से हिदू अपने समाज मे फैली कुरीतियो के प्रति जागरूक होने लगे। ईसाइयत के प्रभाव से देश के विभिन्न भागो मे लोगो का ध्यान समाज सुधार की ओर गया।

(3) इसाइयत ने भारतीय स्त्रियो की स्थिति को सुधारने मे योग दिया। ईसाइयत के प्रभाव से स्त्रियो को शिक्षा प्राप्त करने एव अपने अधिकारो के प्रति जागरूक होने की प्रेरणा मिली। ईसाइयो मे स्त्री पुरुषो मे समानता एव तुलनात्मक दृष्टि से स्वतन्त्रता पायी जाती है। इसाइयत न स्त्रियो को घर की चहारदावारी से बाहर निकालकर आर्थिक जीवन मे प्रवेश करने विभिन्न नौकरियाँ एव व्यापार आदि करने हेतु प्रोत्साहित किया। आय समाज, ब्रह्म समाज एव रामकृष्ण मिशन द्वारा स्त्रियो की स्थिति सुधारने का विशेष रूप से प्रयत्न किया गया और ये सभी सगठन इसाइ विचारधारा से प्रभावित अवश्य थे। इसाइयत से प्रभावित लोगो म ऐसा दृष्टिकोण विकसित हो सका जिसने स्त्रियो की स्थिति को सुधारने मे निश्चित रूप से योग दिया।

(4) इसाइयत का हिदुओ के धार्मिक जीवन पर व्यापक प्रभाव पडा। हिन्दू धम अनेक अधविश्वासो कमकाण्डो एव रूढियो से ग्रसित हो चुका था। लोग भाग्यवादिता, शकुन अपशकुन, भूत-प्रेतो एव जातिगत सकीणताओ मे विश्वास करने लगे थे। कमकाण्डो के कारण धम का रूप इतना जटिल होता गया कि वह साधारण व्यक्ति के समझने की वस्तु नही रहा। इसाइयत से हिदुओ को अपने धम का नवीन सिरे से मूल्याकन करने तथा रूढिवादी तत्वो से छुटकारा प्राप्त करने की प्रेरणा मिली। इसाइयत के प्रभाव स भारत मे 'एक ईश्वरवादी' धारणा का प्रसार हुआ, लोग तार्किक दृष्टिकोण स सोचने लग। भारत मे ईसाइ मिशनरियो ने लोगो के सम्मुख मानवतावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। जहाँ उच्च जातियो के हिदू निम्न जातियों के सम्पर्क म दूर रहते वहाँ इसाइ मिशनरियो ने इन निम्न समझी जाने वाली जातियो एव जनजातियो मे सेवा भाव से अनेक कल्याणकारी कायक्रम प्रारम्भ किये और साथ ही उनमे घुल मिल कर अपने धम का प्रचार एव प्रसार भी किया। इसाइयत का हिदू धम पर इतना प्रभाव पडा कि अब लाग धर्म के रूढिवादी पक्ष का किसी भी रूप म महत्व देने को तयार नही, अब उनम धम निरपेक्ष

दृष्टिकोण तन्त्र का विकास होता जा रहा है। ईसाइयत के प्रभाव से भारत में अनेक सुधारवादी धार्मिक संगठनों, जैसे ब्रह्म समाज, आर्य समाज एवं रामकृष्ण मिशन, आदि का जन्म हुआ। इन संगठनों ने हिन्दू धर्म को अन्धविश्वासों एवं धार्मिक रूढ़िवादिता से मुक्त करने एवं उसके वास्तविक स्वरूप को लोगों के सामने रखने का प्रयत्न किया।

(5) ईसाइयत का राजनीतिक दृष्टि से एक कुप्रभाव भी पड़ा। यहाँ न केवल ईसाई धर्म का प्रचार एवं प्रसार ही हुआ बल्कि धर्म परिवर्तन द्वारा ईसाई बनने वाले लोगों में हिन्दुओं के प्रति घृणा के भाव भी पैदा किये गये। ऐसे लोगों की निष्ठा के केन्द्र भारतीय समाज और राष्ट्र नहीं होकर पाश्चात्य समाज और अन्य राष्ट्र बन गये। यहाँ धर्म परिवर्तन के साथ-साथ विघटनकारी प्रवृत्तियों एवं अराष्ट्रीय गतिविधियों को भी प्रोत्साहन मिला। इन सबके पीछे घृणित राजनीतिक स्वार्थ थे। समय-समय पर उठने वाली स्वतन्त्र नागालैण्ड की माँग इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

(6) ईसाइयत के प्रभाव से भारतीय सामाजिक संरचना में व्यक्तिवादी एवं भौतिकवादी विशेषताओं को प्रोत्साहन मिला। परम्परागत भारतीय सामाजिक संरचना समष्टिवादी आदर्श की ओर उन्मुख थी। इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति केवल मात्र अपने स्वयं की सुख सुविधाओं के लिए नहीं जीता था, वह अपने परिवार, जाति, समाज और देश को विशेष महत्व देता था। वह प्राणी मात्र के प्रति कर्तव्य भावना से ओत प्रोत था। लेकिन ईसाइयत के प्रभाव से व्यक्ति का झुकाव पाश्चात्य संस्कृति की ओर बढ़ता गया और वह अधिकाधिक व्यक्तिवादी बनता गया।

(7) ईसाइयत ने अनेक वैवाहिक मान्यताओं को परिवर्तित करने एवं व्यवहार प्रतिमानों को बदलने में योग दिया। ईसाइयत के प्रभाव से आज अनेक हिन्दू कुलीन विवाह, बाल विवाह, विधवा पुनर्विवाह पर प्रतिबन्ध तथा यहाँ तक कि अन्तर्विवाह सम्बन्धी निषेधों में भी विश्वास नहीं करते। अब विवाह को दो परिवारों का सम्बन्ध नहीं माना जाता। उसे पति पत्नी के बीच प्रेमपूर्ण जीवन व्यतीत करने हेतु एक समझौते के रूप में देखा जाता है। आजकल रोमांस पर आधारित विवाह होने लगे हैं जिनमें जाति का अन्तर्विवाह के क्षेत्र के रूप में महत्व कम होता जा रहा है। आज पत्नी को एक मित्र और सहयोगी के रूप में महत्ता प्राप्त होती जा रही है।

ईसाइयत के प्रभाव से लोगों के खान पान, वेश भूषा, रहन सहन तथा व्यवहार प्रतिमानों में भी अन्तर आया है। पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार से यहाँ पश्चिमी संस्कृति के अन्धानुकरण की प्रवृत्ति भी बढ़ी है। लोगों के सम्बन्धों और व्यवहारों में प्राथमिकता एवं आत्मीयता के बजाय द्वैतीयकता एवं दिखावे की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला है। इन सबका परिणाम यह हुआ कि लोगों के जीवन में कृत्रिमता अधिक दिखलायी पड़ने लगी है।

स्पष्ट है कि इसाइयत ने भारतीय सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न पक्षो का अनेक रूपो मे प्रभावित किया है। लेकिन हम यह नही समझ लेना चाहिए कि इसस भारतीय समाज अपन मौलिक स्वरूप खो चुका है। हिन्दुओं न ईसाइयत स अनक बातें ग्रहण अवश्य की हैं परन्तु उन्हे अपन मे आत्मसात् कर लिया है। भारतीय संस्कृति अपन सहिष्णुता एव उदारता के गुणो के कारण समय समय पर विदेशी संस्कृतियो के प्रभाव के बावजूद भी अपने मौलिक स्वरूप को बनाये हुए है। इसम कोई सन्देह नही कि इसाइयत के कारण हिन्दुओं को अपने धर्म के पुनर्परीक्षण, उसे अन्धविश्वासो स मुक्त करने तथा जातीय संकीर्णताओ से ऊपर उठकर तार्किक दृष्टिकोण से विचार करने की प्रेरणा एव अवसर अवश्य मिला।

## प्रश्न

### (उत्तर सकेत सहित)

1 इसाई विवाह की प्रमुख विशेषताओ का वर्णन कीजिए। (लखनऊ, 1969)
[सकेत—इसके उत्तर मे भूमिका, इसाई विवाह के उद्देश्य तथा इसाइयो म विवाह की आयु, वैवाहिक निषेध और जीवन साथी का चुनाव शीर्षको के अन्तर्गत वर्णित सामग्री को सक्षेप मे लिखना है।]

2 इसाई विवाह पर एक सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
(गोरखपुर, 1974, लखनऊ, 1977)
[सकेत—इसका उत्तर उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर के समान ही होगा।]

3 इसाई विवाह मे हो रहे आधुनिक परिवर्तनो की विवेचना कीजिए।
[सकेत—इसके लिए 'इसाई विवाह मे आधुनिक परिवर्तन' शीर्षक देखिए।]

4 ईसाई परिवार पर एक लेख लिखिए।
[सकेत—इसके उत्तर मे इसाई परिवार, इसाई परिवार की विशेषताएँ तथा इसाई परिवार के उद्देश्य पर सक्षेप मे प्रकाश डालना है।]

5 भारतीय सामाजिक व्यवस्था पर इसाइयत के प्रभावो की समीक्षा कीजिए।
(लखनऊ 1970, 73, 75, 77)
[सकेत—इसके उत्तर म 'इसाइयत का भारतीय सामाजिक व्यवस्था पर प्रभाव' शीर्षक के अन्तर्गत वर्णित सामग्री को लिखना है।]

6 इसाई धर्म की मुख्य विशेषताओ का वर्णन कीजिए। (लखनऊ, 1976)
[सकेत—'इसाई धर्म की भूमिका तथा विशेषताएँ' नामक शीर्षक मे वर्णित सामग्री को यहाँ लिखना है।]

# 16

# भारत में सामाजिक विधान और उनका प्रभाव

## [विवाह और विवाह विच्छेद सम्बन्धी अधिनियमों सहित]

## (SOCIAL LEGISLATION IN INDIA AND THEIR IMPACT)

सामाजिक विधान का अर्थ राज्य द्वारा पारित उन कानूनो से है जिनका उद्देश्य समाज मे व्याप्त समस्याओ का समाधान करना है । सामाजिक विधान सामाजिक कुरीतियो को समाप्त करने तथा समाज सुधार एव कल्याण के द्वारा सामाजिक विघटन को रोकने के लिए निर्मित किये जाते हैं । मानव व्यवहार को नियमित एव नियन्त्रित करने के लिए प्रत्येक समाज मे कुछ न कुछ आदर्श नियम (Norms) जैसे जनरीतियाँ, प्रथाएँ, रूढियाँ और कानून पाये जाते है । ज्यो-ज्यो एक परम्परा से आधुनिकता की ओर बढता है, उसमे शहरीकरण, औद्योगीकरण, धर्मनिरपेक्ष मूल्य, जनकल्याण की भावना और जटिलता बढती जाती है त्यो त्यो उसमे कानूनो और सामाजिक विधानो का महत्व भी बढता जाता है ।

### सामाजिक विधान अर्थ एव महत्व

सामाजिक विधान को परिभाषित करते हुए डॉ० सक्सेना लिखते है "साधारण शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि वह विधान जिसका उद्देश्य समाज को परिवर्तित अथवा पुनर्संगठित करना होता है सामाजिक विधान की श्रेणी मे आता है । इस प्रकार सामाजिक विधान मे समाज-सुधार, समाज परिवर्तन सामाजिक समस्याओ का निराकरण और सामाजिक आदर्श नियमो का प्रतिपादन एक साथ सन्निहित है ।"[1]

सामाजिक विधानो के निर्माण मे आदर्श एव व्यवहार दोनो का मिश्रण होना चाहिए । कोरे आदर्शवादी सामाजिक विधान भी सफल नहीं हो सकते । यही कारण है कि भारत मे समाज कल्याण हेतु अनेक विधान बनाये गये किन्तु व्यावहारिकता के अभाव के कारण वे केवल कागजी कार्यवाही बनकर रह गये ।

किसी भी समाज मे सामाजिक विधानो का निर्माण समाज को नियन्त्रित एव नियमित करने एव उसके कल्याण व सुधार की दृष्टि से आवश्यक है । जब

1 डॉ० आर० एन० सक्सेना भारतीय समाज तथा सामाजिक संस्थाएँ, पृ० 111 ।

समाज मे अत्यधिक जटिलता उत्प न हो जाय और एकरूपता का अभाव हो तथा निय त्रण के अनौपचारिक साधनो जैसे प्रथाओ, रूढियो एव जनरीतियो द्वारा सामाजिक निय त्रण का काय सफलतापूवक नही किया जा रहा हो अथवा समाज म ऐसी नयी परिस्थितिया उत्प न हो गयी हो जिनसे सम्ब धित प्रथाएँ न हो तो ऐसी स्थिति म समाज को सुचारु रूप म चलाने एव सगठित बनाये रखने के लिए सामाजिक विधानो की आवश्यकता होती है।

वतमान भारत भी कुछ ऐसी ही परिस्थितियो से गुजर रहा है । अत यहाँ भी विवाह, परिवार, स्त्रियो की सामाजिक स्थिति, अस्पृश्यता उ मूलन एव जनजाति कल्याण से सम्ब धत अनेक साम जिक विधान बने है । भारत मे अनेक सामाजिक समस्याएँ व्याप्त है, कल्याणकारी राज्य हाने के कारण इन समस्याओ का निराकरण राज्य का आवश्यक कतव्य है । भारत मे परिवार और विवाह से सम्ब धित परम्परागत एव रूढिवादी व्यवहारो न अनेक कुरीतियो को ज म दिया है जिसके कारण भारतीय समाज समस्याओ के दलदल मे फँस गया है और उसकी प्रगति अवरुद्ध हुई है । भारत मे विवाह से सम्ब धित अनक समस्याएँ है उनमे से बाल विवाह, दहेज, विधवा पुनर्विवाह अ तर्जातीय विवाह तथा विवाह विच्छेद की समस्याएँ प्रमुख है। इन समस्याओ को हल करने के लिए कई सामाजिक एव धार्मिक सुधार आ दोलन भी हुए किन्तु व अधिक सफल नही हो सके । राज्य का महत्व एव शक्ति बढने के साथ साथ यह अपेक्षा की जाने लगी कि राज्य इन समस्याओ को हल करन के लिए कानून बनाये । इसलिए भी भारत मे अनक सामाजिक विधानो का निर्माण हुआ। भारत मे बने सामाजिक विधान को हम दो कालो मे बाँट सकते है—प्रथम, वे सामाजिक विधान जो अग्रेजी शासन काल मे बने और दूसरे वे जो स्वत त्र भारत मे बने । हम दाना ही कालो मे बने सामाजिक विधानो का उल्लेख करेंगे ।

## अग्रेजी शासन काल मे बने सामाजिक विधान

अग्रेजो की यह नीति थी कि व भारतीयो के सामाजिक जीवन एव रीति रिवाजो मे तब तक हस्तक्षेप नही करेंगे जब तक उन पर ऐसा करने के लिए जनमत का दबाव न पड । अत उनके शासन काल मे बहुत कम ही सामाजिक विधान बने। विवाह से सम्ब धित जितने भी कानून उनके समय मे बन उनका उद्देश्य बाल विवाह पर रोक लगाना, विवाह सम्बन्धी परम्परागत निषेधो का दूर करना, हि दू स्त्रियो को अधिकाधिक अधिकार दना और एक विवाह के आदश का प्रतिपादन करना था। अग्रेजी शासन काल मे बन प्रमुख सामाजिक विधान इस प्रकार है

### (1) सती प्रथा निषेध अधिनियम 1829 (Regulation No XVII, 1829)

सन 1829 से पूर्व भारत म सती प्रथा का प्रचलन था । एक तरफ हि दुओं मे बाल विवाह का प्रचलन था और दूसरी तरफ विधवा हो जाने पर स्त्रियों को पति

के साथ चिता मे जल जाने के लिए मजबूर किया जाता था। उन्हे यह प्रलोभन दिया जाता था कि सती होने पर स्वर्ग मिलेगा। कई बार तो विधवाओ को जबरन मृत पति के साथ सती होने के लिए मजबूर किया जाता था और चिता मे झोंक दिया जाता था। इस अमानुषिक प्रथा को समाप्त करने के लिए राजा राममोहन राय जैसे समाज सुधारको ने कठोर परिश्रम और आन्दोलन किया और उनके प्रयासो से 1829 मे सती-प्रथा निषेध अधिनियम बना। इस अधिनियम के अनुसार यदि कोई व्यक्ति प्रत्यक्ष या परोक्ष मे किसी विधवा स्त्री को सती होने मे सहायता करता है तो वह दण्डनीय अपराध माना जायगा। इस अधिनियम को धीरे धीरे समाज की सहमति प्राप्त हुई और आज सती प्रथा अपवादो को छोड़कर पूरी तरह समाप्त हो गयी है।

(2) हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम 1856 (Hindu Widow Remarriage Act, 1856)

सन् 1856 से पूर्व विधवाओ को न तो पुनर्विवाह की स्वीकृति थी और न उन्हें अपने मृत पति की सम्पत्ति मे कोई अधिकार ही था। बाल विवाह एव बेमेल विवाह के कारण समाज मे विधवाओ की संख्या बढ़ गयी थी तथा उनकी दशा बड़ी दयनीय थी। कई विधवाए तो धर्म परिवर्तन कर मुसलमान या ईसाई बन गयी थी। आर्य समाज, ब्रह्म समाज, ईश्वरचन्द विद्यासागर तथा राजा राममोहन राय ने सरकार का इस समस्या की ओर ध्यान आकर्षित किया। उनके प्रयासो से 1856 मे हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम बना। इस अधिनियम द्वारा हिन्दू विधवाओ की पुनर्विवाह की कानूनी बाधाओ को समाप्त कर दिया गया। इस अधिनियम की मुख्य बातें इस प्रकार है—(1) यदि दूसरे विवाह के समय किसी स्त्री के पति की मृत्यु हो चुकी हो, तो यह विवाह वैध माना जायगा। (2) इस प्रकार के विवाह से उत्पन्न सन्तानें भी वैध मानी जायेंगी। (3) यदि पुनर्विवाह के समय विधवा नाबालिग है और पहले पति से उसका यौन सम्बन्ध नही हुआ है तो पुनर्विवाह के लिए पिता, दादा, बड़े भाई या नजदीक के किसी रक्त सम्बन्धी की स्वीकृति लेना आवश्यक है। (4) यदि विधवा बालिग है और विधवा होने से पूर्व पति से यौन-सम्बन्ध स्थापित कर चुकी हो तो वह किसी सम्बन्धी की स्वीकृति के बिना भी पुनर्विवाह कर सकती है। (5) पुनर्विवाह करने वाली स्त्री को अपने मृत पति की सम्पत्ति मे अधिकार नहीं होगा। (6) यदि मृत पति ने उसके लिए कोई वसीयतनामा लिखा हो या परिवार के सदस्यो से कोई समझौता हो गया हो तो पुनर्विवाह कर लेने पर भी उसे अपने पूर्व पति की सम्पत्ति पर अधिकार होगा। (7) पुनर्विवाह के बाद स्त्री को नये परिवार मे वे सारे अधिकार मिलेंगे जो पहली बार विवाह करने पर उसे प्राप्त होंगे।

(3) बाल विवाह निरोधक अधिनियम, 1929 (Child Marriage Restraint Act, 1929)

सन् 1929 में बाल-विवाह रोकने का अधिनियम पारित किया गया। यद्यपि इससे पूर्व भी छोटे छोटे बच्चों के विवाह पर रोक लगाने के लिए 1860 तथा 1891 में अधिनियम पारित कर विवाह की आयु लड़कियों के लिए क्रमश 10 तथा 12 वर्ष कर दी गयी थी। किन्तु 1929 में हरविलास शारदा के प्रयत्नों से बाल विवाह निरोधक अधिनियम पारित हुआ जिसे शारदा एक्ट के नाम से भी जाना जाता है। इस अधिनियम की मुख्य बातें इस प्रकार हैं

(1) इस अधिनियम के अनुसार विवाह के समय लड़के की आयु 18 वर्ष तथा लड़की की आयु 15 वर्ष होनी चाहिए। इससे कम आयु के विवाह को बाल विवाह माना जायगा। (2) यदि 18 वर्ष से अधिक और 21 वर्ष से कम आयु का लड़का 15 वर्ष से कम आयु की लड़की से विवाह करता है तो उसे 15 दिन का कारावास या एक हजार रुपया जुर्माना अथवा दोनों ही सजा हो सकती हैं। (3) वर की आयु 21 वर्ष से अधिक होने पर जुर्माने के साथ तीन माह की सजा भी हो सकती है। (4) जो व्यक्ति बाल विवाह कराने में सहयोग देंगे (जैसे माता पिता, पण्डित और नाई आदि) उन्हें तीन महीने का कारावास और जुर्माना हो सकता है। (5) ऐसे मुकदमों की सुनवाई केवल प्रथम श्रेणी का मजिस्ट्रेट ही कर सकता है। (6) विवाह हो जाने के एक वर्ष बाद अदालत किसी प्रकार की शिकायत पर विचार नहीं करेगी। (7) विवाह से पूर्व अदालत को सूचना मिल जाने पर वह ऐसे विवाह को रोकने का आदेश दे सकती है। (8) किसी भी स्त्री को कारावास का दण्ड नहीं दिया जायगा।

किन्तु यह अधिनियम बाल विवाह को रोकने में अधिक सफल नहीं रहा। सदियों से भारतीय समाज में बाल विवाह की प्रथा दृढ स्थापित हो चुकी थी अत लोग कानून की अवहेलना करके भी प्रथा का पालन करते। इसके अतिरिक्त कानून में भी कई कमियाँ थी जैसे एक बार विवाह हो जाने पर उसे रद्द घोषित नहीं किया जा सकता था, अत लोग सोचते विवाह तो हो ही गया दण्ड भी भुगत लेंगे, दण्ड की मात्रा भी बहुत कम है, पुलिस अपने आप कोई कार्यवाही नहीं कर सकती, अशमनीय अपराध होने के कारण अदालत भी तब तक कोई कदम नहीं उठाती जब तक ऐसे विवाह के विरुद्ध कोई शिकायत न करे और कोई व्यक्ति शिकायत कर दुश्मनी मोल लेना नहीं चाहेगा। हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 में भी लड़के व लड़की के विवाह की आयु 18 वर्ष व 15 वर्ष ही रखी गयी। मई 1976 में इस अधिनियम में संशोधन कर विवाह की आयु क्रमश 21 वर्ष और 18 वर्ष कर दी गयी। यह अधिनियम 1 अक्टूबर 1978 से लागू कर दिया गया है।

(4) हिन्दू स्त्रियों का सम्पत्ति पर अधिकार अधिनियम 1937 (The Hindu Women's Right to Property Act, 1937)

हिन्दू स्त्री के विधवा होने पर मृत पति की सम्पत्ति में अधिकार प्रदान करने

की दृष्टि से 1937 मे यह अधिनियम पारित किया गया है। इसमे प्रावधान किया गया है कि—(1) यदि दायभाग से नियन्त्रित परिवार का कोइ व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का बँटवारा अथवा वसीयत किये बिना ही मर गया है तो उसकी विधवा स्त्री को पुत्र के बराबर हिस्सा मिलेगा। (2) मिताक्षरा से नियन्त्रित परिवार मे मृतक पति की सम्पत्ति मे यदि उसने कोइ वसीयत नहीं की है तो विधवा स्त्री को उसका उत्तराधिकार मिलेगा किन्तु वह उस सम्पत्ति का सीमित उपयोग ही कर सकती है, वह उसे न तो किसी को दे सकती है और न बेच ही सकती है। (3) अन्य नियमों से नियन्त्रित परिवारो मे विधवा को अपने मृत पति की सम्पत्ति मे लडको के समान ही हिस्सा दिया जायगा।

**(6) अलग रहने और भरण पोषण हेतु स्त्रियो का अधिनियम, 1946**

इस अधिनियम के अनुसार हिन्दू स्त्रियों को कुछ परिस्थितियो मे पति से अलग रहने पर भरण पोषण के अधिकार प्राप्त होते हैं। स्त्री का भरण पोषण का अधिकार तभी मिलता जब (1) पति किसी ऐसे घृणित रोग से पीडित हो जो उसे पत्नी के ससर्ग न से हुआ हो। (2) पति निर्दयता का व्यवहार करता हो अथवा पत्नी पति के साथ रहना खतरनाक समझती हो। (3) पत्नी का उसके पति ने छोड रखा हो। (4) पति ने दूसरा विवाह कर लिया हो। (5) पति ने धर्म परिवर्तन कर लिया हो। (6) पति किसी अन्य स्त्री से सम्बन्ध रखता हो। स्त्री को भरण पोषण के लिए कितनी राशि दी जायेगी यह न्यायालय पति की आय व आर्थिक स्थिति को देखकर ही तय करता है।

**मुस्लिम विवाह से सम्बन्धित अधिनियम**

अग्रेजी शासन काल म मुसलमानो के विवाह से सम्बन्धित दो अधिनियम बने

(i) मुस्लिम शरीयत अधिनियम, 1937।

(ii) मुस्लिम विवाह विच्छेद अधिनियम 1939।

इन दोनो अधिनियमो का उल्लेख हम मुस्लिम विवाह के दौरान कर चुके हैं। मुस्लिम शरीयत अधिनियम, 1937 मुस्लिम स्त्री के तलाक के अधिकारो मे वृद्धि करता है और उसे इला तथा जिहर के आधार पर भी तलाक के अधिकार प्रदान करता है। मुस्लिम विवाह विच्छेद अधिनियम, 1939 मुस्लिम स्त्री व पुरुष को तलाक के समान अवसर प्रदान करता है और इस अधिनियम के बाद तलाक के क्षेत्र मे पुरुष का एकाधिकार एव निरकुशता समाप्त हो गयी।

अग्रेजी शासन काल मे हिन्दु एव मुसलमानो के परिवार एँव विवाह से सम्बन्धित अधिनियमो के अतिरिक्त ईसाइयो, पारसियो, सिक्खो, जैनो और बौद्धो के विवाह स सम्बन्धित भी अधिनियम बने जैसे 'भारतीय इसाइ विवाह अधिनियम 1872' और 'भारतीय विवाह विच्छेद अधिनियम, 1869', इसाइयो मे विवाह एव तलाक के नियमो को व्यवस्थित करते हैं। 'पारसी विवाह एव विवाह विच्छेद अधिनियम, 1936 पारसियो मे विवाह एव विच्छेद की शर्तों का उल्लेख करता है।

1909 मे 'आनन्द विवाह अधिनियम' द्वारा आनन्द उत्सव पर सिक्खो द्वारा किये विवाह को वैध ठहराया गया। 1955 का हिन्दू विवाह अधिनियम अब सिख जैनो और बौद्धो पर भी लागू होता है।

## स्वतन्त्र भारत में बने सामाजिक विधान
## (SOCIAL LEGISLATION PASSED IN INDEPENDENT INDIA)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत सरकार ने विवाह, परिवार, स्त्रियों की सामाजिक स्थिति, सम्पत्ति उत्तराधिकार, अस्पृश्यता, दहेज आदि से सम्बन्धित अनेक अधिनियम पारित किये। उनमे से कुछ प्रमुख अधिनियम इस प्रकार हैं :

(1) विशेष विवाह अधिनियम, 1954 (Special Marriage Act, 1954)

किसी भी धर्म को न मानने वालो को परस्पर विवाह की स्वीकृति देने के लिए 1872 मे विशेष विवाह अधिनियम पारित किया गया। 1923 मे इस अधिनियम को संशोधित कर विभिन्न जातियो के बीच होने वाले विवाह को वैध घोषित किया गया। 1954 के इस अधिनियम द्वारा विभिन्न धर्मों एव जातियो के लोगों को परस्पर विवाह की स्वीकृति प्रदान कर दी गयी। इस अधिनियम मे एक विवाह की व्यवस्था है तथा 21 वर्ष से कम आयु के लडके व 18 वर्ष से कम आयु की लडकी का विवाह उनके माता पिता अथवा संरक्षको की स्वीकृति से होगा। यह अधिनियम क्रूरता, पागलपन असाध्य रोग से पीडित होने, सात वर्ष तक किसी के जीवित होने का प्रमाण न होने परस्पर समझौता हो जाने, साथ रहने मे असमर्थ होने और पति पत्नी के अलग रहने आदि की स्थिति मे तलाक की व्यवस्था करता है।

(2) हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 (Hindu Marriage Act, 1955)

18 मई, 1955 से जम्मू एव कश्मीर को छोडकर सम्पूर्ण भारत मे निवास करने वाले हिन्दुओ जिनमे जैन बौद्ध एव सिक्ख भी सम्मिलित हैं 'हिन्दू विवाह अधिनियम' लागू कर दिया गया। इस अधिनियम के द्वारा विवाह से सम्बन्धित पूर्व मे पास किये गये सभी अधिनियम रद्द कर दिये गये और सभी हिन्दुओ पर एक समान कानून लागू किया गया है। इस अधिनियम मे हिन्दू विवाह की प्रचलित विभिन्न विधियो को मान्यता प्रदान की गयी है। साथ ही सभी जातियो के स्त्री पुरुषो को विवाह एव तलाक के अधिकार प्रदान किये गये हैं। इसकी प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार है

विवाह की शर्तें (Conditions of Marriage)

किन्ही दो हिन्दू स्त्री पुरुषो के बीच विवाह के लिए निम्नांकित शर्तें रखी गयी हैं :

(i) स्त्री एव पुरुष दोनो मे से किसी का विवाह के समय दूसरा जीवन साथी जीवित न हो। (ii) वर-वधू दोनो म से कोई भी विवाह के समय पागल या मूर्ख न हो। (iii) विवाह के समय वर की आयु 18 वर्ष और वधू की आयु 15 वर्ष से कम न हो। किन्तु मई 1976 मे इस अधिनियम म संशोधन कर वर की आयु

21 वर्ष तथा वधू की आयु 18 वर्ष कर दी गयी है। (iv) दोनों पक्ष निषेधात्मक नातेदारी सम्बन्धों में न आते हों अर्थात् जिन प्रथाओं से वे नियन्त्रित होते हैं उनके विपरीत न हों। (v) दोनों पक्ष सपिण्डी न हों, यदि उनकी परम्परा के अनुसार सपिण्ड विवाह मान्य है तो ऐसे विवाह को मान्यता दी जायेगी। (vi) यदि वधू की आयु 18 वर्ष से कम है तो उसके अभिभावकों की स्वीकृति जरूरी है, अभिभावक न होने पर ऐसी अनुमति के बिना भी विवाह वैध है।

**विवाह-सम्बन्ध की समाप्ति (Void of Marriage)**

निम्नांकित दशाओं में विवाह होने पर भी उसे रद्द किया जा सकता है

(i) विवाह के समय दोनों पक्षों में से किसी एक का भी जीवन साथी जीवित हो और उससे तलाक न हुआ हो। (ii) विवाह के समय एक पक्ष नपुंसक हो। (iii) विवाह के समय कोई भी एक पक्ष जड़ बुद्धि या पागल हो। (iv) विवाह के एक वर्ष के अन्दर यह प्रमाणित हो जाय कि प्रार्थी अथवा उसके संरक्षक की स्वीकृति बलपूर्वक या कपट से ली गयी थी। (v) विवाह के एक वर्ष के भीतर यह प्रमाणित हो जाय कि विवाह के समय पत्नी किसी अन्य पुरुष से गर्भवती थी और प्रार्थी इस बात से अनभिज्ञ था।

**न्यायिक पृथक्करण (Judicial Separation)**

इस अधिनियम की धारा 10 में कुछ आधारों पर पति पत्नी को अलग रहने की आज्ञा दी जा सकती है। यदि पृथक् रहकर वे मतभेदों को भुलाने में सफल हो जाते हैं तो वैवाहिक सम्बन्धों की पुनर्स्थापना की जा सकती है। न्यायिक पृथक्करण के आधार निम्नांकित हैं

(i) बिना कारण बताये प्रार्थी को दूसरे पक्ष ने प्रार्थना पत्र देने के दो वर्ष पूर्व से छोड़ रखा हो। (ii) प्रार्थी के साथ दूसरे पक्ष द्वारा क्रूरता का व्यवहार किया जाता हो। (iii) प्रार्थना पत्र देने के एक वर्ष पूर्व से दूसरा पक्ष असाध्य कुष्ठ रोग से पीड़ित हो। (iv) दूसरे पक्ष को कोई ऐसा संक्रामक यौन रोग हो जो प्रार्थी के संसर्ग से नहीं हुआ हो। (v) यदि दूसरा पक्ष प्रार्थना पत्र देने के एक वर्ष पूर्व से पागल हो। (vi) यदि दूसरे पक्ष ने विवाह होने के बाद अन्य व्यक्ति के साथ सम्भोग किया हो।

न्यायिक पृथक्करण की आज्ञा मिलने के बाद दो वर्ष के भीतर भी वे अपने सम्बन्धों को सुधारने में असफल रहते हैं तो वे तलाक के लिए प्रार्थना पत्र दे सकते हैं जो कि धारा 13 के अनुसार स्वीकृत किया जा सकता है।

**विवाह विच्छेद (Divorce)**

निम्नांकित आधारों पर न्यायालय विवाह विच्छेद की स्वीकृति दे सकता है

(i) दूसरा पक्ष व्यभिचारी हो। (ii) दूसरे पक्ष ने धर्म परिवर्तन कर लिया हो और हिन्दू न रह गया हो। (iii) प्रार्थना पत्र दिये जाने के तीन वर्ष पहले से दूसरा पक्ष असहाय कुष्ठ या संक्रामक रोग से पीड़ित हो। (iv) दूसरा पक्ष संन्यासी हो गया हो। (v) पिछले सात वर्षों से दूसरे पक्ष के जीवित होने के बारे में न सुना

गया हो। (vi) दूसरे पक्ष ने न्यायिक पृथक्करण के दो वर्ष या उससे अधिक अवधि के बाद तक पुनः सहवास न किया हो। (vii) दूसरे पक्ष ने दाम्पत्य अधिकारों के पुनः स्थापना हो जाने के दो वर्ष बाद तक उस पर अमल न किया हो। (viii) पति बलात्कार, गुदा मैथुन (Sodomy) अथवा पशुगमन (bestiality) का दोषी हो।

इस अधिनियम में स्पष्ट है कि न्यायिक पृथक्करण और विवाह विच्छेद दो भिन्न बातें हैं। पृथक्करण की आज्ञा देकर न्यायालय दोनों पक्षों को समझौते के अवसर प्रदान करता है। यदि फिर भी दम्पत्ति साथ रहने को सहमत न हों तो विवाह भंग करने की स्वीकृति प्रदान की जाती है। कुछ परिस्थिति में ही विवाह विच्छेद की सीधी अनुमति दी जा सकती है। इस अधिनियम में पति अथवा पत्नी के लिए निर्वाह धन (alimony) की व्यवस्था भी की गयी है। यह राशि उस समय तक दी जायगी जब तक निर्वाह धन प्राप्त करने वाला दूसरा विवाह न कर ले। इस अधिनियम के द्वारा पृथक्करण एवं विवाह विच्छेद प्राप्त करना उतना सरल नहीं है जितना सोचा जाता है।

(3) अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, 1955 (Untouchability (Offence) Act, 1955)

अस्पृश्यता को समाप्त करने, इससे सम्बन्धित सभी आचरणों को रोकने और अस्पृश्यों पर विभिन्न निर्योग्यताओं को लागू करने वाले व्यक्तियों को दण्डित करने के उद्देश्य से जून 1955 से 'अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, 1955' सम्पूर्ण देश में लागू किया गया। इस अधिनियम की 17 धाराओं के द्वारा अस्पृश्यों की सभी निर्योग्यताओं को समाप्त कर दिया गया है। इस अधिनियम के अनुसार अस्पृश्य जातियों को सार्वजनिक पूजा स्थानों, मनोरंजन के स्थानों, चिकित्सालयों, शिक्षण संस्थाओं आदि में प्रवेश करने एवं उनका उपयोग करने की स्वीकृति दी गयी है। अस्पृश्यता सम्बन्धी आचरण करने एवं उसे प्रोत्साहन देने वाले व्यक्ति को छः माह का कारावास या 500 रुपया जुर्माना अथवा दोनों की सजा दी जा सकती है। इस अधिनियम का हम अस्पृश्यता व अनुसूचित जातियों के अध्याय में विस्तार से उल्लेख कर चुके हैं।

(4) हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 (Hindu Succession Act, 1956)

सन् 1937 के 'हिन्दू स्त्रियों का सम्पत्ति पर अधिकार' भी विधवा को अपने मृत पति की सम्पत्ति में सीमित अधिकार प्रदान करता था तथा मिताक्षरा व दायभाग के सम्पत्ति उत्तराधिकार के अलग अलग नियम थे। सम्पत्ति अधिकार की बाधाओं को समाप्त करने और स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार प्रदान करने की दृष्टि से हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम 1956 पारित किया गया। इसकी प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं

(i) उत्तराधिकार से सम्बन्धित दायभाग और मिताक्षरा नियमों को समाप्त कर सभी हिन्दुओं पर एक सा नियम लागू किया गया। (ii) विधवा स्त्री अपने मृत

पति से प्राप्त अपने हिस्से की सम्पत्ति का अपनी इच्छानुसार प्रयोग कर सकती है। किन्तु यदि वह पुनर्विवाह कर लेती है तो मृत पति की सम्पत्ति पर उसका अधिकार नही रहेगा। (iii) इस अधिनियम के द्वारा स्त्रियो को भी पुरुषो के समान ही सम्पत्ति मे अधिकार प्राप्त होगे। (iv) लडकी को भी अपने पिता की सम्पत्ति म लडके के बराबर हिस्सा प्राप्त होगा। (v) पुत्र की मृत्यु होने पर माता को भी पुत्र की सम्पत्ति मे उसकी पत्नी और बच्चो के समान एक भाग प्राप्त होगा। (vi) विधवा स्त्री को अपने मृत पति की सम्पत्ति मे पुत्र के बराबर हिस्सा प्राप्त होगा। यदि कोई सन्तान नहीं है तो विधवा को अपने मृत पति की सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार होगा।

(5) हिन्दू नाबालिग तथा संरक्षता अधिनियम, 1956 (The Hindu Minority and Guardianship Act 1956)

इस अधिनियम के पूर्व नाबालिग बच्चे के पिता की मृत्यु होने पर संरक्षक बनने का अधिकार केवल पितृ पक्ष के लोगो को ही था। सम्पत्ति का दुरुपयोग होने पर भी माँ कुछ नही कर सकती थी। इस अधिनियम ने इस कमी को दूर कर दिया है। इस अधिनियम की मुख्य बातें इस प्रकार है (i) इस अधिनियम के अनुसार नाबालिग उसे माना गया है जिसकी आयु 18 वर्ष से कम हो। (ii) संरक्षकों म पहला स्थान पिता का और दूसरा स्थान माँ का होगा। नाबालिग विवाहित लडकी का संरक्षक उसका पति होगा। (iii) यदि पिता और माता दोनो मर चुके हैं तो नाबालिग बच्चा का संरक्षक न्यायालय नियुक्त करेगा, यदि पिता अथवा माता ने मरने के पूर्व उन्होने किसी को संरक्षक नियुक्त नही किया हो। (iv) कोई भी संरक्षक बच्चे की सम्पत्ति को पाँच वर्षों से अधिक की अवधि के लिए पट्टे पर नही दे सकता। न्यायालय की अनुमति के बिना संरक्षक नाबालिग की सम्पत्ति को न बेच सकता है न गिरवी रख सकता है और न ही उपहार या हस्तांतरण (alienations) ही कर सकता है। (v) इस अधिनियम के द्वारा माता पिता की मृत्यु होने पर नाबालिग बच्चे की सम्पत्ति की रक्षा के लिए संरक्षक नियुक्त किये जाने का प्रावधान किया गया है। संरक्षक नियुक्त करते समय न्यायालय नाबालिग बच्चे के कल्याण को ध्यान में रखेगा।

(6) हिन्दू दत्तक ग्रहण और भरण पोषण अधिनियम, 1955 (Hindu Adoptation and Maintenances Act 1956)

इस अधिनियम म गोद लेने एव स्त्रियो तथा उनके आश्रितो के भरण पोषण के बारे में विस्तार से व्यवस्थाएँ की गयी हैं। गोद लेने सम्बन्धी इसम निम्नांकित व्यवस्थाएँ की गयी हैं

(i) गोद लेने वाला व्यक्ति 18 वर्ष की आयु से कम का न हो, वह पागल न हो या उसके पहले से कोई स्वाभाविक या गोद लिया हुआ पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र न हो। (ii) पत्नी के जीवित होने पर पति द्वारा उसकी सहमति से ही किसी को

गोद लिया जा सकता है। (iii) अब लड़के को नहीं वरन् लड़कियों का भी गोद लिया जा सकता है। (iv) पहले केवल पुरुष ही गोद ले सकता था किन्तु अब स्त्रियाँ भी गोद ले सकती हैं। विवाहित स्त्री किसी को गोद लेती है तो उसे अपने पति की स्वीकृति लेनी होगी। अविवाहित, विधवा या तलाक प्राप्त स्त्री भी लड़के या लड़की गोद ले सकती है। (v) जिस लड़के या लड़की को गोद लिया जाता है वह हिन्दू हो, अविवाहित हो और 15 वर्ष से कम की आयु का होना चाहिए। एक ही बालक को दो व्यक्ति गोद नहीं ले सकते। (vi) गोद लेने वाला अपने से विपरीत लिंग के बच्चे को (जैसे पुरुष किसी लड़की को या स्त्री किसी लड़के को) गोद ले रहा हो तो उनकी आयु के बीच 21 वर्ष से अधिक का अन्तर होना चाहिए। (vii) गोद लेने के लिए बच्चे के मूल माता पिता को कोई धन न दिया जाय। (viii) गोद चले जाने वाले बच्चे का अपने मूल पिता की सम्पत्ति में कोई अधिकार नहीं होगा। (ix) वैध रीति से गोद चले जाने के बाद गोद गया हुआ व्यक्ति पुनः अपने मूल परिवार में नहीं लौट सकता है।

**भरण-पोषण**

इस कानून के तीसरे अध्याय में भरण पोषण के नियमों का उल्लेख है जो इस प्रकार है इस अधिनियम ने अन्तर्गत भरण पोषण का अधिकार स्त्री व पुरुष दोनों को है अर्थात् स्त्री अपने पति से और पति अपनी पत्नी से भरण पोषण की रकम पाने का दावेदार है यदि उनके पास आय के अन्य साधन नहीं हैं। (ii) इस अधिनियम में पत्नी, विधवा पुत्रवधू, नाबालिग सन्तान, वृद्ध माता पिता और अन्य आश्रितों को भरण पोषण पाने का अधिकार दिया गया है। (iii) यदि कोई स्त्री अपने पति से तलाक ले लेने, उसके साथ क्रूर व्यवहार करने, कुष्ठ रोग से पीड़ित होने धर्म परिवर्तन कर लेने अथवा अन्य स्त्री को रखैल रखने के कारण अलग रहती है तो धर्म परिवर्तन न करने व सच्चरित्र होने की अवस्था में वह अपने पति से भरण पोषण पाने की अधिकारिणी होगी। (iv) यदि किसी मनुष्य ने वसीयत के द्वारा अपने आश्रितों के भरण पोषण की व्यवस्था नहीं की है तो उसके आश्रितों को उसकी सम्पत्ति से भरण पोषण पाने का अधिकार है। इस प्रकार यह अधिनियम पृथक्करण और तलाक की स्थिति में स्त्रियों को आर्थिक संरक्षण प्रदान करता है।

**(7) स्त्रियों व कन्याओं का अनैतिक व्यापार निरोधक अधिनियम 1956 (Suppression of Immoral Traffic in Women and Girls Act 1956)**

'सामाजिक तथा नैतिक स्वास्थ्य विज्ञान समिति' के सुझाव पर वेश्यावृत्ति और अनैतिक व्यवहार को रोकने की दृष्टि से भारत सरकार ने 1956 में यह अधिनियम पारित किया जो 1 मई 1958 से सारे भारत में लागू किया गया। इस अधिनियम की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं

(i) वेश्यावृत्ति एक दण्डनीय अपराध है। इस अधिनियम के अनुसार "कोई भी स्त्री जो धन या वस्तु के बदले यौन सम्बन्ध के लिए अपना शरीर अर्पित करती है,

'वेश्या' है तथा अपने शरीर को इस प्रकार यौन सम्बन्ध के लिए अर्पण करना 'वेश्या वृत्ति' है।"

(ii) वेश्यालय में रहने वाला व्यक्ति (सन्तान को छोड़कर) 18 वर्ष से अधिक का है और वेश्या की आय पर आश्रित रहता है तो उसे दो वर्ष का कारावास अथवा एक हजार रुपये तक का दण्ड दिया जा सकता है।

(iii) वेश्यालय चलाने वाले व्यक्ति को 1 से 15 वर्ष तक का कारावास तथा दो हजार रुपए तक का जुर्माना आदि दण्ड दिया जा सकता है।

(iv) 12 वर्ष से कम आयु की 'लड़की' को जो वेश्यावृत्ति में संलग्न है, सुधार व पुनर्वास के लिए संरक्षण गृहों में भेजने की व्यवस्था की गयी है।

(v) किसी लड़की को वेश्यावृत्ति के लिए फुसलाना, बाध्य करना, नजरबन्द रखना और उसके साथ रहना दण्डनीय अपराध है।

(8) दहेज निरोधक अधिनियम, 1961 (Dowry Prohibition Act, 1961)

हिन्दू समाज में दहेज की भीषण समस्या को हल करने के लिए भारतीय संसद में मई 1961 में 'दहेज निरोधक अधिनियम' पारित किया गया। इसकी प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं

(1) इस अधिनियम में दहेज को इस प्रकार परिभाषित किया गया है "विवाह के पहले या बाद में विवाह की एक शर्त के रूप में एक पक्ष या व्यक्ति द्वारा दूसरे पक्ष को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से दी गयी कोई भी सम्पत्ति या मूल्यवान वस्तु 'दहेज' कहलायगी।" (2) विवाह के अवसर पर दी जाने वाली भेंट या उपहार को 'दहेज' नहीं माना जायेगा। (3) दहेज लेने व देने वाले तथा इस कार्य में मदद करने वाले व्यक्ति को छः माह की जेल और पाँच हजार रुपये तक का दण्ड दिया जा सकता है। (4) दहेज लेन व देन सम्बन्धी किया गया कोई भी समझौता गैर कानूनी होगा। (5) विवाह में भेंट दी गयी वस्तुओं पर कन्या का अधिकार होगा। (6) धारा 7 के अनुसार दहेज सम्बन्धी अपराध की सुनवायी प्रथम श्रेणी का मजिस्ट्रेट ही कर सकता है और ऐसी शिकायत लिखित रूप में एक वर्ष के अन्दर हो की जानी चाहिए।

## हिन्दू विवाह पर नवीन सामाजिक विधानों का प्रभाव तथा विवाह की आधुनिक प्रवृत्तियाँ
## (IMPACT OF NEW SOCIAL LEGISLATIONS ON HINDU MARRIAGE AND RECENT TRENDS)

समय समय पर हिन्दू विवाह से सम्बन्धित अनेक अधिनियम पारित किये गये हैं जिनमें हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम 1856, बाल विवाह निरोधक अधिनियम 1929 हिन्दू विवाह अधिनियम 1955, दहेज निरोधक अधिनियम 1961 आदि प्रमुख हैं। इन अधिनियमों को हम ऊपर विवाह से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं के दौरान उल्लेख कर चुके हैं। यहाँ हम इन सामाजिक विधानों

का हिदू विवाह पर पडने वाले प्रभावो तथा विवाह की नवीन प्रवत्तियो का उल्लेख करेंगे।

(1) हिदू विवाह अब धार्मिक सस्कार नहीं—प्राचीन हिन्दू विवाह एक धार्मिक सस्कार था, उसमे विवाह से सम्बन्धित अनेक धार्मिक क्रियाओ का समावेश था। अब यह एक वैयक्तिक मामला बनकर रह गया है और यह दो विषम लिगियो के बीच कानूनी समझौता बन गया है। के० टी० मर्चेण्ट ने अपने अध्ययन मे पाया कि कई युवक युवतियो ने विवाह को धार्मिक सस्कार न मानकर इसके वैयक्तिक स्वरूप को महत्व दिया।[1] इसी कारण से इस विवाह समझौते का भग किया जा सकता है।

(2) विवाह सम्बन्धी निषेधों मे अन्तर—प्राचीन काल मे हिदू विवाह से सम्बन्धित गोत्र जाति प्रवर आदि के अनेक निषेधो का पालन करना पडता था। इससे विवाह का दायरा बहुत सीमित था किन्तु नवीन विधानो मे गोत्र, जाति, प्रवर से सम्बन्धित बन्धन समाप्त कर दिये गये हैं और कोई भी हिन्दू, जैन, बौद्ध, सिक्ख परस्पर विवाह कर सकते है। वतमान मे अन्तर्जातीय विवाहो को वैधानिक स्वीकृति मिल गयी है। यद्यपि इससे विवाह के क्षेत्र मे कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नही आये है फिर भी अन्तर्जातीय विवाह एव अन्तर धर्म विवाहो के पक्ष म जनमत तैयार होने लगा है।

(3) विवाह विच्छेद—अब तक हिन्दू विवाह एक धार्मिक सस्कार एव जन्म-जन्मान्तर का बन्धन माना जाता रहा है जिसे कभी भी भग नही किया जा सकता। किन्तु हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 ने दोनो ही पक्षो को कुछ विशिष्ट परिस्थितियो मे तलाक देने की सुविधा प्रदान की है। इस सुविधा का उपयोग अधिकाशत शिक्षित एवं शहरी लोगो द्वारा ही किया गया है। ग्रामीण भारत मे तो विवाह अब भी अटूट बन्धन माना जाता है।

(4) एक विवाह का प्रचलन—हिदू विवाह अधिनियम 1955 के द्वारा बहुपत्नी एव बहुपति विवाह को समाप्त कर उसके स्थान पर एक विवाह को ही मान्यता दी गयी है। अब कोई भी पक्ष पहले के विवाह साथी के जीवित रहते हुए बिना तलाक दिये दूसरा विवाह नही कर सकता। यद्यपि यह बात भी एक वैधानिक पक्ष ही है। व्यवहार मे तो अब भी बहुपत्नी प्रथा, कुलीन विवाह एव बहुपति प्रथा का प्रचलन पाया जाता है। यद्यपि ऐसे विवाह की सख्या दिनो दिन घटती जा रही है।

(5) विधवा विवाह की प्रवृत्ति—हिन्दुओ मे कुछ समय पूर्व तक विधवाओ को पुनर्विवाह करने की स्वीकृति नही थी किन्तु अब कानून द्वारा ऐसे विवाहो को मान्यता प्रदान कर दी गयी है और उसे सम्पत्ति का अधिकार भी प्रदान किया गया है। विधवाओ को पुनर्विवाह की स्वीकृति प्रदान कर उनके साथ सामाजिक न्याय एव मानवीय व्यवहार किया गया है। अब कुछ लोग इस विवाहो की ओर भी सोचने लगे हैं।

---

1 K T Merchant *Changing Views on Marriage and Family* pp 40 56

(6) बाल विवाह की समाप्ति—नवीन विवाह अधिनियम के अनुसार वर की आयु 21 वर्ष एव वधू की आयु 18 वर्ष तय करके बाल विवाह पर प्रतिबन्ध लागू कर दिया गया है। इससे पूर्व छोटे छोटे नासमझ बच्चो का भी विवाह कर दिया जाता था। यद्यपि गावो मे इस कानून का कोई प्रभाव नही पड़ा है। शहरो मे शिक्षा के प्रसार के साथ साथ बाल विवाह समाप्त हो रहे है और उसके स्थान पर विलम्ब विवाह (Late Marriage) की प्रवृत्ति बढती जा रही है। ऐसा माना जाता है कि विलम्ब विवाह से दम्पत्ति के स्वास्थ्य की रक्षा, स्वस्थ सतान, व्यक्तित्व के विकास एव जीवन साथी के चुनाव मे सहायता मिलती है।

(7) दहेज पर प्रतिबन्ध—कानूनी रूप से दहेज पर प्रतिबन्ध लागू कर दिया गया है। यद्यपि यह आशा की जाती थी कि शिक्षा के प्रसार के साथ साथ दहेज भी घट जायगा किन्तु लडके की शिक्षा के आधार पर दहेज की भी माँग बढी है। कुछ नवयुवक एव नवयुवतियाँ दहेज के विरोध मे है। अन्तर्जातीय विवाहो की वृद्धि के साथ साथ दहेज की भी समाप्ति होगी, ऐसी अपेक्षा की जाती है।

(8) विवाह की अनिवार्यता की समाप्ति—प्राचीन समय मे एक हिन्दू के लिए विवाह एक आवश्यक धार्मिक कर्तव्य था जो उसे ऋणो से मुक्ति दिलाने एव पुरुषार्थों की पूर्ति के लिए करना होता था। किन्तु विवाह मे धार्मिक पक्ष की शिथिलता के साथ साथ विवाह की अनिवार्यता भी समाप्त हो रही है और कई स्त्री पुरुष अविवाहित रहने लगे है। रास ने बताया कि कई युवक युवतियाँ विवाह की अनिच्छुक है। वे इसे अपनी स्वतन्त्रता पर कुठाराघात समझते है।

(9) जीवन साथी चुनने की स्वतन्त्रता—प्राचीन समय मे विवाह साथी चुनने का दायित्व परिवार जनो पर ही था अत वर वधू अपना साथी चुनने मे स्वतन्त्र नही थे किन्तु अब वे स्वय ही अपनी इच्छानुकूल जीवन साथी से विवाह करने लगे है तथा चयन मे परिवार एव नातेदारो का हस्तक्षेप कम हो रहा है।

(10) बेमेल विवाह की समाप्ति—दहेज से बचने एव कुलीन विवाह प्रथा का पालन करने के कारण बेमेल विवाह हो जाते थे, वर एव वधू की आयु मे 20 वर्ष से भी अधिक का अन्तर होता था। किन्तु अब वर एव वधू द्वारा जीवन-साथी के स्वय द्वारा चुनाव किये जाने एव अन्तर-जाति विवाह के कारण ऐसे विवाह प्राय समाप्त हो गये है।

(11) प्रेम विवाह—वर्तमान मे प्रेम एव रोमास पर आधारित विवाह भी होने लगे है। सह शिक्षा, औद्योगीकरण, चलचित्र आदि के प्रभावो के कारण ऐसे विवाहो को प्रोत्साहन मिला है। यद्यपि ऐसे विवाहो की सख्या बहुत कम है।

(12) पत्नी की स्थिति मे अन्तर—वर्तमान मे विवाह मे पति पत्नी को समान स्तर प्रदान किया गया है। प्राचीन विवाहो मे स्त्री को एक दासी या अनुचरी के रूप मे माना गया था। किन्तु अब वह पति की सहचरी, मित्र एव साथी मानी जाने लगी है। परिवार एव समाज मे उसकी प्रतिष्ठा मे वृद्धि हुई है।

(13) अन्तर्जातीय विवाह—विवाह का दायरा बढने से एव कानून द्वारा मान्यता प्राप्त होने से वर्तमान मे अन्तर्जातीय एव अन्तर्धर्म विवाह भी होने लगे हैं जो पहले निषिद्ध माने गये थे।

(14) समूह विवाह—वर्तमान मे समूह विवाह भी होने लगे है। कई शहरो मे सकटकाल के दौरान एव उसके बाद दहेज से मुक्ति पाने के लिए सामूहिक विवाहो का आयोजन किया गया है। इस प्रकार के विवाहो से विवाह खर्च मे कमी आयी है।

(15) अन्य परिवर्तन—उपर्युक्त परिवर्तनो के अतिरिक्त भी विवाह मे अन्य परिवर्तन देखे जा सकते है जैसे शहरो मे शादी घरों द्वारा विवाह की व्यवस्था की जाने लगी है। विवाह के विज्ञापन दिये जाने लगे है, विवाह सम्बन्धी समस्याओ का हल करने के लिए शहरो मे परिषदें एव सलाहकार उपलब्ध हैं।

स्पष्ट है कि प्राचीन हिन्दू विवाह सस्था को परिवर्तन की नवीन शक्तियों जैसे पाश्चात्य शिक्षा, औद्योगीकरण, नगरीकरण, प्रजातन्त्र के मूल्य, नवीन सामाजिक विधान सामाजिक चेतना आदि ने प्रभावित किया है और वह सक्रमण काल से गुजर रही है। वर्तमान मे गावो की अपेक्षा शहरो मे परिवर्तन अधिक हुए हैं पर आगे चलकर गाँव भी इन परिवर्तनो से अछूते नही रहेगे और ये नवीन प्रवृत्तिया देर सवेर सम्पूर्ण भारत मे विवाह सस्था को प्रभावित एव परिवर्तित करेगी।

**सामाजिक विधानो का परिवार एव स्त्रियों की स्थिति पर प्रभाव (Impact of Social Legislations on Family and the Status of Women)**

सम्पत्ति उत्तराधिकार भरण पोषण, गोद लेने नाबालिग सरक्षकता, बाल विवाह, विधवा पुनर्विवाह, दहेज एवं तलाक आदि से सम्बन्धित विभिन्न अधिनियमो के कारण परिवार एव स्त्रियो की स्थिति पर निम्नाकित प्रभाव पड़े—

(1) परिवार मे स्त्री व पुरुषो को सम्पत्ति मे समान अधिकार प्राप्त हुए। पत्नी, मा और पुत्री के रूप मे स्त्रियो को पारिवारिक सम्पत्ति में पुरुषो के समान ही अधिकार मिले।

(2) पुरुषो की भाति स्त्रियो को भी तलाक के अधिकार मिले।

(3) नाबालिग बच्चो को सरक्षण प्राप्त हुआ और अब माँ भी सरक्षक बन सकती है।

(4) कुछ विशिष्ट परिस्थितियो में स्त्रियो को पृथक रहने पर भी भरण पोषण के अधिकार प्राप्त हुए।

(5) स्त्रियो को भी गोद लेने का अधिकार प्राप्त हुआ।

(6) विधवाओ को पुनर्विवाह की स्वीकृति मिली।

(7) बहुपत्नी प्रथा की समाप्ति हुई।

(8) बाल विवाह की समाप्ति हुई।

(9) दहेज की सम्पत्ति पर स्त्रियो को अधिकार प्राप्त हुए।

(10) उपर्युक्त सभी सुविधाओ एव व्यवस्थाओ के कारण परिवार एव

समाज म स्त्री व पुरुषो को समान अधिकार प्राप्त हुए, इससे स्त्रियो की प्रतिष्ठा मे वृद्धि हुइ और पुरुषो का एकाधिकार समाप्त हुआ।

(11) स्त्रिया को नवीन प्राप्त अधिकारो के कारण उनम व्यक्तिवाद की भावना पनपी, वे सयुक्त परिवार से पृथक रहने पर जोर देने लगी। इससे सयुक्त परिवारो के विघटन की प्रक्रिया तीव्र हुई।

(12) स्त्रियो की शिक्षा एव जागृति मे वृद्धि हुई, अत व धार्मिक रूढियो का विरोध करने लगी। वे सामाजिक, शैक्षणिक, राजनैतिक सभी क्षेत्रो मे पुरुषा के समकक्ष काय करने लगी है और स्त्रिया के मानसिक क्षितिज का विस्तार हुआ है। स्त्रियो मे आयी नयी चेतना का प्रभाव भावी परिवार एव पीढियो पर भी पडगा।

सामाजिक विधानो का अस्पृश्यता पर प्रभाव (Impact of Legislations on Untouchability)

अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम न जाति प्रथा और छुआछूत को प्रभावित किया। धर्मशास्त्रो में निम्न और अछूत जातियो के लिए विभिन्न धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक निर्योग्यताएं निर्धारित की गयी थी। उन्हे 1955 के अस्पृश्यता अपराध अधिनियम द्वारा समाप्त कर दिया गया है तथा उन्ह न्याय क्षेत्र म अन्य जातियो के समान ही अधिकार प्रदान किये गये हैं। अछूत जातियो को सभी सार्वजनिक स्थानों, तालाबो, कुओ, चिकित्सालयों, पुस्तकालयो, मन्दिरो, धार्मिक स्थानो एव शिक्षण सस्थाओ के उपयोग करने की स्वतन्त्रता एव अधिकार प्रदान किये गये हैं। इस अधिनियम के द्वारा अस्पृश्य जातियो को उनके जातिगत व्यवसाय को अपनाने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। इससे जाति का वश परम्परागत का सिद्धान्त समाप्त हुआ। अस्पृश्य जाति के लोगो का उच्च जातियो की भाँति ही शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त हुआ। पढ लिखकर वे गैर सरकारी नौकरी करन लगे जहाँ जाति भेद भाव के स्थान पर मल मिलाप बढा, अस्पृश्य जातियो की आर्थिक निर्योग्नाएँ समाप्त हुइ। शिक्षा प्राप्त करने और उनमे जागृति के कारण निम्न जातियाँ जब विभिन्न क्षेत्रो म अपने अधिकारो की माँग करती है तो उनका उच्च जातिया से सघर्ष हो जाता है और कभी कभी तनाव की स्थिति भी पैदा हुई है।

सामाजिक विधानों की भूमिका का मूल्याकन (Evaluation of the Role of Social Legislaions)

प्रश्न उठता है कि सामाजिक विधान हमारी सामाजिक समस्याओ को हल करने मे कहाँ तक सफल हुए हैं ? यदि हम सैद्धान्तिक दृष्टि से कह तो इन विधानो को देखकर ऐसा लगता है कि भारतीय समाज की सभी कुरीतियाँ समाप्त हो गयी और भारतीय समाज के विभिन्न अगो जैसे परिवार विवाह, नातेदारी एव जाति प्रथा मे आमूल चूल परिवतन कर दिये गये है। नये विधानो के कारण सयुक्त परिवार के स्थान पर एकाकी परिवारो को बढावा मिला है परिवार एव समाज मे

पुरुष का एकाधिकार एव निरकुशता समाप्त हो गयी है और स्त्री पुरुषो को सभी क्षत्रो मे समानाधिकार मिल गये ह, सम्पत्ति मे अधिकार, विवाह विच्छेद का अधिकार, भरण पोषण एव गोद लेन का अधिकार एव नाबालिग सरक्षकता के अधिकारो न स्त्रियो की सामाजिक प्रतिष्ठा म वृद्धि की है, वे अब अधिक सुरक्षित और अधिकार प्राप्त हे। इसी प्रकार म अस्पृश्य जातियो की नियोग्यताएँ भी समाप्त हो गयी हे और वे न्याय, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एव धार्मिक क्षेत्रो मे अन्य जातियो के समान ही अधिकार प्राप्त है। नवीन विधान ने भारतीय समाज को समतावादी समाज (egalitarian society) का स्वरूप प्रदान किया है।

द्वि पक्ष —किन्तु यह दृष्टिकोण तस्वीर का एक पहलू है। इसका व्यावहारिक पक्ष कुछ दूसरा ही है। वास्तव मे तो अब भी परिवार एव समाज मे पुरुषो की प्रधानता है, स्त्रियो के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार भी सीमित है अब भी विधवा स्त्रिया पुन विवाह एव तलाक अधिनियम का अपवाद रूप म ही प्रयोग करती है, दहेज की समस्या घटन के बजाय बढी है, बाल विवाह गाँवो मे तो अब भी पहले की भाति ही सम्पन्न किये जाते ह। अब भी निम्न जातिया क प्रति वैसे ही भेद भाव रखे जाते ह और कई बार हम निम्न जातियो पर किय जाने वाले अत्याचारों की घटनाएँ पत्र पत्रिकाओ मे पढते हैं। अन्तर्जातीय विवाहो का प्रचलन आज भी बहुत कम है और वह भी शिक्षित और शहरी लोगो तक ही सीमित है। व्यावहारिक रूप मे सामाजिक विधानो के पूर्ण सफल न होने का एक कारण स्वय विधानो मे रखी गयी शर्तें एव उन्ह लागू करने म आन वाली कठिनाइयाँ तथा दण्ड से सरलता स बच निकलने की सुविधाएँ आदि है। सामाजिक विधानो का उद्देश्य तो समाज कल्याण और सामाजिक बुराइयो का समाप्त करना ही होता है किन्तु इनका उपयोग कितना होगा यह इस बात पर निभर है कि वहाँ के लोगो को इन विधानो का ज्ञान कितना है व अपने अधिकारो के प्रति कितन चेतन ह तथा शिक्षा की स्थिति क्या है ? अब तक इन विधानो का उतना उपयोग नही हुआ जितना होना चाहिए किन्तु शिक्षा एव चेतना की वृद्धि के साथ साथ य विधान हमारे समाज की बुराइयो को समाप्त करन मे सहयोगी होंगे, इस बात स इन्कार नही किया जा सकता।

भारत मे सामाजिक विधान अधिक सफल क्यो नहीं रहे ? इसके लिए अनेक कारण उत्तरदायी है, जैसे—(i) सामाजिक कानूनो के पालन के प्रति स्वय शासन भी उदासीन रहा है। (ii) कानूनो का जनसाधारण को ज्ञान न होने के कारण उनका सहयोग नही मिल सका। (iii) धार्मिक विश्वासो एव रूढियो ने भी इनके पालन म बाधा उपस्थित की। (iv) देश की अधिकाश जनसख्या अशिक्षित है अत व तार्किकता के स्थान पर रूढियो का ही अधिक पालन करती है। (v) भारत म स्त्रियाँ आर्थिक रूप मे पुरुषो पर निर्भर हैं अत व पुरुषो के विरुद्ध अपने अधिकारों का उपयोग नही कर सकी है। (vi) कठोर जातीय नियमो न भी व्यक्ति का

जाति सम्बन्धी अस्पृश्यता और अन्तर्विवाह के नियमो की अवहेलना नही करते दी है। (vii) निधनता के कारण भी कई व्यक्ति इच्छुक होने पर भी नवीन विधानो का प्रयोग करने मे असफल रहे है।

सामाजिक विधानो को सफलतापूर्वक लागू करने के लिए यह आवश्यक है कि (i) उनके पक्ष मे जनजागृति पैदा की जाय और जनमत का निर्माण किया जाय। इसके लिए प्रचार एव प्रसार के साधनो जैसे रेडियो, अखबार, रगमच एव विचारगोष्ठियो आदि का सहारा लिया जाय। (ii) सामाजिक विधान लागू करने वाले अधिकारियो के दृष्टिकोण को बदला जाय और सामाजिक कार्यकर्ताओ से भी सहयोग प्राप्त किया जाय। (iii) सरकार ऐसे सेवा केन्द्रो की स्थापना करे जहाँ लोगो को उनके वैधिक अधिकारो एव कर्तव्यो के प्रति सलाह दी जा सके। (iv) शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार किया जाय। (v) कानूनी कमियो को सशोधनो द्वारा दूर किया जाय। (vi) ग्रामीणो को नवीन विधानो का ज्ञान कराया जाय और उन्हे कानूनी सलाह एव सहायता मुफ्त उपलब्ध करायी जाय। (vii) समाजशास्त्रियो एव सामाजिक शोधकर्ताओ का सहारा लेकर सामाजिक विधानो के प्रभावो और उनमे वाछित एव अपेक्षित परिवर्तन किए जायें जिससे कि वे अधिकाधिक सफल हो सकें।

नवीन सामाजिक विधानो ने भारतीय समाज के परम्परात्मक मूल्यो एव सरचना मे परिवर्तन और सुधार किए है किन्तु उनसे हमे आशातीत सफलता नही मिली है। उन्हे सफल बनाने के लिए आवश्यक है कि शिक्षा का प्रसार हो, जनमत जाग्रत किया जाय, कानूनो को प्रभावित ढग से लागू किया जाय तथा लोगो मे विधानो को स्वीकार करने के प्रति ललक पैदा की जाय। समय गुजरने के साथ साथ ये विधान वाछित परिणाम लाने मे सफल होगे ऐसी आशा की जा सकती है।

## प्रश्न
### (उत्तर सकेत सहित)

1 सन् 1955 के हिन्दू विवाह अधिनियम की विवेचना कीजिए। (लखनऊ, 1967, 70)

[सकेत—इसमे हिन्दू विवाह अधिनियम का सम्पूर्ण विवेचन करना होगा।]

2 हिन्दू विवाह पर नये सामाजिक विधानो का प्रभाव दर्शाइए। (गोरखपुर, 1971, 74)

[सकेत—इसमे हिन्दू विवाह से सम्बन्धित विभिन्न अधिनियम जैसे बाल विवाह निरोधक अधिनियम, दहेज निरोधक अधिनियम विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, सती प्रथा निषेध अधिनियम, विशेष विवाह अधिनियम तथा हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 आदि का सक्षेप मे उल्लेख कर 'हिन्दू विवाह पर नवीन सामाजिक विधानो का प्रभाव तथा विवाह की आधुनिक प्रवृत्तियाँ' नामक शीर्षक मे दिये गये विवरण को प्रस्तुत करना है।]

3 भारत मे विवाह सम्बन्धी सामाजिक अधिनियमो की सफलता का मूल्याकन कीजिए। (राजस्थान 1979)

[संकेत—इसमे प्रश्न संख्या 2 की ही भाँति उत्तर लिखा जायेगा और अन्त मे 'सामाजिक विधानो की भूमिका का मूल्यांकन' शीर्षक का सहारा लिया जायगा।]

4 आधुनिक सामाजिक विधानो का भारतीय जाति प्रथा पर प्रभाव दर्शाइए। (गोरखपुर, 1968)

[संकेत—इस प्रश्न के उत्तर म अस्पृश्यता अधिनियम का उल्लेख कर 'सामाजिक विधानो का अस्पृश्यता पर प्रभाव' नामक शीर्षक म दिये गये विवरण को प्रस्तुत करना होगा।]

5 भारत मे नये सामाजिक विधानो का अस्पृश्यता पर प्रभाव बताइए। (गोरखपुर, 1969)

[संकेत—इस प्रश्न का उत्तर प्रश्न संख्या 4 की तरह ही होगा।]

6 स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् लागू किये जाने वाले विवाह सम्बन्धी सामाजिक कानूनो ने हिन्दू विवाह के परम्परागत स्वरूप को किस प्रकार प्रभावित किया है? — (लखनऊ, 1977)

[संकेत—इसमे विवाह से सम्बन्धित उन अधिनियमो का उल्लेख करना होगा जो स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद बने जैसे विशेष विवाह अधिनियम, 1954, हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955, दहेज निरोधक अधिनियम 1961। तत्पश्चात हिन्दू विवाह पर नवीन सामाजिक विधान के प्रभावो का उल्लेख किया जायगा।]

# 17

# परिवार : कार्य एव स्वरूप
## (FAMILY FUNCTIONS AND FORMS)

प्राणीशास्त्रीय सम्बन्धो के आधार पर बने हुए समूहो मे परिवार सबसे छोटी इकाई है। प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी परिवार का सदस्य रहा है या है। "समाज मे परिवार ही अत्यधिक महत्वपूर्ण समूह है।"[1] मानव की समस्त सामाजिक सस्थाओ मे परिवार एक आधारभूत और सर्वव्यापी सामाजिक सस्था है। सस्कृति के सभी स्तरो मे चाहे उन्हे उन्नत कहा जाय या निम्न किसी न किसी प्रकार का पारिवारिक सगठन अनिवार्यत पाया जाता है।[2] शारीरिक आवश्यकताओ एव काम वासना की पूर्ति ने ही परिवार को जन्म दिया। परिवार ही नवजात शिशुओं एव गर्भवती माताओ की देखभाल करता है, यौन सम्बन्धो एव सन्तानोत्पत्ति का नियमन कर उन्हे सामाजिक मान्यता प्रदान करता है। यह भावात्मक घनिष्ठता का वातावरण प्रदान कर बच्चे के समुचित लालन-पालन, समाजीकरण और शिक्षण मे योग देता है। यही नही बल्कि परिवार अपने सदस्यो की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, सास्कृतिक और राजनैतिक आवश्यकताओ की पूर्ति मे भी योग देता है। परिवार मानव जाति के आत्म सरक्षण, वशवर्धन और जातीय जीवन की निरन्तरता बनाये रखने का प्रमुख साधन है। मनुष्य मरणशील है, किन्तु मानव जाति अमर है। मृत्यु और अमृत्व इन दो विरोधी सस्थाओ का समन्वय परिवार मे ही हुआ है। मानव मे सदैव जीवित रहने की इच्छा होती है। इसके लिए उसने अनन्त काल से अनेक उपाय किये, जड़ी बूटियाँ ढूढी रसायन और अमृत की खोज की, अनेक परीक्षण भी किये। किन्तु वह परिवार के अतिरिक्त इसका कोई अन्य हल नही खोज पाया। विवाह द्वारा परिवार का निर्माण कर सन्तानो के माध्यम से व्यक्ति का विस्तार होता है और वह मर कर भी अमर बना रहता है। मनुष्य को एक तरफ अपनी मृत्यु का दुख है तो दूसरी तरफ उसे यह भी सन्तोष है कि वह परिवार द्वारा अपने वशजो के रूप मे अनन्त काल तक जीवित रहेगा। हमारे जीवन मे जो कुछ भी सुन्दरता है, परिवार ने उसकी सुरक्षा की है, उसी ने मानव को सास्कृतिक समृद्धि प्रदान की है। स्त्री

1 MacIver and Page *Society* (Hindi) p 143

2 मानव और सस्कृति, श्यामाचरण दुबे, पृ० 99।

और पुरुष दोनों ही परिवार के मूल है, नदी के दो तटों के समान हैं, जिनके बीच जीवन रूपी धारा का लगातार प्रवाह हो रहा है। परिवार नये प्राणियो को जन्म देकर मृत्यु से रिक्त होने वाले स्थानों को भरता है तथा समाज की निरन्तरता बनाये रखता है। यही कारण है कि परिवार मानव के साथ प्रारम्भ से ही है। मैलिनावस्की कहते हैं कि 'परिवार ही एक ऐसा समूह है जिसे मनुष्य पशु अवस्था से अपने साथ लाया है।"[1] मरडाक (Murdock) ने 250 आदिम परिवारों का अध्ययन करने पर पाया कि कोई भी समाज ऐसा नहीं था जिसमें परिवार रूपी संस्था की अनुपस्थिति हो। परिवार की अवधारणा के स्पष्ट समझने के लिए हम उसके अर्थ एवं परिभाषा पर यहाँ विचार करेंगे।

## परिवार का अर्थ एवं परिभाषा
## (MEANING AND DEFINITION OF FAMILY)

Family शब्द का उद्गम लैटिन शब्द 'Famulus' से हुआ है जो एक ऐसे समूह के लिए प्रयुक्त हुआ है जिसमें माता पिता, बच्चे, नौकर और दास हों। साधारण अर्थों में विवाहित जोड़े को परिवार की संज्ञा दी जाती है किन्तु समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह परिवार शब्द का सही उपयोग नहीं है। परिवार में पति पत्नी एवं बच्चों का होना आवश्यक है। इनमें से किसी भी एक के अभाव में हम उसे परिवार न कहकर गृहस्थ (Household) कहेंगे। यह सम्भव है कि परिवार एवं गृहस्थ के सदस्य एक ही हों। प्रत्येक परिवार एक गृहस्थ भी है किन्तु सभी गृहस्थी परिवार नहीं हैं। परिवार की परिभाषाओं से यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी। विभिन्न विद्वानों ने परिवार को इस प्रकार से परिभाषित किया है

**मेकाइवर एवं पेज,** 'परिवार पर्याप्त निश्चित यौन सम्बन्ध द्वारा परिभाषित एक ऐसा समूह है जो बच्चों के जनन एवं लालन पालन की व्यवस्था करता है।'[2]

**डा० दुबे** के अनुसार, "परिवार में स्त्री और पुरुष दोनों को सदस्यता प्राप्त रहती है, उनमें से कम से कम दो विपरीत यौन व्यक्तियों को यौन सम्बन्धों की सामाजिक स्वीकृति रहती है और उनके संसर्ग से उत्पन्न सन्तान मिलकर परिवार का निर्माण करते हैं।'[3]

**मरडाक** के अनुसार परिवार एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसके लक्षण सामान्य निवास, आर्थिक सहयोग और जनन है। इसमें दो लिंगों के बालिग शामिल हैं जिनमें कम से कम दो व्यक्तियों द्वारा स्वीकृत यौन सम्बन्ध होता है और जिन

---

1 Malinowoski *Sex and Repression in Savage Society*

2 The family is a group defined by a sex relationship sufficiently precise and enduring to provide for the procreation and upbringing of the children —MacIver and Page *Society* p 238

3 दुबे, पूर्व उद्धृत, पृ० 101।

वालिग व्यक्तियो मे यौन सम्ब ध है, उनके अपने या गोद लिय हुए एक या अधिक बच्चे होते हैं।"[1]

**लूसी मेयर** "परिवार एक गाहस्थ्य समूह है जिसमे माता पिता और सन्तान साथ साथ रहते है। इसके मूल रूप मे दम्पत्ति और उसकी सन्तान रहती है।"[2]

उपर्युक्त परिभाषाओ से स्पष्ट है कि विभिन्न विद्वानो ने परिवार को विभिन्न दृष्टिकोणो से परिभाषित किया है। परिवार एक समूह, एक सघ और एक सस्था के रूप मे समाज म विद्यमान है। प्रत्येक समाज मे परिवार के दो पक्ष स्पष्ट होते है एक सरचनात्मक (Structural) एव दूसरा प्रकार्यात्मक (Functional)। अपने मूल रूप मे **परिवार की सरचना** पति पत्नि और बच्चो से मिलकर बनी होती है। इस दृष्टि मे प्रत्येक परिवार मे कम से कम तीन प्रकार के सम्बन्ध विद्यमान होते है

(i) पति पत्नि के सम्बन्ध (Husband wife relation)।

(ii) माता पिता एव बच्चो के सम्बन्ध (Parents children relation)।

(iii) भाई बहिनो के सम्बन्ध (Siblings relation)।

प्रथम प्रकार का सम्ब ध ववाहिक सम्बन्ध (affinal relation) होता है जबकि दूसरे एव तीसरे प्रकार के सम्बन्ध रक्त सम्बन्ध (blood relation) होते हैं। इसी आधार पर परिवार के सदस्य परस्पर नातेदार भी है। स्पष्ट है कि एक परिवार मे वैवाहिक एव रक्त सम्बन्धो का पाया जाना आवश्यक है। इन सम्बन्धो के अभाव म परिवार का निर्माण सम्भव नही है।

**प्रकार्यात्मक** दृष्टि से परिवार का निर्माण कुछ मूल उद्देश्यो की पूर्ति के लिए किया जाता है। परिवार का उद्देश्य यौन सम्बन्धो का नियमन करना, सन्तानोत्पत्ति करना उनका लालन पालन शिक्षण व समाजीकरण करना एव उन्हे आर्थिक, सामाजिक और मानसिक सरक्षण प्रदान करना है। इन प्रकार्यों की पूर्ति के लिए परिवार के सदस्य परस्पर अधिकारो एव कर्तव्यो से बँधे होते हैं। परिवार की सास्कृतिक विशेषता यह है कि परिवार समाज की सस्कृति की रचना, सुरक्षा, हस्तान्तरण एव सवधन म योग देता है।

**सक्षेप म हम परिवार को जविकीय सम्बन्धो पर आधारित एक सामाजिक समूह के रूप मे परिभाषित कर सकते है जिसमें माता पिता और बच्चे होते हैं तथा जिसका उद्देश्य अपने सदस्यो के लिए सामान्य निवास, आर्थिक सहयोग यौन सन्तुष्टि और प्रजनन, समाजीकरण और शिक्षण आदि की सुविधाएँ जुटाना है।**

1 The Family is a social group characterized by common residence economic co operation and reproduction It includes adults of both sexes atleast two of whom maintain a socially approved sexual relationship and one or more children own or adopted of the sexually cohabiting adults
—Murdock G P *Social Structure* p 1

2 लूसी मेयर, सामाजिक नृ विज्ञान की भूमिका, हिन्दी अनुवाद, पृ० 89।

## परिवार की सामान्य विशेषताएँ
## (GENERAL CHARACTERISTICS OF THE FAMILY)

मैकाइवर एवं पेज[1] ने परिवार की कुछ ऐसी विशेषताओं का उल्लेख किया है जो सभी समाजों में सभी समयों में पायी जाती हैं

**(i) विवाह सम्बन्ध**—प्रत्येक परिवार विवाह के बाद ही अस्तित्व में आता है।

**(ii) विवाह का एक स्वरूप**—प्रत्येक समाज में विवाह का एक स्वरूप प्रचलित होता है जो एक विवाह, बहुपत्नी विवाह या बहुपति विवाह आदि हो सकता है।

**(iii) वंशनाम**—परिवार में बच्चों के नामकरण की भी एक व्यवस्था होती है। बच्चे या तो पिता के नाम से जाने जाते हैं या माता के नाम से।

**(iv) अर्थ व्यवस्था**—प्रत्येक परिवार में अपने सदस्यों के भरण पोषण के लिए कोई न कोई आर्थिक क्रिया अवश्य पायी जाती है।

**(v) सामान्य निवास**—प्रत्येक परिवार के सदस्य एक स्थान पर निवास करते हैं जिसे वे 'घर' कहते हैं।

## परिवार की विशिष्ट विशेषताएँ
## (DISTINCTIVE FEATURES OF THE FAMILY)

मैकाइवर एवं पेज ने परिवार की कुछ विशिष्ट विशेषताओं का उल्लेख भी किया है

**(i) सार्वभौमिक**—परिवार रूपी संस्था सभी कालों एवं सभी स्थानों पर पायी जाती है।

**(ii) भावात्मक आधार**—परिवार के सदस्यों में परस्पर भावात्मक सम्बन्ध होते हैं उनमें प्रेम, सहयोग, बलिदान एवं सहिष्णुता के भाव पाये जाते हैं।

**(iii) रचनात्मक प्रभाव**—बच्चा परिवार में ही अच्छी और बुरी बातें सीखता है। उसके व्यक्तित्व का निर्माण करने में परिवार का प्रभाव सर्वोपरि है।

**(iv) केन्द्रीय स्थिति**—सामाजिक संरचना में परिवार की केन्द्रीय स्थिति है। कई परिवारों से मिल कर ही वंश, गोत्र उप जाति, जाति, समुदाय एवं समाज बनता है।

**(v) सदस्यों का उत्तरदायित्व**—अन्य संघों एवं संस्थाओं की अपेक्षा परिवार का अपने सदस्यों के प्रति अधिक एवं महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व है।

**(vi) सीमित आकार**—परिवार की सदस्यता जैविक होने के कारण परिवार के सदस्यों की संख्या सीमित होती है अन्य संगठनों की तरह हजारों में नहीं होती।

1 MacIver and Page *op cit* p 238

(vii) सामाजिक नियमन—प्रथाओ एव परम्पराओ द्वारा प्रत्येक परिवार अपने सदस्यो पर नियन्त्रण रखता है और समाज व्यवस्था को बनाये रखने मे सहयोग देता है।

(viii) परिवार की स्थायी और अस्थायी प्रकृति—संस्था के रूप मे परिवार स्थायी है, आदि काल से चला आ रहा है किन्तु संघ के रूप मे व्यक्तिगत परिवार सदस्यो की मृत्यु होने पर समाप्त भी होते रहते हैं।

## भारत मे परिवार के प्रकार
## (TYPES OF FAMILY IN INDIA)

मानव समाज के विकास के साथ-साथ परिवार के भी अनेक रूप अस्तित्व मे आये हैं। प्रत्येक स्थान की भौगोलिक, आर्थिक, सांस्कृतिक परिस्थितियो ने भिन्न-भिन्न प्रकार की परिवार व्यवस्था को जन्म दिया है। सदस्यो की संख्या, विवाह का स्वरूप, स्त्री पुरुष की सत्ता, निवास, वंशनाम आदि के आधार पर परिवार का वर्गीकरण किया जाता है। भारत मे पाये जाने वाले विभिन्न प्रकार के परिवारो का वर्गीकरण इस प्रकार से है

1 संख्या के आधार पर— (क) केन्द्रीय परिवार या नाभिक परिवार।
(ख) संयुक्त परिवार।
(ग) विस्तृत परिवार।

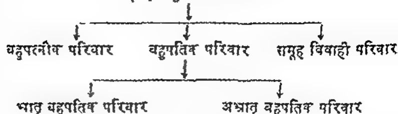
2 निवास के आधार पर— (क) पितृ-स्थानीय परिवार।
(ख) मातृ-स्थानीय परिवार।
(ग) नव-स्थानीय परिवार।
(घ) मातृ पितृ स्थानीय परिवार।
(च) मामा स्थानीय परिवार।
(छ) द्वि-स्थानीय परिवार।

3 अधिकार के आधार पर— (क) पितृ सत्तात्मक परिवार।
(ख) मातृ-सत्तात्मक परिवार।

4 उत्तराधिकार के आधार पर—(क) पितृ मार्गी परिवार।
(ख) मातृ मार्गी परिवार।

5 वंशनाम के आधार पर— (क) पितृ वंशीय परिवार।
(ख) मातृ वंशीय परिवार।
(ग) उभयग्राही परिवार।
(घ) द्वि-नामी परिवार।

6 विवाह के आधार पर— (क) एक विवाही परिवार।
(ख) बहु विवाही परिवार।




7 अन्य रूप— (क) जन्म मूलक परिवार।
(ख) प्रजनन मूलक परिवार।
(ग) समरक्त परिवार।
(घ) विवाह सम्बन्धी परिवार।
(ङ) ग्रामीण परिवार।
(च) नगरीय परिवार।

(I) संख्या के आधार पर परिवार (On the basis of Numbers)

(क) केन्द्रीय परिवार या नाभिक परिवार (Nuclear Family)—इस प्रकार के परिवार आधुनिक औद्योगिक समाजों की प्रमुख विशेषता है। औद्योगीकरण और नगरीकरण के बढ़ने के साथ-साथ इस प्रकार के परिवारों की संख्या बढ़ती ही जा रही है। जहाँ कृषि प्रधान समाजों में संयुक्त परिवार व्यवस्था की प्रधानता पायी जाती रही है, वहीं औद्योगिक समाजों में केन्द्रीय या नाभिक परिवारों की। आज की बदली हुई परिस्थितियों में परिवार की संयुक्तता को बनाये रखना कठिन हो गया है। आधुनिक सभ्यता एवं संस्कृति के प्रसार तथा भौतिकवादी एवं व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के विकास ने एकाकी परिवारों को बढ़ाने में विशेष योग दिया है। आज व्यक्ति नाते रिश्तेदारों की दृष्टि से विशेष न सोचकर अपनी पत्नी तथा बच्चों के दृष्टिकोण से ही सोचता है। यही कारण है कि संयुक्त परिवार में रहने वाले बहुत से लोग भी आज एकाकी या नाभिक परिवार स्थापित करने की दृष्टि से सोचते हैं।

केन्द्रीय या नाभिक परिवार परिवार का सबसे छोटा रूप है जो एक पुरुष, स्त्री तथा उनके आश्रित बच्चों से मिलकर बना होता है। इस प्रकार के परिवार में अन्य रिश्तेदारों को सम्मिलित नहीं किया जाता। इसमें बच्चे भी अविवाहित रहने तक ही रहते हैं। विवाह के बाद वे अपना स्वयं का नाभिक परिवार बना लेते हैं। इस प्रकार की परिवार व्यवस्था अनेक जनजातियों में भी देखने को मिलती है। ऐसे परिवार के सदस्य भावात्मक आधार पर एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से जुड़े होते हैं। ऐसे परिवारों का आकार बहुत ही सीमित होता है और इनका बच्चों के जीवन पर काफी रचनात्मक प्रभाव पड़ता है। आज अधिकांश देशों में परिवार में परिवर्तन की प्रवृत्ति संयुक्तता से नाभिकता की ओर है। भारत में हुए विभिन्न अध्ययन भी इसी बात की पुष्टि करते हैं।

(ख) संयुक्त परिवार (Joint Family)—एक संयुक्त परिवार मे तीन या तीन से अधिक पीढियो के सदस्य साथ-साथ एक ही घर मे निवास करते है, उनकी सम्पत्ति सामूहिक होती है, व एक ही रसोई मे बना भोजन करते ह, सामूहिक पूजा मे भाग लेते ह, और परस्पर किसी न किसी नातेदारी व्यवस्था से सम्बन्धित होते हैं। संयुक्त परिवार के सदस्य परस्पर अधिकारो व दायित्वो को निभाते ह। दुबे कहते है, "यदि कई मूल परिवार एक साथ रहते हो और उनमे निकट का नाता हो, एक स्थान पर भोजन करते हो और एक आर्थिक इकाई के रूप मे काय करते हो तो उन्हे उनके सम्मिलित रूप मे संयुक्त परिवार कहा जा सकता है।'[1] एक संयुक्त परिवार मे दादा दादी, माता पिता, चाचा चाची, चचेरे भाई एव उनकी पत्निया व बच्चे, विधवा बहिनें एव बेटियाँ होती ह। हिन्दुओ म और प्रमुखतया ग्रामो म संयुक्त परिवार का प्रचलन अधिक है। श्री जे० डी० मेन ने अपनी पुस्तक 'हिन्दू ला एण्ड कस्टम' (Hindu Law and Custom) मे मालाबार के नायरो म प्रचलित संयुक्त परिवार जिसे 'थारवाड' कहते है को इस व्यवस्था का एक पूर्णतम उदाहरण माना है।

**नाभिक (एकल) एव संयुक्त परिवार की तुलना (Comparison between Nuclear and Joint Family)**

(i) नाभिक परिवार मे केवल पति-पत्नी एव अविवाहित बच्चो के ही होने के कारण परिवार का आकार छोटा एव सीमित होता है जबकि संयुक्त परिवार म तीन या तीन से अधिक पीढिया के सदस्य होने से इसका आकार बड़ा होता है।

(ii) नाभिक परिवार मे साधारणत सदस्यो पर पारिवारिक नियन्त्रण कठोर नहीं होता जबकि संयुक्त परिवार म परिवार के मुखिया अथवा कर्ता का कठोर नियन्त्रण होता है। कर्ता के कठोर नियन्त्रण के कारण ही सदस्य साधारणत व्यवहार के स्वीकृत प्रतिमानो के विपरीत आचरण नही कर पाते, किन्तु कभी-कभी कर्ता की स्वेच्छाचारिता के कारण संयुक्त परिवार म तनाव की स्थिति भी पैदा हो जाती है।

(iii) नाभिक परिवार मे बच्चो के व्यक्तित्व के समुचित विकास के अधिक अवसर होते हैं। इसका कारण यह है कि ऐसे परिवार म माता पिता और सन्तानो के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध पाये जाते ह और माता पिता अपने साधनो के अनुरूप बच्चो की शिक्षा दीक्षा की पूर्ण व्यवस्था करते हैं जबकि संयुक्त परिवार मे सभी सदस्यो के साथ सिद्धान्त रूप मे समान व्यवहार किये जाने के कारण प्रतिभाशाली बालकों के व्यक्तित्व के विकास पर इतना ध्यान नहीं दिया जाता जितना दिया जाना चाहिए।

(iv) डॉ० एम० एस० गोरे ने अपने परिवार सम्बन्धी अध्ययन मे नाभिक एव संयुक्त परिवार मे भेद का एक नवीन आधार अपनाया है। उनके अनुसार

1 डा० श्यामाचरण दुबे, मानव और संस्कृति, 1969 पृष्ठ 113।

एकाकी परिवार मे पति एव पत्नी के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध पाये जाते हैं जबकि संयुक्त परिवार मे माँ एव बच्चों के सम्बन्धों मे घनिष्ठता होती है।

(v) नाभिक परिवार मे महत्वपूर्ण निर्णयों मे पत्नी एव बच्चो को भी सम्मिलित किया जाता है। इस दृष्टि से ऐसे परिवारो मे पत्नी एव बच्चो का अधिक महत्व होता है जबकि संयुक्त परिवार में सभी निर्णय स्वयं कर्त्ता के द्वारा ही लिये जाते हैं, अधिक से अधिक पुरुष सदस्यो की राय जान ली जाती है, निर्णयो मे स्त्रिया एव बच्चो का सम्मिलित नही किया जाता है।

(vi) नाभिक परिवार आधुनिक औद्योगिक एव नगरीय समाजों मे अधिक पाये जाते हैं, जबकि संयुक्त परिवार कृषि प्रधान एव ग्रामीण समाजो मे।

संयुक्त एव नाभिक परिवार मे उपर्युक्त भेद होते हुए भी एक प्रकार के परिवार से दूसरे प्रकार के परिवार मे परिवर्तन की प्रक्रिया समाज मे चलती हो रहती है। संयुक्त परिवार टूट कर अनेक नाभिक परिवारो मे बदल जाते हैं और नाभिक परिवारो मे जब विवाह के बाद भी लडके अपने माता पिता के परिवार मे ही बने रहते हैं तो ऐसे परिवार संयुक्त परिवार का रूप ग्रहण कर लेते हैं।

(ग) विस्तृत परिवार (Extended Family)—इस प्रकार के परिवार में सभी रक्त सम्बन्धी एव कुछ अन्य सम्बन्धी भी सम्मिलित होते है। ये एकपक्षीय (मातृ पक्ष या पितृ पक्ष) या द्वि-पक्षीय भी हो सकते हैं। ऐसे परिवारो म सम्बन्ध व रिश्तेदारी का भी ठीक ठीक ज्ञान नही हो पाता। ऐसे परिवारो के सदस्यो की संख्या बहुत अधिक होती है। इन सभी सदस्यो का निवास स्थान और आय एक ही होता है और वे परिवार के मुखिया को सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। दुबे के अनुसार विस्तारित परिवार की संज्ञा उस परिवार समूह को दी जाती है जो वशानुक्रम से सम्बद्ध होते हुए भी अपनी भिन्न भिन्न इकाइयो के रूप मे परिवारो मे बँटा हुआ हो।[1]

(II) निवास के आधार पर (On the basis of Residence)

विवाह के बाद दम्पत्ति का निवास स्थान कहाँ हो, इस आधार पर भी परिवारो का वर्गीकरण किया गया है जो इस प्रकार स है

(क) पितृ स्थानीय (Patrilocal) परिवार—यदि विवाह के बाद पत्नी अपने पति एव पति के माता पिता के साथ रहने लगती हो तो उसे हम पितृ स्थानीय परिवार कहते हैं। हिन्दुओ मे, मुसलमानो मे एव भील खडिया तथा कई पितृ वशीय परिवारो मे यह प्रथा पायी जाती है।

(ख) मातृ-स्थानीय (Matrilocal) परिवार—इसके विपरीत जब विवाहोपरान्त पति पत्नी के साथ पत्नी के माता पिता के निवास स्थान पर रहने लगता है तो

---
[1] डॉ० दुबे, पूर्व उद्धृत।

उसे मातृ स्थानीय परिवार कहते ह । इस प्रकार के परिवार भारत में मालाबार के नायरो, खासी व गारा जनजातियो मे देखने को मिलते है ।

(ग) नवस्थानीय (Neolocal) परिवार—परिवार म पति-पत्नी विवाह के बाद न तो पति पक्ष के लोगो के साथ और न पत्नी पक्ष के लोगो के साथ ही रहते है वरन् अपना अलग नया घर बना कर रहते है, उसे नव स्थानीय परिवार कहते है ।

(घ) मातृ पितृ स्थानीय (Biolocal) परिवार—कई समाजा मे नवविवाहित दम्पति पति या पत्नी मे से किसी एक के भी साथ रहने का बाध्य नही होत वरन् दोनो मे स किसी के भी साथ रहते ह । ऐसे परिवार को मातृ पितृ स्थानीय परिवार कहत है ।

(च) मामा-स्थानीय (Avanculocal) परिवार—जिसमे नवविवाहित दम्पत्ति पति की मा के भाई अर्थात मामा के परिवार मे जाकर रहने लगते हैं । ट्रोब्रियाण्डा द्वीपवासिया मे यह प्रथा प्रचलित ह कि विवाह के बाद भानजा अपनी पत्नी सहित मामा के यहाँ रहने चला जाता है । भारत मे मातृवशीय परिवारा मे कभी इस प्रकार क परिवार का प्रचलन था ।

(छ) द्वि स्थानीय (Dualocal) परिवार—कुछ स्थानो पर ऐसे भी परिवार ह जहाँ विवाह के बाद पति पत्नी अपने अपने जन्म के परिवारो मे ही रहते है । लक्ष द्वीप केरल और अशाटी जनजाति मे इस प्रकार के परिवार पाये जाते है । पति रात्रि का अपनी पत्नी के घर जाता है परन्तु दिन वह अपने जन्म के परिवार म ही व्यतीत करता है ।

### (III) अधिकार के आधार पर (On the basis of Authority)

परिवार मे माता पिता म से किस की सत्ता चलती है या किस अधिक अधिकार प्राप्त है, इस आधार पर परिवारो को दो भागो म बाँटा गया है

(क) पितृ सत्तात्मक (Patriarchal) परिवार—ऐसे परिवारों म सत्ता एव अधिकार पिता व पुरुषा के हाथ मे हाते ह, वे ही परिवार का नियन्त्रण करत ह ।

(ख) मातृ सत्तात्मक (Matriarchal) परिवार—ऐसे परिवारो म पितृ सत्तात्मक के विपरीत माता म या स्त्री मे ही अधिकार तथा सत्ता निहित हाती है वही पारिवारिक नियन्त्रण बनाये रखन का काय करती है । कभी-कभी काई पुरुष भी उसकी तरफ से यह काय कर सकता है । कही पर स्त्रियों को य अधिकार वास्तविक है ता कही नाममात्र के । भारत म नायर, खासी, गारो आदि के लोगो मे इस प्रकार के परिवार पाये जात है ।

### (IV) उत्तराधिकार के आधार पर (On the basis of Succession)

अधिकार की तरह एक ही परिवार म सन्तानो का पद आदि दिये जाने का क्रम भी पितृ पक्ष के पुत्रो को या मातृ पक्ष की लडकियो को दिया जा सकता है । इस आधार पर भी परिवार दो प्रकार के पाये जाते है

एकाकी परिवार मे पति एव पत्नी के बीच घनिष्ठ सम्ब ध पाये जाते हैं जबकि सयुक्त परिवार मे माँ एव बच्चो के सम्ब धों मे घनिष्ठता होती है।

(v) नाभिक परिवार मे महत्वपूण निणयो मे पत्नी एव बच्चो को भी सम्मिलित किया जाता है। इस दष्टि से ऐसे परिवारो म पत्नी एव बच्चो का अधिक महत्व हाता है जबकि सयुक्त परिवार मे सभी निणय स्वय कर्त्ता के द्वारा ही लिये जाते हैं, अधिक से अधिक पुरुष सदस्यो की राय जान ली जाती है निणयो मे स्त्रिया एव बच्चा को मम्मिलित नही किया जाता है।

(vi) नाभिक परिवार आधुनिक औद्योगिक एव नगरीय समाजो मे अधिक पाये जाते हैं, जबकि सयुक्त परिवार कृषि प्रधान एव ग्रामीण समाजो मे।

सयुक्त एव नाभिक परिवार मे उपयुक्त भेद होते हुए भी एक प्रकार के परिवार से दूसरे प्रकार के परिवार मे परिवतन की प्रक्रिया समाज मे चलती ही रहती है। सयुक्त परिवार टूट कर अनेक नाभिक परिवारो मे बदल जाते हैं और नाभिक परिवारा मे जब विवाह के बाद भी लडके अपने माता पिता के परिवार म ही बने रहते हैं तो ऐसे परिवार सयुक्त परिवार का रूप ग्रहण कर लेते हैं।

(ग) विस्तृत परिवार (Extended Family)—इस प्रकार के परिवार मे सभी रक्त सम्ब धी एव कुछ अ य सम्ब धी भी सम्मिलित होते हैं। ये एकपक्षीय (मातृ पक्ष या पितृ पक्ष) या द्वि पक्षीय भी हो सकते है। ऐसे परिवारा मे सम्ब ध व रिश्तेदारी का भी ठीक ठीक ज्ञान नही हो पाता। ऐसे परिवारो के सदस्यो की सख्या बहुत अधिक होती है। इन सभी सदस्यो का निवास स्थान और काय एक ही होता है और वे परिवार के मुखिया का सम्मान की दष्टि से देखते है। दुबे के अनुसार विस्तारित परिवार की सना उस परिवार सकुल का दी जाती है जा वशानुक्रम से सम्बद्ध होते हुए भी अपनी भिन्न भिन्न इकाइयो के रूप मे परिवारो मे बटा हुआ हा।[1]

(II) निवास के आधार पर (On the basis of Residence)

विवाह के बाद दम्पत्ति का निवास स्थान कहाँ हो, इस आधार पर भी परिवारो का वर्गीकरण किया गया है जा इस प्रकार स है

(क) पितृ-स्थानीय (Petrilocal) परिवार—यदि विवाह के बाद पत्नी अपने पति एव पति के माता पिता के साथ रहने लगती हा तो उस हम पितृ स्थानीय परिवार कहते है। हि दुआ म मुसलमानो मे एव भील खडिया तथा कई पितृ वशीय परिवारा मे यह प्रथा पायी जाती है।

(ख) मातृ-स्थानीय (Matrilocal) परिवार—इसके विपरीत जब विवाहोपरान्त पति पत्नी के साथ पत्नी के माता पिता के निवास-स्थान पर रहन लगता है तो

---

1 डा० दुबे, पूव उद्ध त।

उसे मातृ-स्थानीय परिवार कहते हैं। इस प्रकार के परिवार भारत में मालाबार के नायरों, खासी व गारो जनजातियों में देखने को मिलते हैं।

(ग) नवस्थानीय (Neolocal) परिवार—परिवार में पति-पत्नी विवाह के बाद न तो पति पक्ष के लोगों के साथ और न पत्नी पक्ष के लोगों के साथ ही रहते हैं वरन् अपना अलग नया घर बना कर रहते हैं उसे नव-स्थानीय परिवार कहते हैं।

(घ) मातृ पितृ स्थानीय (Biolocal) परिवार—कई समाजों में नवविवाहित दम्पत्ति पति या पत्नी में से किसी एक के भी साथ रहने को बाध्य नहीं होते वरन् दोनों में से किसी के भी साथ रहते हैं। ऐसे परिवार को मातृ पितृ स्थानीय परिवार कहते हैं।

(च) मामा-स्थानीय (Avanculocal) परिवार—जिसमें नवविवाहित दम्पति पति की माँ के भाई अर्थात मामा के परिवार में जाकर रहने लगते हैं। ट्रोब्रियण्ड द्वीपवासियों में यह प्रथा प्रचलित है कि विवाह के बाद भानजा अपनी पत्नी सहित मामा के यहाँ रहने चला जाता है। भारत में मातृवंशीय परिवारों में कभी इस प्रकार के परिवार का प्रचलन था।

(छ) द्वि-स्थानीय (Dualocal) परिवार—कुछ स्थानों पर ऐसे भी परिवार हैं जहाँ विवाह के बाद पति पत्नी अपने-अपने जन्म के परिवारों में ही रहते हैं। लक्ष द्वीप, केरल और अशान्टी जनजाति में इस प्रकार के परिवार पाये जाते हैं। पति रात्रि को अपनी पत्नी के घर जाता है परन्तु दिन वह अपने जन्म के परिवार में ही व्यतीत करता है।

(III) अधिकार के आधार पर (On the basis of Authority)

परिवार में माता पिता में से किस की सत्ता चलती है या किसे अधिक अधिकार प्राप्त हैं, इस आधार पर परिवारों को दो भागों में बाँटा गया है

(क) पितृ सत्तात्मक (Patriarchal) परिवार—ऐसे परिवारों में सत्ता एवं अधिकार पिता व पुरुषों के हाथ में होते हैं, वे ही परिवार का नियंत्रण करते हैं।

(ख) मातृ सत्तात्मक (Matriarchal) परिवार—ऐसे परिवारों में पितृ सत्तात्मक के विपरीत माता में या स्त्री में ही अधिकार तथा सत्ता निहित होती है, वही पारिवारिक नियन्त्रण बनाये रखने का कार्य करती है। कभी-कभी कोई पुरुष भी उसकी तरफ से यह कार्य कर सकता है। कहीं पर स्त्रियों को ये अधिकार वास्तविक हैं तो कहीं नाममात्र के। भारत में नायर, खासी, गारो आदि के लोगों में इस प्रकार के परिवार पाये जाते हैं।

(IV) उत्तराधिकार के आधार पर (On the basis of Succession)

अधिकार की तरह एक ही परिवार में सन्तानों को पद आदि दिये जाने का क्रम भी पितृ पक्ष के पुत्रों को या मातृ पक्ष की लड़कियों को दिया जा सकता है। इस आधार पर भी परिवार दो प्रकार के पाये जाते हैं

(क) पितृमार्गी (Patrilateral) परिवार—ऐसे परिवार में उत्तराधिकार के नियम पितृ पक्ष के आधार पर तय किये जाते हैं।

(ख) मातृमार्गी (Matrilateral) परिवार—इसमें उत्तराधिकार के नियम मातृ पक्ष के आधार पर तय किये जाते हैं।

(V) वंशनाम के आधार पर (On the basis of Lineage)

परिवारों का वर्गीकरण वंशनाम के आधार पर भी किया जाता है। वंश नाम के नियम एक व्यक्ति को जन्म से ही किसी विशिष्ट सम्बन्धी समूह से सम्बद्ध करते हैं।

(क) पितृवंशीय परिवार (Patrilineal Family)—ऐसे परिवारों में वंश परम्परा पिता के नाम से चलती है। पुत्रों को पिता का ही वंशनाम प्राप्त होता है। हिन्दुओं में परिवार पितृवंशीय है।

(ख) मातृवंशीय परिवार (Matrilineal Family)—ऐसे परिवार में वंश परम्परा माँ के नाम से चलती है और माँ से पुत्रियों को वंशनाम मिलते हैं। मालाबार के नायरों में यही प्रथा है।

(ग) उभयवाही परिवार—कुछ परिवारों में वंश परिचय वंशानुगत सम्बन्ध पर निर्भर न होकर सभी निकट के सम्बन्धियों पर समान रूप से आधारित होता है। ऐसे समाजों में पैतृक व मातृक दोनों वंशनाम परम्पराएँ साथ साथ चलती हैं। उभयवाही परिवारों में एक व्यक्ति अपने दादा दादी एवं नाना नानी चारों सम्बन्धियों से समान रूप से सम्बद्ध रहता है।

(घ) द्विनामी परिवार—ऐसे परिवारों में एक व्यक्ति एक ही समय में अपने दादा और नानी से सम्बद्ध रहता है। अन्य दो सम्बन्धी (दादी और नाना) छोड़ दिये जाते हैं। यह भी उभयवाही वंश का ही एक रूप है।

(VI) विवाह के आधार पर (On the basis of Marriage)

किसी समाज में प्रचलित विवाह की रीति के आधार पर निम्नि परिवारों को प्रमुखतः दो भागों में बाँट सकते हैं—प्रथम, एक विवाही परिवार एवं द्वितीय, बहु विवाही परिवार। इनके भी उपभाग हैं जिनका उल्लेख यहाँ किया जा रहा है

(क) एक विवाही परिवार (Monogamous Family)—एक विवाही परिवार एक पुरुष व एक स्त्री के सम्मिलन से बनता है। इसमें पति पत्नी एवं उनके अविवाहित बच्चे होते हैं। एक विवाही परिवार में पुरुष को एक समय में विवाह तो एक ही स्त्री से करने दिया जाता है किन्तु पत्नी की मृत्यु के बाद पुरुष व पुरुष की मृत्यु के बाद स्त्री पुनः विवाह कर सकते हैं। इसी प्रकार से तलाक हो जाने के बाद भी स्त्री व पुरुष को पुनः विवाह की स्वीकृति मिल जाती है।

(ख) बहु विवाही परिवार (Polygamous Family)—ऐसे परिवारों में एक समय में एक से अधिक जीवन-साथी स्वीकृत होते हैं। इसके अनेक रूप हैं

(i) बहुपत्नीक परिवार (*Polygynous Family*)—जब एक पुरुष को एक समय में एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करने की स्वीकृति होती है तो उसे बहुपत्नीक परिवार कहते हैं। मुसलमानों में एक पुरुष को चार तक पत्नियाँ रखने की स्वीकृति है। भारत में नागा, बैगा तथा गोंड जनजातियों में बहुपत्नीक परिवार पाये जाते हैं।

(ii) बहुपति विवाही परिवार (Polyandrous Family)—जहाँ एक स्त्री एक समय में एक से अधिक पुरुषों से विवाह करती हो तो उसे बहुपति विवाही परिवार कहते हैं। इसके भी दो रूप हैं—एक वह जिसमें सभी भाई मिलकर एक स्त्री से विवाह करते हैं इसे भ्रातृ बहुपतिक परिवार (Adelphic Polyandrous Family) कहते हैं। द्वितीय, अभ्रातृ बहुपतिक परिवार (Non adelphic Polyandrous Family) जिसमें पति एक दूसरे के भाई न होकर अन्य रिश्तेदार भी हो सकते हैं। इस प्रकार के परिवार जौनसार बावर के खस, नीलगिरी के टोडा एवं मालाबार के नायर लोगों में तथा तिब्बत में पाये जाते हैं।

(iii) समूह विवाही परिवार (Punaluan Family)—जब कई भाई या कई पुरुष मिलकर स्त्रियों के एक समूह से विवाह करें और सब पुरुष सब स्त्रियों के समान रूप से पति हों तो वह समूह विवाही परिवार कहलाता है।

(VII) परिवार के अन्य कुछ स्वरूप (Some other Forms of Family)

(क) जन्म मूलक परिवार (Family of Origin or Orientation)—वह परिवार जिसमें एक व्यक्ति जन्म लेता है, तथा उसका पालन पोषण होता है, जन्म मूलक परिवार कहा जाता है। ऐसे परिवार में व्यक्ति के माता-पिता एवं अविवाहित भाई-बहिन आदि होते हैं।

(ख) प्रजनन मूलक परिवार (Family of Procreation)—ऐसे परिवार का निर्माण व्यक्ति विवाह के बाद स्वयं करता है। इसमें एक पुरुष, उसकी पत्नी एवं उसके अविवाहित बच्चे होते हैं।

(ग) समरक्त परिवार (Consanguine Family)—लिण्टन ने परिवार के दो प्रकार बताये है—समरक्त परिवार एवं विवाह सम्बन्धी परिवार। समरक्त परिवार में सभी सदस्य रक्त से सम्बन्धी होते हैं और कोई भी विवाह सम्बन्धी उसमें नहीं रहता। उदाहरण के लिए, नायर परिवार जो कि मातृ सत्तात्मक है, में पति यदा कदा ही अपनी पत्नी के यहाँ आकर रहता है। अधिकांशतः एक स्त्री के सभी वंशज ही उसमें रहते हैं।

(घ) विवाह सम्बन्धी परिवार (Affinal Family)—ऐसे परिवारों में रक्त सम्बन्धी एवं विवाह सम्बन्धी दोनों ही साथ-साथ रहते हैं, किन्तु मुख्य जोर रक्त सम्बन्ध पर ही दिया जाता है।

(ङ) ग्रामीण परिवार—भारतीय ग्रामों में पाये जाने वाले परिवार संयुक्त

प्रकार के होते हैं, उनकी अर्थ व्यवस्था कृषि पर आधारित है तथा सदस्यों में प्राथमिक सम्बन्धों की प्रधानता पायी जाती है। सजातीयता, परम्परा एवं धर्म की प्रधानता, रूढ़िवादिता, कठोर सामाजिक एवं नैतिक अनुशासन, कर्त्ता की निरंकुशता एवं सहयोग ग्रामीण परिवारों की विशेषताएँ हैं।

(घ) नगरीय परिवार—इस प्रकार के परिवार नाभिक प्रकार के होते हैं जो औद्योगीकरण की देन हैं। लघु आकार, स्वतन्त्रता, समानता और गतिशीलता इस प्रकार के परिवारों की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

## परिवार के प्रकार्य
## (FUNCTIONS OF THE FAMILY)

परिवार समाज की आधारभूत इकाई है। मानव ने अनेकानेक आविष्कार किये हैं किन्तु कोई भी ऐसी व्यवस्था नहीं कर पाया है कि वह परिवार का स्थान ले सके। इसका मूल कारण यह है कि परिवार द्वारा किये जाने वाले प्रकार्य अन्य समूह एवं संस्थाएँ करने में असमर्थ हैं। हम यहाँ परिवार के कार्यों का संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

(I) प्राणीशास्त्रीय कार्य (Biological Functions)

परिवार के प्राणीशास्त्रीय कार्य निम्नांकित हैं

(अ) यौन इच्छाओं की पूर्ति (Sexual Satisfaction)—मानव की आधारभूत आवश्यकताओं में यौन सन्तुष्टि भी महत्वपूर्ण है। परिवार ही वह समूह है जहाँ मानव समाज द्वारा स्वीकृत विधि से व्यक्ति अपनी यौन इच्छा की पूर्ति करता है। कोई भी समाज यौन सम्बन्ध स्थापित करने की नियमहीन एवं निर्बाध स्वतन्त्रता नहीं दे सकता क्योंकि यौन सम्बन्धों के परिणामस्वरूप सन्तानोत्पत्ति होती है, नातेदारी व्यवस्था जन्म लेती है तथा पदाधिकार एवं उत्तराधिकार, वंशनाम आदि की व्यवस्थाएँ भी इससे जुड़ी रहती हैं।

(ब) सन्तानोत्पत्ति (Reproduction)—यौन सन्तुष्टि एक दैहिक क्रिया के रूप में ही समाप्त नहीं होती वरन् इसका परिणाम सन्तानोत्पत्ति के रूप में भी होता है। मानव समाज की निरन्तरता बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि मृत्यु को प्राप्त होने वाले सदस्यों का स्थान नवीन सदस्यों द्वारा भरा जाये। परिवार ही समाज के इस महत्वपूर्ण कार्य को निभाता है। परिवार के बाहर भी सन्तानोत्पत्ति हो सकती है किन्तु कोई भी समाज अवैध सन्तानों को स्वीकार नहीं करता। वैध सन्तानों को ही पदाधिकार (Succession) एवं उत्तराधिकार (Inheritance) प्राप्त होता है।

(स) प्रजाति की निरन्तरता (Race perpetuation)—परिवार ने ही मानव जाति को अमर बनाया है। यही मृत्यु और अमरत्व का संगम-स्थल है। नयी पीढ़ी को जन्म देकर परिवार ने मानव की स्थिरता एवं निरन्तरता को बनाये रखा है।

गुडे लिखत है "यदि परिवार मानव की प्राणीशास्त्रीय आवश्यकताओ के लिए पर्याप्त व्यवस्था न कर तो समाज समाप्त हो जायगा।'

(II) शारीरिक काय (Physical Functions)

परिवार के शारीरिक काय निम्नांकित है

(अ) शारीरिक रक्षा (Bodily Care)—परिवार अपन सदस्या का शारीरिक सरक्षण प्रदान करता है, वृद्धावस्था, बीमारी, दुर्घटना, असहाय अवस्था, अपाहिज होने आदि की अवस्था मे परिवार ही अपने सदस्यो की देख रेख एव सेवा करता है। गभवती माता एव नवजात शिशु की शारीरिक रक्षा का भार भी परिवार पर ही हाता है।

(ब) बच्चो का पालन-पोषण (Nurture of Children)—मानव ही एक एसा प्राणी है कि उसका शैशव काल अन्य प्राणियो की तुलना म लम्बा हाता है। इस अवधि मे उसका लालन पालन परिवार द्वारा ही किया जाता है। वतमान समय मे शिशुओ के लालन पालन क लिए अनक सगठना का निर्माण किया गया है किन्तु जा भावात्मक पर्यावरण बच्चों क विकास के लिग आवश्यक है, वह केवल परिवार ही प्रदान कर सकता है।

(स) भोजन का प्रबन्ध (Provision for Food)—परिवार अपने सदस्या क शारीरिक अस्तित्व के लिए भोजन व्यवस्था करता है। आदिकाल स ही अपने सदस्या के लिए भाजन जुटाना परिवार का प्रमुख कार्य रहा है। आदिम समाजो म जहाँ भोजन जुटाना एक सामूहिक क्रिया है वहाँ तो परिवार का यह मुख्य काय है। मानव के जीवित रहन के लिए भाजन आवश्यक है और जीवित रहकर ही मानव सभ्यता एव सस्कृति का निर्माण करने मे समथ हो पाता है।

(द) निवास एव वस्त्र की व्यवस्था (Provision for shelter and clothes)—परिवार अपने सदस्यो के लिए निवास की भी व्यवस्था करता है। घर ही वह स्थान है जहाँ जाकर मानव को पूण शान्ति प्राप्त होती है। सर्दी-गर्मी एव वर्षा से रक्षा के लिए परिवार ही अपने सदस्यो का वस्त्र एव शरण-स्थान प्रदान करता है।

(III) आर्थिक काय (Economic Functions)

परिवार द्वारा किय जाने वाल आर्थिक काय इस प्रकार हैं

(अ) उत्तराधिकार का निर्धारण (Inheritance Detemination)—प्रत्यक समाज मे सम्पत्ति एव पदो के पुरानी पीढी द्वारा नयी पीढी को हस्तान्तरण की व्यवस्था पायी जाती है और यह काय परिवार का ही करना हाता है। वशगत सम्पत्ति के हस्तान्तरण के प्रत्यक समाज के अपने नियम है। पितृ सत्तात्मक परिवार म उत्तराधिकार पिता से पुत्र को प्राप्त होता है जबकि मातृ सत्तात्मक परिवार म माता से पुत्री या मामा से भानजे को।

(ब) उत्पादक इकाई (Productive Unit)—परिवार उपभोग एवं उत्पादन करने वाली इकाई है। आदिम समाजों में तो अधिकांश उत्पादन का कार्य परिवार के द्वारा ही किया जाता है। मानव समाज की आदिम अवस्थाओं में जैसे शिकार, पशुपालन एवं कृषि अवस्थाओं में परिवार द्वारा ही सम्पूर्ण उत्पादन का कार्य किया जाता था। प्राचीन उद्योगों में भी निर्माण का कार्य परिवार के द्वारा ही होता था। वर्तमान में भी अविकसित और अपूर्ण औद्योगिक अवस्था वाले समाजों में निर्माण का कार्य परिवार के स्त्री पुरुषों एवं बच्चों द्वारा ही किया जाता है। इस प्रकार परिवार उत्पादन की एक सहकारी उत्पादक इकाई (co-opertive productive unit) है।

(स) श्रम विभाजन (Division of Labour)—परिवार में श्रम विभाजन का सबसे सरल रूप देखा जा सकता है जहाँ पुरुष स्त्री एवं बच्चों के बीच कार्य का विभाजन होता है। परिवार में कार्य विभाजन का आधार यौन एवं आयु दोनों हैं। स्त्रियाँ गृह कार्य करती हैं तो पुरुष बाहरी कार्य तथा बच्चे छोटा मोटा काम। शक्ति के कार्य पुरुषों द्वारा किये जाते हैं। परिवार के सदस्यों में श्रम विभाजन आर्थिक सहयोग का प्रमुख कारक है।

(द) आय तथा सम्पत्ति का प्रबन्ध (Management of Income and Property)—परिवार की विशेषताओं के दौरान हम कह चुके हैं कि प्रत्येक परिवार के पास सदस्यों के भरण पोषण के लिए कोई न कोई अर्थ-व्यवस्था अवश्य होती है। इस अर्थ-व्यवस्था के द्वारा ही वह आय प्राप्त करता है। परिवार की गरीबी एवं समृद्धि का पता आय से ही ज्ञात होता है। अपनी आय को परिवार कैसे खर्च करेगा, यह भी परिवार का मुखिया तय करता है। प्रत्येक परिवार के पास जमीन, जेवर, औजार, नकद सोना पशु, दुकान आदि के रूप में चल और अचल सम्पत्ति होती है जिसकी देख रेख और सुरक्षा भी वही करता है।

(IV) धार्मिक कार्य (Religious Functions)

प्रत्येक परिवार किसी न किसी धर्म का अनुयायी भी होता है। सदस्यों को धार्मिक शिक्षा, धार्मिक प्रथाएँ, नैतिकता व्रत त्यौहार आदि का ज्ञान भी परिवार ही कराता है। ईश्वर पूजा एवं आराधना, पूर्वज पूजा आदि कार्यों को एक व्यक्ति परिवार के अन्य सदस्यों से ही सीखता है। पाप पुण्य स्वर्ग नरक, हिंसा अहिंसा की धारणा भी एक व्यक्ति परिवार में ही ग्रहण करता है।

(V) राजनैतिक कार्य (Political Functions)

परिवार राजनैतिक कार्य भी करता है। आदिम और सरल समाजों में जहाँ प्रशासक या जनजाति का मुखिया परिवारों के मुखियाओं से सलाह लेकर कार्य करता है वहां तो परिवार द्वारा महत्वपूर्ण राजनैतिक भूमिका निभाई जाती है। भारत में संयुक्त परिवार में कर्त्ता ही परिवार में प्रशासक होता है, वही परिवार के झगड़ों को निपटाने एवं न्याय करने वाला जज एवं ज्यूरी है। वही परिवार का अन्य परिवारों

से सम्बन्ध तय करता है, वही ग्राम पचायत एव जाति पचायत मे अपने परिवार का प्रतिनिधित्व करता है।

(VI) समाजीकरण का कार्य (Function of Socialization)

परिवार मे ही बच्चे का समाजीकरण प्रारम्भ होता है। समाजीकरण की प्रक्रिया से जैविक प्राणी सामाजिक प्राणी बनता है। वही उसे परिवार और समाज के रीति-रिवाजो, प्रथाओ, रूढियो और सस्कृति का ज्ञान होता है। धीरे-धीरे बच्चा समाज की कार्यकारी इकाई (Functional Unit) बन जाता है। परिवार ही समाज की सस्कृति को पीढी दर पीढी हस्तान्तरित करता है। परिवार म ही ज्ञान का सचय, सरक्षण एव वृद्धि होती है।

(VII) शिक्षात्मक कार्य (Educational Function)

परिवार ही बच्चे की प्रथम पाठशाला है जहाँ उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। परिवार के द्वारा दी गयी शिक्षाएँ जीवन पर्यन्त आत्म सात होती रहती हैं। महापुरुषो की जीवनियाँ इस बात की साक्षी है कि उनके व्यक्तित्व निर्माण मे परिवार की प्रमुख भूमिका रही है। आदिम समय म जब आज की तरह शिक्षण सस्थाएँ नही थी तो परिवार ही शिक्षा की मुख्य सस्था थी। परिवार मे ही बालक दया, स्नेह, प्रेम, सहानुभूति, त्याग, बलिदान, आज्ञा पालन कर्तव्य परायणता का पाठ पढता है।

(VIII) मनोवैज्ञानिक कार्य (Psychological Function)

परिवार अपने सदस्यो को मानसिक सुरक्षा और सन्तोष प्रदान करता है। परिवार के सदस्या मे परस्पर प्रेम, सहानुभूति और सद्भाव पाया जाता है। वही बालक मे आत्म विश्वास पैदा करता है। जिन बच्चो को माता पिता का प्यार एव स्नेह नही मिल पाया, वे अपराधी एव विघटित व्यक्तित्व वाले बन जाते हैं। माता पिता मे से किसी की मृत्यु तलाक, पृथक्करण, घर से अनुपस्थिति आदि के कारण बच्चो का स्नेह एव मानसिक सुरक्षा नही मिल पाने पर उनके व्यक्तित्व का समुचित विकास नही हो पाता है।

(IX) सास्कृतिक कार्य (Cultural Function)

परिवार ही समाज की सस्कृति की रक्षा करता ह तथा नयी पीढियो को सस्कृति का ज्ञान प्रदान करता है। परिवार ही सस्कृति का हस्तान्तरण कर सस्कृति की निरन्तरता एव स्थायित्व बनाय रखता है।

(X) मानव अनुभवो का हस्तान्तरण (Transmission of Human Experiences)

पुरानी पीढी द्वारा सकलित ज्ञान एव अनुभव का सरक्षण एव हस्तान्तरण कर परिवार समाज का अपना अमूल्य योगदान देता है। इसके अभाव मे समाज की हर पीढी का ज्ञान को नये सिरे से खोज करनी पडेगी।

(XI) मनोरजन का कार्य (Function of Recreation)

परिवार अपने सदस्यो के लिए मनोरजन का कार्य भी करता है। छोटे छोटे

बच्चों की प्यारी बोली एवं उनके पारस्परिक झगड़े तथा दाम्पत्य प्रेम परिवार के मनोरंजन के केन्द्र है। परिवार में मनाये जाने वाले त्यौहार, उत्सव, धार्मिक कर्म-काण्ड, विवाह उत्सव, श्राद्ध भोज, भजन कीर्तन आदि भी परिवार में मनोरंजन प्रदान करते है।

## पद निर्धारण
## (PLACEMENT IN THE SOCIETY)

परिवार अपने सदस्यों का समाज में स्थान निर्धारण का कार्य भी करता है। एक व्यक्ति का समाज में क्या स्थान होगा ? यह इस बात पर भी निर्भर है कि उसका जन्म किस परिवार में हुआ है ? राजतन्त्र में राजा का सबसे बड़ा पुत्र ही राजा बनता है। प्रदत्त पदों पर आधारित समाज व्यवस्था में जहाँ जन्म का व्यक्ति के गुणों की तुलना में अधिक महत्त्व होता है, परिवार का व्यक्ति के पद निर्धारण में महत्वपूर्ण योगदान होता है।

## सामाजिक नियन्त्रण
## (SOCIAL CONTROL)

परिवार का मुखिया अपने सदस्यों पर नियन्त्रण रखता है तथा उन्हें गोत्र, जाति एवं समाज की प्रथाओं परम्पराओं रूढ़ियों एवं कानूनों के अनुरूप आचरण करने को प्रेरित करता है। ऐसा न करने पर वह उन्हें ताड़ना देता है डाँट डपट करता है या परिवार से बहिष्कार की धमकी देता है। परिवार का वातावरण ही कुछ ऐसा होता है कि वहाँ हर व्यक्ति अपने कर्तव्य एवं दायित्वों का निर्वाह करता है। वहाँ शक्ति द्वारा नियन्त्रण के अवसर कम ही आते हैं।

परिवार के विभिन्न कार्यों के उल्लेख से स्पष्ट है कि परिवार समाज की महत्वपूर्ण इकाई है। आज अनेक संघ एवं संस्थाएँ परिवार के कार्यों को ग्रहण कर रहे हैं किन्तु फिर भी किसी न किसी रूप में समाज में परिवार का अस्तित्व बना हुआ है और बना रहेगा।

## परिवार का बदलता स्वरूप
## (CHANGING CANVAS OF FAMILY)

परिवर्तन एक सार्वभौमिक तथ्य है। समाज और उसका कोई भी अंग परिवर्तन के प्रभाव से बच नहीं सका है। 18वीं सदी के अन्त में ही यूरोप में और भारत में 19वीं सदी से ही जबकि औद्योगीकरण एवं नगरीकरण में वृद्धि हुई परिवार में अनेक परिवर्तन प्रारम्भ हुए। औद्योगीकरण से पूर्व परिवार एक उत्पादनशील इकाई था किन्तु औद्योगीकरण होने पर उत्पादन कारखानों में होने लगा, पति पत्नि और बच्चे सभी कारखानों में काम पर जाने लगे। इससे बच्चों की उपेक्षा हुई, पिता का परिवार पर नियन्त्रण शिथिल हुआ एवं सदस्यों की स्वतन्त्रता एवं व्यक्तिवादिता में वृद्धि हुई। औद्योगीकरण ने स्त्रियों को आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान की। वे पुरुष की आर्थिक दासता से मुक्त हुई। अब स्त्री घर की चाहरदीवारी से बाहर आयी और घर

अस्त-व्यस्त हुआ। स्त्री पुरुषों म समानता की माँग हुई। राज्य एव उसके कार्यों के विस्तार ने भी परिवार म कई कार्य हथिया लिय। नगरीकरण के कारण लोग गाँव छोड कर शहरों म जान लग। शहरों म एकाकी परिवारो की बहुतायत पायी जाती है तथा वहाँ परिवार म स्त्री पुरुषो को अधिक स्वतन्त्रता एव अधिकार प्राप्त हैं। आधुनिक चिकित्सा एवं औषधि विज्ञान न भी परिवार नियोजन म सहयोग देकर परिवार के आकार को छोटा किया है। पश्चिमी सभ्यता एव संस्कृति, व्यक्तिवादी विचार यातायात के नवीन साधनो एव विभिन्न प्रकार के सघो एव सगठनो क निर्माण ने भी परिवार की संरचना एव प्रकार्यों को प्रभावित किया है और उसम अनेक परिवतन लाने म योग दिया है। परिवार म आने वाले प्रमुख परिवतन इस प्रकार हैं

(1) अब परिवार केवल एक उपभोग की इकाई ही रह गया है निर्माण एव उत्पादक इकाई नहीं।

(2) परिवार का आकार छोटा हो गया है। माता पिता और बच्चो के अतिरिक्त परिवार म अन्य सम्बन्धी साधारणत नहीं रहत। परिवार में बच्चो की सख्या घटी है। अब निरोध गति से बच्चो को जन्म देना उचित नहीं माना जाता।

(3) परिवार के कार्यों म परिवर्तन हुआ है। पहले परिवार उत्पादन एव उपभोग की इकाई था। सारा निर्माण काय परिवार म ही होता था। परिवार म ही व्यक्ति की आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति होती, शिक्षा दीक्षा, लालन पालन, बीमारी एव वृद्धावस्था मे सेवा सुश्रुषा होती थी। किन्तु अब परिवार के इन कार्यों को अन्य संस्थाओ न ग्रहण कर लिया है। लालन-पालन का काय अब नर्सरी म तथा शिक्षा स्कूलो म होती है। अनाथो एव वृद्धो के लिए अनाथालय, पुअर होम एव रैन बसेरो का प्रबन्ध किया गया है। खाने के लिए होटल एव रेस्तरा, वस्त्र धोने के लिए लाउण्ड्री का उपयोग बढ़ा है। चिकित्सा तथा शिशु एव मातृ कल्याण का काय अस्पताल आदि कर रहे हैं।

(4) परिवार के सहयोगी आधार म कमी हुई है। अब परिवार का सदस्य अन्य सदस्यों की तुलना म स्वय के बारे में ही अधिक सोचने लगा है। वह व्यक्ति वादी होता जा रहा है।

(5) पति पत्नी के सम्बन्ध म परिवतन हुआ है। अब पति परमेश्वर की धारणा के स्थान पर मित्रता एव साथी के भाव पनपे हैं। स्त्री अब पुरुष के पाँव की जूती नहीं समझी जाती और न ही पति निरकुश शासक।

(6) विवाह और यौन सम्बन्धों मे परिवतन—अब विवाह एक धार्मिक सस्कार न रह कर समझौता मात्र रह गया है जिसे जब चाहे तोड़ा जा सकता है। अब अन्तर्जातीय विवाह व प्रेमविवाह होने लगे हैं। लडके लडकी का चयन अब माता पिता के स्थान पर स्वय वर वधू करने लगे हैं।

(7) परिवार में पिता के अधिकारों में ह्रास हुआ है और पारिवारिक निर्णयों में परिवार के अन्य सदस्यों की भी सलाह ली जाने लगी है।

(8) स्त्रियों को सम्पत्ति में अधिकार मिला है। इससे पूर्व केवल पुरुष ही परिवार की सम्पत्ति में उत्तराधिकारी थे।

(9) स्त्रियों को गृह-बन्धन से मुक्ति मिली है वे आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से स्वतन्त्र हुई हैं। अब पत्नियों एवं पुत्रियों को पिता व पति से स्वतन्त्र धनोपार्जन की छूट मिली है।

(10) परिवार में विघटन कुछ बढ़ा है। दिनादिन तलाकों में वृद्धि होने लगी है।

(11) नातेदारी का महत्व घटा है और लोग रिश्तेदारों से दूर भागने लगे हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आधुनिक परिवार परिवर्तन के दौर से गुजर रहा है। उसकी संरचना और प्रकार्यों को आधुनिक परिवर्तनकारी शक्तियों ने परिवर्तित किया है फिर भी उसके समाप्त होने की कोई सम्भावना नहीं है।

## प्रश्न

### (उत्तर-संकेत सहित)

1 परिवार को परिभाषित कीजिए तथा इसकी विशेषताओं एवं कार्यों का विवेचन कीजिए।

[संकेत—इसमें परिवार की परिभाषा विशेषताएँ एवं 'परिवार के प्रकार्य' शीर्षक में दिया गया विवरण लिखा जायेगा।]

2 भारत में परिवार के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख कीजिए।

[संकेत—'भारत में परिवार के प्रकार' शीर्षक।]

3 परिवार के कार्यों की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए। (आगरा, 1974)

[संकेत—देखिए परिवार की परिभाषा एवं प्रकार्य।]

4 एकल (नाभिक) परिवार एवं संयुक्त परिवार की तुलना कीजिए। (रुहेलखण्ड, 1979)

[संकेत—इसमें नाभिक एवं संयुक्त परिवार का अर्थ बताकर 'नाभिक एवं संयुक्त परिवार की तुलना' नामक शीर्षक में दिये गये विवरण को लिखना है।]

# 18

## सयुक्त परिवार : प्रकृति, समस्याएँ एव आधुनिक परिवर्तन

## (JOINT FAMILY NATURE, PROBLEMS AND RECENT CHANGES)

भारतीय सामाजिक सरचना की एक विशेषता के रूप मे यहाँ सयुक्त परिवार का प्राचीन काल से ही महत्व रहा है। हिन्दुओ के अलावा अहिन्दू लोगो मे भी सयुक्त प्रकार की पारिवारिक व्यवस्था पायी जाती रही है। सामान्यत सयुक्त परिवार हिन्दुओ का विशिष्ट लक्षण माना जाता है। वास्तव मे यह भारतवर्ष मे सवत्र ही प्रचलित है क्योकि यह हिन्दुओ की भाँति अनेक अहिन्दू समुदायो मे भी पाया जाता है। वह पारिवारिक सगठन जिसका हम यहाँ वर्णन करना चाहते हैं, कुछ समुदायो मे पितृसत्तात्मक है, तथा अन्त मे मातृसत्तात्मक अथवा मातृवशीय है।[1] भारत म परिवार का शास्त्रीय स्वरूप सयुक्त परिवार रहा है। ऐसा हिन्दुओ की कुछ पवित्र पुस्तको मे उल्लेखित है तथा सदियो पुरानी इस भूमि पर यह स्वरूप प्रचलित रहा है।[2] भारतीयो के लिए परिवार का वही अथ है जो अग्रेजी म 'जाइट फैमिली' (Joint Family) से लिया जाता है नाभिक परिवार भारतीय अवधारणा नही है।[3] कर्वे का भी मत है कि 'यहाँ (भारत मे) परिवार का अथ सयुक्त परिवार से ही है।'[4] भारतीय धर्म, दशन, अथ व्यवस्था, जाति प्रथा वण आश्रम व्यवस्था यहाँ के सामाजिक जीवन के महत्वपूण अग हैं। इन सभी म परिवार एक महत्वपूण सस्था है। यह हिन्दू सस्कृति का सचालक सूत्र रहा है। हिन्दुओ म विवाह एव परिवार को धम का अग माना गया है। गृहस्थ आश्रम सभी आश्रमो का मूल कहा गया है। हमारे धम शास्त्रो मे जहाँ एक ओर सयासी जीवन एव ससार त्याग की बात कही गयी है, वही गृहस्थ जीवन की उपयोगिता के भी गुणगान किये गये हैं। वैदिक काल से लेकर अब तक भारत म सयुक्त प्रणाली रही है, चाहे इसके स्वरूप और सरचना मे परिवतन आते रहे हों। इसका उदाहरण है पितृ पूजा। अग्नि पूजा के साथ पितरो का भी आह्वान किया जाता है तथा उनसे रक्षा, धन एव अन्न की याचना की जाती

---

1 के० एम० कापडिया, भारत में विवाह एव परिवार, पृ० 243।

2 David G Mandelbaum *The Family in India The Family Its Function and Destination* ed by Ruth Nanda Anshen

3 I P Desai *Some Aspects of Family in Mahuva* p 32

4 I Karve *Kinship Organi ation in India* p 8

है । पितृ पूजा ने परिवार के सदस्यो को एक सामान्य स्थल पर मिलने का अवसर दिया । वे भूमि एव यज्ञवेदी से जुडे रहते है । वैदिक युग म कृषि ही महत्वपूण व्यवसाय था और इस काय को करने के लिए अधिक व्यक्तियो की आवश्यकता होती थी जिसे परिवार के सयुक्त रूप ने ही निभाया। प्राचीन वैदिक परिवार पित स्थानीय, पित वशीय एव पित सत्तात्मक होते थे । **मैक्स मूलर** ने सयुक्त परिवार को भारत की 'आदि परम्परा' कहा है जो भारतीयो को वर्षो से सामाजिक परम्परा के रूप मे मिलता रहा है । **पाणिक्कर** ने कहा है कि सैद्धान्तिक रूप मे असम्बन्धित होते हुए भी ये दोनो *सस्थाएँ जाति और सयुक्त परिवार व्यावहारिक रूप मे एक दूसरे से इस* प्रकार गुथी हुई हैं कि वे एक सामान्य सस्था हो गयी है । हिन्दू समाज की इकाई व्यक्ति न होकर सयुक्त परिवार है ।[1] **कीथ एव मैकडॉनल** का मत है कि सयुक्त परिवार प्रणाली भारत म अति प्राचीन है । अनेक वैदिक मत्र भी इस बात की पुष्टि करते है । विवाह के समय पुरोहित वर वधू को आशीर्वाद देते हुए कहता है, 'तुम यही इस घर मे रहो, वियुक्त मत होओ अपने घर मे पुत्रो और पौत्रो के साथ खेलते हुए और आनन्द मनाते हुए सारी आयु का उपभोग करो तथा तू सास, ससुर, देवर, ननद पर *शासन करने वाली रानी बन। भारतीय सामाजिक जीवन को समझने* के लिए यहाँ की परिवार व्यवस्था को समझना अत्यन्त आवश्यक है । श्रीमती कर्वे की भी मान्यता है कि यदि हम भारत मे किसी भी सास्कृतिक तथ्य को समझना चाहते ह तो तीन बातो का ज्ञान आवश्यक है। ये है भाषायी क्षेत्र की सरचना, जाति सस्था और पारिवारिक सगठन । इन तीनो कारको मे से प्रत्येक दूसरे दो से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित ह तथा तीनो मिलकर ही भारतीय सस्कृति के अन्य सभी पहलुओं का आधार प्रदान करते ह एव अथपूण बनाते है ।[2]

## सयुक्त परिवार क्या है ?
## (WHAT IS JOINT FAMILY ?)

सयुक्त परिवार प्रथा को कुछ विद्वानो ने कानूनी आधार पर स्पष्ट किया है जबकि कुछ विद्वानो ने सयुक्त परिवार की परिभाषा सरचनात्मक पहलुओ के आधार पर दी है । हम यहाँ दोनो ही दृष्टिकोणो का उल्लेख करेंगे ।

**कानूनी दृष्टिकोण**—मुल्ला[3] के अनुसार "हिन्दू कानून म एक सयुक्त परिवार म वे सब व्यक्ति आते ह जो एक सामान्य पूवज के वशज है, इसम उनकी पत्नियाँ और अविवाहित लडकिया भी आती है । विवाहित लडकियाँ अपने पिता के सयुक्त परिवार की सदस्य नही रहती वरन पति के सयुक्त परिवार की सदस्य बन जाती हैं। हिन्दू सयुक्त परिवार के सदस्य भोजन व पूजा की दृष्टि से भी सयुक्त रहते है और सम्पत्ति की दृष्टि से भी। परन्तु कभी कभी भोजन, पूजा एव सम्पत्ति का संयुक्त होना

---

1 K M Panikkar *Hindu Society at Cross Roads* p 19
2 I Karve *Kinship Organi ation in India* p 1
3 Mulla D F *Principles of Hindu Law* 1960

आवश्यक नहीं है। परिवार की संयुक्तता जन्म से मानी गयी है। संयुक्त सम्पत्ति केवल परिवार की संयुक्तता को सहारा देती है।

कानूनी दृष्टिकोण से संयुक्त परिवार तभी विभाजित माना जायेगा जब सम्पत्ति के हिस्सेदारों के हित भी विभाजित हो गये हों।

**समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण**—इरावती कर्वे के अनुसार, "एक संयुक्त परिवार ऐसे व्यक्तियों का एक समूह है जो सामान्यतः एक ही घर में रहते हैं, जो एक ही रसोई में बना भोजन करते हैं, जो सम्पत्ति के सम्मिलित स्वामी होते हैं व जो सामान्य पूजा में भाग लेते हैं और जो किसी न किसी प्रकार से एक दूसरे के रक्त सम्बन्धी हों।"[1]

कर्वे की इस परिभाषा में संयुक्त परिवार में उन व्यक्तियों को सम्मिलित किया गया है जो परस्पर रक्त से सम्बन्धित हों, जिनकी सम्पत्ति सामूहिक हो तथा जो एक ही सामान्य स्थान पर निवास एवं भोजन करते हों तथा पूजा में भाग लेते हों। कर्वे की यह परिभाषा संयुक्त परिवार के संरचनात्मक पहलुओं को प्रकट करती है।

आई० पी० देसाई के अनुसार, 'हम उस गृह को संयुक्त परिवार कहते हैं जिसमें एकाकी परिवार से अधिक पीढ़ियों (अर्थात् तीन या अधिक) के सदस्य रहते हैं और जिसके सदस्य एक दूसरे से सम्पत्ति, आय और पारस्परिक अधिकारों तथा कर्तव्यों द्वारा सम्बद्ध हों।'[2]

देसाई (Desai) कर्वे की परिभाषा में सहमति प्रकट नहीं करते हैं। उनका मत है कि विभिन्न प्रकार के परिवारों का आधार सामान्य निवास, सामान्य रसोई, घर या समूह के सदस्यों की संख्या नहीं है वरन् एक गृहस्थ के सदस्यों के बीच पाये जाने वाले सम्बन्ध तथा दूसरे गृहस्थ के मध्य पाये जाने वाले सम्बन्ध ही परिवार के प्रकार का निर्धारण करते हैं। वर्तमान बदली हुई परिस्थितियों में संयुक्त परिवार की परम्परात्मक विशेषताएँ जैसे सामूहिक निवास, सामूहिक भोजन तथा पूजन तथा सम्पत्ति संयुक्तता का निर्धारण करने में कम महत्वपूर्ण हो रहे हैं।[3] इसलिए वे संयुक्त परिवार में सदस्यों के पारस्परिक अधिकारों और दायित्वों पर अधिक जोर देते हैं।

बी० आर० अग्रवाल ने संयुक्त परिवार को परिभाषित करते हुए लिखा है, "संयुक्त परिवार के सदस्य परिवार और श्रम, पूंजी के सामूहिक विनियोग, लाभ के सामूहिक उपयोग आदि के लिए परिवार के वयोवृद्ध सदस्य की सत्ता के अधीन होते

1 Dr I Karve *op cit* p 10

2 We call that household a joint family which has greater generation depth (*i e* three or more) than the nuclear family and the members of which are related to one another by property income and the mutual rights and obligations —I P Desai The Joint Family in India an article in *Sociological Bulletin* Vol V No 2 Sept 1956 p 148

3 Desai The Joint Family in India *Sociological Bulletin* Vol V No 2 (Sept 1955) p 105

है तथा जन्म, विवाह और मृत्यु के अवसर पर सामूहिक कोष में से खर्च किया जाता है।"[1]

अग्रवाल संयुक्त परिवार की परिभाषा में सत्ता की अधीनता को अधिक महत्व देते हैं। उनका मत है कि संयुक्त परिवार के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसके सदस्य एक ही निवास-स्थान पर निवास करें और एक ही रसोई में बना भोजन करें। व्यापार की व्यवस्था के लिए एक भाई कलकत्ता ठहर सकता है, पिताजी दिल्ली रह सकते हैं, चाचा का लड़का मद्रास रह सकता है और दादा काम की व्यवस्था के लिए मूल निवास स्थान पर रह सकते हैं। संयुक्त परिवार को बनाने वाला मूल आधार तो सदस्यों के रहने का सामान्य तरीका (common way of living) है।

इनके अतिरिक्त संयुक्त परिवार की कुछ अन्य परिभाषाएँ इस प्रकार हैं

डा० दुबे के अनुसार "यदि कई मूल-परिवार एक साथ रहते हों, और उनमें निकट का नाता हो, एक ही स्थान पर भोजन करते हों और एक आर्थिक इकाई के रूप में काम करते हों, तो उन्हें उनके सम्मिलित रूप में संयुक्त परिवार कहा जा सकता है।"[2] जौली (Jolly) के अनुसार, "न केवल माता-पिता तथा सन्तान, भाई तथा सौतेले भाई सामान्य सम्पत्ति पर रहते हैं, बल्कि कभी कभी इनमें कई पीढ़ियों तक की सन्तानें, पूर्वज तथा समानान्तर सम्बन्धी भी सम्मिलित रहते हैं।"[3] बुलेटिन ऑफ दी क्रिश्चियन इन्स्टीटयूट फॉर दी स्टडी ऑफ सोसाइटी ने लिखा है, "संयुक्त परिवार से हमारा अभिप्राय उस परिवार से है जिसमें कई पीढ़ियों के सदस्य एक दूसरे के प्रति पारस्परिक कर्तव्य परायणता के बन्धन में बँधे रहते हैं।"[4]

संयुक्त परिवार से हमारा तात्पर्य ऐसे परिवार से है जिसमें कई पीढ़ी के लोग एक साथ निवास करते हैं अथवा एक ही पीढ़ी के सभी भाई अपनी पत्नियों, विवाहित बच्चों तथा अन्य सम्बन्धियों के साथ सामूहिक निवास करते हैं जिनकी सम्पत्ति सामूहिक होती है। परिवार के सभी सदस्य भोजन, उत्सव, त्यौहार और पूजन में सामूहिक रूप से भाग लेते हैं और परस्पर अधिकारों और कर्तव्यों से बँधे होते हैं।

## संयुक्त परिवार की प्रमुख विशेषताएँ
## (MAIN FEATURES OF JOINT FAMILY)

संयुक्त परिवार के अर्थ को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम यहाँ उसकी विशेषताओं का उल्लेख करेंगे

**(1) सामान्य निवास (Common Residence)**—संयुक्त परिवार में कई छोटे छोटे परिवार होते हैं और इसके सदस्य एक ही निवास स्थान पर रहते हैं जिसे

1 B R. Agrawal In a Mobile Commercial Community, *Sociological Bulletin*, Vol V No 2 Sept. 1955 pp 141 142.

2 डॉ० दुबे, मानव और संस्कृति, पृ० 113।

3 Jolly *Hindu Law and Custom* p 178

4 *Bulletin of the Christian Institute for the Study of Society* Sept. 1957 p 48.

वे 'बडा घर' कहते हैं। प्रत्येक छोटे परिवार के लिए एक या दो कमरे अलग हो सकते हैं परन्तु रसोई और पूजा आदि के लिए सामान्य कमरा ही होता है। जब कभी सदस्यों की संख्या अधिक हो जाती है तो कोई भी पुत्र अपने बच्चों सहित पैतृक निवास के पास ही अलग घर बना कर रहने लगता है। किन्तु वे अपने को 'बडे घर' के सदस्य से अलग नहीं समझते। पूजा, त्यौहार एव उत्सव आदि के अवसर पर सभी सदस्य पैतृक घर म ही एकत्रित होते हैं। जो सदस्य अर्थोपार्जन के लिए शहर चले जाते हैं वे भी पेंशन होने पर अथवा बीच मे छुट्टियों म लौटने पर अपने गाँव के घर मे ही रहते हैं।

(2) सामान्य रसोईघर (Common Kitchen)—सयुक्त परिवार के सभी सदस्य एक ही रसोईघर मे बना भोजन करते है। कर्त्ता या अन्य बडे पुरुष की पत्नी अन्य स्त्रियाँ की रसोई के कार्यों मे देखभाल करती है। ऐसे परिवार मे भोजन करने की भी कुछ प्रथाएँ होती है जो बच्चों के समाजीकरण मे योग देती है। किस अवसर पर क्या भोजन बनेगा इसका निर्धारण भी परिवार की वयोवृद्ध स्त्री करती है। सबसे पहले बच्चों को भोजन खिलाया जाता है, उनके बाद पुरुष और तब स्त्रियाँ सबसे बाद मे भोजन करती हैं। विवाहित स्त्रियों से यह अपेक्षा की जाती है कि व अपने पति की थाली मे ही भोजन करें।

(3) सामान्य सम्पत्ति (Common Property)—सयुक्त परिवार के सभी सदस्यों की एक सामान्य सम्पत्ति होती है जिसमे सभी पुरुष जो एक पूर्वज के वशज होते हैं, हिस्सेदार होते है। सभी सदस्य कमाकर परिवार के सामान्य कोष मे देते ह तथा विवाह, उत्सव, मृत्यु और जन्म आदि के अवसर पर सामूहिक कोष मे से ही खर्च किया जाता है। परिवार का सबसे बडा पुरुष ही इस अर्थव्यवस्था को सँभालता है।

(4) सामान्य पूजा या धार्मिक कर्तव्य (Common Worship and Religious Duties)—हिन्दुओं म परमेश्वर के अनेक रूप माने गय है। प्रत्येक परिवार का कोई न कोई देवी देवता होता है, पितर होते हैं जो उस परिवार के सदस्यों की रक्षा करते हैं। हिन्दुओं मे धर्म एव महत्वपूर्ण तथ्य है। जीवन की सभी महत्वपूर्ण घटनाएँ धार्मिक कार्यों से ही प्रारम्भ होती हैं। धार्मिक कार्य पैतृक सम्पत्ति मे उत्तराधिकार की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं। मृत व्यक्ति का पिण्ड दान करने वाला श्राद्ध और तर्पण करने वाला ही उसका उत्तराधिकारी होता है। हिन्दुओं मे अग्नि पूजा का भी विशेष महत्व है। वह घर की रक्षा करती है, पुत्र और सम्पत्ति दायिनी है। वेदों मे अग्नि से प्रार्थना की गयी है कि 'हे अग्नि! हमे पुत्रों से फलता फूलता घर दे।' इस प्रकार अग्नि-पूजा और पितर पूजा परिवार को सयुक्त बनाये रखने मे महत्वपूर्ण हैं।

(5) रक्त सम्बन्ध से सम्बन्धित (Related to Kindred)—परिवार के सभी सदस्य परस्पर रक्त सम्बन्धी होते हैं किन्तु पत्नियाँ विवाह सम्बन्धी होती ह।

पितृ सत्तात्मक परिवारो मे सम्बन्धो की गणना पितृ पक्ष स की जाती है तथा मातृ सत्तात्मक परिवार म मातृ पक्ष से एक सयुक्त परिवार मे तीन या अधिक पीढी के लोग सामूहिक रूप से निवास करत है।

(6) बडा आकार (Large Size)—एक सयुक्त परिवार म कई छोटे छोटे परिवार होते ह तथा तीन या अधिक पीढिया मे लोग साथ-साथ रहत ह। अत इसका आकार नाभिक परिवारो से बडा होता है। कभी कभी तो इसके सदस्यो की सख्या 50–60 तक हो जाती है। गाँवो म शहरो की अपेक्षा बडे आकार वाल सयुक्त परिवार देखने को मिलेंगे। एस परिवारो मे पितामह पिता एव पुत्र तथा उनकी पत्नियाँ एव अविवाहित लडकियाँ तथा विधवा और परित्यक्ता बहिनें या बेटियाँ भी होती ह।

(7) अधिकार और दायित्व (Rights and Obligations)—देसाई का मत है कि सयुक्त परिवार के सदस्य परस्पर अधिकार और कर्तव्यो स जुडे होत है। परिवार मे छोटा व्यक्ति बडो के प्रति अपने कर्तव्यो का पालन करता है तो बडा अपने अधिकारो का प्रयोग करता है। बीमारी, वृद्धावस्था और दुर्घटना के अवसर पर सेवा सुश्रुषा की जाती है। जन्म, विवाह एव मृत्यु के अवसर पर एक दूसर का आर्थिक सहयोग प्रदान किया जाता है। जब एक भाई अर्थोपाजन के लिए शहर म निवास करता है तो वह शिक्षा दीक्षा के लिए अपने पास दूसर भाइयो के बच्चो को भी रखता है। इस प्रकार परिवार के सभी सदस्य एक दूसरे के प्रति अपन अधिकारो और दायित्वो का निर्वाह करत है।

(8) सामान्य सामाजिक प्रकार्य (Common Social Function)—कापडिया ने सयुक्त परिवार मे सामान्य सामाजिक कार्यों को महत्वपूर्ण माना है, अर्थात सभी सामाजिक कार्यों के लिए परिवार को एक व्यक्ति माना जाता है और उनका एक प्रतिनिधि ही सारे परिवार की तरफ से भाग लेता है जो अधिकाशत मुखिया होता है चाहे वह जाति पचायत की सभा हो या किसी के यहाँ विवाह, मृत्यु भोज या उत्सव आदि म सम्मिलित होना हो।

(9) परिवार का मुखिया (Head of the Family)—सयुक्त परिवार म कर्ता का मुख्य स्थान है। हिन्दुओ मे वह परिवार का वयोवृद्ध पुरुष होता है। वही विवाह, उत्सव, सम्पत्ति, घर क महत्वपूर्ण एव बाहरी कार्यों का निर्धारण करता है। उसकी आज्ञा का सभी पालन करते है एव वही अनुशासन और एकता बनाय रखता है। उसकी सत्ता निरकुश है पर वह सभी के साथ प्रेम, समानता एव स्नेह का व्यवहार करता है क्योकि इसी आधार पर सयुक्तता बनी रहती है।

(10) सहयोगी व्यवस्था (Co operative System)—सयुक्त परिवार पारस्परिक सहयोग पर निर्भर है। इसके अभाव म सदस्यो का विभाजन हो जाता है। प्रत्येक सदस्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपनी क्षमता के अनुसार काय करे। साथ ही उसे उसकी आवश्यकता के अनुसार परिवार से प्राप्त होता रहता है।

संयुक्त परिवार में 'एक सब के लिए और सब एक के लिए' वाला सिद्धान्त लागू होता है। इस तरह से यह एक समाजवादी व्यवस्था है।

(11) सदस्यों में एक निश्चित संस्तरण (A definite Hierarchy)—संयुक्त परिवार में सदस्यों को विभिन्न पद और अधिकार प्राप्त होते हैं। इन पदों में संस्तरण पाया जाता है। इस संस्तरण में सर्वोच्च स्थान कर्त्ता का होता है और उसके बाद कर्त्ता की पत्नी, फिर क्रमश: कर्त्ता के भाई, कर्त्ता के सबसे बड़े पुत्र, छोटे पुत्र पुत्रियों, पत्नियों आदि का होता है। परिवार में सबसे निम्न स्थान विधवा स्त्रियों का होता है।

(12) तुलनात्मक स्थायित्व (Comparative Permanency)—संयुक्त परिवार अन्य परिवारों की तुलना में अधिक स्थायी होता है क्योंकि इसकी सदस्य संख्या अधिक होती है। अत कुछ सदस्यों के अलग हो जाने तथा मर जाने पर भी परिवार में स्थायित्व बना रहता है। सदस्य परस्पर अपने दायित्वों का निर्वाह कर परिवार की स्थिरता को बनाये रखते हैं। ऐसे परिवार में आर्थिक सहयोग होने के कारण भी स्थिरता बनी रहती है। साथ ही पीढ़ी दर पीढ़ी पारिवारिक संस्कृति का हस्तान्तरण भी होता रहता है। अत संयुक्त परिवार अन्य परिवारों की तुलना में अधिक स्थिर और स्थायी है।

## हिन्दू संयुक्त परिवार के प्रकार
## (TYPES OF HINDU JOINT FAMILY)

भारत में संयुक्त परिवार के अनेक रूप विद्यमान हैं। सत्ता, वंश, स्थान, पीढ़ियों की गहराई व सम्पत्ति में अधिकार आदि की दृष्टि से परिवार के निम्नांकित रूप पाये जाते हैं

**(I) सत्ता, वंश एवं स्थान के आधार पर**

(1) *पितृसत्तात्मक, पितृवंशीय एवं पितृस्थानीय परिवार* (*Patriarchal*, Patrilineal and Patrilocal Family)—उपर्युक्त प्रकार के संयुक्त परिवार में पिता ही परिवार का केन्द्र बिन्दु होता है अर्थात् इस प्रकार के परिवारों में पिता का स्थान प्रमुख होता है तथा वंश परम्परा का चलन उसी के नाम के आधार पर होता है। ऐसे परिवारों में पत्नियाँ अपने पति के घर पर ही आकर निवास करती हैं एवं पुरुष पक्ष के तीन चार पीढ़ियों के सदस्य एक साथ निवास करते हैं। ऐसे परिवारों में सम्पत्ति का हस्तान्तरण पिता द्वारा पुत्र को होता है। भारतवर्ष में हम अधिकतर हिन्दुओं में इसी प्रकार के संयुक्त परिवार देखने को मिलेंगे।

(2) मातृसत्तात्मक, मातृवंशीय एवं मातृस्थानीय परिवार (Matriarchal, Matrilineal and Matrilocal Family)—इस प्रकार के परिवारों में हमें माता का प्रमुख स्थान देखने को मिलता। परिवार की सम्पत्ति पर माँ का स्वामित्व होता है एवं उत्तराधिकार माता से पुत्रियों को ही मिलता है। वंश परम्परा के चलन का आधार भी माता ही होती है अर्थात 'वंश नाम माता से पुत्रियों को हस्तगत होता

है। इस प्रकार के संयुक्त परिवार में हम एक स्त्री, उसके भाई, उसकी बहिनें तथा परिवार की सभी स्त्रियों के बच्चे निवास करते हुए मिलेंगे। नायर, गारो एवं खासी लोगों में इस प्रकार के परिवार पाये जाते हैं। हम यहाँ नायर लोगों में पाये जाने वाले मातृसत्तात्मक परिवार का उल्लेख करेंगे।

नायर परिवार तारवाड—नायर संयुक्त परिवार को मलयालम में तारवाड कहते हैं। एक नायर तारवाड परिवार एक स्त्री, उसके पुत्र एवं पुत्रियों, उसकी पुत्रियों के पुत्र एवं पुत्रियों द्वारा मिलकर बना होता है। इस प्रकार इन परिवारों में एक स्त्री के वंश की कई पीढ़ियाँ निवास करती हैं। पुत्रों की सन्तानें उनकी स्त्रियों के तारवाडों की सदस्य होती हैं तथा माता के साथ निवास करती हैं। तारवाड की सम्पत्ति के सदस्यों को अविभाज्य सम्पत्ति होने के कारण कोई सदस्य बँटवारे की माँग नहीं कर सकता है। परिवार का वयोवृद्ध जो कर्णवान कहलाता है सम्पत्ति का प्रबन्धक होता है। उसकी मृत्योपरान्त ही दूसरा उसका स्थान ग्रहण करता है। सिद्धान्ततः सदस्यों की अनुमति से सम्पत्ति का बँटवारा हो सकता है परन्तु तारवाड के किसी सदस्य के विरोध करने पर यह विभाजन रुक सकता है। इस प्रकार तारवाड की अविभाज्यता बनी रहती है। जब तक सदस्य परिवार में रहता है, तब तक ही वह भरण पोषण का अधिकारी है। परिवार से पृथक होने पर केवल वह दो परिस्थितियों में ही भरण-पोषण की सुविधाएँ प्राप्त कर सकता है (1) कर्णवान की अनुमति प्राप्त हो गयी हो। (2) कर्णवान का व्यवहार अनुचित प्रमाणित हो गया हो।

प्रबन्धक के रूप में कर्णवान स्वेच्छा से न तो सम्पत्ति को गिरवी रख सकता है और न ही बेच सकता है। नियमों का उल्लंघन करने पर उसे पदच्युत किया जा सकता है। परन्तु व्यवहार में कर्णवान इतना शक्ति सम्पन्न होता है कि उसे हम निरंकुश कह सकते हैं।

कपाडिया के अनुसार वर्तमान में नायरों में 'तावझी' अर्थात् एकाकी परिवार (nuclear family) का विकास हो रहा है तथा तारवाड का विघटन हो रहा है। कानून भी इसको प्रोत्साहन प्रदान कर रहा है। नये कानून के अनुसार तारवाड के किसी सदस्य की मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति के स्वामी निकटस्थ वंशज होंगे। इस प्रकार सम्पत्ति में अधिकार प्राप्त होने से तावझी की नींव दृढ़ हो रही है। तावझी के अस्तित्व में आने के पश्चात् सदस्य का सम्पत्ति पर से अधिकार समाप्त होता है परन्तु वंशज सम्बन्ध रहते हैं। इसलिए वे अपने आपको तारवाड का सदस्य मानते हुए तारवाड बहिर्विवाह का पालन करते हैं। किसी सदस्य के मृत्योपरान्त तावझी के सदस्य भी स्वयं को 14 दिन तक अशुद्ध मानते हैं।

(II) पीढ़ियों की गहराई के आधार पर

(अ) संयुक्त परिवार का उदग्र (Vertical) प्रारूप—इस प्रकार के संयुक्त परिवारों में एक ही वंश के कम से कम तीन पीढ़ियों के लोग एक साथ निवास करते

है जैसे दादा, पिता, अविविवाहित पुत्री और पुत्र। डॉ० आई० पी० देसाई ने ऐसे ही परिवार को सयुक्त परिवार माना है।

(ब) सयुक्त परिवार का क्षतिज (Horizontel) प्रारूप—इस प्रकार के परिवारो मे भाई का सम्बन्ध अधिक महत्वपूर्ण है अर्थात ऐसे परिवारो मे दो से अधिक भाइयो के एकाकी परिवार एक साथ निवास करते हैं।

(स) सयुक्त परिवार का मिश्रित (Mixed) प्रारूप—सयुक्त परिवार का एक रूप उपर्युक्त दोनो प्रकार के परिवार का मिश्रित रूप है जिसमे दो या तीन पीढियो के सभी भाई सम्मिलित रूप से निवास करते हैं।

(III) सम्पत्ति मे अधिकार की दृष्टि से

सम्पत्ति म अधिकार की दृष्टि से हिन्दू सयुक्त परिवार को मिताक्षरा एव दायभाग दो भागो मे बाँट सकते है

(i) मिताक्षरा सयुक्त परिवार विज्ञानेश्वर द्वारा लिखित 'मिताक्षरा टीका' के नियमो पर आधारित है। बगाल और आसाम को छोडकर सम्पूर्ण भारत मे मिताक्षरा सयुक्त परिवार पाये जाते हैं। इस प्रकार के परिवारो की मुख्य विशेषताएँ है—(क) पुत्र का जन्म से ही पिता की सम्पत्ति मे अधिकार प्राप्त हो जाता है। (ख) स्त्रियो को सम्पत्ति मे कोई अधिकार नही होता है। (ग) एक व्यक्ति की मृत्यु होने पर यदि उसके कोई पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र नहीं है तो उसकी सम्पत्ति उसके भाई आपस मे बाँट लेंगे। स्त्री को स्त्री धन के अतिरिक्त कोई सम्पत्ति नही दी जायगी। (घ) पुत्र पिता के जीवित रहते हुए भी कभी भी अपने हिस्से की माँग कर सकते हैं। (च) सम्पत्ति पर पिता का सीमित अधिकार है वह विशेष ऋणो एव धार्मिक कार्यों के लिए सयुक्त सम्पत्ति को बेच सकता है किन्तु दूसरे साझीदार अपने अन्य साझीदारो को पूछे बिना सम्पत्ति को स्वेच्छा से विनियोग नही कर सकते।

(ii) दायभाग सयुक्त परिवार के नियम जीमूतवाहन द्वारा लिखित दायभाग ग्रन्थ पर आधारित हैं। इस प्रकार के परिवार बगाल एव आसाम म पाये जाते हैं। इनकी मुख्य विशेषताएँ हैं—(क) पिता के मरने के बाद ही पुत्र का सम्पत्ति पर अधिकार होता है। (ख) पिता के जीवित रहते पुत्र सम्पत्ति के बँटवारे की माँग नही कर सकता। (ग) पिता सम्पत्ति का निरकुश अधिकारी होता है। वह अपनी सम्पत्ति को मनमाने ढग से खर्च कर सकता है। पुत्रो का उसमे भरण पोषण के अतिरिक्त कोई अधिकार नही होता है। (घ) पिता के मरने पर पुत्र न होने पर उसकी सम्पत्ति उसकी पत्नी को मिलती है। (च) इसमे पुरुष के साथ साथ स्त्रिया भी सम्पत्ति मे उत्तराधिकारिणी होती है।

इस प्रकार सम्पत्ति की दृष्टि से इन दो प्रकार के परिवारो मे अन्तर है। मिताक्षरा म पुत्र का जन्म से ही सम्पत्ति पर अधिकार होता है जबकि दायभाग मे पिता के मरने पर, मिताक्षरा मे स्त्रियो को सम्पत्ति मे अधिकार नही होता है जबकि दायभाग मे होता है। मिताक्षरा मे पिता के सम्पत्ति मे सीमित अधिकार हैं जबकि

दायभाग में असीमित। एक लम्बे समय से सम्पत्ति की दृष्टि से हिन्दू संयुक्त परिवार इन दो भागों में बँटा हुआ था। किन्तु सन् 1956 के 'हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम' ने यह भेद समाप्त कर सारे देश में एक सी व्यवस्था लागू कर दी है और स्त्री-पुरुषों को सम्पत्ति में समान अधिकार प्रदान किये हैं।

## पितृसत्तात्मक संयुक्त परिवार की संरचना अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध
## (STRUCTURE OF PATRIARCHAL JOINT FAMILY INTERPERSONAL RELATIONS)

पितृवंशीय हिन्दू संयुक्त परिवार की संरचना में हम विभिन्न सदस्यों की प्रस्थिति और उनके पारस्परिक सम्बन्धों को सम्मिलित करते हैं। हिन्दू संयुक्त परिवार के पितसत्तात्मक रूप की चार संरचनात्मक विशेषताएँ हैं

(i) पुरुषों की प्रस्थिति स्त्रियों की प्रस्थिति से ऊँची है।

(ii) ऊँची प्रस्थिति के पुरुषों की प्रस्थिति नीची पीढ़ियों के व्यक्तियों से ऊँची है।

(iii) एक ही पीढ़ी के विभिन्न व्यक्तियों में अधिक आयु वाले की प्रस्थिति कम आयु वाले व्यक्ति से ऊँची है।

(iv) स्त्रियों की आपसी स्थिति उनके पतियों की प्रस्थिति के अनुरूप होती है।

हम यहाँ पितृसत्तात्मक हिन्दू संयुक्त परिवार की संरचना की विभिन्न इकाइयों, उनकी प्रस्थिति एवं पारस्परिक सम्बन्धों का उल्लेख करेंगे जिससे कि उपर्युक्त चारों सिद्धान्त और अधिक स्पष्ट हो जायेंगे।

(1) कर्ता (*Karta*)—पितृवंशीय संयुक्त परिवार में सबसे बड़े पुरुष की स्थिति सर्वोच्च होती है वही कर्ता कहलाता है। पिता के जीवित होने पर कर्ता का पद पिता और उसके अभाव में बड़ा भाई यह पद ग्रहण करता है। कर्ता परिवार की ओर से परिवार के लिए सारे कार्य करता है। प्राचीन साहित्य में परिवार के मुखिया के लिए कर्ता के स्थान पर कुटुम्बी, गृही, गृहपति तथा प्रभु आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। पिता की मृत्यु होने पर बड़े भाई का यह कर्तव्य होता है कि वह अन्य भाइयों का पुत्रवत पालन करे। परिवार में अन्य सदस्यों की तुलना में कर्ता को अधिक अधिकार प्रदान किये गये हैं। वही संयुक्त परिवार की सम्पत्ति की देख रेख करता है, परिवार की आय व्यय का हिसाब रखता है। साधारणतः अन्य सदस्य उसके कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करते। कानूनी आवश्यकताओं के लिए वह पारिवारिक सम्पत्ति का क्रय कर सकता है या गिरवी रख सकता है। उपनयन, विवाह, श्राद्ध, शिक्षा, धार्मिक कर्तव्यों की पूर्ति तथा पैतृक ऋण को अदा करना उसका कर्तव्य है और इन कार्यों के लिए वह पैतृक सम्पत्ति का उपयोग करने का अधिकारी है। डा० मजूमदार कहते हैं कि, "संयुक्त परिवार के कर्ता को ही परिवार सम्बन्धी निर्णय लेने का अधिकार है। वही सभी कार्यों का मुखिया है, वही परिवार

का जज और ज्यूरी है, वहीं परिवार के झगडो का निपटारा करता है, वह राजनैतिक मुखिया है क्योंकि सामाजिक, धार्मिक और सामुदायिक कार्यों मे और स्थानीय गाँव पचायत मे वही परिवार का प्रतिनिधित्व करता है।"[1]

**(2) कर्त्ता की पत्नी (Wife of Karta)**—परिवार मे कर्त्ता की पत्नी का दूसरा स्थान होता है। परिवार की अय स्त्रियो की तुलना म उसका स्थान ऊँचा होता है और उसे अधिक अधिकार प्राप्त होत हैं। कर्त्ता परिवार के बाह्य कार्यों की देख रेख और व्यवस्था करता है तो कर्ता की पत्नी परिवार के आन्तरिक कार्यों की। स्त्रियो स सम्बधित कार्यों का नियन्त्रण और निर्देशन उसी के द्वारा होता है। किस लडकी या बहू को समुराल से कब बुलाना या भेजना है यह वही तय करती है। अय स्त्रियो और कम आयु के पुरुषो की बात वही कर्त्ता तक पहुचाती है। इस प्रकार कर्त्ता एव उसकी पत्नी ही सारे परिवार म नियन्त्रण एव एकता बनाये रखते हैं।

**(3) अय स्त्रियाँ (Other Women)**—पितृसत्तात्मक सयुक्त परिवार म मुखिया के भाइयो व उनके पुत्रो की बहुएँ तथा परिवार की लडकियाँ आती है। स्त्रियो और लडकियो का पारिवारिक सम्पत्ति मे अधिकार नही दिये गये हैं और व पुरुषो पर निभर होती हैं। स्त्रियो का परिवार मे अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त नही है। विधवा स्त्री का भी पारिवारिक सम्पत्ति मे अधिकार नही है। स्त्रियो का काय परिवार के सदस्यो, अपने पति व बच्चो की सेवा करना है। उन्हे भरण-पोषण पान के अलावा कोई अधिकार नही है।

सयुक्त परिवार म लडकिया को भी उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है। उन्ह पराया धन' माना गया है (बेटी तो है धन ही पराया, पास इसे कोई कब रख पाया)। अत एक न एक दिन उसे उसके असली स्वामी को सौंपना होता है। वे परिवार की मानी तो हैं परन्तु उन्ह पुत्रो की तरह सम्पत्ति म हिस्सा नही दिया जाता। यद्यपि नवीन सामाजिक विधानो ने लडकियो एव स्त्रियो को परिवार की सम्पत्ति मे हिस्सा दिया है किन्तु व्यवहार म अब भी स्थिति पूववत ही बनी हुई है।

**(4) अय पुरुष (Other Male Members)**—सयुक्त परिवार के अन्य पुरुष सदस्यो मे कर्त्ता के भाई और परिवार के लडके आते हैं। लडको मे बडे लडके का सर्वोच्च स्थान होता है क्योंकि वही कर्त्ता का उत्तराधिकारी होता है। हिन्दुओ मे पुत्र प्राप्ति को स्वग प्राप्त करने की दष्टि स महत्वपूण माना गया है। वही अपने पूवजो को पिंडदान, तर्पण एव श्राद्ध आदि के द्वारा स्वग पहुचाता है। पुत्र का अथ है पिता को नरक से बचाने वाला। इसलिए ही हिन्दुओ मे पुत्र न होने पर गोद लेने की प्रथा पायी जाती है।

सयुक्त परिवार म कर्त्ता की मृत्यु के बाद उसका स्थान यदि अन्य भाई हैं

1 D N Majumdar *Races and Cultures of India* p 250

तो वे सम्भालत हैं। वडा भाई और भाभी ही कर्त्ता व उसकी पत्नी का स्थान लत है। छाट भाइयो से अपक्षा की जाती है कि वे वडे भाई की आज्ञा का पालन करें। वडे भाई को छाटे भाइया के प्रति पुत्रवत व्यवहार करना चाहिए और उनकी गलतियो का क्षमा करते हुए उनके प्रति उचित व्यवहार करना चाहिए। एसा करने पर ही परिवार मे सुख शान्ति वनी रह सकती है। वडा भाई ही परिवार की परम्पराओ का रक्षक है और परिवार को विघटन से बचाता है।

सयुक्त परिवार की सरचना को और अधिक स्पष्ट समझने के लिए विभिन्न सदस्यो के पारस्परिक कतव्या एव अन्तर्वेयक्तिक सम्बन्धा को भी समझना होगा।

(5) माता पिता एव सन्तान (Parents and Children)—सयुक्त परिवार मे माता पिता का ऊँचा स्थान है। उपनिपदो मे शिक्षा प्राप्त कर जाने वाल छात्र को आचाय माता पिता की देवता की तरह पूजा करने का आदेश देत है। माता पिता बच्चो की रक्षा और पालन पोषण करना अपना कतव्य मानत हैं। 'पितृ' शब्द का अथ 'सरक्षण देना' है। माता-पिता म मे कौन बडा है यह विवाद का विपय नही है। सन्तान को पिता की आज्ञा का पालन करना चाहिए, ऐसा न करना पाप माना गया है। धमशास्त्रा म ऐसे भी उल्लेख हैं जब अनुचित होने पर भी पुत्र ने पिता की आज्ञा का पालन किया। गौतम की आज्ञा का पालन कर उसके पुत्र ने अपनी माँ की हत्या करदी थी। मनुस्मृति मे पिता का प्रजापति की मूर्ति बताया गया ह। पाराशर ने पुत्रो के लिए पिता का परम देवता माना है।

शास्त्रो मे मा का ऊँचा स्थान माना गया है उसे जननी, अम्बा, वीरसू सुश्रू आदि शब्दा स सम्बोधित किया गया है। मनुस्मृति मे माता का स्थान पिता से हजार गुना ऊँचा बताया गया है कुछ आचार्यों ने उसे श्रेष्ठ गुरु कहा है। फिर भी उसे परिवार म कई अधिकारा से वचित किया गया है। प्रभुत्व की दृष्टि से पिता का स्थान सर्वोपरि है। प्रभु कहते ह कि प्रभुत्व प्रदशन और प्रतिष्ठा के कारण ही माता पिता मे बच्चो को दड देने की प्रवृत्ति होती है।

पुत्रो को चाहिए कि वे माता पिता की आज्ञा का पालन करें, बीमारी और वृद्धावस्था आदि के समय उनकी सेवा करें और उनका भरण पोषण करें। माता पिता के आर्शीवाद से ही अभिष्ट उद्देश्यो की पूर्ति सम्भव है उनके अभिशाप से कही मुक्ति नही है। किन्तु वतमान समय मे माता पिता और सन्ताना के सम्बन्धो म परिवतन आया है।

(6) पति पत्नी (Husband and Wife)—हिन्दुओ मे विवाह एक स्थायी बन्धन माना गया है और मनुस्मृति म पति पत्नी को पारस्परिक निष्ठा बनाय रखने की बात कही गयी ह। जहाँ तक हा सके इन दोनो को पारस्परिक सघर्ष को टालना चाहिए। पति का पत्नी पर स्वामी के से अधिकार प्राप्त है। चरित्रहीन और दुर्व्यसनी होने पर भी पत्नी को चाहिए कि वह अपने पति की पूजा करे। पति ही उसके लिए परमेश्वर और धम का केन्द्र है। पत्नी पति के लिए धार्मिक कार्यों की सहचरी होन

से वह धमपत्नी और अर्धांगिनी मानी गयी है। पति से पत्नी के प्रति प्रेम, दया एव सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करने की अपेक्षा की गयी है। पति का 'भ्रातृ' या भर्ता' कहा गया है जिसका अथ है पत्नी का भरण पोषण करने वाला। पत्नी की रक्षा से ही बच्चो की रक्षा होती है और वह 'आत्म' की भी रक्षा करता है। पत्नी ही धम, अथ और काम का स्रोत है। पत्नी का सदैव हसमुख, मितव्ययी, गृह काय मे दक्ष और घर को सजाने वाली होना चाहिए। पत्नी का वास्तविक स्थान पति के चरणो मे ही है।

किन्तु वास्तव म पत्नी का एक दासी से अधिक नही समझा जाता जिसका काय बच्चे पैदा करना और उनका पालन पोषण करना है। शिक्षा प्राप्त करन एव नवीन विधानो के कारण स्त्री की प्रतिष्ठा मे वद्धि हुई है और पति पत्नी के अधिकारो म समानता आने लगी है।

**(7) सास एव बहू**—सयुक्त परिवार मे सास एव बहू के सम्बन्ध भी महत्वपूण हैं। अक्सर इनके व्यवहार का प्रतिमान तनावपूण होता है। चूकि बहू पराये घर स आती है अत सास का उसके प्रति दया एव सहानुभूतिपूण व्यवहार करना चाहिए। बहू को भी सास की आज्ञा का पालन करना चाहिए। किन्तु दोनो मे कई बातो को लेकर तनाव और सघष भी पैदा हो जात हैं, तब सयुक्त परिवार का विघटन हो जाता है।

**(8) देवर भाभी**—इन दोना के पारस्परिक सम्बन्धा मे मधुरता पायी जाती है। भाभी देवर के लिए माँ, बहिन और परामश देन वाली होती है। देवर भी अपनी बात का बडा तक पहुचाने के लिए भाभी का सहारा लेता है। कही कही तो बडे भाई की मृत्यु होन पर देवर भाभी से भी विवाह कर लेता है। देवर शब्द का अथ भी दूसरे वर स ही है। अत दोना के सम्बन्धो मे पर्याप्त स्वतन्त्रता पायी जाती है।

**(9) ननद भाभी**—देवर भाभी के समान ननद भाभी के सम्बन्ध भी रोचक होत ह। भाभी बडे बुजर्गो एव सास तक अपनी बात पहुचान के लिए ननद का ही माध्यम बनाती है और ननद भी अपने दिल की बात भाभी को बता देती है। किन्तु जब दोनो म तनावपूण सम्बन्ध होत हैं तो भाभी को बहुत भुगतना पडता है। ननद भाभी के लिए जासूसी करती है तथा सास व भैया के सम्मुख चुगली करती है। ननद और भाभी के रोचक एव तनावपूण सम्बन्धा को लेकर कई लोकगीत और कहावतें प्रचलित हैं।

### सयुक्त परिवार के कार्य अथवा लाभ
### (FUNCTIONS OR MERITS OF JOINT FAMILY)

सयुक्त परिवार भारतीय समाज की अत्यन्त प्राचीन एव महत्वपूण सस्था है। यह सस्था भारतवष म एक लम्बे समय से चली आ रही है। किसी भी सस्था का एक लम्बे समय से प्रचलन इस बात का द्योतक है कि वह सस्था समाज के लिए उपयोगी है। यह सस्था प्रमुखतया कृषि प्रधान एव ग्रामीण समाजो म तो बहुत ही

उपयोगी रही है। कर्वे इस एक छोटी मोटी दुनिया मानती हैं, जिसमें सदस्यों में पारस्परिक सहयोग रहा है। भारतीय समाज में संयुक्त परिवार महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। संयुक्त परिवार के महत्वपूर्ण कार्य इस प्रकार हैं

(1) शासन सम्बन्धी—भारतीय गाँवों का सामाजिक संगठन जटिल नहीं है। यहाँ पर व्यक्ति की अपेक्षा परिवार को अधिक महत्व दिया जाता है और परिवार का प्रतिनिधित्व परिवार का 'कर्ता' (Head of the family) करता है। एक प्रकार से कर्ता परिवार का शासक है, कर्ता का परिवार पर एकाधिकार होता है। परिवार के समस्त कार्य उसी के द्वारा निर्देशित होते हैं।

(2) धार्मिक कार्य—प्रत्येक परिवार की अपनी कुल देवी या देवता होते हैं, और उनके गुरु अथवा पुरोहित होते हैं। सभी सदस्यों का उनमें अगाध विश्वास होता है। ये यथायोग्य उनकी पूजा उपासना करते हैं। इस प्रकार आध्यात्मवाद को प्रोत्साहन मिलता है। धार्मिक अनुष्ठानों की पूर्ति तथा त्योहारों व धार्मिक उत्सवों को मनाने हेतु सभी सदस्यों का सम्मिलन होता है। एक परिवार ईश्वर के सम्मुख एक इकाई है। प्रत्येक घर में ईश्वर के लिए एक स्थान होता है जो सारे परिवार की रक्षा करता है। ओपलर ने यू० पी० के सेनापुर गाँव में परिवार के द्वारा किये जाने वाले 40 वार्षिक संस्कारों का उल्लेख किया है, जिनमें से 25 परिवार की आवश्यकताओं व उद्देश्यों से सम्बन्धित थे।[1] इस प्रकार धर्म भी हम परिवार से ही प्राप्त होता है।

(3) मार्ग-दर्शन—संयुक्त परिवार में सभी प्रकार के स्त्री पुरुष निवास करते हैं। परिवार में वयोवृद्ध व्यक्तियों का विशेष स्थान होता है क्योंकि उनके जीवन में अनेक उतार चढ़ाव आये होते हैं और वे युवा सदस्यों की अपेक्षा अधिक अनुभवी होते हैं। वे अपने अनुभवों के आधार पर भावी पीढ़ी को निर्देशित करते हैं। विकट परिस्थिति में जब युवा सदस्य अपना धैर्य खो बैठते हैं और निराशा के घोर अंधकार में गोते लगाते हैं तब वे अनुभवी सदस्य ही उनके पथ प्रदर्शक के रूप में कार्य करते हैं।

(4) मनोरंजन—संयुक्त परिवार में सदस्यों की अधिकता के कारण यह मनोरंजन की सस्ती व पर्याप्त स्थली है। सारे समय परिवार में मनोरंजन का वातावरण व चहल पहल बनी रहती है। कर्वे कहती हैं कि संयुक्त परिवार में हर समय कुछ न कुछ होता ही रहता है। कभी किसी लड़के या लड़की की शादी है तो कभी नामकरण संस्कार का उत्सव हो रहा है। कभी नयी दुल्हन से पहली बार भोजन बनवाने की रस्म करवायी जा रही है तो कभी परिवार में व्रत और श्राद्ध हैं तो कभी किसी का जन्म दिन मनाया जा रहा है। ऐसे परिवार में अतिथियों का आवागमन भी बना रहता है। कभी बहू को लेने उसका भाई आया हुआ है तो कभी लड़की को मैके बुलाने के लिए भी जाना पड़ता है। देवर भाभी की हँसी मजाक ननद

1 M K Opler Family Anxiety and Religion in a Community of North India in *Culture and Mental Health* p 273

भौजाई की नोक झोंक, बच्चो की किलकारियाँ, देवरानी, जिठानी के प्रतिस्पर्द्धात्मक झगडे आदि मनोरजन का वातावरण प्रस्तुत करते है।

(5) **बच्चों के लालन-पालन मे योगदान**—सयुक्त परिवार बच्चो के लालन पालन हेतु एक उचित स्थान है। सयुक्त परिवार मे वयोवृद्ध स्त्री पुरुष बच्चो की देखरेख मे सहयोग प्रदान करते है तथा उनके समाजीकरण एव प्रशिक्षण मे योग देते है। सद्गुण, सेवा, त्याग, सहानुभूति, प्रेम, सहयोग और परोपकार आदि भावनाओ को बच्चा परिवार मे ही सीखता है। वर्तमान मे उन परिवारो की जहाँ पति-पत्नी दोनो ही नौकरी करते है और बच्चे नौकरो की देखरेख मे रहते है, की स्थिति अधिक भयानक है क्योकि वहाँ कई बार बच्चो मे सद्गुणो का विकास नही हो पाता।

(6) **धन का उचित उपयोग**—सयुक्त परिवार मे एक सामान्य कोष होता है। सामान्य कोष मे से ही सदस्यो की आवश्यकता के अनुसार चाहे वह कमाता हो अथवा नही धन खर्च किया जाता है। कर्त्ता के नियन्त्रण के द्वारा अनावश्यक खर्चों से बचा जाता है। परिवार मे आय और सम्पत्ति पर किसी सदस्य का विशेषाधिकार नही होता है। इसीलिए सभी सदस्य समान रूप से लाभ के भागीदार होते हैं। वे अपनी क्षमतानुसार आय प्रदान करते है।

(7) **सम्पत्ति के विभाजन से बचाव**—सयुक्त परिवार मे चूंकि सभी सदस्य सम्मिलित रहते हैं, इसलिए वहाँ सम्पत्ति के विभाजन का प्रश्न ही नही उठता है। इस प्रकार सयुक्त सम्पत्ति का उपयोग व्यापार अथवा किसी धन्धे मे करके सम्पत्ति मे और अधिक बढोतरी की जा सकती है। सयुक्त परिवार कृषि के लिए और भी अधिक उपयोगी प्रमाणित हुए हैं क्योकि इन्होने भूमि के विभाजन पर रोक लगाकर उत्पादकता को बढाने मे सहयोग दिया है। सयुक्त सम्पत्ति होने के कारण अनावश्यक खर्चों पर भी रोक लगी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सयुक्त परिवार मे सम्पत्ति की सुरक्षा ही होती है।

(8) **श्रम विभाजन**—इरावती कर्वे के अनुसार विशाल सयुक्त परिवार एक व्यक्ति के पद और उसके आर्थिक क्रिया कलाप को निश्चित कर देता है और उसे सुरक्षा प्रदान करता है। सयुक्त परिवार मे श्रम विभाजन दो आधारो पर किया जाता है, प्रथम यौन के आधार पर एव द्वितीय, आयु के आधार पर। परिवार के पुरुषो पर बाह्य कार्य एव परिवार की स्त्रियो पर आन्तरिक कार्यों की जिम्मेदारी होती है। परिवार के प्रत्येक सदस्य अपनी योग्यता एव क्षमता के अनुसार कोई न कोई कार्य अवश्य ही करते हैं।

(9) **सकट का बीमा**—सुख और दुःख जीवन के दो पहलू हैं जिनके बिना यह जीवन अधूरा सा है। प्रत्येक मनुष्य के जीवन मे सुख के साथ-साथ दुःख भी पाये जाते हैं। ये दुःख किसी भी प्रकार के हो सकते हैं जैसे कोई दुर्घटना बीमारी, शारीरिक अथवा मानसिक अस्वस्थता, नौकरी छूट जाना तथा वैधव्य आदि। इन सभी अवस्थाओ मे सयुक्त परिवार एक सहारे के रूप मे हमारे समक्ष प्रस्तुत होता

है । सयुक्त परिवार अनाथ बच्चो, विधवाओ तथा वृद्ध व्यक्तियो की शरण स्थली है जो अपने सदस्या को यथासम्भव आर्थिक सुरक्षा प्रदान कर चिन्ता से मुक्ति दिलाता है । इस प्रकार सयुक्त परिवार अपने सदस्यो के लिए एक सकटकालीन बीमा है । इसीलिए अनन्त शयन आयगर का कहना है कि, "सयुक्त परिवार हमारे समाज का वह अभूतपूव किला है, जिसमे श्रम योग्य वयस्को से काम लिया जाता है और असमथ वृद्धो तथा अपरिपक्व बालका की रक्षा होती है ।"

(10) **सस्कृति की रक्षा**—भारतीय सस्कृति की निरन्तरता एव स्थायित्व के लिए सयुक्त परिवार एक महत्वपूण कडी रहा है । सयुक्त परिवार मे ही वह प्रेरक शक्तियाँ विद्यमान रही है जो व्यक्ति को प्राचीन प्रथाओ एव परम्पराआ, रूढियो तथा सामाजिक मान्यताओ के अनुसार अनुसरण करने को प्रेरित करती है । भारतीय सयुक्त परिवार परिवतन और नवीनीकरण के प्रारम्भ से ही विरोधी रहे है, इसलिए इन्होने इन सास्कृतिक विशेषताओ को ज्यो का त्यो भावी पीढी का हस्तान्तरित कर सस्कृति की स्थिरता मे अपना विशेष याग दिया है ।

(11) *अनुशासन एव नियन्त्रण*—सयुक्त परिवार म कर्ता का प्रमुख स्थान है । परिवार के समस्त काय उसी मे ही निर्देशित हाने ह । अत परिवार के सभी सदस्य उसके नियन्त्रण मे रहते है और इस प्रकार परिवार मे अनुशासन भी बना रहता है । कर्ता अपनी शक्तियो के माध्यम से परिवार के सदस्यो के स्वच्छन्द आचरण पर रोक लगाता है । इस प्रकार परिवर के कर्त्ता एव वयोवृद्ध व्यक्ति द्वारा परिवार मे नियन्त्रण एव अनुशासन बना रहता है जबकि एकाकी परिवार म हम इनका अभाव मिलता है ।

(12) **राष्ट्रीय एकता एव देश सेवा**—सयुक्त परिवार की सरचना ही कुछ इस प्रकार की है कि व्यक्ति उसमे स्वत ही त्याग, प्रेम सहानुभूति सहयोग आदि सीखता है । इन भावनाओ के कारण राष्ट्रीय एकता को बल मिलता है । सयुक्त परिवार मे रह कर कुछ सदस्य अपना जीवन देश सेवा मे भी लगा सकते है क्योकि परिवार मे सदस्यो की सख्या अधिक होन से वे पारिवारिक दायित्वो से मुक्त हो सकते हैं । वे सावजनिक कल्याणकारी काय, समाज सेवा और देश सेवा यहाँ तक कि युद्धकालीन परिस्थितियो मे अपने प्राणा की आहुति देन से भी नही चूकते हैं ।

(13) **सामाजिक सुरक्षा**—सयुक्त परिवार व्यक्ति को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करता ह । भारत मे हिन्दुओ मे बाल विवाह के प्रचलन के कारण जब तक वर वधू आत्म निभर नही होते तब तक उनका भरण पोषण सयुक्त परिवार द्वारा ही किया जाता है । सयुक्त परिवार अनाथो, वृद्धो एव विधवाओ और परित्यक्ताओ की एक उत्तम शरण स्थली है जो उन्हे उचित सामाजिक सुरक्षा प्रदान करता है । सकट कालीन परिस्थितियो मे परिवार के सदस्यो की देखरेख व भरण पोषण का काय सयुक्त परिवार का नैतिक दायित्व है ।

इस प्रकार हम देखते है कि सयुक्त परिवार अपने आप मे एक ऐसा समुदाय है जो एक व्यक्ति की सभी भौतिक, सामाजिक एव सास्कृतिक आवश्यकताओ की पूर्ति करता है। हमारे समाज मे सयुक्त परिवार का इतना अधिक महत्व है कि इसके सम्मुख अन्य नागरिक इकाइयाँ विशेषकर राज्य भी महत्वहीन हो जाती है। कर्वे के अनुसार एक व्यक्ति की पाप की सारी कमायी, चाहे दूसरे व्यक्तियो से राज्य स गबन की गयी हो, विशाल सयुक्त परिवार अथवा वृहत्तर बाधव समूह पर ही खर्च होती है।

## सयुक्त परिवार की समस्याएँ अथवा दोष
## (PROBLEMS OR DEMERITS OF JOINT FAMILY)

सयुक्त परिवार के अनेक लाभ होते हुए भी कुछ दोषो के कारण यह व्यवस्था दिनो दिन कमजोर होती जा रही है। इसके प्रमुख दोष इस प्रकार है

(1) **अकर्मण्य व्यक्तियो की वृद्धि**—सयुक्त परिवार मे सभी व्यक्तियो के साथ समान व्यवहार होता है चाहे व्यक्ति काम कर रहा हो अथवा नही, उसका भरण पोषण होता है और सभी आवश्यकताओ की पूर्ति होती है। ऐसी दशा मे बेकार व्यक्ति कोई काय करने को आतुर अथवा उत्सुक नही होता है। यहाँ परिश्रम करने वाले व्यक्ति को कोई विशेष प्रोत्साहन नही मिलता है। इसलिए वह भी अपने काय के प्रति उदासीन होने लगता है। इस प्रकार उसकी काय कुशलता का ह्रास होता है। इस तरह सयुक्त परिवार दरिद्रो व बेकारो की समस्या हल करने की अपेक्षा अकमण्य व दूसरो पर आश्रित व्यक्तियो की सख्या मे वृद्धि करता है।

(2) **व्यक्तित्व के विकास मे बाधक**—सयुक्त परिवार व्यक्तित्व के विकास म बाधक सिद्ध हुआ है क्योकि यहाँ प्रतिभाशाली व मूख, कमण्य व अकमण्य आदि सभी के साथ समान व्यवहार होता है। परिवार के वयोवृद्ध व्यक्तियो के कठोर निय त्रण व अनुशासन के कारण प्रतिभाशाली व्यक्ति न तो अपने विचारो को प्रकट ही कर सकता है और न ही अपनी योग्यता का समुचित उपयोग कर सकता है। पारिवारिक हित के समक्ष उसकी समस्त आशाओ व आकाक्षाओ को निममता मे कुचल दिया जाता है।

(3) **स्त्रियो की दुर्दशा**—सयुक्त परिवार मे स्त्रियो की स्थिति बडी अजीबो-गरीब होती है। नव वधू का प्रथम पति गृह प्रवेश एक लक्ष्मी के रूप मे होता है। सास ननद व अन्य स्त्रियाँ उसकी बलाएँ लेती है, स्वागत गान गाती हैं परन्तु यह केवल एक दिखावा मात्र होता है। वास्तव मे उसकी स्थिति परिवार म एक दासी के समान होती है, उसका जीवन खाना बनाने, बच्चो को जन्म देने या उनकी देख-भाल करने एव अन्य सदस्यो की सेवा मे ही व्यतीत होता है। उसे मनोरजन का साधन समझा जाता है। उसे सास एव ननद के उलाहने, गालिया एव प्रताडना का शिकार बनना पडता है, शिक्षा एव बाह्य जगत से उनका कोई नाता नही रह पाता है।

(4) **कलह का केन्द्र**—सयुक्त परिवार मे बच्चो, सम्पत्ति एव स्त्रियो के व्यवहार को लेकर आये दिन कलह होते रहते है। इससे परिवार की शान्ति खतरे

मे पड जाती है। वैयक्तिक व्यय एव बच्चो का लकर स्त्रियो म आपसी द्वेष एव मन-मुटाव पैदा हो जाता है और पारिवारिक सहयोग एव स्नेह सघष एव कटुता मे बदल जाता है। सघष एव कलह का अतिम परिणाम होता है परिवार का विभाजन।

(5) **अधिक सतानोत्पत्ति**—सयुक्त परिवार मे न तो प्रत्येक सदस्य का स्वाव लम्बी होना आवश्यक है और न ही किसी को अपने भरण पोषण हेतु चिन्ता करने की आवश्यकता है। सयुक्त परिवार अपने प्रत्येक सदस्य का समान रूप से भरण पोषण करता ह। इसलिए व्यक्ति अपने धार्मिक विधि विधानो की पूर्ति हतु व स्वग प्राप्ति की लालसा म पुत्र प्राप्ति की कामना मे कई पुत्रियो को जन्म देता है। इस प्रकार सन्तानो की सख्या म वृद्धि होती है जिसका भार सयुक्त परिवार का वहन करना पडता है।

(6) **कुशलता मे बाधक**—सयुक्त परिवार ने कमण्य व्यक्ति का शोषण व अकमण्य व्यक्ति को प्रोत्साहन दिया है। सयुक्त परिवार मे सभी व्यक्तियो के हितो का ध्यान रखा जाता है व समान रूप से उनकी आवश्यकताओ की पूर्ति की जाती है, चाहे कोई व्यक्ति कमाता हो अथवा नही। परिणामस्वरूप कमाने वाले व्यक्ति पर अधिक भार हाने व उसका प्रोत्साहन न मिलने के कारण उसकी काय कुशलता मे कमी आती है, उसके स्वास्थ्य का ह्रास होता है तथा उसका जीवन स्तर निम्न होता चला जाता है।

(7) **गतिशीलता मे बाधक**—व्यक्ति की परिवार के प्रति एक गहन आशक्ति होती है। व्यक्ति के मन मे यह धारणा होती है कि "आँख से दूर हुए ता दिल से भी दूर हुए।" इस धारणा के वशीभूत हो व्यक्ति अपना परिवार छोडकर कही बाहर अन्य स्थान पर जाना पसन्द नही करता है। व्यक्ति को अपने परिवार से जो प्रेम व सुविधाएँ मिलती है, वे अन्यत्र मिलना कठिन है। इसलिए कोई भी व्यक्ति परिवार से बाहर जाकर नौकरी अथवा व्यवसाय करना पसन्द नही करता है चाहे वह घर मे बेकार ही क्यो न बैठा हो।

(8) **गोपनीय स्थान का अभाव**—सयुक्त परिवार मे सदस्यो का जमघट देख कर एक छोटे मोटे मेले का आभास होने लगता है क्योकि परिवार के सदस्यो की सख्या मे तो बढोतरी होती है परन्तु आभास उतना ही रहता है। सयुक्त परिवार अपने सदस्यो की चहचहाट से 24 घण्टे गुजायमान होता रहता है। वहा शान्ति और एकान्त का नितान्त अभाव होता है। ऐसी परिस्थितियाँ विवाहित जोडा के लिए बडी विकट स्थिति उत्पन्न कर देती ह। वैसे भी अपने बुजर्गों के सामने पति पत्नी का वार्तालाप और अपने बच्चो से अधिक बातचीत करना, उन्हे स्नेह करना व उनकी सुख सुविधाओ का अधिकाधिक ध्यान रखना सदस्य के आचरण, बडो की मान मर्यादा व परिवार के आदर्शों के विरुद्ध समझा जाता है। ऐसी परिस्थिति मे पति पत्नी एक दूसरे के सहयोगी हाने की अपेक्षा अजनबी अधिक हाते है। डा० राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी 'आत्मकथा' मे लिखा है कि "सयुक्त परिवार मे पति पत्नी इतनी कृत्रिम और

अस्वाभाविक परिस्थितियो मे मिलने हैं कि उनमे प्रेम का विकास तो दूर की बात है, मामूली परिचय भी नही होता है।" गोपनीय स्थान का अभाव बच्चो के लिए भी दुखदायी सिद्ध होता है क्योकि कभी कभी वे ऐसी अवाछित घटनाओ को देखते है जिनका प्रभाव उन पर हानिकारक सिद्ध होता है।

(9) कर्त्ता की स्वेच्छाचारिता—परिवार मे कर्त्ता का मुख्य स्थान होता है। परिवार के समस्त काय उसी के द्वारा ही निर्देशित होते हैं एव कर्त्ता की इच्छा ही सर्वोपरि होती है। कर्त्ता की इच्छा के समक्ष परिवार के अन्य सदस्यो की इच्छाओ का दमन हो जाता है। इस प्रकार कर्त्ता परिवार का निरकुश शासक होता है। वतमान समय म कर्त्ता की यह स्थिति विस्फोटक प्रमाणित हुई है क्योकि नई विचारधाराओ स पल्लवित युवा पीढ़ी पुरानी पीढी की स्वेच्छाचारिता के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने को तत्पर नही है फलस्वरूप यह विरोधी प्रवृत्ति की ओर अग्रसर होती हैं। यह स्थिति परिवार की सयुक्तता के लिए घातक सिद्ध हो रही है।

(10) सामाजिक समस्याओं के पोषक—सयुक्त परिवार अनेक रूढिवादी परम्पराओ व अनुपयोगी धार्मिक कर्मकाण्डो की स्थली रहा है। सयुक्त परिवार के माध्यम से कई समाजव्यापी समस्याएँ जैसे बाल विवाह, दहेज प्रथा, विधवा विवाह पर रोक, पर्दा प्रथा जाति अन्तर्विवाह, जनसख्या की समस्या, अशिक्षा, जातिगत भेदभाव मे वृद्धि, स्त्रियो का शोषण आदि उत्पन्न हुई हैं। यद्यपि इन समस्याओ के और भी अनेक कारण रहे है परन्तु सबसे महत्वपूर्ण कारण सयुक्त परिवार का ज्ञान, शून्य वातावरण और सदस्यो का कठपुतली के समान किया गया व्यवहार है जो व्यक्ति को उचित और अनुचित मे भेद उत्पन्न करने मे बाधा डालता है। सयुक्त परिवार मे नयी विचारधारा व प्रगति को हतोत्साहित कर इन समस्याओ को यथावत उपस्थित रहने मे योग दिया है।

(11) शुष्क एव नीरस वातावरण—सयुक्त परिवार के सदस्यो की अधिकता के कारण उनके पारस्परिक सम्बन्धो मे दृढता व आत्मीयता का अभाव दृष्टिगोचर होता है। परिवार के सदस्यो के मधुर सम्बन्ध औपचारिकता मे परिवर्तित हो रहे हैं। अब सयुक्त परिवार मे मनमुटाव व पारिवारिक द्वेष की भावना अधिक प्रबल होती जा रही है। परिवार मे सदस्य स्वार्थी होते जा रहे है, फलस्वरूप उनके हितो मे टकराव की स्थिति उत्पन्न हुई है। यह टकराव ही झगडे का रूप धारण कर सयुक्त परिवार की जडें खोखली कर रहा है। ऐसी स्थिति मे घर का वातावरण शुष्क और नीरस होना स्वाभाविक है।

## सयुक्त परिवार मे परिवर्तन अथवा विघटन के कारक
## (FACTORS RESPONSIBLE FOR CHANGING OR DISINTEGRATING JOINT FAMILY)

परम्परात्मक भारतीय सयुक्त परिवार मे अनेक परिवतन हुए हैं और वह सक्रमण के काल से गुजर रहा है। नवीन परिस्थितियो के कारण सयुक्त परिवार मे

होने वाले परिवर्तनो को कुछ विद्वानो ने विघटन माना है तो कुछ न इसे स्वरूप परिवर्तन ही कहा है। डा० आर० एन० सक्सेना ने सयुक्त परिवार मे परिवर्तन लाने वाली शक्तियो को तीन भागो म बाँटा है (1) आर्थिक शक्तियाँ—जिनम औद्योगीकरण एव पूँजीवादी व्यवस्था प्रमुख है, (2) भावनात्मक शक्तियाँ—जिनम उदारवाद, व्यक्तिवाद एव पश्चिमी विचारधाराएँ प्रमुख है, (3) नये सामाजिक कानून—इनमे विवाह एव सम्पत्ति से सम्बन्धित नवीन कानून आते हैं।[1] देवानन्द तथा थॉमस न परिवर्तन के कारको को तीन भागो मे बाँटा है (1) नवीन विचार जैसे उपयोगितावाद, व्यक्तिवाद, रोमान्स, यौन स्वतन्त्रता एव धर्म का घटता प्रभाव, (2) नवीन अनुशास्तियाँ (new sanctions) जैसे परिवार, विवाह, सम्पत्ति एव सामाजिक सुरक्षा से सम्बन्धित कानून, (3) नवीन सामाजिक सरचना—जिनम प्रदत्त प्रस्थिति के स्थान पर अर्जित गुणो का महत्व पाया जाता है। बाटोमोर (Bottomore) लिखते हैं—"सयुक्त परिवार का विघटन केवल औद्योगीकरण से सम्बन्धित विभिन्न दशाओ का ही परिणाम नही है, बल्कि उसका प्रमुख कारण यह है कि सयुक्त परिवार आर्थिक विकास की आवश्यकताओ को पूरा करने म असफल सिद्ध हो चुका है।"[2] डॉ० कापडिया ने नवीन न्याय व्यवस्था, यातायात के नवीन साधन, औद्योगीकरण, शिक्षा के प्रसार तथा परिवर्तित मनोवृत्तियो को सयुक्त परिवार के विघटन के लिए उत्तरदायी माना है।[3] पणिक्कर सयुक्त परिवार के विघटन के लिए सदस्यो पर आवश्यकता से अधिक नियन्त्रण लगाने और इस कारण उनके सम्बन्धो का क्षेत्र सीमित होना मानते हैं।[4] सयुक्त परिवार को विघटित या परिवर्तित करने वाले कारक इस प्रकार हैं

(1) *औद्योगीकरण (Industrialization)—18वी सदी मे औद्योगिक क्रान्ति* हुई। इस क्रान्ति से भारतीय समाज को परिचित करने का श्रेय अग्रेजो का है। *औद्योगिक आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए देश मे रेलो, सडको तथा यातायात* एव सन्देशवाहन के साधनो का तीव्र विकास हुआ, नये एव अगणित व्यवसाय खुले *तथा साथ ही ग्रामीण उद्योग नष्ट हुए। परिवार अब उत्पादन की इकाई नही रहा,* लोग गाव छोडकर काम की खोज मे शहरो म आने लगे, इससे परिवार की एकता *टूटी तथा कृषि अर्थव्यवस्था का स्थान औद्योगिक एव पूजीवादी व्यवस्था ने लिया।* सयुक्त परिवार के सदस्य नौकरी एव व्यवसाय के कारण दूर-दूर बिखर गय। नगरो मे लोग अकेले या अपनी पत्नी, एव बच्चो के साथ छोटे छोटे परिवारो म रहने लगे। नगरो मे मकानो के अभाव न भी सयुक्त परिवार के स्थान पर लोगो को छोट छोटे परिवारो म रहने को बाध्य किया। *सयुक्त परिवार कृषि अर्थव्यवस्था का आधार*

---

1 डॉ० आर० एन० सक्सेना, **भारतीय समाज तथा सामाजिक सस्थाएँ**, pp 15 16।

2 T B Bottomore *Society A Guide to Prob ems and Literature* p 177

3 K M Kapadia *Marriage and Family in India* pp 256 269

K M Panikkar *Hindu Society at Cross Road* p 23

था, जब कृषि मे भी नवीनता का प्रयोग हुआ और कृषि के स्थान पर उद्योगों का महत्व बढ़ा तो इसने भी सयुक्त परिवारों को तोड़ा। ग्रामीण उद्योगो म परिवार के लोग मिलकर काय करत थे किन्तु जब ग्रामीण उद्योगों का ह्रास हुआ और उसका स्थान कारखाना प्रणाली ने लिया तो ग्रामीण उद्योगो म लगे लोग काम की खोज म औद्योगिक केन्द्रो की ओर मुडे। अत अब ग्रामीण सयुक्त परिवारो का बने रहना सम्भव न था। औद्योगीकरण ने रोजगार के अवसरों में भी वृद्धि की, लोग नवीन व्यवसायो मे काम करने के लिए घर छोडकर दूर-दराज क्षेत्रो मे जाने लग। औद्योगीकरण ने नयी अर्थ-व्यवस्था प्रदान की जिसमे स्त्रियो के लिए भी नौकरी की सुविधा थी। स्त्रियों द्वारा नौकरी करने पर उनम आत्म निर्भरता एव जागरूकता आयी, व सयुक्त परिवार के शोषणकारी एव दमघाटू वातावरण स मुक्ति पाने के लिए विद्रोह करने लगी एव एकाकी परिवार की स्थापना के लिए जोर देने लगी। औद्योगीकरण ने नकद मजदूरी प्रणाली को लागू किया जिसम सदस्यो के श्रम का मूल्यांकन करना सरल हो गया। परिवार म कम एव अधिक कमाने वालो के बीच उच्चता एव निम्नता की भावना पैदा हुई, उनमें व्यक्तिवादी भावना पनपी और व अपने द्वारा कमाय धन का अपने बीबी बच्चों पर खच करना उचित मानने लग। औद्योगिक व्यवस्था म धन एव व्यक्तिगत गुणो का अधिक महत्व पाया जाता है तथा व्यक्तिगत योग्यता के अनुसार ही व्यक्ति को सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। इन सारी परिस्थितियो ने व्यक्ति को सयुक्त परिवार से पृथक रहकर एकाकी परिवार बनाने के अवसर एव प्रेरणा प्रदान की तथा सयुक्त परिवार के विघटन मे योग दिया।

(2) नगरीकरण (Urbanization)—औद्योगीकरण एव यातायात के नवीन साधनो ने शहरो को जन्म दिया। धीरे धीरे महानगर बने एव नगरीय सभ्यता का उदय हुआ। नगर मे विभिन्न विचारधाराएँ, आदश तथा सामाजिक मूल्य पाये जाते है। नगरो के लोग नवीनता प्रिय, व्यक्तिवादी, भौतिकवादी एव प्रगतिशील दृष्टिकोण म विश्वास रखने वाले होते हैं। शहरी स्त्रियाँ स्वतन्त्रता मे अधिक विश्वास करती है और वे सास की दासता स मुक्ति चाहती हैं। इसलिए वे पति को एकाकी परिवार बसाकर रहने का आग्रह करती हैं। शहरो म मकानो के अधिक किराय एव अभाव के कारण भी *बडे-बडे परिवारो का एक साथ निवास सम्भव नहीं हो पाता* है। शहरो म व्यवसाय की बहुलता के कारण भी ग्रामीण लोग अपने परिवारो को छोडकर व्यवसाय की खोज मे यहाँ आते हैं जहाँ वे अकेले या पत्नी व बच्चो सहित छोटे छोटे परिवारो मे रहते है। शहर का सामाजिक आर्थिक पर्यावरण ग्रामीण पर्यावरण की अपेक्षा अधिक गतिशील है, यहाँ व्यक्ति का अधिकतर समय पारिवारिक प्रभाव क्षेत्र से बाहर बीतता है, जिसमे व्यक्ति स्वातन्त्र्य की भावना को प्रोत्साहन मिलता है।[1]

---

1 जी० एस० घुर्ये, भारत मे समाजशास्त्र, प्रजाति और संस्कृति, पृ० 768।

(3) पाश्चात्य शिक्षा, संस्कृति एवं विचारधारा का प्रभाव (Impact of Western Education, Culture and Ideology)—भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के कारण भारतीयों को पश्चिम की शिक्षा, संस्कृति एवं विचारधारा से परिचय हुआ, उनके दर्शन एवं सामाजिक मूल्यों को भारतीयों ने भी अपनाया। व्यक्तिवाद, उदारवाद, प्रकृतिवाद, उपयोगितावाद एवं भौतिकवाद तथा पश्चिमी साहित्य एवं शिक्षा आदि का भी भारतीय सामाजिक संस्थाओं पर प्रभाव पड़ा। भारतीयों ने पश्चिम से ही स्त्री-पुरुष की समानता के विचार ग्रहण किए। मार्क्स एवं रूसो ने कहा कि मनुष्य कुछ स्वतन्त्रताओं को लेकर पैदा होता है, उनकी रक्षा की जानी चाहिए। संयुक्त राज्य अमरीका ने मानव अधिकारों की घोषणा की। इन सभी के परिणामस्वरूप भारत में प्रेम विवाह व अन्तर-जातीय विवाह होने लगे तथा विवाह एक समझौता मात्र रह गया और कानूनों द्वारा परिवार के सदस्यों की सत्ता पर अंकुश लगा दिए गए। फलस्वरूप संयुक्त परिवार टूटने लगे।

(4) कानूनों का प्रभाव (Impact of Legislation)—अंग्रेजों के समय से ही देश में कई ऐसे कानून बने जिन्होंने संयुक्त परिवार की एकता पर प्रहार किए। संयुक्त परिवार की एकता का मूल कारण यह था कि पारिवारिक सम्पत्ति में किसी सदस्य के वैयक्तिक अधिकार नहीं थे लेकिन 'हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1929' ने उन व्यक्तियों को भी सम्पत्ति में अधिकार प्रदान किये जो संयुक्त परिवार से अलग रहना चाहते थे। 1930 के 'बुद्धि लब्धि अधिनियम' (Gains of Learning Act) ने व्यक्ति की स्वयं अर्जित सम्पत्ति की सीमा का विस्तृत कर दिया। सन् 1939 के हिन्दू स्त्रियों का सम्पत्ति अधिकार अधिनियम (Hindu Women's Right to Property Act) ने संयुक्त परिवार की सम्पत्ति में स्त्रियों के अधिकारों को स्वीकार किया। इससे भी परिवार की सम्पत्ति विभाजित होने लगी। अग्रवाल का मत है कि आय-कर अधिनियम ने संयुक्त परिवार के विघटन को अधिक तीव्र कर दिया है। आय कर से बचने के लिए भाई अपनी सम्पत्ति का बँटवारा कर लेते हैं। संयुक्त परिवार में सदस्यों की अधिकता का कारण था बाल विवाह किन्तु बाल विवाह निरोधक अधिनियम, 1929 ने बाल विवाहों पर कानूनी रोक लगा दी। 1856 के विधवा पुनर्विवाह अधिनियम ने विधवा स्त्रियों को विवाह की छूट दी जिससे वे अपने मृत पति के परिवार को छोड़कर नये घर में जाने लगीं। इससे भी परिवार की संयुक्तता टूटी। 1954 के 'विशेष विवाह अधिनियम' ने किसी भी जाति एवं धर्म के लोगों के विवाह को स्वीकृति प्रदान की। इससे अन्तर-जाति विवाह होने लगे जो संयुक्त परिवार के आदर्शों के प्रतिकूल थे। 1955 के 'हिन्दू विवाह अधिनियम' में स्त्री-पुरुषों को विवाह विच्छेद का अधिकार प्रदान किया गया, इससे भी संयुक्त परिवार टूटे। डॉ० राल्फ (Ralf) का मत है कि इस कानून का प्रभाव शहरों में विशेष रूप से पड़ा। हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 ने पुत्रियों एवं स्त्रियों को भी पारिवारिक सम्पत्ति में उत्तराधिकारी बना दिया। 1961 के 'दहेज निरोधक अधिनियम' ने परिवार के

कर्ता की निरकुशता का कम किया। इस प्रकार इन सभी अधिनियमो के प्रभाव के कारण सयुक्त परिवार का विघटन होने लगा।

(5) पारिवारिक झगडे (Family Quarrels)—सयुक्त परिवार मे आये दिन सम्पत्ति, बच्चा एव स्त्रियो को लेकर होने वाले झगडा से मुक्ति पाने के लिए भी सदस्य सयुक्त-परिवार छोडकर सुख व शान्ति के लिए एकाकी परिवारो मे रहने लगते हैं।

(6) परिवार के कार्यों का घटना (Reduction of Family Functions)—वतमान समय मे सयुक्त परिवार के कार्यों को अन्य सघो एव सस्थाओ ने ग्रहण कर लिया है, अत उसकी उपयोगिता घट गयी है। शिक्षा का कार्य अब शिक्षण सस्थाओ द्वारा किया जाता है। परिवार का मनोरजन का काय व्यापारीकृत मनोरजक सस्थाओ, क्लबो एव सिनेमा घरो न लिया है। कपडे धाने का काय लाण्ड्रियो द्वारा, अनाज कूटने-पीसने का काय फ्लोर मिलो द्वारा तथा सिलाई का काय टेलरिंग हाउसों द्वारा होने लगे है। इसमे सयुक्त परिवार पर व्यक्ति की निर्भरता समाप्त हुई है।

(7) महिला आन्दोलन (Feminist Movement)—स्त्रियो मे शिक्षा के प्रसार एव आर्थिक आत्मनिर्भरता के कारण उनमे जागृति आयी है। वे अब सयुक्त परिवार में शोषण से मुक्ति का प्रयास करने लगी हैं, घर की चाहरदीवारी लाँघकर अपने व्यक्तित्व का विकास करने के लिए सयुक्त परिवार के बजाय एकाकी परिवारो की पक्षधर बनी हैं। स्त्रियो की इस नवीन प्रवृत्ति के कारण भी सयुक्त परिवार विघटित हुए हैं।

(8) जनसख्या वृद्धि (Growth of Population)—भारत मे तीव्र गति से जनसख्या की वृद्धि हुई है। इसके परिणामस्वरूप भूमि पर दबाव बढा है। जब गाँवो मे छोट-छोट भूमि के टुकडा पर खेती करके बडे परिवार का पालन पाषण करना कठिन हो गया ता लोग काम की तलाश मे परिवार एव गाँव छाडकर बाहर जाने लग, इससे भी सयुक्त परिवारो का विघटन हुआ।

(9) यातायात एव सचार के साधन (Means to Transportation and Communication)—सचार एव यातायात के नवीन साधनो न लोगो मे गतिशीलता पैदा की। प्राचीन समय मे इन साधनो के अभाव मे एक स्थान छोडकर दूसरे स्थान पर जाना एक कठिन काय था। अत स्वत ही लोग एक स्थान पर सयुक्त परिवारा में रहते थे।

(10) सामाजिक सुरक्षा (Social Security)—कुछ समय पहले तक बीमारी, बुढापा एव सकट के समय मे सयुक्त परिवार ही अपने सदस्यो को सुरक्षा एव सरक्षण प्रदान करता था किन्तु वतमान मे स्वास्थ्य बीमा, कर्मचारी क्षतिपूर्ति कानून, मातृ प्रसूति लाभ कानून, प्रोविडेण्ट फण्ड, ग्रेच्युटी आदि के द्वारा व्यक्ति का सामाजिक व आर्थिक सुरक्षा प्रदान की गयी है, अत गाँवो मे न सही परन्तु शहरा मे तो सयुक्त परिवार की उपयागिता घटी है।

## सयुक्त परिवार से सम्बन्धित अध्ययन (Studies Regarding Joint Family)

विभिन्न शक्तियो के प्रभाव के कारण सयुक्त परिवार म परिवतन एव विघटन की प्रक्रियाएँ प्रारम्भ हुई। परिवर्तित परिस्थितियो मे सयुक्त परिवार क्या रूप ग्रहण कर रहे हैं ? उनमे कौन कौनसी नवीन प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हुई है और वे प्राचीन सयुक्त परिवारो से किस प्रकार भिन्न हैं, आदि प्रश्नो का उत्तर जानने के लिए जनगणना अधिकारियो एव समाजशास्त्रियो ने देश के विभिन्न भागो म अनेक अध्ययन किये उनका हम यहाँ सक्षेप म उल्लेख करेंगे

(1) जनगणना के आँकड़े—सन 1911 की विभिन्न प्रान्तो की जनगणना रिपोट पर टिप्पणी करत हुए गेत (Gait) ने कहा कि सयुक्त परिवारो मे विघटन की प्रवृत्ति दिखायी देती है। 1951 के जनगणना अधिकारी ने भी जनगणना के आँकडो पर टिप्पणी करत हुए लिखा है, "छोटे छोटे परिवार का इतना अधिक अनुपात (गाँवो म 33% और कस्बो मे 38%) ऊपरी तौर पर यही सकेत करता है कि देश के परम्परागत रीति रिवाजो के अनुसार अब परिवार सयुक्त रूप से नही चल रहे हैं और सयुक्त परिवार से अलग होने तथा अलग घर बसाने की प्रवृत्ति प्रबल है।" सन् 1901 की जनगणना पर टिप्पणी करते हुए गेत कहते है कि केवल उच्च जातियो मे ही सयुक्त परिवारो की बहुलता है निम्न जातियो एव जनजातियो म यह प्रथा बहुत कम है और विवाह के बाद पुरुष पृथक घर बनाकर रहते हैं।

(2) के० टी० मर्चेन्ट[1] ने सन 1930 32 मे विवाह तथा परिवार से सम्बन्धित विचारो म परिवतन का पता लगाने के लिए 446 स्नातको का अध्ययन करने पर पाया कि शिक्षित लोग सयुक्त परिवार मे रहना पसन्द करते है तथा पुरुषो की तुलना मे स्त्रियाँ सयुक्त परिवार के अधिक विरोध मे हैं।

(3) के० एम० कापडिया ने 513 स्नातको का एक सर्वेक्षण किया तो ज्ञात हुआ कि शिक्षित हिन्दुओ का 60% भाग अब भी सयुक्त परिवार मे रहता है और केवल ⅙वाँ भाग ही इससे असन्तुष्ट है। सयुक्त परिवार का विरोध करने वाले एक व्यक्ति के सामने 3 या 4 उसके पक्ष मे मत देने वाले हैं। कापडिया ने दक्षिणी गुजरात के नवसारी कस्बे मे 246 परिवारो एव आस पास के 15 गावो के 1099 परिवारो का अध्ययन करने पर पाया कि वहाँ एकाकी एव सयुक्त परिवारो की सख्या लगभग बराबर थी।[2]

(4) बी० वी० शाह (B V Shah) ने बडौदा के 200 छात्रो का उनके सयुक्त परिवार के बारे मे विचार ज्ञात करने के लिए अध्ययन करने पर पाया कि 16% छात्रो ने ही सयुक्त परिवार के विरोधी विचार व्यक्त किये और शेष ने इसका समर्थन किया।

1 K T Merchant, *Changing Views on Marriage and Family* pp 122 27
2 K M Kapadia *op cit* p 260

(5) सुधा कालडेटे ने पुराने बम्बई राज्य का अध्ययन करने पर पाया कि नगरीकरण के प्रभाव के कारण सयुक्त परिवार टूट रहे हैं।

(6) एडविन डी० ड्राइवर ने 1958 मे बम्बई के नागपुर जिले के 2314 जोडो का अध्ययन किया। उनका निष्कर्ष यह था कि 36 वर्ष से अधिक उम्र के लोग तथा अशिक्षितो की तुलना म शिक्षित लोग सयुक्त परिवार म रहने के पक्ष मे थे।

(7) आई० पी० देसाई ने सौराष्ट्र के महुआ कस्बे म 410 परिवारो का अध्ययन किया। उनकी परिभाषा के अनुसार महुआ म 28% एकाकी परिवार और 72% सयुक्त परिवार हैं। सम्पत्ति एव आर्थिक हितो न सयुक्तता को बल प्रदान किया है। वहाँ सयुक्त परिवार म रहने वाले प्रत्येक तीन व्यक्तियो के सामने एकाकी परिवार मे रहने वाले व्यक्ति की सख्या एक थी।[1]

(8) पी० एम० कोलिण्डा ने महाराष्ट्र के पूना जिले के लोनीखण्ड गाँव का अध्ययन करने पर वहाँ सयुक्त परिवार की अधिकता पायी। साथ ही वहाँ निम्न जातियों की तुलना म उच्च जातियो मे सयुक्त परिवार अधिक थे। उन्होंने क्षेत्रीय आधार पर भारत म सयुक्त परिवार के अनुपात मे अन्तर पाया, गगा के मैदान व मैसूर की उत्तरी-पश्चिमी जातियो म, पश्चिमी बगाल एव मध्य भारत की तुलना मे सयुक्त परिवार अधिक थे।[2]

(9) एलिन० डी० रास ने बगलौर के मध्यम तथा उच्च वर्ग के 157 स्त्री पुरुषो का साक्षात्कार लिया। उन्होने सयुक्त परिवार का परिवर्तित करन वाली शक्तियो का भी उल्लेख किया और बताया कि प्रौद्योगिक शक्तियाँ सयुक्त परिवार को परिवर्तित कर रही ह।[3]

(10) एम० एस० गोरे न दिल्ली एव हरियाणा के आस-पास के 499 अग्रवाल परिवारो का अध्ययन किया जो ग्रामो एव शहरो मे रहते थे। उनके अध्ययन के दो निष्कर्ष निकले—(i) अब भी लोगो का झुकाव सयुक्त परिवार के पक्ष मे है, (ii) नगरीय प्रभाव एव शिक्षा ने सयुक्त परिवार के स्वरूप को बदला है।[4]

(11) बी० के० रामानुजम का मत है कि वतमान मे व्यक्तिगत और आर्थिक कारणो से एकाकी परिवारो की प्रवृत्ति बढ रही है। वे यह मानते ह कि सरचना की दृष्टि से तो सयुक्त परिवार टूट रहे हैं किन्तु प्रकार्यात्मक दृष्टि से बने हुए हैं।[5]

इन अध्ययनो के अतिरिक्त रॉल्फ, देवानन्द एव थामस, बी० आर० अग्रवाल, योगेश अटल, ए० एम० शाह, गुडे, लेम्वाट, बी० जी० देसाई ज्योतिर्मयी शर्मा,

---

1 I P Desai *Some Aspects of Family in Mahuva*
2 P M Kolenda, Family Structure in Village Lonikhand India Contributions to *Indian Sociology* No IV Dec 1970 p 70
3 Aileen D Ross *The Hindu Family in Its Urban Setting*
4 M S Gore *Urbanization and Family Change*
5 B K Ramanujam *The Indian Family in Transition* p 23

आर० के० मुखर्जी आदि अनेक समाजशास्त्रियो ने अपने अध्ययनो द्वारा सयुक्त परिवार मे होने वाले परिवर्तनो की पुष्टि की है।

## सयुक्त परिवार की आधुनिक प्रवृत्तियाँ एव परिवतन
## (RECENT TRENDS AND CHANGES IN JOINT FAMILY)

परिवतन की विभिन्न शक्तियो के सघात के कारण भारतीय सयुक्त परिवार की सरचना एव प्रकार्यों में अनेक परिवर्तन हुए हैं और कई नयी प्रवृत्तियाँ प्रकट हुई है। उनका यहाँ सक्षेप म उल्लेख करेंगे

(1) **सयुक्त परिवार की सरचना मे परिवतन** (Changes in the Structure of Joint Family)

(1) **आकार मे परिवतन**—सयुक्त परिवार मे तीन या अधिक पीढियो के कई सदस्य साथ साथ रहने से इनका आकार बडा होता था किन्तु अब शिक्षा के प्रसार, परिवार नियोजन एव जीवन स्तर को ऊँचा उठाने की इच्छा आदि के कारण छोटे छोटे परिवार बनने लगे हैं जिनमे पति पत्नी और उनके अविवाहित बच्चे होते हैं।

(2) **कर्ता की सत्ता का ह्रास**—पहले परिवार के मुखिया का निणय ही सर्वमान्य था। नवीन शिक्षित पीढी जो समानता एव प्रजातन्त्र के विचारो से ओत प्रोत है पिता की निरकुश सत्ता को नही मानती, विवाह एव व्यक्तिगत मामलो मे व अब अपना निणय स्वय करने लगे है।

(3) **स्त्रियो की शक्ति में वृद्धि**—स्त्री शिक्षा के कारण स्त्रियाँ घर की चहार दीवारी से बाहर आयीं, वे नौकरी करने लगीं। आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर हुईं, नवीन कानूनो ने उन्हे पुरुषो के समान ही सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक अधिकार प्रदान किये, उनके पद एव सम्मान मे वृद्धि हुई तथा पुरुषो की सत्ता कम हुई। अब वे क्लबो मे जाने लगी, इससे परिवार के कार्यों में अन्तर आया।

(4) **विवाह के रूप मे परिवतन**—विवाह साथी चुनने म पहले माता पिता एव रिश्तेदारो का महत्वपूर्ण हाथ था किन्तु अब लडके एव लडकी जीवन साथी का चुनाव स्वय करने लगे हैं। अब विवाह दो परिवारो के स्थान पर दो व्यक्तियो का मामला बन गया है। बाल विवाह की समाप्ति विधवा पुनर्विवाह प्रेम विवाह एव विलम्ब विवाह के कारण परिवार का स्वरूप परिवर्तित हुआ है।

(5) **अस्थायित्व**—वतमान समय म परिवारो मे गतिशीलता एव अस्थायित्व मे वृद्धि हुई है। नौकरी एव व्यवसाय के कारण लोग स्थान परिवतन करने लगे। इससे परिवार पडौस एव नातेदारी का नियन्त्रण शिथिल हुआ तथा विवाह विच्छेद को बढावा मिला। यौन सम्बन्धी नवीन धारणाओ ने भी सयुक्त परिवार के महत्व को कम किया है।

(6) **पारिवारिक सम्बन्धों मे परिवर्तन**—सयुक्त परिवार के सदस्यो के पारस्परिक सम्बन्धो मे शिथिलता आयी है। घनिष्ठता एव आत्मीयता के स्थान पर

वतमान मे औपचारिकता पायी जाती है, पारिवारिक नियन्त्रण कमजोर हुआ है, अब परिवार एक औपचारिक सगठन मात्र होता जा रहा है।

(7) सामूहिकता के तत्वों मे कमी—परम्परात्मक सयुक्त परिवार की एकता बनाये रखने के लिए सामूहिक निवास, सामूहिक सम्पत्ति, पूजा एव सामूहिक भोजन ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। किन्तु वतमान मे परिवार के सदस्यो द्वारा अलग अलग स्थानो पर रहने के कारण सामूहिक पूजा एव रसोई सम्भव नही है और सम्पति का भी विभाजन होने लगा है। फलस्वरूप परिवार की सामूहिकता समाप्त हुई एव एकाकी प्रवृत्ति प्रबल हुई है।

(II) सयुक्त परिवार के कार्यों मे परिवतन (Changes in the Functions of the Joint Family)

(1) शिक्षा एव सास्कृतिक कार्यों मे परिवतन—पहले सयुक्त परिवार ही अपने सदस्यो को शिक्षा प्रदान करने, उनका समाजीकरण करने एव उन्हे प्रथाओ, परम्पराओ, रीति रिवाजो, धम एव सस्कृति से परिचित कराने का काय करता था किन्तु अब यह काय शिक्षण एव सास्कृतिक सस्थाओ द्वारा किया जाने लगा है।

(2) धार्मिक कार्यों मे परिवतन—पहले सयुक्त परिवार सदस्यो के धार्मिक कार्यों की पूर्ति करता था। वह यज्ञ, हवन, पूजा, उपासना, व्रत एव त्योहार तथा धार्मिक उत्सवो के द्वारा धार्मिक आवश्यकताओ का पूण करता था। किन्तु धम का महत्व घटने से परिवार के धार्मिक कार्यों मे भी कमी आयी है।

(3) आर्थिक कार्यों मे परिवतन—सयुक्त परिवार उत्पादन एव उपभोग की इकाई था। उसम श्रम विभाजन पाया जाता था। वह सदस्यो की सभी आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति करता था किन्तु अब परिवार उपभोग करने वाली इकाई मात्र रह गया है। अब सरकार तथा अन्य सस्थाओ द्वारा आर्थिक सुरक्षा प्रदान की जाने लगी है।

(4) मनोरजन के कार्यों मे परिवर्तन—पहले सयुक्त परिवार ही अपने सदस्यो को मनोरजन प्रदान करता था किन्तु अब सिनेमा, रेडियो, टेलिविजन, क्लब एव व्यापारिक मनोरजन की सस्थाओ ने यह काय अपने हाथ मे ले लिया है।

परम्परात्मक सयुक्त परिवार सरचना एव प्रकाय दोनो ही दृष्टि से सयुक्त थे। किन्तु वतमान मे सयुक्त परिवार मे दोनो ही दृष्टि से परिवतन आये हैं। गोरे तथा देसाई का मत है कि वतमान मे सरचनात्मक दृष्टि से सयुक्त परिवार तो घटे है किन्तु प्रकार्यात्मक दृष्टि से अब भी सयुक्त परिवारो की सख्या कम नही हुई है।

## सयुक्त परिवार का भविष्य
## (FUTURE OF JOINT FAMILY)

सयुक्त परिवार मे होने वाले अनेक परिवतनो के कारण यह प्रश्न पैदा होता है कि क्या सयुक्त परिवार भविष्य मे समाप्त हो जायेंगे या उनका पूणत विघटन हो जायेगा? इस बारे मे दो मत पाये जाते है। कुछ विद्वानो की मान्यता है कि

संयुक्त परिवारो का विघटन हो रहा है और वे भविष्य मे समाप्त हो जायेंगे। दूसरी ओर आशावादियो का मत है कि संयुक्त परिवारो का यह विघटन नही वरन् रूपान्तरण है, नवीन परिस्थितियो से अनुकूलन की प्रक्रिया है। विघटन का समथन करने वालो का मत है कि संयुक्त परिवार का आकार छोटा होना, कर्ता की सत्ता म कमी, स्त्रियो के अधिकारो मे वृद्धि, सम्पत्ति सम्बन्धी सदस्यो को दिये गये अधिकार, पारिवारिक नियन्त्रण की शिथिलता एव उत्तरदायित्वो मे कमी आना विघटन का ही सूचक है। इन लोगो की मान्यता है कि भारत म ज्यो ज्यो औद्योगीकरण एव नगरीकरण बढ़ेगा तथा यातायात के नवीन साधनो का विकास होगा त्यो त्यो संयुक्त परिवार का विघटन होगा और एकाकी परिवारो मे उसी प्रकार वृद्धि होगी जैसे यूरोप मे हुई। दूसरी ओर आशावादियो का कहना है कि आवश्यक नहीं है कि औद्योगीकरण एव परिवतनकारी शक्तियाँ भारत म भी यूरोप के समान प्रभाव पैदा करें। यहाँ परिवार का विघटन नही वरन रूपान्तरण हो रहा है। प्रो० कापडिया[1] का मत है कि आज भी संयुक्त परिवार अपने सदस्यो को पूर्ण रूप से सामाजिक सुरक्षा प्रदान करता है। बाल विवाह प्रथा के प्रचलन के कारण नव विवाहित जोड़े का भरण पोषण संयुक्त परिवार ही करता है। गाँवो म चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओ के अभाव के कारण बीमारी व प्रसव के समय संयुक्त परिवार के सदस्य ही सेवा सुश्रुषा करते हैं। इसके अतिरिक्त विधवा एव परित्यक्ता बहिनो एव पुत्रियो का भरण पोषण भी संयुक्त परिवार म होता है। पिछले कुछ वर्षों मे बीमा, प्रोविडेण्ट फण्ड, ग्रेच्युटी, चिकित्सा, भरण एव बोनस आदि के रूप म सामाजिक सुरक्षा के कुछ प्रयत्न हुए है। किन्तु यह लाभ उद्योगो एव राजकीय सेवाओ मे लगे लोगो तक ही सीमित है। 72% जनसंख्या जो कृषि पर निर्भर है एव गाँवो मे रहती है, उनके लिए तो संयुक्त परिवार ही सामाजिक सुरक्षा प्रदान करता है। अत संयुक्त परिवार का भविष्य गाँवो से बँधा है। कृषि व संयुक्त परिवार का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है—परिवार विभाजन का अर्थ है कृषि योग्य भूमि का विभाजन। संयुक्त परिवार ही कृषि काय मे अनेक व्यक्तियो की आवश्यकता को पूरी करता है। प्रो० कापडिया ने संयुक्त परिवार का भविष्य दो बातो पर निर्भर बताया है। वे लिखते हैं कि आज परिवार के सामने आर्थिक एव सैद्धान्तिक सकट है। आर्थिक सकट यह है कि शहर मे कमाने वाला व्यक्ति गाँव म रहने वाले परिवारजनो के लिए बचाकर नही भेज सकता, इससे गाव के परिवार जनो स सम्बन्ध तनावपूर्ण हो जाते है। सैद्धान्तिक सकट यह है कि नई पीढ़ी परिवार की सत्ता के नियन्त्रण मे नही रहना चाहती। अब सास एव बहू के मध्य संघर्ष गहरा हुआ है, सास बहू को प्राप्त नयी स्थिति एव पति द्वारा उसके प्रति दिखायी जाने वाली सहानुभूति को सहन नही कर सकती। यदि परिवार इन सकटो को पार कर जाता है तो उसके टूटने के कोई कारण नही है। कापडिया मानते हैं कि 'हिन्दू

1 K M Kapadia *op cit* pp 277 283

मनोवृत्तियाँ आज भी सयुक्त परिवार के पक्ष मे है। डॉ० आर० एन० सक्सेना न भी सयुक्त परिवार द्वारा प्रदान किये जाने वाले आर्थिक एव सामाजिक सरक्षण की पुष्टि की है।[1] वे कहते ह कि "वतमान सयुक्त परिवार का वास्तविक रूप एक परिवार के सदस्यो के पारस्परिक सम्ब धो म है न कि सम्मिलित निवास स्थान, सम्पत्ति और रसोई मे। यह निश्चय है कि आज सयुक्त परिवार विभाजन की सख्या बढ गयी है वह प्रत्येक विभाजित सयुक्त परिवार कालान्तर म कई नये सयुक्त परिवारो का ज म देता है।" डा० इन्द्रदेव का मत है कि सयुक्त परिवार टूटकर सीधे शुद्ध व्यक्तिगत परिवार नही बन रहे हैं वरन वे जो रूप ले रहे ह, उन्हे मध्यवर्ती प्रकार (intermediary types) कहा जा सकता है। आई० पी० देसाई एव अ य समाजशास्त्रियो की मा यता है कि नाभिक परिवार सयुक्त परिवार चक्र मे एक अवस्था है। सयुक्त परिवार से पृथक होने वाले निर्मायक भाग प्रारम्भ मे नाभिक परिवारो के रूप मे होते हैं और काला तर मे वे सयुक्त परिवार के रूप म विकसित हो जाते है।" राम कृष्ण मुखर्जी लिखते हैं "भारतीय समाज मे के द्रीय प्रवृत्ति सयुक्त परिवार को जारी रखने की है जबकि सयुक्त सरचनाओ की समान्तर शाखाओ का तोड देने की और ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि समानान्तर प्रवृत्ति का स्थान निकट भविष्य मे किसी अ य के द्वारा लिया जा रहा है।"[3]

उपयुक्त मतो से स्पष्ट है कि भारत मे सयुक्त परिवारो का भविष्य धुधला नही है, यद्यपि समय के साथ साथ इसमे अनेक परिवतन आय ह जो इसके विघटन का नही वरन् रूपा तरण का प्रतीक है।

## प्रश्न
### (उत्तर सकेत सहित)

1 सयुक्त परिवार को परिभाषित कीजिए तथा इसकी विशेषताओ एव प्रकारो की विवेचना कीजिए। (आगरा, 1977, गोरखपुर, 1977)

[सकेत—देखिए—सयुक्त परिवार क्या है? सयुक्त परिवार की प्रमुख विशेषताएँ, 'हिन्दू सयुक्त परिवार प्रथा के प्रकार' आदि शीर्षको मे दिया गया विवरण।]

2 हिन्दू सयुक्त परिवार के गुण व दोष क्या हैं? इसका तीव्र विघटन क्यों हो रहा है? (रुहेलखण्ड, 1977, आगरा, 1979)

[सकेत—इसमे सयुक्त परिवार की परिभाषा, लाभ, दोष एव विघटन के कारको आदि का उल्लेख किया जायगा।]

---

1 डा० आर० एन० सक्सेना, पूव उद्धृत, पृ० 19-20।

2 डॉ० इन्द्रदेव, भारतीय समाज।

3 Ram Krishna Mukherjee *Family in India Perspective* (1979) p 97

3 भारतीय सयुक्त परिवार के विघटन के कारणो का विश्लेषण कीजिए।
(गोरखपुर, 1970, लखनऊ, 1973)
[सकेत—इसमे सयुक्त परिवार का अर्थ बताकर विघटन के कारणो का उल्लेख करना है।]

4 सयुक्त परिवार को प्रभावित कर रही समकालीन सामाजिक प्रक्रिया की विवेचना कीजिए। (गोरखपुर, 1976)
[सकेत—इसका उत्तर प्रश्न सख्या 3 की तरह ही होगा।]

5 क्या सयुक्त परिवार टूट रहा है? अपने उत्तर की पुष्टि म तर्क प्रस्तुत कीजिए। (गोरखपुर, 1974)
[सकेत—इसमे सयुक्त परिवार का अर्थ एव विघटन के कारणो का सक्षेप मे लिखकर सयुक्त परिवार से सम्बन्धित अध्ययन आदि का उल्लेख किया जायगा।]

6 हिन्दू सयुक्त परिवार मे हो रहे आधुनिक परिवर्तनो की व्याख्या कीजिए।
(गोरखपुर, 1968, 71, लखनऊ, 1972)
[सकेत—इसमे सयुक्त परिवार को परिवर्तित करने वाले कारको का सक्षेप मे उल्लेख कर 'सयुक्त परिवार की आधुनिक प्रवृत्तियाँ एव परिवर्तन' शीर्षक म दिये गये विवरण को प्रस्तुत करना है।]

# 19

# भारतीय समाज मे स्त्रियो की स्थिति
## (STATUS OF WOMEN IN INDIAN SOCIETY)

स्त्रियो की स्थिति से तात्पर्य यह है कि एक समाज विशेष मे स्त्रियो का क्या स्थान है, उन्हे पुरुषो से ऊँचा, बराबर या नीचा माना जाता है। यह इस बात पर निर्भर करता है कि किसी संस्कृति मे स्त्रियो के प्रति पुरुषो का क्या दृष्टिकोण पाया जाता है। इसके अलावा स्त्रियो की स्थिति के निर्धारण मे इस बात का भी विशेष महत्व है कि उन्हे कौन कौन से अधिकार प्राप्त है, विभिन्न क्षेत्रो मे उनके क्या-क्या कार्य हैं तथा उनसे किन भूमिकाओ को अदा करने की आशा की जाती है। इन सभी बातो पर विचार करने से ज्ञात होता है कि भारतीय समाज मे स्त्रियो की स्थिति, विशेषत हिन्दू समाज मे काफी उच्च रही है। उन्हे शक्ति, ज्ञान और सम्पत्ति का प्रतीक माना गया है और इसी कारण दुर्गा, सरस्वती एव लक्ष्मी के रूप मे उनकी पूजा होती रही है। यहाँ पुरुष के अभाव मे स्त्री को और स्त्री के अभाव मे पुरुष को अपूर्ण माना गया है। इसी कारण हिन्दू समाज मे स्त्री को पुरुष की अर्द्धांगिनी कहा गया है। यहाँ वैदिक और उत्तर वैदिक काल मे स्त्रियो की स्थिति पुरुषो के बराबर रही है तथा उन्हे पुरुषो के समान ही सब अधिकार प्राप्त रहे हैं। धीरे धीरे पुरुष मे अधिकार प्राप्ति की लालसा बढती गयी। परिणामस्वरूप स्मृतिकाल, धर्मशास्त्र काल तथा मध्यकाल मे इनके अधिकार छिनते गये और इन्हे परतन्त्र, निस्सहाय और निर्बल मान लिया गया। परन्तु समय ने पलटा खाया। अँग्रेजी शासन काल मे देश मे राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र मे जागृति आने लगी। समाज-सुधारको एव नेताओ का ध्यान स्त्रियो की स्थिति को सुधारने की ओर गया। यहाँ यह बात भी ध्यान मे रखनी है कि इस देश मे स्त्रियो को अपनी स्थिति मे सुधार लाने के लिए उतना प्रयत्न नही करना पडा जितना पश्चिमी देशो मे स्त्रियो को। यहाँ पिछले कुछ वर्षों मे स्त्रियो की स्थिति मे काफी सुधार हुआ है।

इस देश के चिन्तक, मनीषी समाज सुधारक और नेता सदैव इस बात के प्रति जागरूक रहे हैं कि नारी ही शक्ति का साकार रूप है। वही पुरुष को सहारा देती है और परिवार के माध्यम से नवीन सन्तानो को भविष्य मे विभिन्न दायित्वो

को निभाने के योग्य बनाती है। वही परिवार की आधार शिला है और समाज तथा देश की प्रगति बहुत कुछ उसी के सद-प्रयत्नो पर निर्भर करती है। डा० राधा कृष्णन ने जीवन म नारी के महत्व को स्पष्ट करते हुए बताया है कि जब आकाश बादलो से काला पड जाता है जब हम अन्धकार मे बिलकुल अकेले होते हैं, प्रकाश की एक भी किरण नही दीख पडती और जब सब ओर कठिनाइयाँ ही कठिनाइयाँ होती हैं तब हम अपने आपको किसी प्रेममयी नारी के हाथ मे छोड देते है। भारतीय समाज मे माता के रूप म नारी का विशेष सम्मान रहा है। जहाँ तक हिन्दू समाज का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि यहाँ आदर्श रूप म स्त्रियो को उच्च स्थिति प्राप्त रही है, व्यवहार रूप मे विशेषत मध्यकाल मे उनकी स्थिति अवश्य दयनीय हो गयी थी। वर्तमान मे उन्हे सामाजिक, आर्थिक एव राजनैतिक क्षेत्र मे पुरुषो के समान अधिकार प्राप्त है। स्त्रियो ने कई क्षेत्रो मे आश्चर्यजनक कार्य करके यह प्रमाणित कर दिया है कि उनमे पुरुषो की तुलना म कोई भी क्षमता कम नही होती है। मुस्लिम समाज और ईसाई समाज म स्त्रियो की स्थिति पर इसी अध्याय मे आगे विचार किया जायेगा। हिन्दू समाज म स्त्रियो की स्थिति को समझने के लिए यहाँ हम विभिन्न कालो मे स्त्रियो की स्थिति पर विचार करना होगा।

## विभिन्न कालो मे स्त्रियो की स्थिति
## (STATUS OF WOMEN IN DIFFERENT PERIODS)

### (1) वैदिक काल (Vedic Period)

इस काल म स्त्री पुरुषो की स्थिति मे समानता थी। इस समय लडकियो का उपनयन संस्कार होता था और वे भी ब्रह्मचर्य आश्रम मे लडको के समान ही शिक्षा प्राप्त करती थी। पी० एन० प्रभु ने बताया है कि जहाँ तक शिक्षा का सम्बन्ध था, स्त्री पुरुष की स्थिति सामान्यत समान थी।[1] इस काल मे ऐसे उदाहरण भी मिलते है जिनसे ज्ञात होता है कि उस समय लडके लडकियो की शिक्षा साथ साथ होती थी सह शिक्षा को बुरा नही समझा जाता था। इस युग मे अनेक विदूषी महिलाएँ हुई है। इस काल मे लडकियो का विवाह साधारणत युवावस्था म ही होता था, बाल विवाह का प्रचलन नही था। लडकियो को अपना जीवन साथी चुनने की स्वतन्त्रता थी। विधवा अपनी इच्छानुसार पुनर्विवाह कर सकती थी या नियोग द्वारा सन्तान। पत्नी के रूप मे स्त्री की स्थिति काफी उन्नत थी। अथर्ववेद मे कहा गया है कि नववधू! तू जिस घर म जा रही है, वहा की तू साम्राज्ञी है। तेरे सास ससुर, देवर तथा अन्य व्यक्ति तुझे साम्राज्ञी मानते हुए तेरे शासन म आनन्दित हो।[2] धार्मिक कार्यों के सम्पादन मे स्त्री पुरुष के अधिकार समान थे। धार्मिक अनुष्ठानो को सम्पन्न करने के लिए पत्नी का होना आवश्यक था। इस काल म पर्दा प्रथा नही

1 P N Prabhu *Hindu Social Organisation* p 258
2 अथर्ववेद, 14/14।

थी और स्त्रियों को सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार प्राप्त था। स्त्रियों की रक्षा करना पुरुष का सबसे बड़ा धर्म माना जाता था और उनका अपमान करना पाप। इस काल में परिवार का मुखिया या पितृसत्ताक ही पारिवारिक सम्पत्ति का स्वामी या संरक्षक माना जाता था, अन्य पुरुषों या स्त्रियों को सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार प्राप्त नहीं थे। इस समय भी पुत्री के बजाय पुत्र के जन्म को विशेष महत्व दिया जाता था परन्तु ऐसा धार्मिक दायित्वों को पूरा करने की दृष्टि से ही था। सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि इस काल में स्त्रियों को पुरुषों के समान ही अधिकार प्राप्त थे और दोनों की स्थिति सामान्यतः समान ही थी। समाज में स्त्रियों को आदर की दृष्टि से देखा जाता था।

## (2) उत्तर वैदिक काल (Post-vedic Period)

ईसा के 600 वर्ष पूर्व तक का समय वैदिक काल और सूत्रों, महाकाव्यों एवं प्रारम्भिक स्मृतियों का काल माना जाता है। इस समय तक स्त्रियों की दशा उन्नत और काफी सन्तोषजनक थी। स्त्रियों की इस उच्च स्थिति के लिए कारणों की विवेचना करते हुए डा० अल्तेकर[1] ने लिखा है कि पुरुषों के युद्ध कार्यों में लगे रहने के कारण स्त्रियाँ कृषि, युद्ध सामग्री के निर्माण तथा अन्य आर्थिक क्रियाओं में सक्रिय भाग लेती थी। वे समाज की उपयोगी सदस्याएँ थी। वैदिक काल में युद्ध की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए अधिकाधिक वीरों की आवश्यकता थी। इसी कारण प्राग ऐतिहासिक काल में प्रचलित सती प्रथा को समाप्त किया जा चुका था, नियोग और पुनर्विवाह की आज्ञा थी। इस समय प्रत्येक दम्पत्ति को दस पुत्र सन्तानों को जन्म देने का उपदेश दिया जाता था। धर्म के प्रभाव से स्त्रियों की सन्तोषजनक स्थिति बनी रही। धार्मिक कार्यों में पत्नी की महत्ता को स्वीकार किया गया है। बिना पत्नी के धार्मिक क्रियाएँ सम्पादित नहीं की जा सकती थी। लड़कियों का विवाह युवावस्था में होने के कारण जीवन-साथी के चुनाव में, उनकी इच्छा अनिच्छा का ध्यान रखा जाता था।

ईसा के 600 वर्ष पूर्व से ईसा के 300 वर्ष बाद का काल उत्तर वैदिक काल के नाम से जाना जाता है। इस काल के प्रारम्भिक वर्षों में महाभारत की रचना हुई। महाभारत काल एक संक्रान्ति-काल था जिसमें स्त्रियों की स्थिति के सम्बन्ध में विरोधी मत पाये जाते हैं। अनुशासन पर्व में भीष्म पितामह ने कहा है कि स्त्री का सदैव पूज्य मान कर उससे स्नेह का व्यवहार किया जाना आवश्यक है। जहाँ स्त्रियों का आदर होता है, वहाँ देवताओं का निवास होता है तथा इनकी अनुपस्थिति में सभी कार्य पुण्यरहित हो जाते हैं।[2] अनुशासन पर्व में एक अन्य स्थान पर भीष्म पितामह ने लिखा है कि स्वभाव से स्त्री में लालच को दबाने की

---

1 Dr A S Altekar *The Position of Women in Hindu Civilisation* pp 342-43

2 महाभारत, अनुशासन पर्व, 46/5।

क्षमता नही होती और इसलिए उसे सदैव किसी पुरुष का सरक्षण मिलना आवश्यक होता है। आपने स्त्रियो के दो प्रकार बताये हैं—साध्वी और असाध्वी। साध्वी स्त्रिया पृथ्वी की माता और सरक्षिका हैं तथा असाध्वी स्त्रिया वे है जिन्हे अपने पापपूर्ण व्यवहार के कारण कही भी पहचाना जा सकता है।[1] ईसा के करीब 300 वर्ष पूर्व तक स्त्रियो के धार्मिक और सामाजिक अधिकार सुरक्षित रहे हैं। इस समय तक स्वयवर प्रथा प्रचलित थी और स्त्रियो को वेदो के अध्ययन की आज्ञा थी। खुशहाल परिवारो मे लडकियो को उचित मात्रा मे शिक्षा प्रदान की जाती थी। स्पष्ट है कि इस समय तक स्त्रियो की स्थिति सन्तोषजनक थी।

इसी काल मे जैन और बौद्ध धर्म का प्रभाव बढा। इन धर्मों मे स्त्रियो को सम्मान की दृष्टि से देखा गया है। अनेक स्त्रियाँ धर्म प्रचार के कार्य मे लगी हुई थी। इन धर्मों के पतन के साथ ही स्त्रियो की स्थिति मे गिरावट आना प्रारम्भ हुई। डा० अल्तेकर ने बताया है कि आर्य गृह मे अनार्य स्त्री का प्रवेश स्त्रियो की सामान्य स्थिति की अवनति का मुख्य कारण है। यह अवनति ईसा के करीब 1000 वर्ष पूर्व से धीरे-धीरे अति सूक्ष्म रूप मे प्रारम्भ हुई और करीब 500 वर्ष पश्चात काफी स्पष्ट मालूम पडने लगी।[2] आर्यों के घरो मे अनार्य स्त्रियो के आने और कर्मकाण्डो की जटिलता के बढने से स्त्रियो का धार्मिक सस्कारो मे भाग लेना सम्भव नही रहा। मनुस्मृति मे सर्वप्रथम स्त्रियो की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाया गया। उन्हे वेदो का पठन और यज्ञ करने से रोक दिया गया। साथ ही उन्हे धार्मिक व सामाजिक अधिकारो से वचित कर दिया गया। विधवा विवाह पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया और लडकी के रजस्वला होने के पूर्व विवाह का विधान किया गया। पति की आज्ञा का पालन करना और पारिवारिक दायित्वो को निभाना ही उसका एकमात्र कार्य रह गया। अब इनके लिए उपनयन सस्कार की व्यवस्था भी समाप्त कर दी गयी। इन तथ्यो से ऐसा ज्ञात होता है कि इस काल के अन्तिम वर्षों मे स्त्रियो पर सिद्धान्त रूप मे कई नियन्त्रण लगा दिए गए परन्तु वे व्यवहार रूप मे अपने अधिकारो का उपभोग करती रही।

(3) धर्मशास्त्र काल (*Dharmshastra Period*)

ईसा के पश्चात तीसरी शताब्दी से 11वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक का काल धर्मशास्त्र काल के नाम से जाना जाता है। इस समय वेदो के नियमो की उपेक्षा की गयी और मनुस्मृति के आधार पर लोगो का व्यवहार निर्धारित किया गया। यह युग सामाजिक व धार्मिक सकीर्णता का युग था। अब स्त्रियाँ परतन्त्र, निस्सहाय एव निर्बल मानी जाने लगी थीं। स्त्री के लिए विवाह को ही एकमात्र सस्कार माना

---

1 महाभारत, अनुशासन पर्व, 43/19–21।
2 Dr A S Altekar *op cit* p 345

गया। स्त्रियों को सम्पत्ति के अधिकार से वंचित कर दिया गया। उन्हें मानसिक रूप से दुर्बल माना गया। इस समय लड़की के विवाह की आयु 10 वर्ष और कहीं कहीं 12 वर्ष थी। जीवन-साथी के चुनाव में लड़की की इच्छा अनिच्छा का कोई प्रश्न नहीं रहा क्योंकि अब यह कार्य लड़की के माता पिता द्वारा किया जाने लगा। इस काल में कुलीनता की धारणा के कारण बहुपत्नी विवाह का प्रचलन बढ़ा। अब विधुरों का विवाह भी 8 या 10 वर्ष की कन्याओं के साथ होने लगा। इस समय रखैल (Concubine) रखने की प्रथा का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। ईसा के 1000 वर्ष बाद सम्मानित परिवारों की विधवाएँ पुनर्विवाह नहीं कर सकती थी। निम्न जातियों ने भी उच्च जातियों का अनुकरण किया और ऐसे विवाहों पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इस समय पातिव्रत्य का एकतरफा आदर्श प्रस्तुत किया गया। इस काल में स्त्रियों की स्थिति को गिराने में शास्त्रकारों ने भी प्रमुख भूमिका निभायी। मनु ने स्वयं कहा है कि स्त्रियाँ कभी भी स्वतन्त्र रहने के योग्य नहीं है। बाल्यावस्था में उन्हें पिता, युवावस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र के संरक्षण में रहना चाहिए।[1] इस काल के अन्तिम वर्षों में तो स्त्री को वस्तु के रूप में समझा जाने लगा।

(4) मध्य काल (Mediaeval Period)

मुगल शासकों के काल को मध्य काल के नाम से जाना जाता है। 11वीं शताब्दी से ही भारतीय समाज पर मुसलमानों का प्रभाव बढ़ने लगा था। इस काल में हिन्दू धर्म एवं संस्कृति की रक्षा के नाम पर स्त्रियों पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये गये, उन्हें अधिकारों से वंचित कर दिया गया और उन पर कई निर्योग्यताएँ लाद दी गयी। इस समय स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार नहीं रहा। अब 5 या 6 वर्ष तक की अबोध कन्याओं का भी विवाह किया जाने लगा। रक्त की शुद्धता को बनाये रखने और स्त्रियों के सतीत्व की रक्षा के उद्देश्य से बाल-विवाहों को विशेष रूप से प्रोत्साहित किया गया। इस काल में पर्दा-प्रथा प्रचलित हुई। स्त्रियों का कार्य-क्षेत्र केवल घर की चहारदीवारी तक सीमित हो गया। अब विधवाओं को पुनर्विवाह का अधिकार नहीं था। सती प्रथा को बढ़ावा दिया गया और कई विधवाओं को तो सती होने के लिए बाध्य तक किया जाने लगा। पुरुष ने जहाँ विधवाओं को सब प्रकार के अधिकारों से वंचित कर सती होने तक के लिए विवश किया, वहाँ स्वयं एक पत्नी के होते हुए भी दूसरी और तीसरी स्त्री से विवाह करने लगा। इस काल में स्त्रियाँ पूर्णतः परतन्त्र हो चुकी थी। वे आर्थिक दृष्टि से कोई भी कार्य नहीं कर सकती थी। जन्म से लेकर मृत्यु तक उन्हें पुरुष के नियन्त्रण में रखा गया। इस समय पति की इच्छाओं को पूरा करना ही स्त्री का

[1] पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥ —मनुस्मृति

एकमात्र धम रह गया था। इस काल मे स्त्री के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार मे कुछ सुधार अवश्य हुआ। उन लडकियो को पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकार मिलने लगा जिनके कोई भाई नही था। इस काल मे धम के नाम पर स्त्रियो का सर्वाधिक शोषण हुआ। उन्ह चेतना शून्य, पुरुष की कृपा पर आधारित और निबल बना दिया गया। इस काल मे स्त्रियो की सामान्य स्थिति मे काफी गिरावट आयी। अल्तेकर ने बताया है कि इस तरह ईसा के 200 वष पूव से 1800 वष पश्चात् के करीब 2000 वर्षों के काल मे स्त्रियो की स्थिति लगातार गिरती गयी, यद्यपि माता पिता उसे दुलारते थे, पति उसे प्रेम करता था और बच्चे उसका आदर करते थे। सती प्रथा के पुन प्रचलन, पुनर्विवाह पर प्रतिबन्ध, पर्दा प्रथा के विस्तार एव बहु विवाह की व्यापकता ने उसकी स्थिति को बहुत गिरा दिया।[1] यह सही है कि मध्य काल मे भारतीय समाज मे स्त्रियो की स्थिति काफी निम्न थी परन्तु पूव और पश्चिम के अन्य समाजो के तुलनात्मक अध्ययनों से पता चलता है कि वहाँ भी स्त्रियो की स्थिति काफी गिरी हुई थी।

### (5) ब्रिटिश काल (British Period)

18वी शताब्दी के अन्तिम वर्षों मे स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूव तक का समय ब्रिटिश काल के नाम से जाना जाता है। इस काल मे स्त्रियो की निर्योग्यताओ मे कोई विशेष परिवतन नही आया। अग्रेजो ने यहाँ के लोगो के धार्मिक और सामाजिक जीवन मे किसी प्रकार का कोई हस्तक्षेप नहीं करने की नीति अपनायी। इसी नीति के कारण उन्होने स्त्रियो की स्थिति को सुधारने की दृष्टि से कोई प्रयत्न नही किया। इस काल मे विभिन्न क्षेत्रो मे स्त्रियो की निर्योग्यताएँ बनी रही।

(1) सामाजिक क्षेत्र मे स्त्रियो को कोई अधिकार प्राप्त नही थे। इन्ह शिक्षा प्राप्त करने का भी अधिकार नही था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूव हमारे यहाँ स्त्रियो म साक्षरता 6 प्रतिशत से भी कम थी। बाल विवाह एव पर्दा प्रथा के प्रचलन ने स्त्री शिक्षा मे विशेष बाधा पहुचाई। स्त्रियो के सम्बन्धो का क्षेत्र पिता एव पति के परिवार तक ही सीमित था। धार्मिक कर्तव्यो का पालन ही इनके जीवन का मुख्य काय रह गया।

(2) पारिवारिक क्षेत्र में स्त्रियो को कुछ भी अधिकार प्राप्त नही थे। सब प्रकार के अधिकार पुरुष 'कर्त्ता' मे ही केन्द्रित थे। स्त्रियो का मुख्य काय गृहस्थी एव परिवार जनो की सेवा करना था। विवाह विच्छेद का अधिकार न होने से पति के दुश्चरित्र, क्रूर और अत्याचारी होने पर भी पत्नी को उसके साथ अनुकूलन करना ही पडता था।

1 A S Altekar *op cit* pp 359-60

(3) आर्थिक क्षेत्र मे स्त्रियो को सन् 1937 के पूर्व विशेषाधिकार प्राप्त नही थे। इन्हे अधिक से अधिक भरण-पोषण का अधिकार प्राप्त था। स्त्री धन के अतिरिक्त इन्हें और कोई सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार प्राप्त नही था। स्त्री स्वय वस्तु या सम्पत्ति के रूप मे समझी जाती थी। स्त्री के द्वारा किसी प्रकार का कोई आर्थिक कार्य करना अनुचित और अनैतिक तक समझा जाता था। आर्थिक दृष्टि से कोई काम करना उसकी कुलीनता एव स्त्रीत्व के विरुद्ध माना जाता था। श्री पणिक्कर ने लिखा है कि हिन्दू समाज मे पुत्री के अधिकार को कानून द्वारा समाप्त कर दिया गया, पत्नी पति के परिवार का एक अग बन गयी और विधवाओ को मृत समान मान लिया गया।[1] इस काल मे स्त्रियो को पुरुषो की दया पर निर्भर रहना पडा।

(4) राजनीतिक क्षेत्र मे किसी गतिविधि मे स्त्रियो के भाग लेने का प्रश्न ही नही उठता। जब देश परतन्त्र था और पुरुष अंग्रेजो के गुलाम थे तो स्त्रियाँ राजनीति मे भाग कैसे ले सकती थी। उनका सम्पूर्ण जीवन तो घर की चहारदीवारी मे ही बीतता। महात्मा गाँधी द्वारा समय-समय पर चलाये जाने वाले आन्दोलन मे कुछ स्त्रियो ने भाग अवश्य लिया परन्तु उच्च समझे जाने वाले परिवारो मे इसका विरोध किया गया। सर्वप्रथम सन् 1937 मे पति की सम्पत्ति एव शिक्षा के आधार पर कुछ स्त्रियो को वोट देने का अधिकार प्राप्त हुआ।

## स्त्रियो की निम्न स्थिति के लिए उत्तरदायी कारक
## (FACTORS RESPONSIBLE FOR LOWER STATUS OF WOMEN)

ईसा के 300 वर्ष पूर्व से स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व तक स्त्रियो की स्थिति मे निम्नलिखित कारणो से गिरावट आती गयी

(1) **स्त्री शिक्षा की उपेक्षा**—अनेक सामाजिक, आर्थिक एव राजनैतिक कारणो से स्त्रियो को शिक्षा देना अनावश्यक समझा गया। यह माना जाने लगा कि स्त्रियो को नौकरी नही करानी है, अत उन्हे शिक्षा दिलाने की कोई आवश्यकता नही है। शिक्षा के अभाव मे स्त्रियाँ अपने अधिकारो के प्रति जागरूक नही रह सकी और एक एक करके उनके सभी अधिकार छिनते गये। अशिक्षा के कारण अब उनका कार्य-क्षेत्र केवल पति और परिवार के अन्य सदस्यो की सेवा करना मात्र रह गया। वे अन्धविश्वासो, कुसस्कारो और रूढियो मे इस प्रकार जकड गयी कि अब उनमे चेतना नाम की कोई वस्तु शेष नही रह गयी। परिणाम यह हुआ कि पुरुषो की तुलना मे स्त्रियो की स्थिति काफी निम्न हो गयी।

(2) **कन्यादान का आदर्श**—हिन्दू विवाह से सम्बन्धित कन्यादान के आदर्श ने भी स्त्रियो की स्थिति को निम्न करने मे योग दिया। प्रारम्भ मे ब्राह्म विवाह के अन्तर्गत योग्य वर को ढूढ कर पिता वस्त्र और आभूषणो से सुसज्जित अपनी लडकी

1 K M Panikkar *Hindu Society at Cross Roads* p 36

को दान के रूप मे उसे देता था । उस समय कन्यादान का महत्व योग्य वर को ढूढने से सम्बन्धित था । धीरे धीरे स्मृतिकाल के बाद कन्यादान की धारणा के अन्तर्गत कन्या को एक वस्तु के रूप मे समझ लिया गया । अब यह माना जाने लगा कि जो वस्तु दान मे दी जा चुकी है, उसे न तो वापस लिया जा सकता है और न ही पुन उसका दान किया जा सकता है । जिस व्यक्ति ने कन्यादान के रूप मे उसे ग्रहण किया है, वह जैसा चाहे वैसा ही उसका उपयोग कर सकता है । इस प्रकार के विश्वासो का परिणाम यह हुआ कि स्त्रियो के अधिकार छिनते गये ।

(3) **बाल विवाह**—स्मृतिकार बाल विवाह के पक्ष मे थे । उन्होने कम आयु मे ही लडकी का विवाह कर देना माता-पिता का धार्मिक कर्तव्य माना । परिणाम यह हुआ कि लडकियो के लिए विवाह संस्कार ने ही उपनयन संस्कार का स्थान ले लिया और लडकियो के लिए शिक्षा की कोई व्यवस्था नही रही । ऐसी स्थिति मे उन्हें अपने व्यक्तित्व के विकास का अवसर नही मिला । वे पुरुष की दासी मात्र बन कर रह गयी और किसी भी रूप मे उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहा । घर की चहारदीवारी मे सन्तानो का पालन पोषण और अन्य सदस्यो की सेवा करना ही उनका कार्य रह गया । परिणाम यह हुआ कि उनकी स्थिति गिरती गयी ।

(4) **वैवाहिक कुरीतियाँ**—स्त्रियो की स्थिति को निम्न बनाने मे अनेक वैवाहिक कुरीतियो जैसे कुलीन विवाह, अन्तर्विवाह, विधवा विवाह पर प्रतिबन्ध तथा दहेज प्रथा आदि का काफी योग रहा है । डॉ० मजूमदार के अनुसार हिन्दू स्त्रियो की निम्न स्थिति होने का प्रमुख कारण कुलीन विवाह प्रथा है । इस प्रथा के अन्तर्गत माता पिता का यह दायित्व रहा है कि वे अपनी लडकियो का विवाह अपने बराबर या ऊँची स्थिति वाले कुलो या समूहो मे करें । इसका परिणाम यह हुआ कि ऊँचे कुल के लडको की माँग बढ गयी और इस स्थिति का लाभ उठा कर उच्च कुल वालो ने अधिकाधिक दहेज की माँग की । इससे सामान्य स्थिति वाले लडकियो के माता पिता को आर्थिक कठिनाइयो का सामना करना पडा । दहेज की राशि मे बढ जाने से लडकियो को भार के रूप मे देखा जाने लगा । अन्तर्विवाह (Endogamy) के कारण प्रत्येक हिन्दू के लिए अपनी ही जाति या उपजाति मे विवाह करना आवश्यक हो गया । इससे जीवन साथी के चुनाव का क्षेत्र काफी सीमित हो गया । स्त्री शिक्षा के अभाव तथा बाल विवाह के प्रचलन के कारण जीवन साथी के चुनाव मे लडकियो की इच्छा या उनकी राय जानने का कोई प्रश्न ही नही रहा । पति चाहे दुश्चरित्र और कितना ही क्रूर और अत्याचारी क्यो न हो पत्नी को उसे परमेश्वर मान कर उसकी पूजा करनी पडती थी । वह किसी भी स्थिति मे विवाह विच्छेद न कर सकती थी । विधवाओ को पुनर्विवाह की आज्ञा नहीं दी गयी और पुरुष अने स्त्रियो के साथ विवाह करने लगा, बहुपत्नी विवाह का प्रचलन बढ़ा । इन वैवाहिक कुरीतियो या कुप्रथाओ ने स्त्रियो की स्थिति को गिराने मे काफी किया ।

(5) **सयुक्त परिवार व्यवस्था**—सयुक्त परिवार प्रणाली ने स्त्रियो की स्थिति को गिराने मे सक्रिय योग दिया है। श्री पणिक्कर ने स्त्रियो की निम्न स्थिति के लिए सयुक्त परिवार व्यवस्था को एक प्रमुख कारण माना है। ऐसे परिवार मे 'कर्त्ता' या पितृसत्ताक (Patriarch) के पास ही सब अधिकार केद्रित होते है। सयुक्त परिवार मे स्त्रियो को कोई स्वतन्त्रता नही होती और न ही उनके कोई आर्थिक अधिकार होते है। उन्हे तो पुरुषो की कृपा पर निर्भर रहने वाली आश्रित नारियो के रूप मे जीवन बिताना पडता है। परिवार मे वयोवृद्ध स्त्री की आज्ञा का पालन और सभी सदस्यो की सेवा करना ही उनका प्रमुख धर्म माना गया। सयुक्त परिवार प्रणाली मे स्त्रियो को चेतना शून्य बना कर सब अधिकारो से वचित कर दिया। इस प्रकार सयुक्त परिवार व्यवस्था ने स्त्रियो की स्थिति को गिराने मे योग दिया।

(6) **पुरुषो पर आर्थिक निर्भरता**—पति ही पत्नी का भरण पोषण करने वाला माना गया है और इसी कारण उसे 'भर्त्ता' कहा गया है। ऐसी स्थिति मे पत्नी का अपने पति पर आश्रित होना स्वाभाविक ही है। उत्तर वैदिक काल के बाद स्त्रियो के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार समाप्त कर दिये गये। उन्हे अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए पुरुषो पर निर्भर रहना पडा। साथ ही उस समय स्वतन्त्र रूप से आजीविका कमाने की सुविधाएँ भी स्त्रियो को प्राप्त नही थी। आर्थिक दृष्टि से कोई भी काम करना स्त्रियो के लिए उपयुक्त नही माना जाता था। ऐसी स्थिति मे स्त्रियो पर पुरुष का एकाधिकार हो गया। पति पर आर्थिक निर्भरता के कारण पत्नी किसी भी अवस्था मे पति से सम्बन्ध विच्छेद करने या परिवार की सदस्यता छोडने की बात सोच भी नही सकती थी। पुरुषो पर इस आर्थिक निर्भरता का परिणाम यह हुआ कि स्त्रियो की स्थिति निम्न होती गयी। निम्न जातियो की तुलना मे उच्च जातियो मे स्त्रियो की पुरुषो पर आर्थिक निर्भरता अधिक पायी जाती है। इसी कारण से निम्न जातियो मे स्त्रियो की स्थिति मे उतनी गिरावट नही आयी जितनी उच्च जातियो मे।

(7) **मुसलमानो के आक्रमण**—भारत मे मुसलमानो के आक्रमण और राज्य स्थापना के पश्चात स्त्रियो की स्थिति मे तेजी से गिरावट आयी। मुस्लिम आक्रमण कारियो से हिन्दू धर्म की रक्षा हेतु ब्राह्मणो ने सामाजिक नियमो को कठोर बनाने और उन्हे कठोरता के साथ लागू करने का प्रयत्न किया। मुसलमानो मे स्त्रियो की कमी थी। अत वे हिन्दू स्त्रियो और विधवाओ तक से विवाह करना चाहते थे। इस स्थिति से बचने के लिए स्त्रियो पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये गये। बाल विवाहो को प्रोत्साहित किया गया, विधवा पुनर्विवाह पर नियन्त्रण लगाया गया, पर्दा प्रथा लागू की गयी और सतीत्व के आदर्श को काफी बढा चढा कर प्रस्तुत किया गया। स्त्रियो को घर से बाहर नही निकलने दिया जाता था। ऐसी स्थिति मे लडकियो के शिक्षा

प्राप्त करने की कोई सम्भावना नही रही। इन सब परिस्थितियो ने स्त्रियो की स्थिति को गिराने मे योग दिया।

स्पष्ट है कि हिन्दू स्त्रियो की निम्न स्थिति के लिए अनेक कारक उत्तरदायी रहे है। सामाजिक व्यवस्था पर पुरुषो के एकाधिकार, स्त्री शिक्षा के अभाव, वैवाहिक कुरीतिया तथा ब्राह्मणवाद के बढते प्रभाव ने स्त्रियो की स्थिति का निम्न करने मे सहयोग प्रदान किया।

## सुधार आन्दोलन
## (REFORM MOVEMENT)

19वी शताब्दी के आरम्भ से ही कुछ चिन्तनशील व्यक्तियो ने भारतीय समाज मे स्त्रियो की दयनीय स्थिति पर विचार करना प्रारम्भ कर दिया था। यहाँ नैतिकता का दोहरा मापदण्ड मनु के समय से ही चलता रहा है। यहाँ जिस व्यवहार को पुरुषो के लिए उचित बताया गया वही उस व्यवहार को स्त्रियो के लिए अनुचित बताया गया। पुरुष एक पत्नी के रहते हुए दूसरा और तीसरा विवाह कर सकता था परन्तु पत्नी को पति की मृत्यु के बाद भी पुनर्विवाह की आज्ञा नही दी गयी। पति चाहे कितना ही व्यभिचारपूर्ण जीवन व्यतीत क्यो न करता हो, परन्तु पत्नी को पतिव्रत्य का पूर्णत पालन करना चाहिए। जहाँ पुरुष को पत्नी की मृत्यु के बाद तुरन्त ही दूसरा विवाह करने को कहा गया, वहाँ स्त्री को पति की मृत्यु के बाद चिता म जल कर सती होने का आदेश दिया गया। इस प्रकार के नैतिकता सम्बन्धी दोहरे मापदण्ड न कुछ चिन्तनशील व्यक्तियो और समाज-सुधारको को इस दिशा म सोचने और स्त्रियो की स्थिति सुधारने के लिए कुछ करने के लिए प्रेरित किया। यह भी ध्यान मे रखा जाना चाहिए कि विभिन्न प्रकार की निर्योग्यताओ से सामान्यत उच्च जातियो की स्त्रियाँ ही पीडित रही है, न कि निम्न जातियो की।

स्त्रियो की स्थिति को सुधारने के प्रयत्न मे **राजा राममोहन राय** सबसे आगे थे। आपने सन 1828 मे ब्रह्म समाज की स्थापना की और आपके ही प्रयत्नो स सन् 1829 मे सती प्रथा कानून द्वारा बन्द की गयी। आपने बाल विवाहो को समाप्त तथा विधवा पुनर्विवाह को प्रचलित कराने की दृष्टि से काफी प्रयत्न किया। **स्वामी दयानन्द सरस्वती** न हिन्दू समाज को वैदिक आदर्शों की ओर ले जाने की कोशिश की। स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहित करने, बाल विवाह को रोकने एव पर्दा प्रथा को समाप्त करने की दृष्टि से आपने काफी प्रयास किया। **ईश्वरचन्द्र विद्यासागर** ने बहु पत्नी विवाह एव विधवा पुनर्विवाह निषेध का विरोध किया। आपके प्रयत्नो के परिणाम स्वरूप ही सन 1856 मे "विधवा पुनर्विवाह अधिनियम" पास किया गया। आपने स्त्री शिक्षा का प्रसार कर स्त्रियो को अपने अधिकारो के प्रति जागृत करने का प्रयत्न किया। केशवचन्द्र सेन के प्रयत्नो के फलस्वरूप सन 1872 म 'विशेष विवाह अधिनियम' पारित हुआ जिसके द्वारा विधवा पुनर्विवाह एव अन्तरजातीय विवाह को मान्यता प्रदान की गयी। इस अधिनियम के द्वारा एक विवाह प्रथा (Monogamy)

को अनिवार्य कर दिया गया। इसी 19वीं शताब्दी में लडकियों की शिक्षा पर भी ध्यान दिया गया। जहाँ इस शताब्दी के आरम्भ में लडकियों की शिक्षा के लिए कोई व्यवस्था नहीं थी, वहीं इसी शताब्दी के मध्य में उनके लिए अनेक प्राथमिक स्कूल खोले गये और सन् 1902 में तो विभिन्न शिक्षण-संस्थाओं में लडकियों की संख्या 2,56,000 हो गयी। कई स्त्रियाँ तो शिक्षा प्राप्त कर नौकरी तक करने लगी। बढती हुई स्त्री शिक्षा ने महिलाओं को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक बनाने में विशेष योग दिया। इसी शताब्दी में अनेक महिलाओं जैसे रमाबाई, रमाबाइ रानाडे, मैडम कामा, तोरुदत्त एव स्वर्णकुमारी देवी ने स्त्रियों को अपने अधिकारों के प्रति जागृत करने का प्रयत्न किया।

बीसवीं शताब्दी के सुधार आन्दोलन को निम्नलिखित तीन भागों में बाँटा जा सकता है (i) महात्मा गाँधी द्वारा सुधार प्रयत्न, (ii) महिला संगठनों द्वारा सुधार प्रयत्न, तथा (iii) संवैधानिक प्रयास।

(i) महात्मा गाँधी ने स्त्रियों की स्थिति को सुधारने का भरसक प्रयत्न किया। आप सदैव स्त्री-पुरुषों की समानता के समर्थक रहे। आपने स्त्रियों को राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने के लिए प्रेरित किया। आपके प्रयत्नों के फलस्वरूप लाखों स्त्रियों ने स्वतन्त्रता आन्दोलन में भाग लिया। इससे स्त्रियों को अपनी शक्ति को पहचानने का अवसर मिला और वे प्रगति के पथ पर आगे बढ सकी। महात्मा गाँधी ने राष्ट्रीय कांग्रेस के माध्यम से स्त्रियों की स्थिति को सुधारने के सम्बन्ध में प्रति वर्ष प्रस्ताव पारित कर ब्रिटिश सरकार का ध्यान इस समस्या की ओर आकर्षित किया। आपने बाल विवाह और कुलीन विवाह का विरोध तथा विधवा पुनर्विवाह एव अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन किया। गाँधीजी स्त्रियों को समाज में उचित स्थान दिलाने में सदैव प्रयत्नशील रहे।

(ii) कई स्त्री-संगठनों ने भी स्त्रियों में चेतना जागृत करने और उनकी स्थिति में सुधार लाने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कार्य किये। 20वीं शताब्दी के आरम्भ से ही स्त्रियों को समाज में उचित स्थान दिलाने हेतु स्त्री-आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। मारग्रेट नोबल, एनि बेसेन्ट एव मारग्रेट कुशनस् ऐसी पाश्चात्य महिलाएँ हुई हैं जिन्होंने भारत में स्त्री-आन्दोलन को सशक्त बनाने में काफी योग दिया। सन 1917 में मद्रास में भारतीय महिला समिति (Indian Women's Association) गठित की गयी। विभिन्न महिला संगठनों के प्रयत्नों से देश में 'अखिल भारतीय महिला सम्मेलन" (All India Women's Conference) की स्थापना की गयी और सन् 1927 में पूना में इसका प्रथम अधिवेशन हुआ। इस संगठन ने स्त्री शिक्षा के प्रसार का विशेष प्रयत्न किया। इसी संगठन ने सन् 1932 में दिल्ली में 'लेडी इरविन कॉलेज' की स्थापना की। इस संगठन ने आगे चल कर बाल-विवाह, बहुपत्नी विवाह एव दहेज आदि का विरोध किया। इसने स्त्रियों के लिए पुरुषों के समान सम्पत्ति अधिकारों और वयस्क मताधिकार (Adult Franchise) की माँग रखी।

इस सगठन के अलावा 'विश्वविद्यालय महिला सघ', 'भारतीय ईसाई महिला मण्डल', 'अखिल भारतीय स्त्री शिक्षा सस्था' एव 'कस्तूरबा गाँधी स्मारक ट्रस्ट' आदि स्त्री सगठनो ने स्त्रिया की निर्योग्यताओ को दूर करने, सामाजिक कुरीतियो को समाप्त करने और स्त्री शिक्षा का प्रसार करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण काय किया।

(iii) समाज-सुधारको एव स्त्री-सगठनो के प्रयत्नो के परिणामस्वरूप कई ऐसी सवैधानिक व्यवस्थाएँ की गयी तथा समय-समय पर अनेक ऐसे अधिनियम पारित किये गये जिन्होने स्त्रिया की निर्योग्यताओ का दूर करने और उनकी स्थिति को ऊँचा उठाने मे महत्वपूर्ण योग दिया। स्वतन्त्र भारत के सविधान म स्त्री-पुरुषो को बिना किसी भेद भाव के समान अधिकार दिय गय। यहाँ सन् 1955 मे 'हिन्दू विवाह अधिनियम' पारित किया गया जिसके द्वारा विवाह के क्षेत्र मे स्त्रियो का पुरुषो के समान अधिकार दिये गये, विशेष परिस्थितियो मे विवाह विच्छेद की व्यवस्था की गयी और बहुपत्नी विवाह पर रोक लगा दी गयी। सन् 1956 म 'हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम', 'हिन्दू नाबालिग और सरक्षता अधिनियम, 'हिन्दू दत्तक ग्रहण और भरण पोषण अधिनियम', 'स्त्रियो और कन्याओ का अनैतिक व्यापार निरोधक अधिनियम' तथा सन 1961 मे 'दहेज निरोधक अधिनियम' पारित किय गये। इन अधिनियमो के पास हो जाने से अ तरजातीय विवाह, विधवा र्विवाह एव प्रेम विवाह को कानूनी मान्यता प्राप्त हो गयी है। अब लडके डकियो के लिए विवाह की न्यूनतम आयु भी क्रमश 21 वर्ष और 18 वष की जा ुकी है। अब एक पत्नी के रहते हुए दूसरी स्त्री से विवाह नही किया जा सकता। असाधारण परिस्थितियो म पति पत्नी को समान रूप से विवाह विच्छेद का अधिकार भी दिया गया है। इन सब वैधानिक अवस्थाओ ने स्त्रियो की स्थिति को सुधारने मे निश्चित रूप से योग दिया है। डा० पणिक्कर[1] ने लिखा है कि हिन्दुओ के कानून ने न कि उनके धर्म ने स्त्रियो को साम्पत्तिक अधिकारो से वचित रखा है, यौवनारम्भ के पूव लडकियो को विवाह के लिए बाध्य किया है और विधवाओ के पुनर्विवाह सम्ब धी अधिकार पर प्रतिबन्ध लगाया है। अब इन तीनो को हिन्दू धम को प्रभावित किये बिना कानून द्वारा बदला जा चुका है।

## स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् स्त्रियो की स्थिति
## (STATUS OF WOMEN AFTER INDEPENDENCE)

स्वत त्रता प्राप्ति के बाद पिछले करीब 30 वर्षों मे स्त्रियो की स्थिति म क्रान्तिकारी परिवतन आया है। अब उनकी स्थिति मे काफी सुधार हुआ है। डा० श्रीनिवास के अनुसार पश्चिमीकरण, लौकिकीकरण तथा जातीय गतिशीलता ने स्त्रियो की सामाजिक आर्थिक स्थिति का उन्नत करने मे काफी योग दिया है। वतमान मे स्त्री शिक्षा का प्रसार हुआ है। कई स्त्रियाँ औद्योगिक सस्थाओ और

विभिन्न क्षेत्रो मे नौकरी करने लगी ह । अब वे आर्थिक दृष्टि से आत्म निभर होती जा रही ह । उनके पारिवारिक अधिकारो म वृद्धि हुई है । अनक सामाजिक अधि नियमो ने स्त्रियो की निर्योग्यताओ को समाप्त करने और उन्ह सामाजिक कुरीतियो से छुटकारा दिलाने मे योग दिया है । अब स्त्रियो को अपने व्यक्तित्व के विकास हेतु काफी सुविधाएँ प्राप्त ह । स्त्रियो की स्थिति मे निम्नलिखित क्षेत्रो मे महत्वपूण परिवतन आये ह

(1) स्त्री शिक्षा के क्षेत्र मे प्रगति—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् स्त्री शिक्षा का व्यापक प्रसार हुआ है । इसके पूव न तो माता पिता लडकियो को शिक्षा दिलान के पक्ष मे थे और न ही शिक्षा की दृष्टि से समुचित सुविधाएँ उपलब्ध थी । सन 1882 मे कुछ पढी लिखी स्त्रियो की कुल सख्या 2,054 थी जो सन् 1971 मे बढकर 4 करोड.93 लाख से अधिक हो गयी ।[1] सन 1950-51 मे जहाँ स्कूलो मे लडकियो की कुल सख्या 54 लाख थी, वहा 1976 77 मे यह सख्या 3 करोड 42 लाख हो गयी । जहाँ सन 1883 मे पहली बार एक स्त्री ने बी० ए० पास किया, वहा 1950 51 मे कॉलेज स्तर की शिक्षा प्राप्त करने वाली लडकिया की सख्या 43,126 और 1970 71 मे 6,89,086 हो गयी । 1950 51 मे कॉलिजो और विश्वविद्यालयो मे शिक्षा प्राप्त कर रहे कुल विद्यार्थियो का 10 9 प्रतिशत स्त्रियाँ थी, वहाँ 1970 71 म यह प्रतिशत बढकर 22 1 हो गया ।[3] सन् 1971 के आँकडो के अनुसार देश मे शिक्षा का कुल प्रतिशत 29 35 था जिसम पुरुषा का 39 49 तथा स्त्रियो का 18 47 था । वर्तमान मे लडकियाँ व्यावसायिक शिक्षा भी ग्रहण कर रही हैं । शिक्षण से सम्बन्धित ट्रेनिंग कॉलेजा एव मेडिकल कॉलेजो मे लडकियो की सख्या प्रति वष बढती ही जा रही है । वे अब कला, विज्ञान, वाणिज्य, गृह विज्ञान, शिल्प कला और सगीत की शिक्षा भी प्राप्त कर रही है । स्त्री शिक्षा के व्यापक प्रसार ने स्त्रिया को अपने व्यक्तित्व के सवागीण विकास के समुचित अवसर प्रदान किये ह, उन्हे रूढिवादी विचारा से काफी सीमा तक मुक्त किया है, पर्दा प्रथा को कम किया है तथा बाल विवाहो के प्रचलन को घटाने म योग दिया है । डा० पणिक्कर ने लिखा है कि स्त्रियो की शिक्षा एव उनकी राजनीतिक जागृति ने उस कुल्हाडी को तेज कर दिया है जिसकी सहायता से हिन्दू सामाजिक जीवन की जगली झाडियो को साफ करना सम्भव हो गया है ।[4]

(2) आर्थिक क्षेत्र मे प्रगति—ग्रामीण क्षेत्रो मे निवास करने वाली 80 प्रति शत स्त्रियाँ आर्थिक दृष्टि से कोई न कोई काय करती ही रही हैं । नगरो मे भी निम्न वग की स्त्रियाँ घरेलू कार्यों और उद्योगा के माध्यम से कुछ न कुछ कमानी

1 *India* 1979
2 *India* 1979
3 मोतीलाल गुप्ता, भारतीय सामाजिक सस्थाएँ, पृ० 448 ।
4 K M Pannikar *op cit* p 36

रही हैं। साधारणत मध्यम और उच्च वर्ग की स्त्रियों द्वारा आर्थिक दृष्टि से कोई काम करना बुरा समझा जाता रहा है। लेकिन औद्योगीकरण एव आधुनिकीकरण ने स्त्रियों की आर्थिक निर्भरता को कम करने और उनकी स्थिति को उन्नत करने मे योग दिया है। औद्योगीकरण एव बाजार वाली अर्थ-व्यवस्था के कारण परिवार के आर्थिक कार्य विशेषीकृत सस्थाओं द्वारा किये जाने लगे, परिणामस्वरूप स्त्री की आर्थिक दृष्टि से उपयोगिता कम हो गयी। शिक्षा के व्यापक, प्रसार, नयी-नयी वस्तुओं के आकर्षण, उच्च जीवन-स्तर बिताने की बलवती इच्छा तथा बढती कीमतो ने अनेक मध्यम एव उच्च वर्ग की स्त्रियो को नौकरी या आर्थिक दृष्टि से कोई न कोई काम करने के लिए प्रेरित किया। अब मध्यम वर्ग की स्त्रियाँ उद्योगों, दफ्तरों, शिक्षण सस्थाओं, अस्पतालों, समाज-कल्याण केन्द्रों एव व्यापारिक सस्थानो म काम करने लगी है। जनगणना सम्बन्धी आँकडो से पता चलता है कि सन 1901 मे विभिन्न सेवाओं मे जितनी स्त्रियाँ कार्यरत थी उनकी सख्या 1971 मे बढकर दुगनी हो गयी। आज अपनी आजीविका स्वय कमाने वाली स्त्रियो की स्थिति उन स्त्रियो की तुलना मे निश्चित रूप से उच्च है जो घर की चहारदीवारी मे घरेलू काम काज मे ही लगी हुई और आर्थिक दृष्टि से पुरुषो पर निर्भर हैं। नौकरी करने वाली स्त्रियों की आर्थिक स्वतन्त्रता तथा रहन सहन का उच्च स्तर अन्य स्त्रियों के लिए प्रेरणा का स्रोत है।

(3) राजनीतिक चेतना मे वृद्धि—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात स्त्रियो की राजनीतिक चेतना मे आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है। जहाँ सन 1937 मे महिलाओं के लिए 41 स्थान सुरक्षित थे, वहाँ केवल 10 महिलाओ ने ही चुनाव लडा। भारत के नवीन सविधान के अनुसार सन 1950 म स्त्रियो को पुरुषो के बराबर नागरिक अधिकार प्रदान किये गये। सन् 1952 मे 23 स्त्रियाँ लोक सभा और 19 राज्य-सभा के लिए चुनी या मनोनीत की गयी थी। राज्यो के विधान मण्डलो मे इसी वर्ष स्त्रियो की सख्या 58 थी। सन 1957 मे विधान मण्डलो के लिए 342 स्त्रियाँ चुनाव मैदान म आयी जिनमे से 195 निर्वाचित हुई। पार्लियामेण्ट और विधान मण्डलो म स्त्री प्रतिनिधियो की सख्या और विभिन्न गतिविधियो मे उनकी सहभागिता, राज्यपाल, मन्त्री, मुख्यमन्त्री और यहाँ तक कि प्रधानमन्त्री तक के रूप मे उनकी भूमिकाओं से स्पष्ट है कि इस देश मे स्त्रियो म राजनीतिक चेतना दिनो दिन बढती जा रही है। सन् 1971 और 1977 के चुनावो से भी ऐसा ज्ञात होता है कि महिलाओं मे अपने वोट का स्वतन्त्र रूप से उपयोग करने की प्रवृत्ति बढती जा रही है। डा० पणिक्कर ने लिखा है कि जब स्वतन्त्रता प्राप्त की गयी तब भारत के राजनीतिक और सामाजिक जीवन मे स्त्रियो ने जो स्थान प्राप्त किया, उसे देख कर बाहरी दुनिया आश्चर्य मे पड गयी क्योकि वह तो यह सोचने की अभ्यस्त थी कि हिन्दू स्त्रियाँ पिछडी हुई, अशिक्षित और प्रतिक्रियावादी सामाजिक व्यवस्था मे जकडी हुई हैं। भारत म जो महान परिवर्तन हुआ, उसकी महत्ता यह थी कि भारतीय महि

लाओ न राज्यपालो, केबिनेट स्तर के मन्त्रिया और राजदूतो के रूप म यश प्राप्त किया ।[1] स्पष्ट है कि पिछले तीस वर्षों मे स्त्रियो की राजनीतिक चेतना मे काफी वृद्धि हुई और उनकी स्थिति मे सुधार हुआ है ।

**(4) सामाजिक जागरूकता मे वृद्धि**—पिछले कुछ वर्षों म स्त्रियो की सामाजिक जागरूकता मे काफी वृद्धि हुई है । अब स्त्रियाँ पर्दा प्रथा को बेकार समझने लगी हैं । अब बहुत सी स्त्रियाँ घर की चहारदीवारी के बाहर खुली हवा म साँस ले रही ह । आजकल कई स्त्रियो के विचारो और दृष्टिकोणो मे इतना अधिक परिवतन आ चुका है कि अब वे अ तरजातीय विवाह, प्रेम विवाह और विलम्ब विवाह को अच्छा समझने लगी ह । *जातीय नियमा और रूढियो के प्रति महिलाओ की उदासीनता बरा* बर बढ रही है । अब व रूढिवादी सामाजिक बन्धनों से मुक्त हाने के लिए प्रयत्नशील है । आज अनेक स्त्रियाँ महिला सगठनो और क्लबो की सदस्य है । कई स्त्रिया तो समाज कल्याण के काय मे लगी हुई है । अब तो ग्रामीण क्षेत्रो म भी सामाजिक जागरूकता बढती जा रही है । स्त्रियो की स्थिति मे परिवतन लाने की दृष्टि स सामाजिक जागरूकता का विशेष महत्व रहा है ।

**(5) पारिवारिक क्षेत्र मे अधिकारो की प्राप्ति**—वतमान मे स्त्रिया के पारिवारिक अधिकारो मे वृद्धि हुई है । वतमान मे स्त्रियाँ सयुक्त परिवार के ब धनो से मुक्त होकर एकाकी या मूल परिवार (Nuclear Family) मे रहना चाहती है । वे मूल परिवारो की स्थापना कर स्वत त्र जीवन व्यतीत करना और पारिवारिक मामलो मे महत्वपूण भूमिका निभाना चाहती ह । अब बच्चो की शिक्षा, परिवार की आय के उपयोग, पारिवारिक अनुष्ठाना की व्यवस्था और घर के प्रब ध मे स्त्रियो की इच्छा को विशेष महत्व दिया जाता है । अब तो विवाह विच्छेद के मामले मे भी स्त्रिया को पुरुषो के समान अधिकार प्राप्त ह । पारिवारिक क्षेत्र मे स्त्रिया क बढते हुए अधिकारा और स्वत त्रता को देखते हुए कुछ लोगो को तो पारिवारिक जीवन के विघटित हान का भय है । आज की बदली हुई परिस्थितियो मे स्त्रियो को दासी बना कर नही रखा जा सकता । अब तो मित्र और सहयोगी के रूप मे उनका महत्व दिनो दिन बढता ही जा रहा है ।

उपर्युक्त सम्पूण विवरण से स्पष्ट है कि 19वी और 20वी शताब्दी मे स्त्रिया की स्थिति म काफी सुधार हुआ । यहाँ यह भी ध्यान मे रखा जाना चाहिए कि ग्रामीण और नगरीय क्षेत्रो मे अब भी अधिकाश स्त्रियाँ सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक जीवा मे पूरी तरह से भाग नही ले रही है । इसका एक कारण तो स्त्रियो मे शिक्षा का अभाव और दूसरा परम्परागत मूल्या का अब भी प्रचलित होना है जिनके अनुसार स्त्रियो का काय-क्षेत्र घर के काम काज तक ही सीमित माना

1 *Ibid* p 36

जाता है। जैसे-जैसे स्त्रियों में साक्षरता का प्रतिशत बढ़ता है, औद्योगीकरण और नगरीकरण की प्रक्रिया तेज होती है, उनके साथ ही साथ न केवल नगरीय क्षेत्रों की वल्कि ग्रामीण क्षेत्रों की स्थिति में भी अवश्य सुधार आयेगा। आज स्त्रियों में सामाजिक चेतना बढ़ती जा रही है। डॉ० पणिक्कर का कथन है कि स्त्रियों द्वारा हिन्दू जीवन के सिद्धान्तों का पुनर्परीक्षण आज हिन्दू समाज के लिए सबसे बड़ी चुनौती है। बदली हुई सामाजिक आवश्यकताओं के प्रति उनके मस्तिष्क की जागरूकता, पूर्णतः असन्तोषजनक आदर्श के प्रति उनमें बढ़ते हुए क्षोभ, परम्पराओं के नाम पर उन्हें स्वतन्त्र जीवन के लिए आवश्यक मौलिक अधिकारों से वंचित रखना, शिक्षा से उत्पन्न होने वाली महत्वाकांक्षा और राष्ट्र के जीवन में सम्मिलित होने और उसके भविष्य का निर्माण करने हेतु चल रहे राष्ट्रीय संघर्ष के दो पीढ़ियों के साहसिक अनुभवों आदि ने उन्हें जीवन के आदर्शों का पुनर्परीक्षण करने की प्रेरणा दी है।[1] पिछले कुछ वर्षों में पारित सामाजिक अधिनियमों ने भी स्त्रियों की निर्योग्यताओं को दूर करने और उनकी स्थिति को ऊँचा उठाने में उल्लेखनीय योग दिया है।

## मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति
## (STATUS OF WOMEN AMONG MUSLIMS)

मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति तथा साथ ही हिन्दू और मुस्लिम स्त्रियों की तुलनात्मक स्थिति पर 'मुस्लिम विवाह' नामक अध्याय में विचार किया गया है। इसलिए यहाँ इन पर फिर से विचार नहीं किया गया है। अतः इनके लिए 'मुस्लिम विवाह' वाला अध्याय देखें।

## ईसाइयों में स्त्रियों की स्थिति
## (STATUS OF WOMEN AMONG CHRISTIANS)

ईसाइयों में स्त्रियों को पुरुषों के समान सब अधिकार प्राप्त हैं। ईसाई समाज में पुरुष की तुलना में स्त्री को किसी भी दृष्टि से नीचा नहीं समझा जाता। पारिवारिक क्षेत्र में स्त्री की स्थिति पुरुष के समान ही है। आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक क्रियाओं में पुरुषों के समान ही स्त्रियाँ भाग ले सकती हैं और लेती हैं। लड़कियों को भी लड़कों के समान ही शिक्षा प्राप्त करने, कोई व्यावसायिक प्रशिक्षण लेने और अपने व्यक्तित्व के विकास का पूरा अवसर दिया जाता है। ईसाइयों में स्त्री शिक्षा के व्यापक प्रसार के कारण ही स्त्रियों में काफी सामाजिक जागरूकता पायी जाती है। इनमें हिन्दुओं एवं मुसलमानों के समान पर्दा प्रथा नहीं पायी जाती। स्त्रियाँ आर्थिक क्षेत्र में भी पुरुषों के समान कोई न कोई कार्य करती हैं, किसी न किसी व्यवसाय में लगी होती हैं। वे आर्थिक दृष्टि से आत्म निर्भर होती हैं। इन लोगों में स्त्रियों का नौकरी करना किसी भी प्रकार से बुरा नहीं समझा

---

25

जाता। बालको का पालन पोषण, उनकी शिक्षा का प्रबन्ध एव विविध पारिवारिक दायित्वो का निर्वाह केवल पुरुष का ही दायित्व नही होकर, समान रूप से स्त्री-पुरुष दोनो का सयुक्त दायित्व होता है और दोनो ही इस दिशा मे प्रयत्नशील रहते हैं। हिन्दू और मुस्लिम स्त्रियो की तुलना मे ईसाई स्त्रियो पर पाश्चात्य सभ्यता और सस्कृति का अधिक प्रभाव देखने को मिलता है। ईसाइयो मे स्त्री को हिन्दुओ के समान देवी और शक्ति का प्रतीक तो नही माना गया है परन्तु जीवन के सभी क्षेत्रो मे पुरुष के समान अवश्य माना गया है। हिन्दुओ और ईसाइयो की तुलना मे मुस्लिम स्त्रियो की स्थिति पिछडी हुई है। इसका मूल कारण उनमे शिक्षा का अभाव एव पर्दा प्रथा का प्रचलन है।

## प्रश्न
### (उत्तर सकेत सहित)

1 आधुनिक भारतीय समाज मे स्त्रियो की स्थिति पर एक लेख लिखिए। (गोरखपुर, 1978)

[सकेत—इसके उत्तर मे अध्याय के प्रारम्भ मे दी गयी भूमिका और 'स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात स्त्रिया की स्थिति' नामक शीर्षक मे वर्णित बातें लिखनी है।]

2 आधुनिक भारतीय समाज मे नारी के बदलते हुए स्थान की व्याख्या कीजिए। (गोरखपुर, 1972, 74, लखनऊ, 1976)

[सकेत—इसका उत्तर भी प्रश्न प्रथम के उत्तर के समान ही होगा। उत्तर मे तुलनात्मक दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए।]

3 क्या भारत मे स्वतन्त्रता के बाद स्त्रियो की सामाजिक स्थिति मे परिवतन हुआ है ? अपने उत्तर की पुष्टि मे तक दीजिए। (गोरखपुर, 1968)

[सकेत—इसके उत्तर मे स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् स्त्रियो की स्थिति' शीर्षक मे विभिन्न क्षेत्रो मे स्त्रियो की स्थिति मे होने वाले परिवतनो का उल्लेख करना है।]

4 भारत मे स्त्रियो की बदली हुई स्थिति पर टिप्पणी लिखिए। (गोरखपुर, 1973 74)

[सकेत—इसका उत्तर प्रश्न 2 के उत्तर के समान ही होगा, परन्तु कुछ सक्षेप मे लिखना है।]

5 आधुनिक भारत म हिन्दुओ म स्त्रियो की स्थिति का सुधारने के क्या प्रयास किये गये है ?

[सकेत—इसके उत्तर के लिए सुधार आन्दोलन' शीर्षक देखिए।]

6 'सामाजिक विधान और हिन्दू स्त्री पर एक निबन्ध लिखिए।

[सकेत—इसके उत्तर के लिए 'सुधार आन्दोलन' शीर्षक के अन्तगत तीसरा पोइण्ट देखिए तथा 'स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् स्त्रियो की स्थिति शीर्षक देखिए।]

7 मुसलमानों में स्त्रियों की स्थिति का वर्णन लिखिए। (लखनऊ, 1971)
[संकेत—इसके लिए 'मुस्लिम सामाजिक संगठन एवं सामाजिक जीवन' वाला अध्याय देखें।]

8 ईसाइयों में स्त्रियों की स्थिति पर टिप्पणी लिखिए।
[संकेत—इसके उत्तर में 'ईसाइयों में स्त्रियों की स्थिति' नामक शीर्षक में दी गयी सामग्री लिखनी है।]

9 प्राचीन तथा आधुनिक भारत में स्त्रियों की स्थिति की भिन्नता प्रदर्शित कीजिए। (गोरखपुर, 1976)
[संकेत—इसके उत्तर में 'विभिन्न कालों में स्त्रियों की स्थिति' शीर्षक में वर्णित सामग्री को संक्षिप्त में तुलनात्मक दृष्टि से लिखना है।]

# 20

# अस्पृश्यता : अनुसूचित जातियाँ एवं हरिजन-कल्याण
## (UNTOUCHABILITY SCHEDULED CASTES AND HARIJAN-WELFARE)

भारतीय समाज म व्याप्त विभिन्न समस्याओ में से अस्पृश्यता भी एक प्रमुख समस्या है। भारत मे सन् 1971 की जनगणना के अनुसार अनुसूचित जातियो के लोगो की सख्या, जिन्हें अस्पृश्य माना जाता रहा है, 8,00,05,398 है। यह देश की कुल जनसख्या का 14 60 प्रतिशत है। इस देश मे इन करोडों व्यक्तियो को अस्पृश्यता के नाम पर मानवीय अधिकारो से वचित रखा गया और निम्नतम स्तर का जीवन बिताने के लिए बाध्य किया गया। इन लोगो पर सामाजिक, आर्थिक एव धार्मिक निर्योग्यताएँ लाद दी गयी जिनकी वजह से इन्हें जीवन की सब प्रकार की सुख-सुविधाओ से वचित रहना पडा। गाँव अथवा नगर के बाहर किसी कोने म रहने के लिए इन्हें टूटी-फूटी झोपडियाँ या कच्चे मकान ही मिल पाय। मानव मानव के बीच भेद भाव और ऊँच-नीच की कितनी ऊँची दीवार खडी की जा सकती है इसका ज्वलन्त उदाहरण भारतीय समाज म अस्पृश्यता के रूप मे स्पष्टत देखने को मिलता है। इन लोगों का सैकडो-हजारो वर्षों तक शोषण होता रहा और इन्हें सामाजिक न्याय से वचित रखा गया। कैसी विडम्बना है कि एक ओर हिन्दू धर्म प्राणी मात्र के प्रति दया, स्नेह, त्याग और सहानुभूति के भावो को महत्त्व देता है और दूसरी ओर मानव मानव के बीच भेदभाव को पनपाता है। वास्तव म, अस्पृश्यता हिन्दुओ के धार्मिक और सास्कृतिक इतिहास का एक बडा कलक है।

### अस्पृश्यता का इतिहास
### (HISTORY OF UNTOUCHABILITY)

अस्पृश्यता जाति-व्यवस्था के इतिहास के साथ जुडी हुई है। वैदिक काल मे समाज के सम्मुख अस्पृश्यता जैसी कोई समस्या नही थी। इतना अवश्य था कि उस समय पवित्रता और अपवित्रता सम्बन्धी विचार अवश्य पाये जाते थे तथा अपवित्र कार्यों मे लगे लोगो को दूध से बनी वस्तुओ एव यज्ञ मे काम आने वाली चीजो को छूने की आज्ञा नही थी। उत्तर-वैदिक काल के अन्तिम वर्षों म ऐसे लोगो के लिए चाण्डाल डोम एव अन्त्यज आदि शब्दो का प्रयोग किया जाने लगा। परन्तु फिर

भी इनके प्रति सामाजिक भेदभाव और घृणा की भावना अधिक कटु नही थी। डा० घुरिये ने बताया है कि उस समय यह विश्वास अवश्य प्रचलित था कि यज्ञ के स्थान पर शूद्र को नही आने देना चाहिए।[1] आपकी मान्यता यह है कि उत्तर वैदिक काल मे चारो वर्ण एक-दूसरे मे पृथक हो गये थे और अस्पृश्यता से सम्बन्धित प्रतिबन्ध केवल चाण्डालो या अन्त्यजो पर ही नही बल्कि पूरे शूद्र वर्ण पर लागू किये जा चुके थे।

स्मृतिकाल म अस्पृश्यता की भावना मे तेजी से वृद्धि होने लगी। मनुस्मृति के निर्देशो ने अस्पृश्यता को बढ़ाने मे विशेष योग दिया। मनुस्मृति मे बतलाया गया है कि चाण्डालो एव श्वपचो को गाँव के बाहर रहना चाहिए, दिन मे गाँव म नही आना चाहिए और अपने बर्तनो के प्रयोग को केवल अपने तक ही सीमित रखना चाहिए। इस काल म चाण्डालो को सबसे अधम कार्य जैसे गन्दगी को साफ करना, लावारिस शवो को उठाना, आवश्यकतानुसार वधिक का कार्य करना आदि सौंपे गये।

भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना के पश्चात अस्पृश्यों की स्थिति में और भी गिरावट आयी। इन्हें किसी एकान्त स्थान पर रहने के लिए बाध्य किया गया। ये किसी पूजा-पाठ, यज्ञ अथवा धार्मिक उत्सव मे भाग नही ले सकते थे। इनके लिए सार्वजनिक स्थान का उपयोग वर्जित था। इन्हें दिन म अपनी बस्ती से बाहर निकलने की भी आज्ञा नही थी।

ब्रिटिश काल में अछूतों या अस्पृश्यो को दलित वर्ग (Depressed Class) के नाम से पुकारा गया। अस्पृश्य जातियो के नामकरण के सम्बन्ध मे शुरू से ही काफी विवाद रहा है। इन्हे अछूत दलित वर्ग, बाहरी जातियाँ, हरिजन एव अनुसूचित जाति आदि नामो से सम्बोधित किया जाता रहा है। इनकी आर्थिक स्थिति के अत्यन्त दयनीय होने के कारण इनके लिए 'अछूत' शब्द के स्थान पर 'दलित वर्ग' शब्द का प्रयोग किया गया। सन् 1931 की जनगणना के समय जनगणना अधीक्षक ने 'दलित' शब्द के स्थान पर बाहरी जातियाँ (Exterior Castes) शब्द का प्रयोग किया। महात्मा गाँधी ने इनके लिए हरिजन शब्द का प्रयोग किया और इनकी स्थिति मे सुधार लाने का प्रयत्न किया। सन् 1935 के विधान में इन लोगो को कुछ विशेष सुविधाएँ प्रदान करने की दृष्टि से एक अनुसूची तैयार की गयी जिसमे विभिन्न अस्पृश्य जातियों को सम्मिलित किया गया। इस अनुसूची के आधार पर वैधानिक दृष्टिकोण से इन जातियों के लिए 'अनुसूचित जाति' (Schedule Caste) शब्द को काम मे लिया गया। वर्तमान म सभी सरकारी प्रयोग मे इनके लिए, 'अनुसूचित जाति' शब्द को ही काम म लिया जाता है। इनके लिए तैयार की गयी सूची मे जिन अस्पृश्य जातियो को रखा गया उन्हें अनुसूचित जातियाँ कहा गया।

1 G S Ghurye Cast Class and Occupation p 219

## अस्पृश्यता का अर्थ
## (MEANING OF UNTOUCHABILITY)

साधारणत उन जातियो को अस्पृश्य जातियाँ माना जाता है जो घृणित पेशों के द्वारा अपनी जीविका अर्जित करती हैं। पर तु अस्पृश्यता के निर्धारण का यह सर्वमा य आधार नहीं है। इसका कारण यह है कि अनेक ऐसी जातिया भी हैं जो घृणित व्यवसायो मे लगी हुई नही हैं पर तु फिर भी उ हे परम्परागत रूप से अस्पृश्य माना जाता है। अस्पृश्यता का सम्ब ध प्रमुखत पवित्रता एव अपवित्रता की धारणा से है। हि दू समाज मे कुछ व्यवसायो या कार्यों को पवित्र एव कुछ को अपवित्र समझा जाता रहा है। यहाँ मनुष्य या पशु पक्षी के शरीर से निकले हुए पदार्थों को अपवित्र माना गया है। ऐसी दशा मे इन पदार्थों से सम्बन्धित व्यवसाय में लगी जातियो को अपवित्र समझा गया और उ हे अस्पृश्य कहा गया। अस्पृश्यता समाज की एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अ तगत अस्पृश्य समझी जाने वाली जातियो के व्यक्ति सवण हि दुओ को स्पश नही कर सकते।

अस्पृश्यता का तात्पय है जो छूने योग्य नहीं है।' अस्पृश्यता एक ऐसी धारणा है जिसके अनुसार एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को छून, देखने और छाया पडने मात्र से अपवित्र हो जाता है। सवण हि दुओ को अपवित्र होन से बचाने के लिए अस्पृश्य लोगो के रहने के लिए अलग से व्यवस्था की गयी, उन पर अनेक निर्योग्यताएँ लाद दी गयी और उनके सम्पक से बचन के लिए कई उपाय किय गये। अस्पृश्यो के अ तगत वे जातीय समूह आते है जिनके छून से अ य व्यक्ति अपवित्र हो जायें और जि हें पुन पवित्र होने के लिए कुछ विशेष सस्कार करने पड़ें। इस सम्ब ध मे डा० के० एन० शर्मा ने लिखा है "अस्पृश्य जातियाँ वे हैं जिनके स्पश से एक व्यक्ति अपवित्र हो जाय और उसे पवित्र होने के लिए कुछ कृत्य करने पड़ें।'[2] अस्पृश्यता के निर्धारण म छूने मात्र से अपवित्र होने की बात पर्याप्त नही है।

हट्टन ने उपयु क्त कठिनाइयो को ध्यान मे रखते हुए कुछ ऐसी निर्योग्यताओ का उल्लेख किया है जिनके आधार पर अस्पृश्य जातियो के निर्धारण का प्रयत्न किया गया है। आपने उन लोगों को अस्पृश्य माना है जो (अ) उच्च स्थिति के ब्राह्मणो की सेवा करने में अयोग्य हों (ब) सवण हि दुओं की सेवा करने वाले नाइयो, कहारों तथा दर्जियो की सेवा पाने के अयोग्य हो, (स) हिन्दू म दिरों मे प्रवेश प्राप्त करने के अयोग्य हों, (द) सावजनिक सुविधाओं (पाठशाला, सडक तथा कुआँ) को उपयोग मे लाने के अयोग्य हों, और (य) घृणित पेशे से पृथक होने के अयोग्य हों।[3] सारे देश मे अस्पृश्यों के प्रति एकसा व्यवहार नही पाया जाता और न ही देश के विभिन्न भागो मे अस्पृश्यों के सामाजिक स्तर म समानता पायी जाती है। अत हट्टन

---

[2] डा० के० एन० शर्मा, भारतीय समाज और सस्कृति, पृ० 262।

[3] J H Hutton *Caste in India* p 195

नहीं हैं। डा० डी० एन० मजूमदार के द्वारा दिये गये उपर्युक्त आधार भी अन्तिम नहीं हैं। डा० डी० एन० मजूमदार के अनुसार, 'अस्पृश्य जातियाँ वे हैं जो विभिन्न सामाजिक एव राजनीतिक निर्योग्यताओं से पीड़ित हैं, जिनमें से बहुत सी निर्योग्यताएँ उच्च जातियों द्वारा परम्परागत रूप से निर्धारित और सामाजिक रूप से लागू की गयी हैं।"[4] स्पष्ट है कि अस्पृश्यता से सम्बन्धित कई निर्योग्यताएँ या समस्याएँ हैं जिनका आगे उल्लेख किया गया है।

## अस्पृश्यता की उत्पत्ति के कारक
## (FACTORS RESPONSIBLE FOR THE ORIGIN OF UNTOUCHABILITY)

अस्पृश्यता की समस्या पर विचार करने वाले विद्वानों ने इसकी उत्पत्ति के कारकों का पता लगाया है। इस सम्बन्ध में हट्टन ने लिखा है, "बाह्य अथवा बहिष्कृत जातियों के स्तर की उत्पत्ति अंशत प्रजातीय, अंशत धार्मिक और अंशत सामाजिक प्रथा का परिणाम है।"[5] हट्टन के इस कथन से स्पष्ट है कि अस्पृश्यता के लिए कोई एक कारक उत्तरदायी नहीं है। प्रजातीय तथा सांस्कृतिक असमानताओं धर्म सम्बन्धी पवित्रता की धारणा एव अनेक सामाजिक निषेधों के कारण अस्पृश्यता की उत्पत्ति हुई है। हट्टन ने निम्नलिखित कारकों को अस्पृश्यता की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी माना है

(1) प्रजातीय कारक
(2) धार्मिक कारक और
(3) सामाजिक कारक।

(1) प्रजातीय कारक (Racial Factor)—रिजले, घुरिये तथा मजूमदार नामक विद्वानों ने प्रजातीय विभिन्नता को अस्पृश्यता की उत्पत्ति का एक मूल कारण माना है। प्रत्येक प्रजाति साधारणत अपने आपको अन्य प्रजातियों से श्रेष्ठ मानती है। जब एक प्रजाति किसी अन्य प्रजाति पर विजय प्राप्त कर लेती है तब वह विशेषत अपने को उच्च तथा अन्य प्रजाति को निम्न समझने लगती है। इण्डो आर्यन लोग भारत में विजेता के रूप में आये और उन्होंने यहाँ के विजित मूल निवासियों को अपने से हीन समझा तथा उन्हें दास या दस्यु कहा। ऐसे लोगों को अपने सम्पर्क और धार्मिक पूजा सस्कार आदि से इण्डो आर्यन लोगों ने पृथक रखा और उन्हें निम्न जाति के रूप में सामाजिक स्थिति प्रदान की। डॉ० मजूमदार के अनुसार, "तथाकथित 'दलित जातियों की निर्योग्यताएँ सस्कार सम्बन्धी नहीं हैं बल्कि इसका आधार सम्भवत प्रजातीय और सांस्कृतिक भिन्नताएँ हैं।'[6] इन भिन्नताओं के कारण पृथकता की धारणा धीरे धीरे इतनी बलवती होती गयी कि इण्डो-आर्यन लोगों ने यहाँ के मूल निवासियों को छूना तक भी उचित नहीं समझा। परिणाम यह हुआ,

4 D N Majumdar *Races and Cultures of India* p 336
5 J H Hutton *op cit* p 206
6 D N Majumdar *op cit* p 427

कि इन लोगो को अछूत और इनके पेशो को घृणित समझा जाने लगा। इन लोगो को उच्च समझे जाने वाले पेशो को अपनाने की आज्ञा नही दी गयी।

(2) धार्मिक कारक (Religious Factor)—धर्म मे निषेध (taboo) का विशेष महत्त्व पाया जाता है। धर्म व्यक्तियों को कुछ कार्यों को करने की आज्ञा देता है और कुछ को करने पर निषेध लगाता है। जिन कार्यों या पेशो को घृणित समझा गया, उनको करने वाले लोगो को अस्पृश्य या अछूत माना जाने लगा। हट्टन के अनुसार, 'निषेध अस्पृश्यता की उत्पत्ति का एक प्रमुख कारण है। आपने लिखा है, "इसमे बहुत कम सन्देह है कि अस्पृश्यता के विचार की उत्पत्ति निषेध से हुई है।"[7] धर्म मे पवित्रता और शुद्धि का भी विशेष महत्त्व पाया जाता है। करीब करीब सभी समाजो में ऐसा माना जाता है कि धर्म से सम्बन्धित सभी वस्तुओं का पवित्र होना पूजा, अनुष्ठान या यज्ञ की सफलता के लिए आवश्यक है। यही कारण है कि पूजा की सामग्री को अपवित्र वस्तुओं के सम्पर्क से दूर रखा जाता है। शुद्धता की इसी धारणा के कारण घृणित पेशा को करने वाले लोगो के सम्पर्क से बचा गया और उन्हें अस्पृश्य समझा गया। भारतीय समाज मे मलमूत्र उठाने वाले लोगो को इसी कारण अछूत या अस्पृश्य माना गया।

हिन्दू समाज मे व्यक्ति के परिष्कृत एव शुद्ध होने के लिए अनेक सस्कारों का विधान किया गया है। ऐसे लोगों को जिनके लिए सस्कारों का विधान नहीं किया गया अस्पृश्य कहा गया। इन लोगो को वेदाध्ययन, पूजा पाठ एव यज्ञ करने की आज्ञा नही दी गयी। इस सम्बन्ध मे डा० घुरिये ने लिखा है, "पवित्रता के विचार चाहे वे व्यवसाय सम्बन्धी हो अथवा सस्कार सम्बन्धी जो जाति की उत्पत्ति में एक कारक माने गये हैं अस्पृश्यता के विचार और व्यवहार की आत्मा है।'[8]

(3) सामाजिक कारक (Social Factor)—समाज मे प्रथाओ, रीति रिवाजो, रूढियो तथा सस्थाओ का सामाजिक नियन्त्रण के साधन के रूप मे काफी महत्व पाया जाता है। व्यक्ति के व्यवहार पर उसकी प्रथाओ एव रूढियो का बहुत प्रभाव पडता है। जब व्यवहार का कोई प्रकार सामाजिक रूढि के रूप मे प्रचलित हो जाता है तो वह काफी समय तक चलता ही रहता है। यही बात अस्पृश्यता के सम्बन्ध मे सही है। समाज मे कुछ पेशों को अपवित्र एव घृणित माना जाने लगा और धीरे धीरे अस्पृश्यता की प्रथा सामाजिक रूढि बन गयी। परिणाम यह हुआ कि उच्च जातियो के लोग अस्पृश्यो के सम्पर्क से बचने का प्रयत्न करने लगे। स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी कि स्वय अस्पृश्य माने जाने वाले लोग भी उच्च जातियो के सम्पर्क मे आने तथा उन्हे छूने तक से घबराने लगे। धीरे धीरे अस्पृश्यता समाज मे इतनी बद्धमूल होती गयी कि अस्पृश्यो को देखने या उनकी छाया पडने मात्र से उच्च जातियो के अपवित्र होने की बात कही गयी।

---

7 *Census of India* Vol I p 486

8 D N Majumdar *op cit* p 314

नेसफील्ड ने उच्च अथवा निम्न व्यवसाय को अस्पृश्यता के लिए उत्तरदायी माना है। निम्न समझे जाने वाले व्यवसायों या कार्यों में लगे हुए लोगों को अछूत या अस्पृश्य माना गया। स्टेनले राइस की मान्यता है कि अस्पृश्य लोग विजितों के वंशज हैं। इन्हें द्रविड़ मूल निवासी, दास, दस्यु अथवा अनार्य कहा गया।

## अस्पृश्य जातियों की समस्याएँ अथवा निर्योग्यताएँ
## (PROBLEMS OR DISABILITIES OF UNTOUCHABLE CASTES)

निर्योग्यताओं का तात्पर्य है— किसी वर्ग अथवा समूह को कुछ अधिकारों या सुविधाओं को प्राप्त करने के अयोग्य मान लेना। भारत में अस्पृश्य जातियों की कई निर्योग्यताएँ रही हैं। इन निर्योग्यताओं के कारण इन्हें जीवन में आगे बढ़ने और अपने व्यक्तित्व के विकास का अवसर नहीं दिया गया। अस्पृश्यों की ये निर्योग्यताएँ उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक ही मौजूद रही हैं, बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही सुधार आन्दोलनों तथा बाद में स्वतन्त्र भारत में सरकारी प्रयत्नों के परिणामस्वरूप इनमें काफी कमी आयी है। स्मृतियों, पुराणों तथा धर्म ग्रन्थों में अस्पृश्य की निर्योग्यताओं का उल्लेख इस प्रकार किया गया है

I धार्मिक निर्योग्यताएँ (Religious Disabilities)

अस्पृश्यों की धार्मिक निर्योग्यताएँ निम्नलिखित हैं

(1) मन्दिर प्रवेश व पवित्र स्थानों के उपयोग पर प्रतिबन्ध—अस्पृश्यों को अपवित्र माना गया और उन पर अनेक निर्योग्यताएँ लाद दी गयीं। इन लोगों को मन्दिर प्रवेश, पवित्र नदी घाट के उपयोग, पवित्र स्थानों पर जाने तथा अपने ही घरों पर देवी देवताओं की पूजा करने का अधिकार नहीं दिया गया। इन्हें वेदों अथवा अन्य धर्म ग्रन्थों के अध्ययन एवं श्रवण की आज्ञा नहीं दी गयी। इन्हें अपने सम्बन्धियों के शव सार्वजनिक श्मशान घाट पर जलाने की भी स्वीकृति नहीं दी गयी।

(2) धार्मिक सुख सुविधाओं से वंचित—अस्पृश्यों को सब प्रकार की धार्मिक सुविधाओं से वंचित कर दिया गया। यहाँ तक कि सवर्ण हिन्दुओं को आदेश दिये कि वे अपने धार्मिक जीवन से अस्पृश्यों को पृथक रखें। मनुस्मृति में बतलाया गया है कि अस्पृश्य को किसी प्रकार की कोई राय न दी जाय, न ही उसे भोजन का शेष भाग ही दिया जाय, न ही उसे देवभोग का प्रसाद ही मिले, न उसके समक्ष पवित्र विधान की व्याख्या ही की जाय, न उस पर तपस्या या प्रायश्चित का ही भार डाला जाय।[9] अस्पृश्य लोगों को पूजा, आराधना, भगवत भजन कीर्तन आदि का कोई अधिकार नहीं दिया गया है।

(3) धार्मिक संस्कारों के सम्पादन पर प्रतिबन्ध—अस्पृश्यों को जन्म से ही अपवित्र माना गया है और इसी कारण इनके शुद्धिकरण के लिए संस्कारों की व्यवस्था नहीं की गयी है। हिन्दुओं के शुद्धिकरण हेतु धर्म-ग्रन्थों में सोलह प्रमुख संस्कारों का

9 नर्मदेश्वर प्रसाद, जाति व्यवस्था, पृ० 22 पर उद्धृत।

उल्लेख मिलता है। इनमे अधिकाश को पूरा करने का अधिकार अस्पृश्यो को नही दिया गया है। इह विद्यारम्भ उपनयन और चूडाकम जस प्रमुख सस्कारो की आज्ञा नही दी गयी है।

## II सामाजिक निर्योग्यताएँ (Social Disabilities)

अस्पृश्यो की अनेक सामाजिक निर्योग्यताएँ रही हैं जिनम से प्रमुख इस प्रकार हैं

(1) सामाजिक सम्पक पर रोक—अस्पृश्यो का सवण हिन्दुओ के साथ सामाजिक सम्पक रखने और उनके सम्मेलनो, गोष्ठियो, पचायतो उत्सवा एव समारोहो मे भाग लेने की आज्ञा नही दी गयी। उन्हे उच्च जाति के हिन्दुओ के साथ खान पान का सम्बध रखने से वचित रखा गया है। अस्पृश्यो की छाया तक को अपवित्र माना गया और इन्हे सावजनिक स्थानो के उपयोग की आज्ञा नही दी गयी। उनके दशनमात्र से सवण हिन्दुओ के अपवित्र हो जाने की आशका से अस्पृश्यो को अपने सब काय रात्रि मे ही करने पड़ते।

(2) सावजनिक वस्तुओ के उपयोग पर प्रतिबन्ध—अस्पृश्यो को अन्य हिन्दुओ के द्वारा काम मे लिय जाने वाले कुआ से पानी नहीं भरने दिया जाता, स्कूलो मे पढने एव छात्रावासा मे रहने नही दिया जाता था। इन लोगो को उच्च जातियो द्वारा काम मे ली जाने वाली वस्तुआ का प्रयोग नही करने दिया जाता था। ये पीतल तथा कासे के बतनो का प्रयोग नही कर सकते थे, अच्छे वस्त्र एव सोने के आभूषण नही पहन सकते थे। दुकानदार इन्हे सामान नही देते, धोबी इनके कपडे नही धोते, नाई बाल नही बनाते और कहार पानी नही भरते। इन्ह अन्य सवण हिन्दुओं की बस्ती या मोहल्ले मे रहने की आज्ञा नहीं थी। धम ग्रथो म बतलाया गया है कि चाण्डालो एव श्वपाको का निवास-स्थान गाँव के बाहर होगा, वे अपपात्र होग तथा कुत्ते एव खच्चर ही उनका धन होगे।[10]

(3) शिक्षा और मनोरजन सम्बधी सुविधाओं से वचित—न केवल अस्पृश्यो का बल्कि शूद्रो तक को शिक्षा प्राप्त करने की आज्ञा नही दी गयी। इन्हे चौपालो मेलो तथा हाटो म शामिल होकर अपना मनोरजन करने का अधिकार नही दिया गया। परिणाम यह हुआ कि समाज का एक बडा वग निरक्षर रह गया।

(4) अस्पृश्यों के भीतर भी सस्तरण (Hierarchy)—एक आश्चयजनक बात तो यह है कि स्वय अस्पृश्यो मे भी सस्तरण की प्रणाली अर्थात् ऊच-नीच या भेदभाव पाया जाता है। य लोग तीन सौ स अधिक उच्च एव निम्न जातीय समूहो मे बँटे हुए हैं जिनमे से प्रत्येक समूह की स्थिति एक दूसरे से ऊँची अथवा नीची है। इस सम्बन्ध

10 Jobes W (ed) *Sacred Books of the East* 51 X Quoted by N Prasad *The Myth of the Caste System* p 22

ने के० एम० पणिक्कर का कहना है कि 'विचित्र बात यह है कि स्वयं अछूतों के भीतर एक पृथक जाति के समान संगठन था। सवर्ण हिन्दुओं के समान उनमें भी बहुत उच्च और निम्न स्थिति वाली उपजातियों का संस्तरण था, जो एक-दूसरे से श्रेष्ठ होने का दावा करती थीं।"[11]

(5) अस्पृश्य एक पृथक् समाज के रूप में—एक पृथक् समाज के रूप में अस्पृश्यों को अनेक सामाजिक निर्योग्यताओं से पीड़ित रहना पड़ा है। इस बारे में डा० पणिक्कर ने लिखा है, "जाति व्यवस्था जब अपनी यौवनावस्था में क्रियाशील थी, उस समय इन अस्पृश्यों (पंचम वर्ण) की स्थिति कई प्रकार से दासता से भी खराब थी। दास कम से कम एक स्वामी के ही अधीन होता था और इसीलिए उसके अपने स्वामी के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध होते थे। लेकिन अस्पृश्यों के परिवार पर तो गाँव भर की दासता का भार होता था।"[12]

III आर्थिक निर्योग्यताएँ (Economic Disabilities)

अस्पृश्यों को वे सब कार्य सौंपे गये जो सवर्ण हिन्दुओं के द्वारा नहीं किये जाते थे। आर्थिक निर्योग्यताओं के कारण अस्पृश्यों की आर्थिक स्थिति इतनी दयनीय हो गयी कि इन्हें विवश होकर सवर्णों के झूठे भोजन, फटे पुराने वस्त्रों एवं त्याज्य वस्तुओं से ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करनी पड़ी। इनकी आर्थिक निर्योग्यताएँ इस प्रकार हैं

(1) व्यावसायिक निर्योग्यता—अस्पृश्यों को मल मूत्र उठाने, सफाई करने, मरे हुए पशुओं को उठाने और उनके चमड़े से वस्तुएँ बनाने का कार्य ही सौंपा गया। इन्हें खेती करने, व्यापार चलाने या शिक्षा प्राप्त कर नौकरी करने का अधिकार नहीं दिया गया। ये लोग ग्रामों में अधिकतर भूमिहीन श्रमिकों के रूप में कार्य करते हैं। इन लोगों पर यह निर्योग्यताएँ लाद दी गयीं कि ये अपने परम्परागत पेशे को छोड़कर किसी अन्य पेशे को नहीं अपना सकते हैं।

(2) सम्पत्ति सम्बन्धी निर्योग्यता—व्यावसायिक निर्योग्यता के अलावा इन्हें सम्पत्ति सम्बन्धी निर्योग्यता से भी पीड़ित रहना पड़ा। इन्हें भूमि अधिकार तथा धन संग्रह की आज्ञा नहीं दी गयी। मनुस्मृति में बतलाया गया है, "अस्पृश्य व्यक्ति को धन संचय कदापि नहीं करना चाहिए, चाहे वह ऐसा करने में समर्थ ही क्यों न हो, क्योंकि धन संचित करके रखने वाला शूद्र ब्राह्मणों को पीड़ा पहुँचाता है।"[13] अस्पृश्यों को दासों के रूप में अपने स्वामियों की सेवा करनी पड़ती थी, चाहे प्रतिफल के रूप में उन्हें कितना ही कम क्यों न दिया जाय।

---

11 के० एम० पणिक्कर, हिन्दू समाज निर्णय के द्वार पर, पृ० 269 280।

12 पूर्व उद्धृत, पृ० 27।

13 Jones W (ed) *op cit* p 414 VIII

(3) भर-पेट भोजन की सुविधा भी नहीं (आर्थिक शोषण)—अस्पृश्यों का आर्थिक दृष्टि से शोषण हुआ है। उन्हें घृणित से घृणित पेशों को अपनाने के लिए बाध्य किया गया और बदले में इतना भी नहीं दिया गया कि वे भर पेट भोजन भी कर सकें। उनकी महत्वपूर्ण सेवाओं के बदले में समाज ने उन्हें शेष जूठा भोजन त्याज्य वस्तुएँ और फटे-पुराने वस्त्र दिए। हिन्दुओं ने धर्म के नाम पर अपने इस सारे व्यवहार को उचित माना और अस्पृश्यों को इस व्यवस्था से सन्तुष्ट रहने के लिए बाध्य किया।

IV राजनीतिक निर्योग्यताएँ (Political Disabilities)

अस्पृश्यों को राजनीति के क्षेत्र में सब प्रकार के अधिकारों से वंचित रखा गया है। उन्हें शासन के कार्य में किसी भी प्रकार का कोई हस्तक्षेप करने, कोई सुझाव देने, सार्वजनिक सेवाओं के लिए नौकरी प्राप्त करने या राजनीतिक सुरक्षा प्राप्त करने का कोई अधिकार नहीं दिया गया। अस्पृश्य को कोई भी अपमानित कर सकता और यहाँ तक कि पीट भी सकता था। ऐसे व्यवहारों के विरुद्ध उन्हें सुरक्षा प्राप्त नहीं थी। उनके लिए सामान्य अपराध के लिए भी कठोर दण्ड की व्यवस्था थी। दण्ड की कठोरता का इसी बात से पता चलता है कि मनु ने बतलाया है कि निम्न वर्ण का मनुष्य (शूद्र अथवा अस्पृश्य) अपने जिस अंग से उच्च वर्ण के व्यक्तियों को चोट पहुँचाये, उसका वह अंग ही काट डाला जायेगा। यह, जो हाथ या डण्डा उठायेगा, उसका हाथ काट लिया जायगा।[14] स्पष्ट है कि अस्पृश्यों की अनेक राजनीतिक निर्योग्यताएँ रही हैं।

अस्पृश्यों की उपर्युक्त निर्योग्यताएँ मध्यकालीन सामाजिक व्यवस्था से विशेष रूप से सम्बन्धित हैं। वर्तमान में अस्पृश्यों की समस्या प्रमुखतः सामाजिक और आर्थिक है न कि धार्मिक और राजनीतिक। इतने लम्बे समय से सब प्रकार के अधिकारों से वंचित, निरक्षर तथा चेतना-शून्य होने के कारण इनकी स्थिति में सुधार होने में कुछ समय लगेगा। इनके प्रति लोगों की मनोवृत्ति धीरे-धीरे बदलेगी और कालान्तर में ये सामाजिक जीवन की मुख्य धारा में प्रवाहित हो सकेंगे। अस्पृश्यों की निर्योग्यताएँ नगरों में समाप्त सी होती जा रही हैं परन्तु ग्रामों में आज भी दिखलायी पड़ती हैं। इसका प्रमुख कारण यही है कि ग्रामों में सामाजिक परिवर्तन की गति धीमी है रूढ़िवादिता का अभी भी वहाँ बोलबाला है।

## अस्पृश्यता के दुष्परिणाम
## (EVIL EFFECTS OF UNTOUCHABILITY)

अस्पृश्यों पर लगाये गये प्रतिबन्धों या उन पर थोपी गयी निर्योग्यताओं के दुष्परिणाम न केवल अस्पृश्यों को बल्कि सम्पूर्ण हिन्दू समाज को भुगतने पड़े हैं। ये दुष्परिणाम या प्रभाव इस प्रकार हैं

[14] मनुस्मृति, 280, VIII।

(1) सामाजिक एकता में बाधक (Hindrance to Social Unity)—अस्पृश्यता ने हिन्दू समाज को सैकड़ों उच्च एवं निम्न स्थिति वाले समूहों में बाँटने मे विशेष भूमिका निभायी है और समाज की एकता मे बाधा पहुँचायी है। अस्पृश्यता की प्रवृत्ति ने ही समाज को छोटे छोटे आत्म-केन्द्रित समूहों में बाँटकर सामाजिक एकात्मकता के भाव को नहीं पनपने दिया है। साथ ही समाज मे इतने बड़े वर्ग के अज्ञानता और अन्धकार के गर्त में सैकड़ों हजारों वर्षों तक डूबे रहने के कारण देश की प्रगति मे कितनी बाधा पहुंची है, इसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है।

(2) धर्म परिवर्तन (Conversion)—अस्पृश्यों पर थोपी गयी निर्योग्यताओं से समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग निरक्षर, विवेकहीन एवं चेतना शून्य हो गया जो समाज और राष्ट्र की प्रगति मे सक्रिय योग नहीं दे सका। लाखों करोड़ों अस्पृश्य लोगों को अपने व्यक्तित्व के विकास का पूरा अवसर नहीं मिला और अभावमय एवं तिरस्कृत जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य होना पड़ा। अपने ऐसे जीवन से दुखी हो लाखों अस्पृश्य लोगों ने इस्लाम और ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया।

(3) राजनीतिक फूट (Political Disunion)—अस्पृश्यों की निर्योग्यताओं का एक दुष्परिणाम यह हुआ कि लोगों में बन्धुत्व और पारस्परिक स्नेह की भावना नहीं पनप सकी। अस्पृश्यता की कलुषित भावना के कारण ही अस्पृश्यों ने अपने को हिन्दू समाज से पृथक समझ लिया और डा० अम्बेडकर ने इनके लिए पृथक मताधिकार की माग की। यदि महात्मा गाँधी के द्वारा इसका विरोध नहीं किया जाता तो अस्पृश्य जातियां सदैव के लिए हिन्दू समाज से अलग हो जाती।

(4) अन्तर्जातीय तनाव के लिए उत्तरदायी (Responsible for Inter Caste Tensions)—अस्पृश्यता विभिन्न जातियों के बीच तनाव का एक प्रमुख कारण रही है। यहां लाखों करोड़ों व्यक्तियों की छाया मात्र अपवित्रता लाने वाली समझी जाती रही है। इन्हे सब प्रकार के मानवोचित अधिकारों से वंचित रखा गया है। परिणामस्वरूप इनमे उच्च जातियों के प्रति वैमनस्य और घृणा की भावना पनपती रही जिसने आगे चलकर जातिगत तनाव और संघर्ष का रूप धारण कर लिया।

(5) आर्थिक असमानताएँ (Economic Inequalities)—यहां अस्पृश्यता के फलस्वरूप आर्थिक असमानताओं का एक नग्न दृश्य देखने को मिलता है। यहां संस्कृति और धर्म के नाम पर लाखों करोड़ों लोगों का आर्थिक शोषण हुआ है, इन्हें सब प्रकार की सुविधाओं से वंचित रखा गया और पशु तुल्य जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य किया गया है। साथ ही समाज के इतने बड़े वर्ग को किसी भी प्रकार की शिक्षा अथवा औद्योगिक प्रशिक्षण न देकर देश के आर्थिक विकास में बाधा उत्पन्न की गयी है।

(6) अशिक्षा एवं गरीबी (Illiteracy and Poverty)—अस्पृश्यता के नाम पर समाज के इतने बड़े वर्ग को शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार से वंचित रखा

गया और चेतना शून्य और विवेकहीन बना दिया गया। करोडो व्यक्तियो को शिक्षा से वचित रखकर किसी समाज के प्रगति के पथ पर आगे बढने की आशा नही की जा सकती। इसके अलावा गन्दे और घृणित समझे जाने वाले कार्यों मे अस्पृश्यो को लगाये रखकर और बदले मे भोजन की बची हुई जूठन, फटे-पुराने वस्त्र और टूटी फूटी झोपडिया देकर इनके प्रति घोर अन्याय किया गया है। ऐसी स्थिति मे इन्हे गरीबी के मध्य अपना जीवन बिताना पडा है।

(7) स्वास्थ्य का निम्न स्तर (Low Standard of Health)—अस्पृश्यो को गाँव अथवा नगर के बाहर किसी कोने मे अस्वास्थ्यकर परिस्थितियो मे अपनी झोपडी या टूटा फूटा मकान बनाकर रहने के लिए बाध्य किया गया। यहाँ न पीने के स्वच्छ पानी की, न चिकित्सा की, न मनोरजन की और न किसी अन्य प्रकार की सार्वजनिक सुविधाओ की व्यवस्था थी। साथ ही इनके व्यवसाय की प्रकृति ही कुछ ऐसी थी कि व्यक्ति कार्य की अस्वास्थ्यकर परिस्थितियो के कारण शीघ्र ही किसी भी बीमारी का शिकार हो सकता था। इसके अतिरिक्त निर्धनता के कारण ये लोग न तो पौष्टिक भोजन कर सकते थे और न ही बीमार पडने पर चिकित्सा की समुचित व्यवस्था। ऐसी स्थिति मे अस्पृश्यो के स्वास्थ्य का निम्न स्तर होना स्वाभाविक है।

स्पष्ट है कि अस्पृश्यो को, समाज को और सम्पूर्ण राष्ट्र को अस्पृश्यता के दुष्परिणामो को भुगतना पडा है। समाज के इतने बडे वर्ग की उपेक्षा करके, उन्हे मानवोचित अधिकारो से वचित रखकर, दीन हीन और दासो के समान जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य करके सामाजिक प्रगति और राष्ट्र को समृद्ध एव वैभवशाली बनाने की कल्पना नही की जा सकती। पिछले कुछ वर्षों से अस्पृश्यो की स्थिति को सुधारने और उनके कल्याण के लिए अनेक प्रयास चल रहे है। यहा हम उन्ही का उल्लेख करेंगे।

## अस्पृश्यता निवारण अनुसूचित जातियाँ एव हरिजन-कल्याण
### (ERADICATION OF UNTOUCHABILITY SCHEDULED CASTES AND HARIJAN WELFARE)

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि अस्पृश्यता भारतीय समाज के सम्मुख एक गम्भीर समस्या के रूप मे है। आज ऐसे लोगो की सख्या काफी है जो अस्पृश्यता में विश्वास नही करते हैं। अस्पृश्यो के प्रति कुछ लोगो की मनोवृत्तियो मे परिवर्तन आया है तो कुछ के व्यवहारो मे। ये परिवर्तन अनेक कारणो जैसे औद्योगीकरण, नगरीकरण धर्म निरपेक्ष राज्य विभिन्न जातियो के व्यक्तियो के एक-दूसरे के सम्पर्क मे आने के अवसरो के बढने, सुधार आन्दोलन तथा सरकारी और गैर सरकारी प्रयत्नों के संयुक्त प्रभाव के परिणामस्वरूप सम्भव हो सके हैं। स्वय अस्पृश्यो मे अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता आयी है और अपनी स्थिति मे सुधार लाने के लिए उन्होंने अपने सगठन बनाये हैं। वर्तमान समय मे अस्पृश्यो तथा सवर्ण हिन्दुओं

के बीच सामाजिक दूरी कम होती जा रही है। वयस्क मताधिकार ने अस्पृश्यो व अन्य पिछड़े वर्गों को अपनी शक्ति को पहचानने का अवसर दिया है।

इस बीसवी शताब्दी मे अस्पृश्यता को दूर करने एव अस्पृश्य जातियो के कल्याण की दृष्टि से अनेक ऐच्छिक सगठन काम कर रहे हैं जिनमे प्रमुख ये हैं (1) अखिल भारतीय हरिजन सेवक सघ, देहली, (2) भारतीय दलित वर्ग लीग, देहली, (3) ईश्वर सरन आश्रम इलाहाबाद, (4) भारतीय रैडक्रास सोसाइटी, देहली, (5) हिन्द मेहतर सेवक सघ देहली, और (6) रामकृष्ण मिशन। इन सगठनो के अतिरिक्त सरकार ने कानूनी और सामाजिक तौर से अस्पृश्यो की स्थिति मे सुधार लाने म काफी प्रयत्न किये हैं। अस्पृश्यता निवारण के लिए इस देश म जो प्रयत्न हुए, उन्हे मुख्यत दो भागो म बाँटा जा सकता है—प्रथम, सुधार आन्दोलन या गैर-सरकारी प्रयत्न तथा द्वितीय, सरकारी प्रयत्न।

I सुधार आन्दोलन या गैर सरकारी प्रयत्न (*Refrom Movement or Non Governmental Efforts*)

अस्पृश्यता की समस्या के निवारण के लिए समय समय पर अनेक सन्तो तथा समाज सुधारको के द्वारा प्रयत्न किये गये। इस दिशा मे चैतन्य, कबीर, नानक, नामदेव, तुकाराम आदि के प्रयत्न विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आधुनिक काल म राजा राममोहन राय, रामकृष्ण परमहस, स्वामी विवेकानन्द एव दयानन्द सरस्वती, श्रीमती एनी बीसेण्ट, डॉ० अम्बेडकर तथा महात्मा गाँधी आदि ने अस्पृश्यता की समस्या को हल करने का भरसक प्रयत्न किया। इन प्रयत्नो को दो भागो मे बाँटा जा सकता है

(1) अस्पृश्य जातियों द्वारा आन्दोलन—अस्पृश्यता निवारण के लिए स्वय अस्पृश्य जातियो के द्वारा भी आन्दोलन किये गये। उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम वर्षों मे सर्वप्रथम ज्योति राव फूले के द्वारा सगठित प्रयत्न किया गया। डॉ० अम्बेडकर के नेतृत्व मे सन् 1920 मे अखिल भारतीय दलित वर्ग सघ एव अखिल भारतीय दलित वर्ग फैडरेशन स्थापित किये गये। इन सगठनो के द्वारा अस्पृश्यो ने अपनी धार्मिक एव सामाजिक अधिकारो की माँग रखी। महात्मा गाधी के सहयोग से सन् 1932 म हरिजन सेवक सघ की स्थापना की गयी। इस सघ ने अस्पृश्यता निवारण, पिछडे वर्गों की उन्नति के अवसर दिलाने, श्रम के महत्व को स्थापित करने तथा मानव मानव के बीच समानता और बन्धुत्व की भावना का प्रचार करने के लिए विशेष प्रयत्न किये। इस सघ के द्वारा अस्पृश्यो को सार्वजनिक स्थानो का उपयोग तथा मन्दिरो मे प्रवेश करने का अधिकार दिलाने हेतु भी समय समय पर आन्दोलन किये गये। सघ के प्रयत्नो से दक्षिण भारत के अनेक मन्दिरो म हरिजनो को प्रवेश की आज्ञा प्रदान की गयी। अस्पृश्यो मे शिक्षा के प्रसार तथा उन्हे व्यवसाय सम्बन्धी प्रशिक्षण प्रदान करने के लिए भी हरिजन सेवक सघ ने प्रयास किया। इस

सघ ने हरिजनो के लिए 1,130 शिशु मंदिर और 1,018 छात्रावास खोल रखे हैं तथा 67 धर्मशालाओं एव 1,995 कुओं की व्यवस्था भी की है। यह सघ पाम्फ्लेटो तथा छोटी छोटी पुस्तकों के वितरण द्वारा अस्पृश्यता विरोधी प्रचार भी करता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात 'हरिजन सेवक सघ' का सरकार की ओर से आर्थिक सहायता भी प्राप्त होने लगी।

(2) सवर्ण हिन्दुओं द्वारा आन्दोलन अस्पृश्यता विरोधी आन्दोलन को चलाने मे सवर्ण हिन्दुओं का भी सक्रिय योग रहा है। ब्रह्म समाज, आर्य समाज तथा रामकृष्ण मिशन ने निम्न जातियों एव हरिजनो की सामाजिक और आर्थिक निर्योग्यताओ को समाप्त करने के लिए काफी प्रयत्न किया है। महात्मा गांधी ने हरिजनोद्धार की दृष्टि से 'हरिजन' नामक मासिक पत्रिका के प्रकाशन का कार्य किया। गांधीजी के नेतृत्व मे अस्पृश्यता निवारण के लिए कार्य करने हेतु अनेक सुधार समितियों का निर्माण किया गया। ईश्वर सरन आश्रम, इलाहाबाद ने अछूत बालकों की शिक्षा का विशेष प्रबन्ध किया।

स्वतन्त्र भारत मे अनेक सगठन अस्पृश्यता निवारण और अनुसूचित जातियों के कल्याण-कार्यों मे लगे हुए हैं। सरकार इन सगठनो के माध्यम से अनुसूचित जातियों के कल्याण हेतु काफी धन राशि खर्च कर रही है। परन्तु इनमें से बहुत से सगठन सवर्ण हिन्दुओं के द्वारा चलाये जाते हैं। इन सगठनो के कई कार्यकर्ताओं की प्रेरणा का आधार वास्तव में अछूतोद्धार की भावना न होकर स्वय की महत्त्वाकाक्षा अथवा स्वार्थ है। अस्पृश्यता निवारण के प्रयत्न मे लगे विविध गैर सरकारी सगठनो के लक्ष्यों एव कार्यक्रमो म समानता का अभाव पाया जाता है। इन कमियो को दूर करना प्रयत्न की सफलता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। स्वयं अस्पृश्य जातियो के शिक्षित युवकों के आगे आने और हरिजनोद्धार के कार्य को अपने हाथ म लेने की आवश्यकता है।

## II सरकारी प्रयत्न (Efforts by the Government)

वास्तविकता यह है कि सरकारी नीतियो एव प्रयत्नो के फलस्वरूप ही अस्पृश्य जातियो की अनेक निर्योग्यताएँ एव उनका पिछड़ापन दूर होता जा रहा है। स्वतन्त्र भारत के संविधान मे अनुसूचित जातियो (अस्पृश्यो) के लिए विशेष सरक्षण की व्यवस्था की गयी। सरकार के द्वारा अस्पृश्यता की समस्या को हल करने एव अनुसूचित जातियों व पिछड़े वर्गों के कल्याण की दृष्टि से किये गये प्रमुख प्रयत्न निम्नलिखित हैं

(1) सवैधानिक प्रावधान—सविधान मे अनेक ऐसे प्रावधान रखे गये हैं जिनके द्वारा अस्पृश्यता निवारण तथा पिछड़े वर्गों के कल्याण की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया गया है। संविधान के अनुच्छेद 15(1) मे कहा गया है कि राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म स्थान अथवा इनमें से

किसी एक के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा। दुकानों, सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश करने और साधारण जनता के उपयोग के लिए बने कुओं, तालाबों, स्नान घाटों, सड़कों आदि के प्रयोग से कोई किसी को नहीं रोकेगा। अनुच्छेद 17 के अनुसार अस्पृश्यता का अन्त कर उसका किसी भी रूप में प्रचलन निषिद्ध कर दिया गया है। अनुच्छेद 19 के आधार पर अस्पृश्यों की व्यावसायिक निर्योग्यता को समाप्त किया जा चुका है और उन्हें किसी भी व्यवसाय के अपनाने की आज्ञा प्रदान की गयी है। अनुच्छेद 25 में हिन्दुओं के सार्वजनिक धार्मिक स्थानों के द्वार सभी जातियों के लिए खोल देने की व्यवस्था की गयी है। अनुच्छेद 29 के अनुसार राज्य द्वारा पूर्ण अथवा आंशिक सहायता प्राप्त किसी भी शिक्षण संस्था में किसी नागरिक को धर्म, जाति, वंश अथवा भाषा के आधार पर प्रवेश से नहीं रोका जा सकता। अनुच्छेद 46 में कहा गया है कि राज्य दुर्बलतर लोगों जिनमें अनुसूचित जातियाँ तथा आदिम जातियाँ आती हैं की शिक्षा सम्बन्धी तथा आर्थिक हितों की रक्षा करेगा और सभी प्रकार के सामाजिक अन्याय एवं शोषण से बचायेगा। अनुच्छेद 330 332 और 334 के अनुसार अनुसूचित जातियों तथा आदिम जातियों के लिए संविधान लागू होने के 20 वर्ष तक लोकसभा विधानसभाओं, ग्राम पंचायतों और स्थानीय निकायों में स्थान सुरक्षित रहेंगे। बाद में लोकसभा के द्वारा यह अवधि 10 वर्ष के लिए और बढ़ा दी गयी। इन संवैधानिक व्यवस्थाओं के द्वारा अस्पृश्यता निवारण एवं अनुसूचित जातियों और पिछड़े वर्गों के उत्थान का सरकार के द्वारा विशेष प्रयत्न किया गया है।

(2) शिक्षा सम्बन्धी सुविधाएँ—अन्य लोगों के समान स्तर पर लाने और प्रगति के पथ पर आगे बढ़ने में सहायता करने के उद्देश्य से अनुसूचित जातियों व पिछड़े वर्गों के लिए शिक्षा का विशेष प्रबन्ध किया गया। देश की सभी सरकारी शिक्षण संस्थाओं में अनुसूचित जातियों एवं आदिम जातियों के विद्यार्थियों के लिए निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की गयी। सन 1944 45 से अस्पृश्य जातियों के छात्रों को छात्रवृत्तियाँ देने की योजना प्रारम्भ की गयी। इन जातियों के विद्यार्थियों में शिक्षा का अधिक से अधिक प्रसार करने हेतु न केवल उन्हें निःशुल्क शिक्षा की सुविधा और छात्रवृत्तियाँ ही दी गयी बल्कि इनके लिए मुफ्त पुस्तकों एवं अन्य आवश्यक वस्तुओं का प्रबन्ध भी किया गया। कई स्थानों पर तो इन्हें वस्त्र एवं भोजन भी स्कूल की ओर से ही दिया जाता है। मेडिकल, इंजीनियरिंग तथा अन्य औद्योगिक शिक्षण संस्थाओं में इनके प्रवेश हेतु विशेष व्यवस्था की गयी है।

संघीय लोक सेवा आयोग द्वारा आयोजित अखिल भारतीय एवं अन्य केन्द्रीय सेवाओं की परीक्षा के लिए 9 प्रशिक्षण केन्द्र और राज्यों के लोक सेवा आयोग द्वारा ली जाने वाली परीक्षाओं की तैयारी हेतु 13 प्रशिक्षण केन्द्र चल रहे हैं। इन जातियों के छात्रों की शिक्षा पर सरकार शुरू से काफी धनराशि खर्च कर रही है। 1977 78

न जयपुर में।

तक पिछडे वर्गों के मैट्रिक तक के 50 लाख बच्चो को और मैट्रिक से ऊपर के स्तर के 4 22 लाख विद्यार्थियो को छात्रवृत्तियाँ मिल रही थी। जहाँ पाँचवी पचवर्षीय योजना मे अनुसूचित जातियो, जनजातियो एव अन्य पिछडे वर्गों की शिक्षा के लिए 197 35 करोड रुपयो का प्रावधान था, वहाँ छठी पचवर्षीय योजना (1978 83) मे 312 करोड रुपयों का प्रावधान है। इन सब सुविधाओ के उपलब्ध होन से अनुसूचित जातियों एव अन्य पिछडे वर्गों म शिक्षा का काफी प्रसार हुआ है।

(3) विधानमण्डलो एव पचायतो मे प्रतिनिधित्व—सविधान मे अनुसूचित जातियो के लिए उनकी सख्या के अनुपात म राज्यो की विधानसभाओ तथा पचायतो मे स्थान सुरक्षित रखे गय है। पहले ये स्थान सविधान के लागू होन के 20 वष तक के लिए सुरक्षित रखे गये और अब यह अवधि 10 वष अर्थात् 25 जनवरी 1980 तक के लिए बढ़ा दी गया है। इस समय लोकसभा के 519 स्थानो मे स 78 और राज्यो की विधानसभाओ के 3,997 स्थानो म से 540 स्थान अनुसूचित जातियो के लिए सुरक्षित रखे गय हैं।[15] पचायती राज्य सस्थाओ मे भी इनके लिए स्थान सुरक्षित हैं। इन सब व्यवस्थाओ के फलस्वरूप अस्पृश्य जातियो म राजनीतिक चेतना निरन्तर बढती जा रही है।

(4) कल्याण एव सलाहकार सगठन (Welfare and Advisory Organizations)—केन्द्र एव राज्यो म अनुसूचित जातियो, जनजातियो एव अन्य पिछडे वर्गों के कल्याण हेतु अलग अलग विभागो की व्यवस्था की गयी है। कई राज्यो म तो अनुसूचित जातियो व पिछडे वर्गों के कल्याण का ध्यान मे रखकर पृथक मन्त्रालय भी स्थापित किय गय है। केन्द्र स्तर पर विभिन्न कल्याण कार्यक्रमो का दायित्व गृह-मन्त्रालय का है। भारत सरकार ने सन 1968, 1971 एव 1973 मे अनुसूचित जातियो व जनजातियो के लिए चल रहे कल्याण कार्यों की प्रगति का मूल्यांकन करने हेतु ससदीय समितियाँ गठित कीं।

(5) सरकारी नौकरियो मे प्रतिनिधित्व—अस्पृश्य जातियो के लोगो को उच्च शिक्षा प्राप्त करने, अपनी आर्थिक स्थिति मे सुधार करने तथा उच्च जाति के लोगो के सम्पर्क मे आने को प्रोत्साहित करने के लिए सरकारी नौकरियो म स्थान सुरक्षित रखे गये है। खुली प्रतियोगिता द्वारा अखिल भारतीय आधार पर की जाने वाली नियुक्तियो म 15 प्रतिशत तथा अन्य प्रकार से की जाने वाली नियुक्तियो म 16⅔ प्रतिशत स्थान अनुसूचित जातियो के लिए सुरक्षित होते हैं। तीसरी और चौथी श्रेणियो म सीधी नियुक्ति के लिए जिनमे सामान्य रूप से स्थानीय अथवा क्षेत्रीय उम्मीदवार आते हैं, राज्यो तथा केन्द्र शासित क्षेत्रो की अनुसूचित तथा आदिम जातियो की जनसख्या के अनुपात मे स्थान सुरक्षित किय जाते हैं। अन्य पदोन्नतियो के अलावा वरिष्ठता के आधार पर होने वाली पदोन्नतियो म भी 27 नवम्बर, 1973

15 *Draft Five Year Plan* Govt of India Publication pp 254-255

से अनुसूचित जातियों के लिए स्थान सुरक्षित रखने की व्यवस्था की गयी है। सरकारी नौकरी प्राप्त करने की सुविधा प्रदान करने की दृष्टि से अनुसूचित जातियों के सदस्यों की आयु सीमा तथा योग्यता मानदण्ड में भी विशेष छूट की व्यवस्था की गयी है।

(6) आर्थिक उन्नति हेतु प्रयास—अनुसूचित जातियों के व्यक्तियों को आर्थिक उन्नति के अवसर प्रदान करने हेतु सरकार ने उन्हें विशेष सुविधा देने का प्रयास किया है। कृषि एवं उद्योगों के क्षेत्र में अस्पृश्यों को आगे बढ़ने का मौका दिया गया है। सन् 1971 की जनगणना के अनुसार कृषि कार्यों में लगे हुए 2 39 करोड़ अनुसूचित जातियों के व्यक्तियों में से 82 लाख व्यक्ति भूमिहीन मजदूर के रूप में कार्य करते थे। चौथी पंचवर्षीय योजना के अंत तक इनमें से अधिकांश लोगों को भूमि बाँटी जा चुकी थी। इन लोगों को शोषण से बचाने के लिए इनके लिए सहकारी समितियों की व्यवस्था भी की गयी। इन्हें कुटीर उद्योग धन्धों में लगाने के लिए प्रशिक्षण, ऋण तथा अनुदान का प्रबन्ध भी किया गया। जनवरी 1976 में सरकार द्वारा पारित बंधक श्रमिक उन्मूलन कानून का विशेष लाभ अनुसूचित जातियों के लोगों को ही मिला है। छठी पंचवर्षीय योजना (1978 83) में अनुसूचित जातियों, जनजातियों एवं अन्य पिछड़े वर्गों के विकास पर सामान्य क्षेत्र (General Sector) में होने वाले खर्चों के अलावा पिछड़े वर्ग क्षेत्र के अन्तर्गत आर्थिक विकास कार्यक्रमों के लिए 65 करोड़ रुपयों के खर्च की अतिरिक्त व्यवस्था की गयी है।

(7) अन्य कल्याण योजनाएँ—अस्पृश्य जातियों के लोगों के स्वास्थ्य सुधार तथा आवास पर भी सरकार के द्वारा काफी धनराशि खर्च की जाती है। इन लोगों को मकान बनाने के लिए मुफ्त या नाममात्र के मूल्य पर ऋण के रूप में सहायता दी जाती है। इन लोगों को चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करने और इनके स्वास्थ्य सुधार हेतु अस्पतालों, पीने के स्वच्छ पानी, बच्चों तथा प्रसूताओं के लिए कल्याण केन्द्रों और अस्पताली मोटर गाड़ियों की व्यवस्था की गयी है। प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में इन लोगों की कल्याण-सुविधाओं पर 5 97 करोड़ रुपया खर्च किया गया जबकि चौथी योजना में यह राशि बढ़ाकर 66 करोड़ रुपया कर दी गयी। पाँचवीं योजना में पिछड़े वर्गों के लिए जिसमें अनुसूचित जातियाँ भी आती हैं 255 करोड़ रुपयों के खर्च की व्यवस्था थी। छठी पंचवर्षीय योजना (1978 83) में अनुसूचित जातियों, जनजातियों एवं अन्य पिछड़े वर्गों के कल्याण पर विशेष जोर दिया गया है। इस योजना में यह व्यवस्था की गयी है कि ग्रामीण विकास योजनाओं के अन्तर्गत उन क्षेत्रों को खास तौर से चुना जायगा जहाँ 20 प्रतिशत से अधिक जनसंख्या अनुसूचित जातियों की होगी। इस योजना की अवधि में अनुसूचित जातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों के विकास एवं कल्याण कार्यक्रमों पर 545 करोड़ रुपया और जनजातियों पर 350 करोड़ रुपया खर्च किया जायगा।[16]

[16] *Draft Five Year Plan* Govt of India Publication p 255

उपयुक्त सभी प्रावधानों एवं सुविधाओं का लाभ देश की 471 अनुसूचित जातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों को मिला है और उनकी सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक स्थिति में सुधार हुआ है।

## अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, 1955
### (THE UNTOUCHABILITY [OFFENCES] ACT 1955)

अस्पृश्यता को समाप्त करने इससे सम्बन्धित सभी आचरणों को रोकने और अस्पृश्यों पर विभिन्न निर्योग्यताओं को लागू करने वाले व्यक्तियों को दण्डित करने के उद्देश्य से जून 1955 से अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, 1955' सम्पूर्ण देश में लागू किया गया। इस अधिनियम की 17 धाराओं के द्वारा अस्पृश्यता की सभी प्रकार की निर्योग्यताओं को समाप्त किया जा चुका है।

इस अधिनियम के अनुसार अस्पृश्य जातियों के लोगों को सार्वजनिक पूजा के स्थानों में प्रवेश करने, पवित्र नदी, तालाब, कुएँ, झरने आदि में स्नान करने या पानी लेने, किसी भी दुकान, जलपान गृह होटल अथवा सार्वजनिक मनोरंजन के स्थान में प्रवेश करने तथा धर्मशालाओं और मुसाफिरखानों के उपयोग में लाने से रोकने पर दण्ड की व्यवस्था की गयी। ऐसे व्यक्ति को छः मास के कारावास या 500 रुपया जुर्माना या दोनों की सजा दी जा सकती है। इस कानून में यह भी बतलाया गया है कि यदि कोई व्यक्ति किसी को नदी, कुएँ, तालाब या नल, घाट, श्मशान, कब्रिस्तान आदि को काम में लाने से या किसी मोहल्ले में जमीन खरीदने मकान बनवाने या रहने से रोकेगा तो उसके इस कार्य को दण्डनीय अपराध माना जायेगा। प्रत्येक को किसी सार्वजनिक वस्तु, सवारी, आभूषण या अलंकार के उपयोग की पूरी स्वतन्त्रता होगी।

इस अधिनियम के अन्तर्गत सभी व्यक्तियों को सार्वजनिक चिकित्सालयों औषधालयों शिक्षण संस्थाओं तथा छात्रावासों में प्रवेश का समान अधिकार दिया गया है। किसी प्रकार का भेदभाव बरतने या प्रवेश देने से इन्कार करने पर दण्ड की उपयुक्त प्रकार से व्यवस्था की गयी है। यदि कोई दुकानदार अस्पृश्यता के आधार पर किसी भी व्यक्ति को कोई भी वस्तु बेचने या सेवा प्रदान करने से इन्कार करता है तो उसके लिए दण्ड की व्यवस्था की गयी है। इस अधिनियम में यह भी बतलाया गया है कि यदि कोई व्यक्ति किसी अस्पृश्य को उत्पीड़ित करता है क्षति पहुँचाता है बहिष्कार करता है या उसके जीवन में बाधा डालने का कोशिश करता है तो उसका कार्य दण्डनीय अपराध होगा। यदि कोई लिखित रूप में या बोले गये शब्दों के द्वारा अस्पृश्यता को प्रोत्साहित करता है तो उसके लिए भी छः मास के कारावास या 500 रुपया जुर्माना या दोनों के दण्ड की व्यवस्था की गयी है।

इस अधिनियम के द्वारा अस्पृश्यता सम्बन्धी आचरण तथा अस्पृश्यता को किसी भी रूप में प्रोत्साहन देने पर प्रतिबन्ध अवश्य लगा दिया गया है परन्तु व्यावहारिक रूप में यह आज भी पायी जाती है। कई स्थानों पर विशेषतः ग्रामों में

आज भी अस्पृश्यता सम्बन्धी आचरण दिखलायी पड़ते हैं। अस्पृश्यता को दूर करने में कानून उसी समय महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है जब उसे कठोर बनाया जाय, सख्ती के साथ लागू किया जाय तथा उल्लंघन करने वालों को कठोर दण्ड दिया जाय। इसी उद्देश्य से भारत सरकार ने एक पृथक कानून 'नागरिक अधिकार संरक्षण कानून' (Civil Rights Protection Act 1976) पास किया है। यह अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, 1955 का ही संशोधित रूप है। इसके प्रमुख प्रावधान निम्नलिखित हैं

(1) अस्पृश्यता के अभाव में दण्डित लोग लोकसभा और विधानसभा का चुनाव नहीं लड़ सकेंगे।

(2) अस्पृश्यता का ज्ञातव्य अपराध (Cognizable offence) घोषित किया गया है जिसके अनुसार पुलिस बिना किसी शिकायत के अस्पृश्यता से सम्बन्धित अपराध में स्वयं सीधी कार्यवाही कर सकती है। ऐसे अपराध में वादी एवं प्रतिवादी को किसी प्रकार का ई समझौता करने की भी आज्ञा नहीं होगी।

(3) पहली बार अस्पृश्यता सम्बन्धी अपराध के लिए एक महीने से छ महीने तक की कैद और 100 रुपये से लेकर 500 रुपये तक के जुर्माने की व्यवस्था की गयी है। दुबारा अपराध करने पर छ महीने से एक वर्ष तक की कैद तथा 200 रुपये से 500 रुपये तक के जुर्माने का और तीसरी बार अस्पृश्यता सम्बन्धी अपराध करने पर एक वर्ष से दो वर्ष की कैद एवं 1000 रुपये तक के जुर्माने का प्रावधान रखा गया है।

(4) यदि कोई सरकारी कर्मचारी अस्पृश्यता से सम्बन्धित जाँच के काम की जानबूझकर उपेक्षा करेगा तो उसके इस काम को अपराध को प्रोत्साहन देने वाला और दण्डनीय माना जायेगा।

(5) अस्पृश्यता का प्रचार करना और उसे किसी भी रूप में यथोचित ठहराना भी अपराध होगा। किसी को अस्पृश्यता बरतने के लिए बाध्य करना भी दण्डनीय अपराध माना जायेगा।

(6) सामूहिक रूप से अस्पृश्यता सम्बन्धी अपराध करने पर उसे किसी क्षेत्र के लोगों पर सामूहिक जुर्माना करने का अधिकार राज्य सरकारों को दिया गया है।

(7) पूजा के निजी स्थानों पर जहाँ जनता साधारणतः जाती रहती है किसी भी रूप में अस्पृश्यता बरतना दण्डनीय अपराध होगा।

(8) इस कानून का उल्लंघन करने वाले लोगों को दण्ड देने हेतु विशेष अधिकारी की नियुक्ति और मामलों की सुनवाई हेतु विशेष अदालतों के गठन की व्यवस्था की गयी है।

उपर्युक्त कानून को सफल बनाने के लिए प्रचार माध्यम की विशेष सहायता ली जानी चाहिए। राज्य सरकारों ने जिलाधिकारियों और जन सम्पर्क अधिकारियों को अस्पृश्यता निवारण हेतु प्रयास करने के लिए आदेश दे रखे हैं। प्रति वर्ष 'हरिजन

दिवस' व 'हरिजन सप्ताह' भी मनाये जाते हैं। सरकार द्वारा अस्पृश्यता निवारण के लिए प्रचार साहित्य तथा दृश्य श्रव्य साधनों का काफी प्रयोग किया जा रहा है। सरकार समय समय पर रेडियो, फिल्मों पोस्टरों तथा हैण्डबिलों के द्वारा भी अस्पृश्यता विरोधी प्रचार करती है। ऐसा करके अस्पृश्यता के विरुद्ध जनमत तैयार किया जा रहा है।

## अस्पृश्यता निवारण एक मूल्यांकन
## (ERADICATION OF UNTOUCHABILITY AN EVALUATION)

डा० आर० एन० सक्सेना ने अस्पृश्यता निवारण हेतु सरकार के द्वारा किये गये प्रयत्नों की सफलता के बारे में लिखा है, 'राजनीतिक आरक्षण ने अछूतोद्धार में कहाँ तक सहयोग प्रदान किया है इस पर कई मत हो सकते हैं। अस्पृश्यता एक मानसिक प्रमेय है और उसके आधार हैं वे दृष्टिकोण जो समाजीकरण की प्रक्रिया में उत्पन्न होते हैं। राजनीतिक आरक्षण से ऐसे दृष्टिकोण का निराकरण सम्भव नहीं है। इस आरक्षण ने अछूतों में एक प्रकार की परजीविता (दूसरों पर निर्भर रहने) की भावनाओं को जन्म दिया है जिसके कारण उनका स्वयं का उत्साह समाप्त हो गया है। सरकार के ऊपर निर्भर रहने की भावना उनमें घर कर रही है। अछूतों का नेतृत्व राजनीतिक दलों के हाथ में है और इस कारण अछूतोद्धार आज राजनीतिक अखाड़ा बन गया है।[17] इसमें कोई सन्देह नहीं कि सरकार पर निर्भर रहने की भावना आज न केवल अनुसूचित जातियों बल्कि जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों में भी पायी जाती है। अस्पृश्यता निवारण की दृष्टि से 'अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम 1955' पारित किया गया और उसे अधिक प्रभावशाली बनाने के उद्देश्य से उसमें सन् 1976 में संशोधन (नागरिक अधिकार संरक्षण कानून 1976) भी किया गया। कानून बनाते समय यह आशा व्यक्त की गयी कि इस कानून के बन जाने से इस समस्या से छुटकारा प्राप्त किया जा सकेगा। लेकिन कानून बना देने मात्र से किसी सामाजिक समस्या को हल नहीं किया जा सकता, अस्पृश्यता कानून के बल से भी दूर नहीं होगी। वह तभी दूर होगी जब हिन्दुओं का बहुमत इस बात का अनुभव करे ले कि अस्पृश्यता ईश्वर और मनुष्य के विरुद्ध एक अपराध है और इसके लिए लज्जित हो।[18] इसी प्रकार के विचार व्यक्त करते हुए डा० पणिक्कर ने लिखा है 'इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि अस्पृश्यता के सम्बन्धित निर्योग्यताएँ कानूनी रूप से समाप्त हो गयी है, लेकिन इस आधार पर यह सोचना मूर्खता होगी कि अस्पृश्यता समाप्ति की घोषणा के साथ ही उनकी सामाजिक निर्योग्यताओं का अस्तित्व खत्म हो गया है। सामाजिक संस्थाएँ जो कम से कम पिछले तीन हजार वर्षों से चली आ

---

17 डा० आर० एन० सक्सेना भारतीय समाज तथा सामाजिक संस्थाएँ, पृष्ठ 106 107।

18 हरिजन सेवक 23 9 1939, पृष्ठ 255।

रही है और जो हिंदू जीवन का अभिन्न अंग बन गयी हैं, एकाएक काय ट ना कस बन्द कर सकती है ? यद्यपि कानून की दृष्टि से निर्योग्यताएँ समाप्त हो गयी हैं तथापि वे परिवर्तित रूप में मौजूद हैं, और उन्हें केवल कई वर्षों के सतत् प्रयत्नों से बदला जा सकता है।"[19] स्पष्ट है कि अस्पृश्यता की समस्या को हल करने के लिए केवल कानून बना देना मात्र काफी नहीं है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् सरकार और विविध सगठनों के द्वारा अस्पृश्यता निवारण तथा अनुसूचित जातियों व पिछड़े वर्गों के उत्थान के लगातार प्रयत्न किये जाते रहे हैं। इन प्रयत्नों की सफलता इस बात पर आधारित है कि अछूतोद्धार के काय में लगे लोग कहाँ तक अपने कर्तव्य का पालन करते हैं। अस्पृश्यता को समाप्त करने और पिछड़े वर्गों के पिछड़ेपन को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि अधिकांश हिन्दुओं के हृदय परिवर्तित हों, अर्थात वे स्वयं यह महसूस करने लगें कि अस्पृश्यता हिन्दू समाज के लिए कलंक है समाज के एक बड़े वर्ग के प्रति अन्यायपूर्ण नीति का परिणाम है।

नगरों में अस्पृश्यता निवारण हेतु काफी प्रयत्न हुए हैं और उनमें कुछ सफलता मिली है। लेकिन अधिकांशतः अस्पृश्य और पिछड़ी जातियों के लोग ग्रामीण क्षेत्रों में पाये जाते हैं। इन क्षेत्रों में प्रचार और सामाजिक शिक्षा की अत्यन्त आवश्यकता है। सामाजिक शिक्षा की व्यवस्था उन सवर्ण हिन्दुओं के लिए की जानी चाहिए जो ऊँच नीच में सामाजिक भेदभाव तथा असमानताओं में विश्वास करते हैं और जो अस्पृश्यता की भावना से प्रेरित होकर व्यवहार करते हैं।

संवैधानिक व्यवस्थाओं एवं राजनीतिक आरक्षणों ने अस्पृश्य जातियों तथा पिछड़े वर्ग के लोगों को अपनी शक्ति को पहचानने का अवसर दिया है। वे अपने अधिकारों के उपयोग में लगे हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अस्पृश्यों की स्थिति को सुधारने के प्रयत्न स्वतन्त्र भारत में काफी हुए हैं और समय समय पर सुधार कार्यों के मूल्यांकन हेतु समितियों का गठन भी किया जाता रहा है। इन समितियों के अनुसार अस्पृश्यों के उत्थान हेतु योजनाओं को परिवर्तित रूप में लागू करने का प्रयत्न भी किया गया है। लेकिन यहाँ मुख्य प्रश्न यह उपस्थित होता है कि कहाँ तक उनका उत्थान हुआ है। शिक्षा सम्बन्धी सुविधाओं का लाभ अस्पृश्य एवं पिछड़े वर्गों ने काफी उठाया है परन्तु इन जातियों के अनेक लोग उच्च शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात अपने ही समाज के लोगों से दूर हो गये। छठी पंचवर्षीय योजना में अनुसूचित जातियों, जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों की शिक्षा के लिए 312 करोड़ रुपये के खर्च का प्रावधान किया गया है।

पिछली पाँच पंचवर्षीय योजनाओं में अनुसूचित जातियों हेतु भवन निर्माण छात्रवृत्तियाँ एवं स्वास्थ्य पर करीब 1,000 करोड़ रुपया खर्च किया गया। छठी

19 K M Panikar *Hindu Society at Cross Roads* pp 25 26

पचवर्षीय योजना (1978 83) म अनुसूचित जातियो, जनजातियो एव अन्य पिछडे वर्गों के विकास पर 895 करोड रुपया खच करने की व्यवस्था की गयी है। यह राशि पिछडे वग क्षेत्र के अन्तगत खच की जायगी और उस राशि के अतिरिक्त होगी जो सभी पिछडे वर्गों के विकास पर सामान्य क्षेत्र (Generl Sector) के अन्तगत व्यय की जायेगी। यहाँ हमे इस बात का भी ध्यान मे रखना है कि केवल अपार धनराशि खच करने मात्र से ही अस्पृश्यो एव अन्य पिछडे वर्गों का कल्याण नही हो जायेगा।

स्पष्ट है कि अस्पृश्यता निवारण एवं अनुसूचित जातियो तथा पिछडे वर्गों के कल्याण हेतु सरकारी एव गर सरकारी स्तर पर काफी कुछ किया गया है और किया जा रहा है। इतना अवश्य है कि इस काय मे लगे लोगो में अपेक्षित निष्ठा म कुछ कमी है।

**अस्पृश्यता मे आधुनिक प्रवृत्तियाँ (Recent Trends in Untouchability)**– प्राचीन भारत में अस्पृश्य जातियाँ अनेक सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एव राजनतिक निर्योग्यताओ से पीडित थी जिनका हम पहले उल्लेख कर चुके ह। वतमान समय मे सरकारी एव गर सरकारी तौर पर किये गये प्रयत्नो के कारण अस्पृश्यता का कुछ सीमा तक उन्मूलन हुआ है। गाँवो मे तो फिर भी कुछ मात्रा मे अस्पृश्यता बनी हुई है किन्तु शहरो मे तो यह शिथिलप्राय हो गयी है। अब अस्पृश्य जातियाँ सावजनिक स्थानो का उपयोग करती हैं, शिक्षण सस्थाओ मे शिक्षा ग्रहण करती हैं, धार्मिक कृत्य करती हैं तथा ब्राह्मणो की सेवा का भी उपयोग करती है। उनके प्रति बरते जाने वाले खान पान और सामाजिक सहवास के निषेधो म शिथिलता आयी है। अब व अपने जातिगत पेशो के साथ साथ अन्य जातियो के पेशो का करने लगी हैं तथा सरकारी व गैर सरकारी नौकरिया कर रही हैं। कई बार जब एक ही विभाग म उच्च अधिकारी अस्पृश्य जाति का होता है और निम्न अधिकारी सवण जाति का तब भी वे परस्पर सामजस्य कर लेते हैं और अस्पृश्यता नही बरती जाती। पचायत स लेकर ससद तक अस्पृश्य जातियो के लिए स्थान सुरक्षित रखे गय है। इससे उनमे राजनैतिक जागृति आयी है। वे अपनी राजनैतिक शक्ति का प्रयाग अपनी समस्याओं को हल करन के लिए करती हैं। उच्च जातियाँ भी सत्ता प्राप्त करने के लिए इनस सहयाग मागती हैं एव समझौते करती हैं। राजनैतिक क्षेत्र मे विभिन्न जातियो के नताओ म मेल मिलाप बढ़ा है। अब अस्पृश्य जातियो के लाग दुकानो, जलपान गहा, सिनेमाघरा एव मनोरजन के स्थानो, धमशालाओ एव सरायो, सभी प्रकार के वस्त्रो, आभूषणो कुओ, तालाबा, बाग बगीचो, धार्मिक स्थानो, यातायात के साधनो, एव सडको का उपयोग करते हैं। अब वे शहरो म ही पक्के मकानो मे रहने लगे है जबकि पहले ये लोग शहर से दूर कच्चे झोपडो मे निवास करते थ। कई सवण लोगो ने तो अस्पृश्य जातिया मे विवाह भी किय है।

यद्यपि अब भी कई बार निम्न एव अस्पृश्य जातियो के प्रति अत्याचार की घटनाएँ सुनने मे आती है और ऐसी घटनाए प्रमुखत तब घटती हैं जब वे अपने अधिकारों की माँग करती हैं या संस्कृतिकरण की प्रक्रिया द्वारा समाज मे ऊँचा उठना चाहती हैं जिसे कुछ सवर्ण जातियाँ बर्दाश्त नही कर पाती। किन्तु शिक्षा के प्रसार लौकिकीकरण एव प्रजातान्त्रीय मूल्यो की स्थापना, औद्योगीकरण, नगरीकरण एव यातायात के साधनो मे वृद्धि के साथ प्राचीन रूढिवाद समाप्त होगा, अस्पृश्य जातियो की निर्योग्यताएँ भी समाप्त होगी और एक ऐसे समाज की स्थापना होगी जिसमे अस्पृश्यता का कोई स्थान नही होगा।

## अस्पृश्यता निवारण हेतु सुझाव
## (SUGGESTIONS TO ERADICATE UNTOUCHABILITY)

अस्पृश्यता निवारण एव पिछडे वर्गो के कल्याण हेतु विभिन्न आयोगो एव अध्ययन दलो ने समय समय पर अनेक सुझाव दिये हैं। उनके सुझाव काफी आदर्शात्मक हैं पर तु उनमे व्यावहारिकता की कमी है। यहा कुछ रचनात्मक सुझाव प्रस्तुत किये जा रहे हैं

(1) अस्पृश्यता की समस्या को हल करने और पिछडे वर्गों के कल्याण हेतु यह आवश्यक है कि अधिकाश हिन्दुओ के हृदय परिवर्तित किय जाय। यदि समाज वैज्ञानिको द्वारा उन परिस्थितियो का सही रूप मे विश्लेषण किया जाय जिन्होने अस्पृश्यता को प्रोत्साहित करने मे योग दिया तो लोगो को अस्पृश्यता सम्बन्धी भ्रान्त धारणा से मुक्त किया जा सकता है। इस बात पर जोर दिया जा सकता है कि अस्पृश्यता का सम्ब ध हिन्दू धर्म के मौलिक ग्रन्थो से बिलकुल नही है।

(2) अस्पृश्यता निवारण से सम्बन्धित कानून का दृढता और ईमानदारी के साथ लागू करना अत्य त आवश्यक है। ग्रामीण क्षेत्रो मे अनेक स्थानो पर आज भी अस्पृश्यता बरती जाती है। वहाँ सामाजिक कार्यकर्ताओ को आगे बढकर अस्पृश्यो की सभी प्रकार की निर्योग्यताओ को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। साथ ही पुलिस को ऐसे लोगो के विरुद्ध कार्यवाही अवश्य करनी चाहिए जो अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम 1955 (सशोधित रूप म, 1976) का उल्लघन करते हो।

(3) अस्पृश्यो की समस्या प्रमुखत आर्थिक और सामाजिक है। यदि इन्ह गन्दे पेशो से मुक्त होने का अवसर दिया जाय, इनके लिए विभिन्न क्षेत्रो मे रोजगार के अवसर बढाये जायँ इन्हें ऋण प्राप्त करने और कुटीर उद्योग लगाने की सुविधाएँ प्रदान की जायँ, भूमिहीन किसानो मे कृषि योग्य भूमि वितरित की जाय तो इनकी आर्थिक एव सामाजिक स्थिति म शीघ्र ही सुधार सम्भव हो सकेगा। साथ ही सभी पिछडे वर्ग के लोगो क लिए राज्य द्वारा सामाजिक सुरक्षा (Social Security) की योजना चलाने की भी आवश्यकता है ताकि इन लोगो की आर्थिक और स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओ को सुलझाया जा सके।

(4) नौकरियों में अनुसूचित जातियों, जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्ग के लिए स्थान अवश्य सुरक्षित हैं परन्तु कई बार होता यह है कि ये स्थान या तो खाली पड़े रहते हैं या इन पर अन्य लोगों को नियुक्त कर लिया जाता है। आवश्यकता इस बात की है कि इनके लिए सुरक्षित स्थानों पर केवल इन्हीं जातियों के लोगों का ईमानदारी के साथ चयन किया जाय। इन जातियों के व्यक्तियों को विभिन्न नौकरियों के लिए आवश्यक प्रशिक्षण दिया जाय ताकि सामान्य कार्यकुशलता के मानदण्डों में किसी प्रकार की कोई कमी न आ पाये।

(5) अस्पृश्य (अनुसूचित) जातियों के आर्थिक एवं शैक्षणिक विकास हेतु गठित समिति ने अस्पृश्यता निवारण हेतु विरासती पुरोहितों की प्रथा को समाप्त करने का सुझाव दिया है। इसे समाप्त करना कोई सरल कार्य नहीं है। परन्तु कम से कम इतना अवश्य किया जा सकता है कि अस्पृश्य जातियों को जजमानी व्यवस्था के अन्तर्गत गन्दे व्यवसायों को अपनाने के लिए बाध्य न किया जाय। साथ ही इन व्यवसायों का इस प्रकार से नवीनीकरण किया जाना चाहिए कि इन्हें अपनाने में कोई किसी प्रकार की घृणा या लज्जा महसूस नहीं करे।

(6) अस्पृश्यता निवारण हेतु शिक्षा का व्यापक प्रसार आवश्यक है। इस हेतु सरकार द्वारा प्रदान की जाने वाली छात्रवृत्तियाँ प्रेरणास्वरूप ही होनी चाहिए। इसका तात्पर्य यही है कि प्राथमिक अथवा माध्यमिक स्तर तक तो इन्हें अनिवार्य और निःशुल्क शिक्षा की सुविधा मिलनी चाहिए। लेकिन उच्च शिक्षा हेतु छात्रवृत्तियाँ उन्हीं विद्यार्थियों को दी जानी चाहिए जो न्यूनतम निर्धारित अंक प्राप्त कर सकें।

(7) ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकांश पिछड़े वर्ग के लोग ऋण के भार से दबे हुए हैं। उन्हें ऋण मुक्त करने और आर्थिक दृष्टि से प्रगति की ओर आगे बढ़ने के लिए सरकार को इन्हें आवश्यक वित्तीय सहायता प्रदान करनी चाहिए और इनके लिए विशेष सहकारी समितियाँ गठित की जानी चाहिए। ऐसा होने पर ये उच्च जातियों के महाजनों या सूदखोरों के चक्कर से बच सकेंगे।

(8) राजनीतिक दलों या राजनेताओं को अछूतोद्धार तथा हरिजनों पर अत्याचार को राजनीतिक रंग देकर अपने निजी या दलीय स्वार्थों की संकीर्ण प्रवृत्ति पर नियन्त्रण रखना भी अत्यन्त आवश्यक है अन्यथा सवर्ण एवं अवर्ण का भेद और ज्यादा बढ़ेगा तथा पिछड़े वर्गों के लोगों का सम्पूर्ण समाज की जीवन धारा में एकीकरण नहीं हो सकेगा। साथ ही अस्पृश्यता निवारण और पिछड़े वर्ग के कल्याण कार्यों में लगे सभी लोगों को पूर्ण ईमानदारी और कर्तव्य निष्ठा का परिचय देना होगा।

(9) अस्पृश्यता की समस्या के निराकरण एवं पिछड़े वर्गों के कल्याण के लिए आवश्यक है कि सन् 1965 में नियुक्त 'अनुसूचित जाति के आर्थिक तथा शैक्षणिक

निवास और छुआछूत समिति' द्वारा मार्च 1969 म प्रस्तुत रिपोर्ट में दिये गये सुझावो के अनुसार निष्ठापूर्वक प्रयत्न किया जाय। रिपोर्ट मे बताया गया है कि विरासती पुरोहिती की प्रथा समाप्त हो, छुआछूत का कानून कठोर बनाया जाय, अस्पृश्यता बरतने वालों को वित्तीय सहायता और सरकारी ऋण न दिये जायें। ऋण देते समय अनुसूचित जातियो को प्राथमिकता दी जाय उनके निवास की भूमि पर उनका अधिकार हो, बेगार प्रथा को गैर कानूनी रूप दिया जाय तथा अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन दिया जाय। श्रम के प्रति श्रद्धा और समानता के व्यवहार को महत्ता प्रदान की जानी चाहिए।

उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री महोदय ने अस्पृश्यता की समाप्ति के लिए 'सामाजिक चेतना' को अत्यन्त आवश्यक माना है। जब तक सवर्णों एव अछूतो के द्वारा आन्दोलन नही चलाया जाता, तब तक अस्पृश्यता का अन्त नही किया जा सकता। मुख्यमन्त्री श्री बनारसीदास ने आर्थिक असमानता एव बेकारी को अस्पृश्यता के लिए प्रमुख रूप से उत्तरदायी माना।[20] 'नागरिक अधिकार सरक्षण कानून' (Civil Rights Protection Act, 1976) के अन्तगत अस्पृश्यता बरतने या हरिजनो पर अत्याचार सम्बन्धी मामलो को शीघ्र निपटान के लिए उत्तर प्रदेश के प्रत्येक जिले म एक एक मजिस्ट्रेट (न्यायाधीश) भी नियुक्त किया गया है।

आज प्रमुख आवश्यकता यह है कि पिछडे वर्गों के परम्परागत पेशो को स्थायी आधार एव सरक्षण प्रदान किया जाय ताकि ये लोग आर्थिक दृष्टि से उन्नत हो सकें। परम्परागत पेशो मे निपुणता प्राप्त करने हेतु इन लोगो के लिए प्रशिक्षण केन्द्र खोले जाने चाहिए। इन्हे काफी सुविधाएँ प्रदान कर लघु उद्योग धन्धो म लगाया जाना चाहिए। इच्छुक व्यक्तियों को विभिन्न शिल्पो की शिक्षा दी जाना चाहिए। अस्पृश्यो की समस्याओ के निराकरण के लिए समाजशास्त्रीय अनुसन्धानो का विशेष लाभ उठाया जाना चाहिए।

वतमान मे नगरीय क्षेत्रो मे अस्पृश्यता से सम्बन्धित सिद्धान्त एव व्यवहार मे अनेक कारणो के सयुक्त प्रभाव के फलस्वरूप परिवतन आये हैं। आज वहाँ सामाजिक स्तरीकरण के परम्परागत आधार कमजोर पडे हैं। नगरीय क्षेत्रो मे विभिन्न जातियो के व्यक्ति कारखानो मे साथ साथ काम करने लगे हैं एक दूसरे के हाथ का पानी व खाने पीने की वस्तुएँ ग्रहण करने लगे है होटलो बसो, ट्रामो आदि मे साथ साथ बैठने और खाने पीने लगे हैं। शिक्षा के व्यापक प्रसार ने भी अस्पृश्यता को कम करने मे योग दिया है। अस्पृश्य जातियों व अन्य पिछडे वर्गों के भविष्य के सम्बन्ध मे आन्द्रे बिताई ने लिखा है, 'यह सत्य है कि आधुनिकीकरण की शक्तियाँ अभी तक प्रमुखत भारतीय समाज के एक सीमित क्षेत्र मे ही क्रियाशील हैं। उनका प्रभाव विशेषत पश्चिमी शिक्षा प्राप्त मध्यम वर्ग के लोगो पर दिखलायी देता है और वह भी मुख्यत

21 *The Times of India* December 1 1979 p 3

नगरीय केन्द्रो मे । पिछडे वग अभी तक अधिकाशत ग्रामीण क्षेत्रों मे ही केन्द्रित हैं, वे और उन पर पश्चिमीकरण का प्रभाव उच्च जातियो की तुलना मे कम पडा है । अत यह सम्भव है कि पिछडे वग और विशेषत अनुसूचित जनजातियाँ तथा अनुसूचित जातियाँ आने वाले कुछ वर्षों तक अपना अभिन्न रूप बनाये रखें ।"[1] उपयु क्त कथन म सत्यता का काफी अश है । आज स्थिति यह बन गयी है कि य लोग अपने पृथक अस्तित्व को बनाये रखने म रुचि लेने लगे हैं ।

## प्रश्न
### (उत्तर सकेत सहित)

1 क्या आप मानते हैं कि भारत म अछूत (अस्पृश्यता) समस्या का अस्तित्व जाति प्रथा के कारण है ? उसको दूर करने के लिए क्या आप जाति प्रथा के उन्मूलन के पक्ष मे राय देंगे ? (आगरा व रुहेलखण्ड 1978)

[सकेत इसके लिए अस्पृश्यता का इतिहास और उत्पत्ति के कारक देखिए । इसके बाद 'अस्पृश्यता निवारण हेतु सुझाव' देखिए ।]

2 इस कथन की विवेचना कीजिए कि तथाकथित अस्पृश्यो की समस्या मुख्य रूप से सामाजिक व आर्थिक है न कि धार्मिक और राजनीतिक' । (आगरा, 1972, 1977, रुहेलखण्ड, 1977)

[सकेत—इसके उत्तर के लिए अस्पृश्य जातियो की समस्याएँ या निर्योग्यताएँ शीषक के अन्तगत वर्णित सामग्री देखिए ।]

3 'अस्पृश्यता' पर एक लेख लिखिए । (आगरा, 1978)

[सकेत—यहाँ पूरे अध्याय का साराश सक्षेप मे लिखना है ।]

4 एक समाजवादी, प्रजातान्त्रिक, धमनिरपेक्ष सामाजिक व्यवस्था के अस्पृश्यता कहाँ तक अनुरूप है ? उसके उन्मूलन के लिए सुझाव दीजिए । (आगरा, 1977)

[सकेत—इसके उत्तर म अस्पृश्यो की निर्योग्यताओ का सक्षेप मे उल्लेख करते हुए यह बताना है कि अस्पृश्यता वतमान भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप नही है । इसके बाद 'अस्पृश्यता निवारण हेतु सुझाव शीपक देखिए ।]

5 अस्पृश्यता निवारण के लिए हमारे देश मे जो उपाय किय गय हैं, उनका उल्लेख कीजिए । ये उपाय कहाँ तक सफल हुए है ? (आगरा, 1976)

[सकेत—इसके उत्तर मे अस्पृश्यता निवारण' तथा 'अस्पृश्यता निवारण एक मूल्याकन' शीपको के अ तगत वर्णित सामग्री लिखनी है ।]

---

22 Andre Beteille The Future of the Backward Classes The Competing Demands of Status and Power in *Unity and Diversity—India and Ceylon* pp 119 20

6 भारतीय समाज म अस्पृश्यता की समस्या पर प्रकाश डालिए ।
(आगरा, 1975)
[सकेत इसका उत्तर प्रश्न 3 क उत्तर के समान होगा ।]

7 'यद्यपि कानूनी तथा सवैधानिक स्तर पर अस्पृश्यता पूर्ण रूप म समाप्त कर दी गयी है, परन्तु इसका वास्तविक अथ मे सम्पूर्ण उ मूलन जनता के हृदयो पर विजय प्राप्त कर लेने के पश्चात ही सम्भव हो सकेगा ।" क्या आप इस विचार से सहमत हैं ? अपन उत्तर की पुष्टि मे आवश्यक तक दीजिए ।
(आगरा, 1975)
सकेत—इसका उत्तर प्रश्न 5 के उत्तर के समान ही होगा ।]

8 अस्पश्यता की उत्पत्ति समझाइए । अस्पश्यता मानन के विभिन्न रूपो का उल्लेख कीजिए । (आगरा, 1971)
[सकेत—इसक लिए 'अस्पश्यता का इतिहास' तथा 'अस्पश्यता की उत्पत्ति शीषक देखिए ।]

9 भारत मे अछूतो (अस्पृश्यो) की अयोग्यताओ (निर्योग्यताओ) का उल्लेख कीजिए । स्वत त्रता प्राप्ति के बाद म राज्य न अस्पश्यता निवारण के लिए क्या किया है ? (आगरा, 1970)
[सकेत—इसक उत्तर के लिए अस्पश्य जातियो की समस्याएँ अथवा निर्योग्यताएँ शीषक देखिए । शेष प्रश्न के उत्तर के लिए 'अस्पृश्यता निवारण तथा अस्पश्यता (अपराध) अधिनियम, 1955 शीषक देखिए ।]

10 अस्पृश्यता क्या है ? इसे दूर करने के लिए क्या वैधानिक उपाय किय गये है ? (आगरा, 1979)
[सकेत—इसके उत्तर म भूमिका तथा 'अस्पृश्यता का अथ' शीषक मे वर्णित सामग्री लिखनी है । तत्पश्चात अस्पश्यता (अपराध) अधिनियम, 1955' तथा सविधान म अस्पश्यता निवारण के उद्देश्य से रखी गयी धाराओ का उल्लेख करना है ।

11 भारत मे अनुसूचित जातियो की प्रमुख समस्याएँ बताइए । उन्हे सुलझान क लिए अभी तक क्या प्रयत्न किये गये है ? (राजस्थान 1979)
[सकेत – इसके लिए 'अस्पश्य (अनुसूचित) जातियो की समस्याएँ अथवा निर्योग्यताएँ' शीषक देखिए । इसके बाद 'अस्पश्यता निवारण अनुसूचित जातियाँ एव हरिजन कल्याण' शीषक मे वर्णित सामग्री लिखनी है ।]

12 अनुसूचित जातियो की स्थिति के सुधार क लिए सरकार एव अन्य सस्थाओ द्वारा क्या उपाय किये गये है ? मूल्याकन कीजिए । (राजस्थान, 1978)
[सकेत—इसके उत्तर म 'अस्पृश्य जातियो की समस्याएँ अथवा निर्योग्यताएँ' तथा 'अस्पृश्यता निवारण एक मूल्याकन' शीषको के अ तगत वर्णित सामग्री लिखनी है ।]

13 पिछडे हुए वग तथा उनकी समस्या क्या है? भारत मे पिछडे वर्गों की स्थिति को सुधारने के लिए किये गये प्रयत्नो का मूल्याकन कीजिए।

(राजस्थान, 1976, 77)

[सकेत—इसका उत्तर प्रश्न 11 के उत्तर के समान ही होगा। उत्तर के प्रारम्भ मे भूमिका मे वर्णित सामग्री लिखनी है। अन्त मे मूल्याकन देना है।]

14 अस्पृश्यता से सम्बन्धित आधुनिक प्रवृत्तियो का उल्लेख कीजिए।

[सकेत—इसके उत्तर के लिए 'अस्पृश्यता मे आधुनिक प्रवृत्तिया' शीषक देखिए।]